क.७६६ S.A.

श्रीवीतरागाय नमः

श्रीगांधी—हरीभाई देवकरण जैनग्रंथमाला

१४

कविवर-विद्वन्मणिराजमल्लविरचिता

लाटी संहिता

संघी मोतीलाल मास्टर
चोमूवाला

धर्मरत्न पं० लालारामजी जैन शास्त्रीकृत

हिन्दी भाषा टीका सहित

जिसको

भारतीय जैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था, कलकत्ताने

शोलापुरवासी गांधी—हरिभाई देवकरण एण्ड सन्सके प्रदत्त द्रव्यसे

अपने पवित्र प्रेसमें छपा कर प्रकाशित किया।

भाद्रपद वदी ३० श्रीवीर निर्वाण संवत् २४६४

प्रकाशक—
श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ
मंत्री=भारतीय जैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था
१४८, बाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता।

मुद्रक—
श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ
जैनसिद्धांतप्रकाशक पवित्र प्रेस
१४८ बाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता।

श्रीलाटी-संहिताके श्लोकोंकी विषयानुक्रमणिका

श्लोकसं०	विषय	पृष्ठ सं०
१	मंगलाचरण	१
६	प्रतिज्ञा	३
७	जंबूद्वीपका वर्णन	४
८	भरतक्षेत्रका वर्णन	४
९	आर्यखंडका वर्णन	४
१०	मगधदेशका वर्णन	४
११	वैराटनगरका वर्णन	४
५९	बाबर बादशाहका वर्णन	१४
६०	हुमायूंका वर्णन	१५
६१	अकबर बादशाहका वर्णन	१५
६३	जैनधर्मकी महिमा	१५
६४	काष्ठासंघ माथुरगच्छ पुष्करगणके कुमारसेन भट्टारकका वर्णन	१६
६६	हेमचन्द्र भट्टारकका वर्णन	१६
६७	पद्मनंदि भट्टारकका वर्णन	१६
६८	यशःकीर्त्ति भट्टारकका वर्णन	१६
६९	क्षेमकीर्त्ति भट्टारकका वर्णन	१७
७०	डोकनिनगरका वर्णन	१७
७१	सेठ भारूका वर्णन	१७
७२	उनके पुत्रपौत्रोंका वर्णन	१७
७५	भारुके पौत्र फामनका वर्णन	१८
७६	फामनके साथ कविके सम्बन्धका वर्णन	१८
७७	फामनके गुरु तालू विद्वान्का वर्णन	१९
८०	फामनके द्वारा ग्रंथ बनानेकी प्रार्थना	१९
८१	वैराट नगरके भव्य जिनालयका वर्णन	२०
८७	अंतिम आशीर्वाद	२१

दूसरा सर्ग

श्लोक सं०	विषय	पृष्ठ सं०
१	सेठ फामनको आशीर्वाद	२२
१	अहिंसाधर्मके कहनेकी प्रतिज्ञा	२२
२	व्रतका लक्षण	२२
३	पूर्णव्रतके अधिकारी	२३
५	एकदेशव्रतके अधिकारी	२३
७	श्रावकके आचरणोंका वर्णन	२३
९	दर्शनप्रतिमाका स्वरूप	२४
७	श्रावकोंका कुलधर्म	२४
८	उसके अतिचारोंका त्याग	२४
११	अतिचारोंका संक्षिप्त वर्णन	२५
१२	चमड़ेके बर्तनमें रक्खे हुए पदार्थोंका त्याग	२५
१३	आगमपर श्रद्धान रखनेकी आज्ञा	२५
१४	आगममें शंका करनेका निषेध	२६
१६	शुद्ध पदार्थोंके ग्रहणकी आज्ञा	२६
१९	घुने वा बींधे अन्नका त्याग	२७
२०	और भी मांसत्यागके अतिचार	२७
२३	घी तेल आदिको छानकर लेनेका विधान	२७
२८	अन्यधर्मियोंके द्वारा शोधे हुए वा बने हुए भोजनोंका निषेध	२८
३२	बहुत दिनके शोधे हुएका निषेध	३०
३३	बासी पदार्थोंके खानेका निषेध	३०
३५	पत्तेवाली शाक भाजीका निषेध	३०
३८	रात्रिभोजनके त्यागका वर्णन	३१
४४	रात्रिभोजनका त्याग कुलाचार है	३२
४६	जैनी बननेकेलिये मूलगुणोंकी आवश्यकता	३३
४७	कुलाचारके बिना जैनी नहीं हो सकता	३४
५२	रात्रिभोजनके दोष	३५

श्लोक सं०	विषय	पृष्ठ सं०
५५	आसव अरिष्ट आदिके त्यागका वर्णन	३५
५६	चलित पदार्थोंका निषेध	३६
५६	मांस खानेका फल	३७
६६	मद्यके अतिचार कहनेकी प्रतिज्ञा	३६
६८	नशीले पदार्थोंके त्यागका वर्णन	३६
७०	नशीले पदार्थोंके सेवनका फल	३६
७२	शहतका निषेध	४०
७७	शहतके अतिचार	४१
७८	उदंबर फलोंके त्यागका वर्णन	४१
७६	अनंतकाय वनस्पतिके त्यागका वर्णन	४२
०	साधारण वनस्पतिका लक्षण	४३
८०	कंदमूल आदिके त्यागका वर्णन	४४
८२	कन्दमूलमें अनन्त जीवोंकी सत्ता	४५
८५	जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाके उल्लंघनका निषेध	४७
८६	साधारण वनस्पतिमें जीवोंकी संख्या	४८
०	जीवोंकी सूक्ष्मता	४८
६०	त्रसजीववाले पदार्थोंका त्याग	५०
६१	साधारण वनस्पतियोंका विशेष वर्णन	५०
१००	विवेक और विवेकपूर्वक त्यागका वर्णन	५२
१०३	विवेककी अत्यावश्यकता	५२
१०७	श्रावकोंको सर्वथा त्याग करने योग्य पदार्थ	५४
१०८	साधारणवनस्पतिका लक्षण	५४
११२	मूलगुणोंकी समाप्ति	५५
११३	सातों व्यसनोंके नाम	५५
११४	जुआका लक्षण	५५
११६	जुआका दोष और फल	५६
१२०	जुआका अतिचार	५७
१२४	मांसकर्म और मांसव्यसनमें अन्तर	५६
१२७	मद्यकर्म और मद्यव्यसनमें अन्तर	५६
१२६	वेश्यासेवनके त्यागका वर्णन	६०
१३१	वेश्यासेवनके दोष	६०
१३२	वेश्यासेवनके फल	६१
१३६	शिकारके त्यागका वर्णन	६३
१४०	शिकार खेलनेके दोष और फल	६३
१५०	शिकारके अतिचार	६५
१६२	चोरीव्यसनके त्यागका वर्णन	६७
१६३	चोरीका लक्षण	६७
१६७	चोरीके दोष और फल	६७
१७६	परस्त्र व्यसनके त्यागका वर्णन	६६
१७८	विवाहिता स्त्रीका लक्षण	६६
१७६	विवाहिता पत्नीके दो भेद	६६
१८०	धर्मपत्नीका लक्षण और उसके अधिकार	६६
१८०	अपनी सजातीय कन्या ही धर्मपत्नी हो सकती है	६६
१८१	धर्मपत्नीसे उत्पन्न हुए पुत्रके अधिकार	७०
१८३	भोगपत्नीका लक्षण और उसके अधिकार	७०
१८३	विजातीय कन्या भोगपत्नी ही होती है	७०
१८४	दासीका लक्षण	७१
१८५	भोगपत्नी दासीके समान है	७१
१८६	भोगपत्नीके त्यागका उपदेश	७१
१८७	भोगपत्नीके सेवन करनेमें दोष	७१
१८६	धर्मपत्नी और भोगपत्नीके सेवनमें अन्तर	७२
१६३	भोगपत्नीके सेवनमें परिणामोंकी अत्यन्त मलिनता	७३
१६५	दासी पुत्रको अधिकारका निषेध	७३
१६७	भोगपत्नी और दासीके सेवनका निषेध	७४
१६८	परस्त्रियोंके भेद और लक्षण	७५
२०७	परस्त्रीसेवनके दोष और फल	७६
२१६	परस्त्री सेवन करनेवालेको महामूर्ख संज्ञा	७८

तीसरा सर्ग

१	सम्यग्दर्शनकी प्रशंसा	७६
७	सम्यग्दर्शनका लक्षण	८१
६	सम्यग्दर्शनके भेद	८१
११	निश्चयसम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेकी सामग्री	८१
११	निश्चयसम्यग्दर्शनका लक्षण	८१
१२	व्यवहारसम्यग्दर्शनका लक्षण	८२
१४	निसर्गज अधिगमजके भेदसे दो भेद	८४

श्लोक सं०	विषय	पृष्ठ सं०
१५	दोनोंके लक्षण	८४
१६	मिथ्यात्वके तीन भेद और अधःकरण आदि करणोंका स्वरूप	८४
१६	औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिककी सामग्री	८६
२२	सम्यग्दर्शनके अन्तरङ्ग कारण	८७
२३	सम्यग्दर्शनके बाह्य कारण	८७
२८	सम्यग्दर्शनका आत्मभूत लक्षण	८८
३३	योग्यता वा भव्यभावके विपाकका वर्णन	९०
३७	सम्यग्दर्शनका कार्य	९१
४१	सम्यग्दर्शनकी पहचान	९३
४५	सम्यग्दर्शन और ज्ञानमें भेद	९४
४८	ज्ञानके सिवाय अन्य सब गुण निराकार हैं	९५
५२	ज्ञानके विषयभूत स्वार्थ परार्थका लक्षण	९६
५५	श्रद्धा रुचि प्रतीति और आचरणके लक्षण	९७
५६	ये गुण यदि सम्यग्दर्शनके साथ हों तो गुण हैं अन्यथा नहीं	९८
६४	सम्यक्श्रद्धाका लक्षण	९९
७१	प्रशमगुणका लक्षण	१०१
७६	संवेगका लक्षण	१०२
७९	अधर्मका त्याग और धर्मप्रेम ही संवेग है	१०२
८०	संवेगमें भोगोंकी अभिलाषाका त्याग	१०३
८५	संवेगके भेद	१०४
८५	धर्ममें अनुराग विधिरूप संवेग है अधर्मका त्याग निषेधरूप संवेग है	१०४
८८	वैराग्यको संवेगका लक्षण	१०४
८९	अनुकंपाका लक्षण	१०५
९०	अनुकंपाका कारण	१०५
९३	अनुकम्पाके भेद और उनके लक्षण	१०६
९५	आस्तिक्यका लक्षण	१०७
१०३	आस्तिक्यगुणकी प्रत्यक्षता	१०९
१०७	आस्तिक्यगुण ही सम्यग्दर्शन है	१०९
०	सम्यग्दर्शनके आठों गुणोंका वर्णन	११०
१११	उपलक्षणका लक्षण	१११
११२	संवेग गुणही भक्ति और वात्सल्यका उपलक्षण है	१११
११३	भक्ति वात्सल्यका लक्षण	१११
११५	प्रशमगुण निंदन गर्हणका उपलक्षण है	११२
११७	निंदन गर्हणका लक्षण	११३
१२१	सम्यग्दर्शनकी प्रशंसा	११३
१२७	सम्यग्दर्शनके साथ मूलगुण और सप्त-व्यसनोंके त्यागका होना	११४
१२९	कुलक्रियाका लक्षण	११५
१३१	पाक्षिकका लक्षण	११५
१३४	दर्शनप्रतिमाका लक्षण	११६
१३६	दर्शन प्रतिमा पांचवें गुणस्थानमें ही होती है	११६
१४१	कुलक्रियाका खुलासा	११८
१५१	पाक्षिक श्रावक वा दर्शनप्रतिमाधारीकी क्रियाएं	१२०
१५७	नाममालके श्रावकका लक्षण	१२२
१५९	पाक्षिक वा दर्शनप्रतिमाधारीके लिये मूलगुण और सप्तव्यसन त्यागके अति-चारोंके त्यागकी आवश्यकता	१२२
१६०	दानकी आवश्यकता	१२३
१६२	पूजाका विधान	१२३
१६५	वैयावृत्यका विधान	१२४
१६८	पूजा प्रतिष्ठा बिंबनिर्माण जिनालय निर्माण अभिषेक रथोत्सव इन्द्रियसंयम प्राणिसंयम अणुव्रत तप आदिका विधान	१२५

चौथा सर्ग

१	आशीर्वाद	१२७
३	सम्यग्दर्शनके अङ्गोंके नाम	१२७
५	निःशंकित अङ्गका स्वरूप कहनेके लिये शंकाका स्वरूप	१२७
१०	सम्यग्दृष्टीके शङ्काका अभाव	१२८
१३	सम्यग्दृष्टीके ज्ञानकी प्रत्यक्षता	१२९
१५	शङ्काका कारण मिथ्यात्व है	१३०
१८	सातों भयोंका कारण भी मिथ्यात्व है	१३१
२४	सम्यग्दृष्टीको भय नहीं होता	१३३

श्लोक सं०	विषय	पृष्ठ सं०
३०	इस लोकसंबंधी भयका स्वरूप और सम्यग्दृष्टिके उसका अभाव	१३४
४०	परलोकसंबंधी भयका स्वरूप और सम्यग्दृष्टीके उसका अभाव	१३६
४८	वेदन भयका स्वरूप और सम्यग्दृष्टीके उसका अभाव	१३८
५३	अत्राणभयका स्वरूप और सम्यग्दृष्टिके उसका अभाव	१४०
५९	अगुप्तिभयका स्वरूप और सम्यग्दृष्टिके उसका अभाव	१४३
६२	मृत्युभयका स्वरूप और सम्यग्दृष्टिके उसका अभाव	१४३
६६	आकस्मिक भयका स्वरूप और सम्यग्दृष्टीके उसका अभाव	१४४
७०	निःकांक्षित अङ्गको हरनेकेलिये आकांक्षाका लक्षण	१४५
७४	आकांक्षा मिथ्यादृष्टीके होती है सम्यग्दृष्टीके नहीं	१४६
८८	इष्ट अनिष्ट कल्पना दर्शनमोहसे होती है	१४९
९६	तथा आकांक्षा भी दर्शनमोहसे होती है	१५१
९९	निर्विचिकित्सा अङ्ग	१५२
१००	विचिकित्सा दोषका लक्षण	१५२
१०१	निर्विचिकित्साका लक्षण	१५२
१०६	विचिकित्सा वा मलिनताका कारण दर्शनमोहनीय है	१५२
१०८	निर्विचिकित्सागुण सम्यग्दृष्टीके ही होता है	१५४
११०	अमूढदृष्टीगुणका स्वरूप	१५४
१११	मूढदृष्टी और अमूढदृष्टीका लक्षण	१५४
११७	मूढताओंके भेद और लक्षण	१५६
१२५	कुदेवका स्वरूप	१५७
१२७	देवके भेद और सामान्य लक्षण	१५८
१२९	अरहंतदेवका स्वरूप	१५८
१३९	सिद्धपरमेष्ठीका स्वरूप	१६०
१४२	गुरुका लक्षण	१६१
१४६	गुरुपनेका कारण दोषोंका अभाव	१६२
१५२	अल्पज्ञता गुरुत्वको नष्ट नहीं करती क्योंकि दर्शनमोहके नाश होनेसे राग द्वेष मोहका अभाव हो जाता है	१६३
१५९	गुरुके भेद और उनका सामान्य लक्षण	१६५
१६७	आचार्यका स्वरूप और कर्तव्य	१६६
१६९	आदेश और उपदेशमें भेद	१६७
१७०	आचार्य वा गृहस्थाचार्य ही आदेश देनेके अधिकारी हैं	१६७
१७१	अव्रती आदेश देनेके अधिकारी नहीं हैं	१६७
१७५	गृहस्थोंको दानपूजाका विधान	१६९
१७७	आचार्यका सम्बन्ध केवल धार्मिक है	१७०
१८१	उपाध्यायका स्वरूप	१७२
१८८	साधुका स्वरूप	१७३
१९७	आचार्योपाध्यायसाधुओंमें विशेषता	१७५
१९८	आचार्योंमें विशेषता	१७५
२०२	चारित्रकी क्षति अक्षतिमें कारण	१७६
२०९	शुद्धात्माके अनुभवमें कारण	१७८
२१२	चारित्रमोहनीयका कार्य	१७९
२१६	आचार्योपाध्याय साधुओंमें समानता	१८०
२२०	तीनोंमें अंतरंग भेद	१८१
२२४	बाह्य कारणपर विचार	१८१
२२७	आचार्यकी निरीहता	१८२
२३१	आचार्यको भी साधुपद	१८४
२३७	धर्मका स्वरूप	१८५
२४१	धर्मके भेद और उनका स्वरूप	१८६
२५०	सर्वसावद्य योग स्थूल सावद्य अल्प-सावद्य योगका लक्षण	१८८
२५२	चारित्र वा व्रतका लक्षण	१८९
२६३	चारित्र ही धर्म है	१९१
२६५	चारित्रमें ही रत्नत्रय अन्तर्भूत है	१९२
२६९	सम्यग्दर्शनकी महिमा	१९७
२७०	रत्नत्रयको मोक्षमार्गता	१९७
२७२	बन्ध तथा संवरका कारण	१९७

श्लोक सं०	विषय	पृष्ठ सं०
२७७	मूढदृष्टिदोषका खुलासा	१६८
२७८	सम्यग्दृष्टिके अमूढदृष्टि अङ्गका होना अत्यावश्यक है	१६८
२७६	उपबृंहण वा उपगूहनका स्वरूप	२००
२८७	कर्मोंके क्षयसे आत्माकी विशुद्धि	२०२
२६१	स्थितिकरण अङ्गका स्वरूप	२०२
२६२	धर्मकेलिये अधर्म सेवनका निषेध	२०३
२६६	स्थितिकरणके भेद और लक्षण	२०४
२६७	स्वस्थितिकरणका खुलासा	२०४
३०४	परिस्थितिकरणका खुलासा	२०६
३०५	स्वस्थितिकरणकी मुख्यता और स्वोपकार पूर्वक ही परोपकार होता है	२०६
३०८	वात्सल्य अङ्गका लक्षण	२०८
३१०	सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा व धर्मकी बाधाको सहन नहीं कर सकता	२०८
३११	वात्सल्यके भेद और उनके लक्षण	२०८
३१३	यह वात्सल्य सम्यग्दृष्टिके ही होता है	२०६
३१४	प्रभावना अङ्गका स्वरूप	२०६
३१५	अधार्मिक कार्योंमें सहायताका निषेध	२०६
३१६	प्रभावनाके भेद और उनके लक्षण	२०६
३१८	स्वप्रभावनाकी मुख्यता और खुलासा	२१०
३२०	परप्रभावना	२१०
३२१	प्रभावनाके उपाय	२१०

पांचवां सर्ग

श्लोक सं०	विषय	पृष्ठ सं०
१	आशीर्वाद	२१२
१	व्रतधारण करनेके अधिकारीका लक्षण	२१२
३	व्रतोंके अनधिकारीके लक्षण	२१३
१०	व्रत कब पालन हो सकते हैं	२१४
१२	व्रतोंसे लाभ	२१५
१४	शास्त्रानुकूल क्रिया ही फ़लदायक है	२१५
१५	व्रतधारण करनेके परिणाम कब होते हैं	२१६
१६	मिथ्यादृष्टिके श्रुतज्ञान बढ जाता है तथापि स्वात्मानुभूति नहीं होती	२१६
२३	स्वात्मानुभूतिके विना समस्त ज्ञान अज्ञान है	२१८
३१	मिथ्यादृष्टी भी व्रत पालन कर स्वर्ग प्राप्त करता है	२१६
३३	दर्शनमोहनीय सबको मिथ्या कर देता है	२२०
३४	सम्यग्दृष्टीका चारित्र निर्जराका कारण है	२२०
३७	व्रत सबको कल्याणकारी हैं	२२१
३८	व्रतोंका फल	२२१
५७	पुण्यके कारण वा व्रतका लक्षण	२२४
६०	हिंसाका स्वरूप	२२५
६१	प्राणोंका स्वरूप	२२५
६६	जीवोंके भेद	२२६
७३	सूक्ष्म स्थूल जीवोंका लक्षण	२२७
७६	पर्याप्तक अपर्याप्तकके भेद और लक्षण	२२६
८१	क्षुद्रभवोंका वर्णन	२३२
८५	अप्रतिष्ठितका खुलासा और उनकी रक्षाका उपदेश	२३३
८८	वनस्पतिकायिक जीवोंके भेद और उनका खुलासा	२३४
६५	जीवराशिके जाननेका फल और जीवोंकी रक्षा	२३६
६७	त्रसजीवोंके भेद और उनका खुलासा	२३७
१०३	व्यपरोपण शब्दका अर्थ	२३८
१०४	प्राणव्यपरोपण वा हिंसाका खुलासा	२३८
१०६	चोरी झूठ आदि पाप भी हिंसा ही है	२४०
११२	हिंसा अहिंसाका विशेष खुलासा	२४०
११५	हिंसादिक क्रियाओंके त्यागकी अत्यावश्यकता	२४२
१२२	हिंसाके एकदेश त्यागका लक्षण	२४४
१२४	अहिंसाणुव्रतका लक्षण	२४५
१२५	विरताविरतका लक्षण	२४५
१२६	चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टी भी त्रसजीवोंकी हिंसा नहीं करता	२४६
१३८	चतुर्थ पंचम गुणस्थानका अन्तर	२४६
१३६	अणुव्रतशब्दका अर्थ और खुलासा	२४६
१४८	खेतीका निषेध	२५२

श्लोक सं०	विषय	पृष्ठ सं०
१५२	खेती आदि पाप कार्य जितने कम किये जायं उतने अच्छे	२५३
१५७	आगमका लक्षण	२५४
१५८	पापोंके त्यागके भेद	२५४
१५९	यमका लक्षण	२५४
१६०	यमके भेद और लक्षण	२५५
१६१	नियमके भेद और लक्षण	२५६
१६७	यम नियममें विशेष भेद तथा उसीके साथ चौथे पाचवें गुणस्थानका भेद	२५६
१७०	व्रतीका लक्षण	२५७
१७३	अणुव्रतीको क्या क्या नहीं करना चाहिये	२५८
१८४	अणुव्रतोंके कर्तव्य	२६१
१८६	अहिंसाणुव्रतकी भावनाएं	२६२
१८७	गृहस्थोंको भी एकदेश भावनायें चिंतवन करनी चाहिये	२६२
१९०	एकदेश वचनगुप्तिका स्वरूप	२६३
१९२	एकदेश मनोगुप्ति	२६३
२०४	ईर्या आदाननिक्षेपणका स्वरूप	२६६
२१२	एकदेश ईर्यासमितिका स्वरूप	२६७
२१६	एकदेश भाषासमितिका स्वरूप	२७१
२२९	एकदेश एषणासमितिका स्वरूप	२७१
२३१	भोजनके अनुसार परिणाम होते हैं	२७२
२३२	भोजनका समय और शुद्धि	२७२
२३५	भोजन कब और कहां नहीं करना चाहिये	२७३
२३६	भोजनके अन्तराय	२७४
२५३	एकदेश आदाननिक्षेपणसमिति	२७७
२५५	एकदेश प्रतिष्ठापनसमिति	२७७
२५७	पांचवी भावना आलोकितपानभोजन	२७७
२५८	भोजनकी शुद्धि	२७८
२६१	अतिचार वा दोषोंके भेद और उनके लक्षण	२७९
२६२	पाचों अतिचारोंके नाम और उनके अलग अलग लक्षण	२८९
२७२	अहिंसाणुव्रतको निर्दोष पालन करनेकी विधि	२८०

छठा सर्ग

श्लोक सं०	विषय	पृष्ठ सं०
१	सत्याणुव्रतका स्वरूप	२८३
३	असत् शब्दका अर्थ और सत्याणुव्रतका खुलासा	२८३
६	सत्याणुव्रतकी पांच भावनाएं और उनके अलग अलग लक्षण	२८५
१७	सत्याणुव्रतके अतिचार और उनके अलग अलग लक्षण	२८७
२८	प्रमाद वा कषायसे ही असत्य वचन कहा जाता है	२९७
३१	अचौर्याणुव्रतका लक्षण	२९१
३२	चोरीका लक्षण	२९१
३६	अचौर्याणुव्रतका खुलासा	२९३
३७	अचौर्याणुव्रतकी पांच भावनाएं और अलग अलग लक्षण	२९३
४८	अचौर्याणुव्रतके अतिचार और उनके अलग अलग लक्षण	२९५
५८	अतिचारोंके त्यागका आदेश	२९७
५९	ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप	२९७
६१	ब्रह्मचर्याणुव्रतकी पांच भावनाएं और उनके अलग अलग लक्षण	२९८
७२	ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार और उनके अलग अलग लक्षण	३०१
८२	परिग्रहपरिमाणकी विधि और ममत्वका कारण	३०३
८३	परिग्रहोंके बटवेकी विधि	३०४
९१	परिग्रह परिमाणव्रतकी भावनाएं और उनके अलग अलग लक्षण	३०६
९७	परिग्रहपरिमाणके अतिचार और उनके अलग अलग लक्षण	३०७
१०९	गुणव्रतोंके भेद और सामान्य लक्षण	३१०
१११	दिग्व्रतका लक्षण	३१०

श्लोक सं०	विषय	पृष्ठ सं०
११२	दिग्व्रतकी सीमा और उसके बाहर न जानेका फल	३१०
११७	दिग्व्रतके अतिचार और उनके अलग अलग लक्षण	३११
१२२	देशव्रतका लक्षण	३१३
१२३	देशव्रतका खुलासा	३१४
१२८	देशव्रतके अतिचार और उनके अलग अलग लक्षण	३१५
१३५	अनर्थदण्डव्रतका लक्षण	३१७
१३७	स्वार्थ और परोपकारका खुलासा	३१६
१३८	पापोंके उनंचास वा एकसौ संतालीस भेद	३१६
१४०	अनर्थदंडव्रतके अतिचार और उनके अलग अलग लक्षण	३२१
१५१	शिक्षाव्रतोंके नाम	३२३
१५२	सामायिकका स्वरूप	३२३
१५३	सामयिकमें आत्मा और द्रव्योंके चिन्तवनकी विधि	३२३
१६१	जगत्कायक स्वभावका चिन्तवन	३२५
१६२	सामायिकमे आत्माका चिन्तवन और उसका फल	३२७
१६५	पंचपरमेष्ठीका चिन्तवन	३२६
१६६	सामायिक क्रिया	३२६
१६७	स्तुति, अष्टद्रव्यसे पूजा, पूजाके पांच अंग आदिकी विधि,	३२६
१७७	जिनालयमें जाकर पूजा साधुवन्दना धर्म श्रवण व्यापार भोजन आराम स्वाध्याय वा धर्मचर्चा, व्यापार, शामक सामायिक, आधी रातका सामायिक, आदिका वर्णन	३३१
१८८	सामायिकके अतिचार और उनके अलग अलग लक्षण	३३२
१६५	प्रोषधोपवासका लक्षण और विधि	३३४
१६८	प्रोषधोपवासकेदिनके कर्तव्य	३३४
२०४	प्रोषधोपवासके अतिचोर और उनके अलग अलग लक्षण	३३७
२१२	भोगोपभोगपरिमाणका लक्षण	३३६
२१३	भोगोपभोगपरिमाणके अतिचार और उनके अलग अलग लक्षण	३३६
२२०	अतिथिसंविभागव्रतका लक्षण	३४१
२२३	पात्रोके भेद	३४२
२२६	अतिथिसंविभागव्रतके अतिचार और उनके अलग अलग लक्षण	३४२
२३४	सल्लेखनाव्रतका स्वरूप	३४४
२३७	सल्लेखनाके अतिचार और उनके अलग अलग लक्षण	३४५
२४६	व्रतप्रतिमाकी समाप्ति	३४७

सातवां सर्ग

श्लोक सं०	विषय	पृष्ठ सं०
१	आशीर्वाद	३४८
२	तीसरी सामायिक प्रतिमाका लक्षण	३४८
५	व्रतप्रतिमाके सामायिकमें और सामायिक प्रतिमाके सामायिकमें अन्तर	३४६
६	व्रतोंमें और प्रतिमाओंमें अन्तर	३४६
११	प्रोषधोपवास प्रतिमा	३५०
१३	प्रोषधोपवासव्रत और प्रतिमामें अन्तर	३५१
१५	सचित्तत्यागप्रतिमका स्वरूप	३५१
१८	रात्रिभक्तत्याग प्रतिमाका स्वरूप	३५१
२४	ब्रह्मचर्यप्रतिमाका स्वरूप	३५३
२६	ब्रह्मचारीको महिमा	३५३
३१	आठवीं आरम्भत्यागप्रतिमाका स्वरूप	३५४
३२	आठवी प्रतिमाकी क्रियाएं	३५५
३६	नौवी परित्यागप्रतिमाका स्वरूप	३५७
४२	गृहकुटुम्बके सम्बन्धका त्याग	३५७
४४	दशवीं अनुमतित्यागप्रतिमाका स्वरूप और उसकी क्रियाएं	३५८
५२	ग्यारहवी उद्दिष्टत्यागप्रतिमाका स्वरूप	३५६
५६	उत्कृष्ट श्रावकके भेद	३६१
५६	ऐलकका स्वरूप और क्रियायें	३६१
६३	क्षुल्लककी क्रियाये	३६२
७०	क्षुल्लक श्रावकोके भेद और उनका संक्षिप्त स्वरूप	३६५
७५	श्रावकोंके उत्तरगुण बारह प्रकारके तपोंका वर्णन और उनका अलग अलग लक्षण	३६६
८६	अन्तिम निवेदन	३६६
	प्रशस्ति	३७६

श्रीवीतरागाय नमः

श्रीस्याद्वादानवद्यपद्यगद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिश्रीमत्पंडितराजमल्लावरार्चता

श्रावकाचारापरनाम्नी

लाटी-संहिता।

प्रथम सर्ग।

ज्ञानानन्दात्मानं नमामि तीर्थंकरं महावीरम्। यच्चिति विश्वमशेषं व्यदीपि नक्षत्रमेकमिव नभसि ॥१॥

नमामि शेषानपि तीर्थनायकाननन्तबोधादिचतुष्टयात्मनः। स्मृतं यदीयं किल नाम भेषजं भवेद्धि विघ्नौघगदोपशान्तये ॥ २ ॥ प्रदुष्टकर्माष्टकविप्रमुक्तकांस्तद्-

जिसप्रकार समस्त आकाशमें चमकता हुआ एक नक्षत्र स्पष्ट दिखाई देता है उसी प्रकार जिनके ज्ञानमें अथवा जिनकी चेतना शक्तिमें यह समस्त संसार प्रत्यक्ष चमकता हुआ-सा जान पड़ता है, तथा जिनका आत्मा अनन्त ज्ञान और अनन्त सुखस्वरूप है ऐसे अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीको मैं (ग्रन्थकर्ता कविवर राजमल्ल) नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ जिनके नामरूपी औषधिका स्मरण करनेमात्रसे ही समस्त विघ्नरूपी रोग शांत हो जाते हैं तथा जिनका आत्मा अनंत दर्शन अनंत ज्ञान अनंत सुख और अनंत वीर्य इन चार अनंतचतुष्टयमय है ऐसे बाकीके श्रीऋषभदेवसे आदि लेकर श्रीपार्श्वनाथ तीर्थंकरतक तेईस तीर्थंकरों-को भी मैं नमस्कार करता हूं ॥ २ ॥ तदनन्तर जो सिद्ध भगवान अत्यंत दुष्ट जो आठ कर्म उनसे सर्वथा रहित

ल्यये चाष्टगुणान्वितानिह। समाश्रये सिद्धगणानपि स्फुटं सिद्धेः पथस्तत्पदमिच्छतां नृणाम्॥ ३ ॥ त्रयीं नमस्यां जिनलिङ्गधारिणां सतां मुनीनामुभयोपयोगिनाम्। पदत्रयं धारयतां विशेषसात् पद मुनेरद्विनयादिहार्थतः॥ ४ ॥ जयन्ति जैनाः कवयश्च तद्गिरः प्रवर्तिता यैर्वृषमार्गदेशना। विनिर्जितं जाड्यमिहामुधारिणां तमस्तमो-

हैं तथा उन आठों कर्मोंके नाश होनेसे जिन्हें सम्यक्त्व आदि आठ गुण प्राप्त हुए हैं और जो सिद्धपदको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंके लिये सिद्धिके मार्गस्वरूप हैं ऐसे श्रीसिद्धपरमेष्ठीका मैं प्रत्यक्षरूपसे आश्रय लेता हूं। भावार्थ– आठों कर्मोंके नाश होनेसे सिद्धपद प्राप्त होता है तथा उन आठों कर्मोंके नाश होनेसे सम्यक्त्व आदिक आठ गुण प्राप्त होते हैं जैसे मोहनीय कर्मके नाश होनेसे सम्यक्त्व गुण प्रकट होता है। ज्ञानावरण कर्मके नाशसे केवलज्ञान वा अनन्तज्ञान प्रगट होता है। दर्शनावरणके नाशसे केवलदर्शन वा अनंतदर्शन प्रगट होता है। अन्तराय कर्मके नाशसे अनंतवीर्य प्रगट होता है। वेदनीयकर्मके अभावसे अव्याबाध, आयुकर्मके अभावसे अवगाहन, नामकर्मके अभावसे सूक्ष्मत्व और गोत्रकर्मके अभावसे अगुरुलघु गुण प्रगट होता है। इस प्रकार सिद्धोंके आठ गुण प्रगट होते हैं॥ ३ ॥ जो मुनिराज जिनलिंग अथवा निर्ग्रंथ अवस्थाको धारण करनेवाले हैं, जो अत्यंत सज्जन हैं शुभोपयोग वा शुद्धोपयोगमें लीन रहते हैं और जो विशेषकर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको सदा पालन करते हैं ऐसे मुनियोंकी त्रयीको अर्थात् आचार्य उपाध्याय सर्व साधुओंको मैं नमस्कार करता हूं।

यहांतक ग्रंथकर्ताने अनुक्रमसे अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और सर्वसाधु इन पांचों परमेष्ठियोंको नमस्कार किया तथा अरहन्तोंमें भी सबसे पहले श्रीमहावीरस्वामीको नमस्कार किया इसका कारण यह है कि यह वर्तमान समय श्रीमहावीरस्वामीका शासनसमय है इसलिये श्रीमहावीरस्वामी अन्य तीर्थंकरोंके समान ही पूज्य होनेपर भी शासनकर्ता होनेसे अधिक पूज्य हैं अथवा इस वर्तमान समयमें श्रीमहावीरस्वामीकी दिव्यध्वनि ही परंपरारूपसे मोक्षमार्गका प्रकाश कर रही है और उसीसे हम लोगोंका वा समस्त भव्य जीवोंका उपकार हो रहा है इसलिये भी भगवान महावीरस्वामी केवल उपकारदृष्टिसे हमलोगोंके लिये अधिक

रेखि रश्मिभिर्भद्रत् ॥ ५ ॥ इतीव सन्मङ्गलसत्क्रियां दधन्नधीयमानोऽन्वयसात्परंपराम् । उपज्ञलाटीमिति संहितां कविश्चिकीर्षति श्रावकसद्व्रतस्थितिम् ॥ ६ ॥ द्वीपा-

पूज्य हैं। अतएव कविवरने सबसे पहले श्रीमहावीरस्वामीको नमस्कार किया है और फिर अन्य तीर्थंकरोंको नमस्कार किया है। यहांपर इतना और समझ लेना चाहिए कि यद्यपि अरहंत अवस्था तीर्थंकर केवली और सामान्य केवली दोनोंकी एकसी होती है तथापि देवके स्वरूपमें जो सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशी ये तीन गुण बतलाये हैं उनमेंसे हितोपदेशी गुण तीर्थंकरकेवलीमें नियमरूपसे होता है तथा सामान्यकेवलीमें इसके होनेका कोई नियमित नियम नहीं है क्योंकि सामान्यकेवलियोंमें कोई अंतकृतकेवली भी (उसी समय केवल ज्ञान और उसी समय मोक्ष जिन्हें प्राप्त हो उनको अंतकृतकेवली कहते हैं) होते हैं और कोई मूक केवली भी (जिनकी दिव्यध्वनि खिरती ही नहीं) होते हैं। अंतकृत केवलियोंकी भी दिव्यध्वनि खिरती नहीं और मूक केवलियोंकी दिव्यध्वनि भी खिरती नहीं। तथा देवके स्वरूपमें हितोपदेशी गुण मुख्य है क्योंकि भव्य जीवोंको मोक्षमार्गमें लगानेवाला तथा कल्याण करनेवाला हितोपदेशी गुण ही है। इस हितोपदेशी गुणके ही कारण अरहन्त भगवान सिद्धोंसे भी प्रथम पूज्य माने जाते हैं इसलिए देवके स्वरूपमें अरहंत परमेष्ठी शब्दसे तीर्थंकर केवली ही लिये जाते हैं और इसीलिये कविवरने उनको ही नमस्कार किया है ॥ ४ ॥ जिसप्रकार सूर्यकी किरणोंसे बडा भारी अन्धकार भी दूर हो जाता है उसी प्रकार जिन कवियोंने वा कवियोंकी जिस वाणीने इस संसारके प्राणियोंका अज्ञान दूर कर दिया है और जो धर्ममार्गके उपदेशकी प्रवृत्ति करनेवाले हैं ऐसे जैनधर्मकी वृद्धि करनेवाले कवियोंकी वाणी सदा जयशील हो ॥ ५ ॥ इसप्रकार पंच परमेष्ठीकी श्रेष्ठ मांगलिक स्तुति करते हुए तथा श्रीमहावीरस्वामीके समयसे गुरुपरम्परापूर्वक चली आई श्रावकोंके अणुव्रत आदि उत्तम व्रतोंकी स्थितिको अच्छी तरह अध्ययन करनेवाले कविराज राजमल्ल उन्हीं उत्तम व्रतोंके स्वरूपको कहनेवाली 'लाटीसंहिता' नामके ग्रंथको कहनेकी इच्छा करते हैं । भावार्थ—कविराज लाटीसंहिता नामके ग्रंथके बनानेकी प्रतिज्ञा करते हैं ॥ ६ ॥

न्तरीयनिकरैः परितः परीतः खर्णाचलच्छलधृतातपवारणोऽसौ। गङ्गौघचामरविराजित एष जम्बूद्वीपोधिराज इव राजति मध्यवर्ती ॥ ७ ॥ परीत्य जम्बूतरुमालवालव-द्वरीयसोच्चैः परिखाविधनावृते। अकृत्रिमं क्षेत्रमिहास्ति भारतं षडंशमात्रीकृतकालभारतम् ॥ ८ ॥ तत्रार्द्धचन्द्राकृतिकायमाने खण्डानि षट् सन्ति सरिन्नगेभ्यः। खण्डोत्रविख्याततमार्यनामा निःश्रेयसेहास्ति वृषार्जनामा ॥९॥ तत्रास्ति देशो मगधाभिधेयो मध्ये यथाङ्गस्य मुखं सुवृत्तम्। नानापगाकाननभूधराणामालीभिरालिङ्गित-विग्रहोऽसौ ॥ १० ॥ सन्त्यत्र केचिन्नगराधिपास्ते वक्तुं क्षमो क्षोऽपि न यन्महत्त्वम्। वैराटनामा किल तत्समोपि चक्रीव दृष्टः कियदद्भुतश्रीः ॥ ११ ॥ इयन्मही-

इस मध्यलोकके मध्यभागमें यह जंबूद्वीप नामका द्वीप शोभायमान है जो कि चारों ओरसे अन्य अनेक द्वीपसमूहोंके द्वारा घिरा हुआ है। सुवर्णमय मेरुपर्वतके बहानेसे मानो उसने छत्र धारण कर रक्खा है और गंगा सिंधु नदीके प्रपातरूपी चमरोंसे अत्यन्त शोभायमान है। इसप्रकार यह जंबूद्वीप महाराजाधिराज सम्राट्के समान शोभायमान हो रहा है ॥ ७ ॥ मानो जंबूवृक्षके चारों ओर गोल घेराके समान बहुत भारी समुद्ररूपी खाईसे घिरे हुए इस द्वीपमें अनादिकालसे चला आया अकृत्रिम 'भारतवर्ष' नामका एक क्षेत्र है जो कि उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके छह छह समयोंकी प्रभासे सदा सुशोभित रहता है ॥ ८ ॥ उसी अर्द्धचन्द्राकाररूप भरतक्षेत्रमें विजयार्द्धपर्वत और गंगा सिंधु इन दो नदियोंके द्वारा छह खंड हो गये हैं। उन्हीं छह खंडोंमें सबसे अधिक प्रसिद्ध एक आर्यखंड है जिसका दूसरा नाम वृषार्ज वा धर्मसेवन करनेका स्थान है। इस भरतक्षेत्रमें मोक्ष प्राप्त करने वा आत्मकल्याण करनेके लिए यह आर्यखंड ही एक कारण है ॥ ९ ॥ जिसप्रकार शरीरमें मुख सुशोभित होता है उसीप्रकार इस आर्यखंडके मध्य भागमें मगध नामका एक देश शोभायमान है जो कि गोल है और जो अनेक नदियां वन और पर्वतोंकी पंक्तियोंके द्वारा अपने शरीरको सुशोभित बनाये हुए है ॥ १० ॥ उस मगध देशमें अनेक उत्तम नगर हैं जिनकी महिमा वर्णन करनेके लिये बडे-बडे बुद्धिमान भी समर्थ नहीं हो सकते। परंतु उन्हीं नगरोंके समान एक वैराट नामका नगर है जोकि थोडी-सी अद्भुत शोभाको धारण करनेवाले चक्रवर्तीके समान दिखाई देता है ॥ ११ ॥ अन्य पर्वतोंके द्वारा स्पर्श न करनेवाली इस सरल पृथ्वीको इस नगरसे बाहर निकले हुए पुरुष इसका उल्लंघन न कर सकें इसीलिए मानो अपने स्थानपर

मन्यनगैरनाक्तामृजुं विमुक्तानतिवृत्तिहेतोः । स्थानोपविष्टं यमुपेत्य चक्राकारा स्थितासीदिव भूभृदाली ॥ १२ ॥ विलोक्य दंड्यानिव दूरवर्तिनः खनित्रछिन्नानपरांश्च भूभृतः । अमी विदग्धाः समुपासते पुरं विराटसंज्ञं कृतमण्डलच्छलात् ॥ १३ ॥ पुष्पाणां वाटिकाभ्यः प्रचलितमरुतोत्थापितो यः परागः पुञ्जीभूतोद्रिसङ्घान्नभसि परिगतः, शारदीमभ्रशोभाम् । अर्वाक् पौराङ्गनाभिः प्रशमलवमितः कुंकुमाढ्यद्रवाद्यैरूर्ध्वं वैराटसम्राडिव शिरसि बलादातपत्रं निदध्यौ ॥ १४ ॥ यदभ्रमभ्रंलिहसौध-मण्डली शिरःस्मितस्तम्भनियंत्रिताभिः । अयं पताकाभिरुपास्यमानो रराज सम्राडिव चामरौघैः ॥ १५ ॥ विद्यन्ते निधयोऽप्यनादिनिधना नातीव दूरेऽप्यथो नान्यारात्तु तदद्रिपादपुरतः भूमौ लुठन्त्यो नव । सुप्राप्याः सुलभास्त्ववार्यविषयाश्चाबालगोपालकैः विख्याताः पृथिवीषु ताम्रखनयो वैराटकाख्याश्रिताः ॥ १६ ॥ रत्नान्येव चतु-

ही सदा सुशोभित होनेवाले इस नगरके समीप आकर पर्वतमाला इस नगरके चारों ओर चक्रके आकाररूप सदा खडी रहती है ॥ १२ ॥ ऐसा मालूम होता है मानो अन्य दूरवर्ती पर्वतोंको अपराधीके समान कुदालोंके द्वारा छिन्न-भिन्न होते हुए देखकर यह चतुर पर्वतमाला इस नगरके चारों ओर गोल चक्रके बहानेसे इस विराट नगरकी सेवा ही कर रही हो ॥ १३ ॥ चलती हुई हवासे फूलोंकी बगीचियोंसे जो फूलोंका पराग उडता था तथा इकट्ठा होकर उस गोल पर्वतकी टकरसे आकाशमें फैलकर शरद ऋतुके बादलोंकी मधुर शोभाको धारण करता था और जो नगरनिवासिनी ललनाओंके द्वारा कुंकुम मिले हुए चन्दनादि रसके द्वारा कुछ-कुछ शांत हो गया था वह ऐसा मालूम पडता था मानो इस वैराट नगररूपी सम्राट्ने अपने ऊपर मस्तकपर पहलेसे ही जबर्दस्ती छत्र धारण कर लिया हो ॥ १४ ॥ उस नगरके ऊपर आकाशको स्पर्श करनेवाली भवनोंकी पंक्तियां थीं और उनके शिखरके समीप खम्भोंपर लगी हुई जो ध्वजाएं फहरा रही थीं उनके द्वारा उपासना किया हुआ वह नगर ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो चमरोंके समूहोंके द्वारा एक महाराजाधिराज ही शोभायमान हो रहा हो ॥ १५ ॥ वहांपर हमेशासे चली आई नौ निधियां (खजाने) थीं जो उस नगरसे न तो दूर थीं और न अत्यन्त समीप थीं किन्तु उस नगरके पैरोंके सामने पृथ्वीपर लोट रही थीं । इसीप्रकार उस वैराट नगरके समीप भागमें ही तांबेकी खानें थीं जो समस्त पृथ्वीमें प्रसिद्ध थीं और बच्चे भी जिसको जानते थे वे खानें सबको सुभीतेसे मिल जाती थीं सब कोई उनसे लाभ उठा सकता था और उसके लिए किसीको रोकटोक नहीं थी ॥ १६ ॥ रत्न चौदह होते हैं परंतु रत्नोंकी चौदह संख्याका नियम उस नगरमें नहीं था

र्देशेति नियमस्तत्रास्ति नात्रेति यत्रास्तां गजवाजिराजितरथा योषित्सहस्राणि च । सिद्धयन्तीह पदे पदेऽनवरतं धर्मार्थकामादयो हेतुश्चाप्यपवर्गसंज्ञकगतेः सम्पद्यते प्राणिनाम् ॥ १७ ॥ धार्यन्ते शिरसीव दामनिवहा मात्राङ्कमुद्रान्विता वैराटे घटिताः पयोधिवलयादभ्यागटन्तः क्रमात् । नोल्लंघ्या जगतीह सर्वनृपतेश्चाज्ञा इवोल्लेखिता न्यायादागतमेतदेव नियमात्सश्लाघ्यता तत्समः ॥ १८ ॥ हस्त्यश्वपादातिरथाः प्रकामं चमूरिवाभान्ति यथोपमानम् । यत्रानिशं संप्रति वर्तमानाः साम्राज्यभाजोऽस्य किमस्ति शेषः ॥ १९ ॥ भटाः प्रचारोद्भटसौष्ठवोत्कटाः करे ललज्जिह्वयमासिधारिणः । इतस्ततोऽटन्ति रणे समुत्सुका यदत्र सम्राट् स समर्थितोऽर्थतः ॥ २० ॥ प्राकारो

क्योंकि उस नगरमें हाथी घोडे सुसज्जित रथ और हजारों ललनारूपी रत्न तो थे ही किन्तु इनके सिवाय धर्म अर्थ काम ये तीनों पुरुषार्थ वहांपर सदा पद-पदपर सिद्ध होते रहते थे तथा वहांके प्राणियोंको मोक्ष गतिके कारण भी सदा प्राप्त होते रहते थे ॥ १७ ॥ उस वैराट नगरमें कुछ अक्षरोंके चिन्हसे सुशोभित जो अशरफियां बनती थीं वे अनुक्रमसे समुद्रतक चलती थीं तथा बहुतसे लोग उनकी मालाएं बनाकर मस्तकपर धारण करते थे । इससे यह साबित होता था कि यह नगर सब नगरोंका सार्वभौम राजा है सार्वभौम राजाके समान इसकी आज्ञा भी इस संसारमें कहीं उल्लंघन नहीं हो सकती यही मानो उन मालाओंकी अशरफियोंमें लिखा हुआ था । सो ठीक ही है और परंपरासे चली आई न्यायसिद्ध बात है कि सार्वभौमकी आज्ञाका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता । इसप्रकार वह नगर सार्वभौम राजाके समान प्रशंसनीय गिना जाता था ॥ १८ ॥

उस वैराट नगरमें हाथी घोडे पदाति (पैदल चलनेवाली सेनाके लोग) और रथ जैसे चाहिए वैसे अच्छी संख्यामें सदा फिरा करते थे और वे सदा सेनाके समान सुशोभित होते थे । फिर भला उस वैराट नगरको सम्राद् बननेमें बाकी ही क्या रहा ॥ १९ ॥ अपने प्रचार करनेकी कठोरतामें भी अपनी सज्जनतासे बडे माने जानेवाले तथा जिनके हाथमें लपलपाती हुई यमराजकी जीभके समान लंबी तलवार लटक रही है और जो युद्धके लिए सदा उत्कंठित रहते हैं ऐसे योद्धा उस नगरमें इधरसे उधर घूमा ही करते थे । इससे जान पडता है कि उस वैराट नगरमें वह सम्राद् धनसे खूब ही भरपूर था ॥ २० ॥ उस वैराट नगरके चारों ओर कंकणके आकारका गोल

वलयाकृतिः परिलसन्नानारत्ननिर्मापितो वैराट प्रविवेष्टय भाति परतः सर्वान्यचक्रोज्झितम् । मन्याहे किल दृष्टनष्ट इव यद्भासानिहाभ्रंलिहि तन्मन्ये परिवेष एष शशिना सेवाकृते प्रेषितः ॥ २१ ॥ उपर्युपरि शालमशेषतः क्रमात् पुरःस्थिताः कंगुडसंज्ञया मताः । मन्ये नु वैराटनृपस्य नेमेरारा दरिद्रारिविनाशनाय ॥ २२ ॥ प्राकारात्परितोऽप्यनन्तरतमो यस्यास्त्यपाच्यां दिशि विख्यातो भुवि वन्हिना द्रवकरो, नाम्नापि ताम्राकरः । कोष्ठाग्नेर्वडवानलानलमयां घोषाश्च भस्त्रारवैः किट्टोर्मीर्दधता यमार्यशकलोऽनेनैव खण्डाब्धिना ॥ २३ ॥ पातालमादातुमपीहकामो वैराटनामा परिखोन्मिषद्वै । जिष्णुर्यतोनेकपदाहवे यत्तृणाय मन्येत जगत्त्रयं यत् ॥ २४ ॥ विरे-

परकोटा शोभायमान था जो कि अनेक प्रकारके सुंदर पत्थरोंसे बना हुआ था और अन्य शत्रुरूप राजाओंकी सेनाके द्वारा सर्वथा रहित था अर्थात् शत्रुओंकी सेना जिसके पास फटकने भी नहीं पाती थी। औरकी तो बात ही क्या है आकाशको स्पर्श करनेवाले उस कोटके भीतर सूर्य भी केवल दोपहरके समय क्षणभर दिखाई देता था और फिर शीघ्र ही नष्ट हो जाता था अर्थात् कोटकी ओझलमें आ जाता था । इससे ऐसा मालूम होता था मानो वह कोट नहीं था किंतु चंद्रमाने उस वैराट नगरकी सेवा करनेके लिए अपना चारों ओरका मंडल ही भेज दिया हो ॥ २१ ॥ उस परकोटाके ऊपर अनुक्रमसे चारों ओर एक शाल था तथा उस शालमें सामनेकी ओरसे (बाहरकी ओरसे) दिखनेवाले कंगूरे थे। वे कंगूरे ऐसे मालूम पडते थे मानो दरिद्रतारूपी शत्रुको नाश करनेके लिए वैराट नगररूपी राजाके रथके पहियोंके आरे ही हों ॥२२॥ उस नगरकी दक्षिण दिशामें परकोटाके बाहर किन्तु परकोटासे लगा हुआ तांबेकी खान नामका एक तांबा निकालनेका कारखाना था। जो संसारभरमें प्रसिद्ध था। वह कारखाना एक छोटेसे खंड समुद्रके समान था जिसमें कोठेकी अग्नि बडवानलके समान धधकती थी, धोंकनीके शब्द समुद्रकी गर्जनाके समान सुनाई पडते थे और तांबेका मैल समुद्रकी लहरोंके समान दिखाई पडता था। ऐसा मालूम पडता था मानो इसी खंड समुद्रसे ही यह नगर आर्यखंडका एक भाग कहलाता हो। भावार्थ—उससे उस नगरकी अच्छी शोभा थी ॥ २३ ॥ उस नगरके चारों ओर जो खाई थी उससे वह वैराट नगर ऐसा मालूम पडता था मानो उस खाईके बहानेसे पातालको पकडनेकी ही इच्छा कर रहा हो। तथा इसका भी कारण यह है कि वह नगर अनेक युद्धोंमें विजय पा चुका था और इसीलिए वह तीनों लोकोंको भी अपने

जुरत्रापि च सौधपंक्तयः सितादिवर्णोपलचित्रभित्तयः । उपर्युपर्याजलदाध्वगामिनो गृहोपरिष्टाद्गणनातिगां गृहाः ॥२५॥ मनुजनामविधेरुदयात्परं जनितमात्रतया नरजाङ्गना । सुतनुकान्तिभरादतिशायिनाच्छुशुभिरे किमिहामरयोषितः ॥ २६ ॥ सुधावधूलीकृतगात्रयष्टयो यदीयसौधा. स्वगुणातिशायिनः । हसन्ति यद्वा कुकवीनमीमि. सम विमानान्युत्प्रेक्षितो दिवः ॥ २७ ॥ गृहाग्रसंलग्नमृगाङ्ककान्तयो विधोः कराश्लेषवशात्स्रवन्ति वा । जितो हि वैराटवधूजनाननै रुदन्निवेन्दुः प्रहताविकारतः ॥ २८ ॥ हर्म्याङ्गणेषु खचितस्फटिकोपलेषु काचिच्च बालवनितानुपतिं नवोढा । दृष्ट्वात्मनः प्रतिनिधिं किल शंकिनासीद्रक्तेक्षणा क्षणममर्षधिया सपत्न्याः

८ सामने तृणके समान न कुछ मानता था ॥ २४ ॥ उस वैराट नगरमें मकानोंकी पक्तियां बडी अच्छी शोभायमान थीं जिनकी दीवालें सफेद लाल पीले आदि अनेक रंगके पत्थरोंसे बनी हुई थीं और इसीलिए वे अनेक अनेक वर्णकी दिखाई पडती थीं। उन घरोंके मंजिल ऊपर-ऊपर आकाशतक चले गये थे और वे इतने थे कि उनकी संख्या भी नहीं की जा सकती थी। भावार्थ–वे मकान भी अनेक मंजिलोंके थे ॥ २५ ॥ उस नगरकी स्त्रियां यद्यपि मनुष्यायु और मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई थीं तथापि अपने सुंदर शरीर और कांतिके समूहसे अत्यंत शोभायमान होती थीं। उनकी शोभाके सामने देवांगना भी कोई चीज नहीं थीं ॥ २६ ॥ अपने गुणोंसे अत्यंत शोभायमान होनेवाले वहांके मकान चूनासे सफेदी किए हुए ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो जो कुकवि इन मकानोंके साथ स्वर्गके विमानोंकी उत्प्रेक्षा करते हैं उन कुकवियोंके लिए हंसरहे ही हों। भावार्थ–वहांके मकान स्वर्गके विमानोंसे भी सुंदर थे ॥२७॥ उन घरोंके सामने जो चन्द्रकांता मणि लगे हुए थे उनसे चंद्रमाकी किरणोंके पडनेसे सदा पानी बहा करता था और उससे ऐसा मालूम पडता था मानो वह चंद्रमा वैराट नगरकी स्त्रियोंके मुखसे जीता गया था और उसका सब अधिकार (सुंदरताका अधिकार) छीन लिया गया था इसीलिए वह रो रहा ही हो ॥२८॥ उन मकानोंके आंगनोंमें जो स्फटिक मणिके पत्थर लगे हुए थे और उनपर जो अपने पतिके समीप खडी हुई किसी नवीन विवाहिता बाल वनिताकी परछांई पड रही थी उस परछांईको देखकर उस नवीन विवाहिता बाल वनिताको अपनी सौतका संदेह हो गया था और उसकी ईर्ष्यासे क्षणभरके लिए उसके नेत्र लाल हो गए थे ॥ २९ ॥ जहां स्फटिक मणिके पत्थर लगे हुए थे उसीके पास मकानोंकी

॥ २९ ॥ बभुः सरांसीव भुवो यदन्तरे गृहाङ्गभागेषु मणित्विषां चयाः । वरांगनाः संवरिताम्बराः क्षणं ययुर्जलान्तास्तरणातुराः पुनः ॥३०॥ यत्रात्र कान्ता रतवेश्मनीह निवेशितादर्शशताश्रमभित्तौ । बाला प्रतिच्छायमवेक्ष्य रूपं वृथाऽकरोन्मानमनल्पसंभ्रमात् ॥ ३१ ॥ विचित्रचित्राणि यदीयसद्मसु व्यलीलिखत्कर्मसु सूत्रधारः । नून विलोक्यैतदकारि सद्विधिः जगत्परं चात्मकृतार्थतां गतः ॥ ३२ ॥ यदंगनामंगलगानकोटिभिः, प्लुते मुदातोद्यरवैर्विहायसि । विधूपिताशामुखधूपधूम्रकैरिहानिशं रौति शिखीं स्म वेश्मसु ॥ ३३ ॥ विद्यन्ते नगराण्यनन्तगणितान्यासागरार्णांसि वै तत्रापि प्रतिपत्तन युवतयस्तारुण्यतोयोर्मयः । किन्त्वत्रत्यवरांगनापरिलसद्दृक्कोण- सर्ग १

दीवालोंमें बहुतसे मणि लग रहे थे जिनकी कांति उन स्फटिक मणियोंपर पड रही थी जिससे वह जमीन सरोवरके समान जान पडती थी उसे देखकर नवीन सुंदर स्त्रियां क्षणभरके लिए अपने कपडे समेटकर ऊंचे कर लेती थीं और उसमें तैरनेकी इच्छा करती थीं परंतु थोडी ही देर बाद मालूम होनेपर वे बडी ही लज्जित होती थीं ॥ ३० ॥ उस नगरके मकानोंके भीतर जो रंगमहल बने हुए थे और उनकी दीवालोंमें जो सैकडों दर्पण लगे हुए थे उनमें जाकर नवीन स्त्रियां अपने अनेक प्रतिबिम्बोंको देखकर बडे भारी संभ्रमके साथ जो मान करती थीं वह बिल्कुल व्यर्थ पड जाता था ॥ ३१ ॥ वहांके मकानोंमें कारीगरोंने जो अनेक प्रकारके चित्र बनाए थे वे ऐसे जान पडते थे मानो ब्रह्माने उनको देखकर ही यह जगत बनाया हो और अपना नाम कृतार्थ किया हो ॥ ३२ ॥ वहांपर स्त्रियोंके करोडों मंगलगान होते रहते थे, बाजे बजते रहते थे और सब दिशाओंमें जिनका धूआं भर रहा है ऐसी धूपदानोंमें धूप खेई जाती थी । उन गानोंसे, बाजोंसे और खेई हुई धूपके धूएंसे आकाश सदा भरा रहता था जिसे देखकर घरके मोर सदा चिल्लाया करते थे । भावार्थ–वे मोर धूपके धूएंको बादल और बाजोंकी आवाजको बादलोंकी गजना समझते थे और इसीलिए वे सदा बोला करते थे ॥ ३३ ॥ समुद्रतक फैलीहुई इस विशाल पृथ्वीपर अनेक नगररूपी समुद्र हैं और उन प्रत्येक नगरोंमें तारुण्यरूपी जलकी लहरोंके समान अनेक चंचल स्त्रियां हैं परन्तु इस वैराट नगरकी सुन्दर स्त्रियोंके सुशोभित नेत्रोंके कोणोंकी गएं वा कटाक्षरूपी बाणोंके कारण यह प्रसिद्ध कामदेव इस वैराट नगरको ही अनुपम किला समझता था । वहांकी स्त्रियां बहुत ही सुंदर थीं और उनके कटाक्ष बडे ही जबर्दस्त थे ॥ ३४ ॥ समस्त संसारको ९

लीलावली वाणाङ्गैर्मनुतेस्म दुर्गमतुलं वैराटक मन्मथः ॥ ३४ ॥ आसीदयत्नादपि जागरूको जगज्जिगीषुः कुसुमायुधश्च । लीलारणन्नूपुरतौर्यनादैर्निशादि वैराट-पुरांगनानाम् ॥ ३५ ॥ यदीयहर्म्याग्रनिबद्धपङ्क्तीर्दुकूलरत्नाभरणाचलकृताः । वधूरुपेत्येन्द्रधनुःशताकृतिमगादकालेऽपि विराटपत्तनम् ॥ ३६ ॥ विराटवीथीषु नवोढयो-षितां गमागमाभ्यासवशानुसारिभिः । तदाननामोदमदालिनिःस्वनैरय मधुः कोप्यपरः सदातनः ॥ ३७ ॥ घनाघनारलेषजगज्जनैर्विवैराटहट्टाध्वसु पर्यटद्भिः । गतेः प्रचारोपि च दुर्गमोऽभूद्वारांनिधेः पार इवोर्म्मिजालैः ॥ ३८ ॥ अनेकदेशीयजनैरनेकैश्चितः सरिद्भिः सरितांपतिर्यथा । तदागमिष्यन्निखिलोपमेयतां यदा स सिन्धु-

जीतनेकी इच्छा करनेवाला कामदेव उस वैराट नगरकी स्त्रियोंके लीलापूर्वक बजतेहुए बिछुओंकी आवाजरूपी तुरईके शब्दोंसे बिना किसीप्रकारके यत्नके भी रातदिन जागृत रहता था ॥ ३५ ॥ उस नगरकी सुन्दर स्त्रियां रत्नजडित वस्त्र और आभूषणोंको पहनेहुए मकानोंके ऊपर चढकर पंक्तिबद्ध होकर खडी हो जाती थीं और उन रत्नोंकी किरणोंसे जो इन्द्रधनुषसे पड जाते थे उससे ऐसा मालूम होता था मानो वह वैराट नगर उन स्त्रियोंके पास पहुंचकर असमयमें ही सैकडों इन्द्रधनुषोंके आकारमें परिणत हो गया है ॥ ३६ ॥ उस वैराट नगरकी गलियोंमे जो नवोढा स्त्रियां इधर-उधर आती जाती थीं तथा उनके पीछे-पीछे चलनेवाले और उनके मुखकी सुगंधिसे मदोन्मत्तहुए भ्रमर जो गुंजार कर रहे थे उनसे ऐसा मालूम पडता था मानो यह सदा रहनेवाला कोई अपूर्व ही वसन्त है ॥ ३७ ॥ जिसप्रकार लहरोंके समूहोंसे समुद्रके पार होना अत्यन्त कठिन हो जाता है उसीप्रकार उस वैराट नगरके बाजारके मार्गोंमें चलने-फिरनेवाले समस्त संसारके लोगोंके द्वारा जो बडी भारी भीड इकट्ठी हो गई थी और लोग एक दूसरेसे टक्कर खाते हुए चलते थे उससे गतिका प्रचार भी अत्यंत कठिन हो गया था अर्थात् उन बाजारोंमें चलना भी अत्यंत कठिन हो गया था ॥ ३८ ॥ जिस प्रकार अनेक नदियोंसे समुद्र भर जाता है उसी प्रकार वह वैराट नगर अनेक देशोंमें रहनेवाले अनेक लोगोंसे सदा भरपूर रहता था । अंतर केवल इतना ही है कि इस नगरको समुद्रकी पूर्ण उपमा तब दे सकते हैं जब कि वह समुद्र मीठा हो जाय । भावार्थ—समुद्र तो खारा होता है और नदियोंका मीठा पानी भी उसमें आकर खारा हो जाता है परंतु नगर बडा ही मधुर और सरस था तथा उसमें अनेक देशके जो अनेक लोग आते थे वे भी मधुर और

र्मधुरोऽभविष्यत् ॥३९॥ वेदाः प्रमाणं हि पठद्भिरुच्चैर्विप्रैरनूनैरिह सम्भृतोऽसौ । शुक्लम्बरांगश्च चतुर्भिरास्यैर्वैराटनाम्नावततार धाता ॥ ४० ॥ उर्वी यदन्ते विपुला स्वसीम्नः सस्यारुहाः सप्रसवेव योषित् । धान्यानि सूते विविधान्यजस्रं रत्नानि यद्वा सुसुनोपमानि ॥ ४१ ॥ सार्द्राणि यत्रोपवनानि नित्यं नम्राणि भूयो मरुनेरितानि । वाचालितानीव पिकस्वनाद्यैः सप्रश्रयाणीव हि पार्षदानि ॥ ४२ ॥ यस्यान्तिके कूपतडागवाप्यः सुधावलिप्तोज्वलकण्ठदेशाः । परीत्य पूर्णं प्रतिबिम्ब-मिन्दो. स्थिताःविरेजुर्नभसीव तारः ॥ ४३ ॥ सरस्सु वापीषु कुशेशयानां क्वचित्सहस्राणि शतानि यत्र । वैराटसाम्राज्यमुखेन्दुशोभा द्रष्टुं धरित्र्याः धृतलोचनानि

सरस हो जाते थे। रूक्ष प्रकृतिका मनुष्य भी यहां आकर सरस आर मधुर हो जाता था इसलिए समुद्रके साथ इसकी उपमा तभी बन सकती है जब कि समुद्र मीठा हो जाय ॥ ३९ ॥ चारों वेद ही प्रमाण हैं इस बातको ऊंचे स्वरसे पढते हुए अनेक ब्राह्मणोंसे वह नगर भरा हुआ था और ऐसा मालूम पडता था मानो सफेद वस्त्र और सफेद शरीरको (गौरवर्ण) धारण करनेवाला ब्रह्मा अपने चारों मुखोंसे वैराट नामसे ही अवतरित हुआ हो। भावार्थ—वह वैराट ऐसा मालूम पडता था मानो उस नगररूपसे ब्रह्माने ही अवतार लिया हो ॥ ४० ॥ जिसप्रकार वहांकी स्त्रियां पुत्र उत्पन्न करनेवाली थीं उसीप्रकार वहांकी अपनी सीमापर्यन्त पडी हुई विशाल पृथिवी बहुतसे धान्योंको उत्पन्न करनेवाली थी। अन्तर केवल इतना ही था कि स्त्रियां पुत्ररत्न उत्पन्न करती थीं और वह पृथिवी सदा अनेक प्रकारके धान्य उत्पन्न करती थी अथवा रत्नोंको भी उत्पन्न करती थी ॥ ४१ ॥ वहांके बगीचे सदा जलसे सींचे रहते थे तथा उन बगीचोंके पौधे हवाके चलनेसे सदा नम्र बने रहते थे और कोयलोंके मधुर शब्दोंसे सदा गूंजते रहते थे इसलिये वे बगीचे ऐसे मालूम पडत थे मानों समीप रहनेवाले नम्र सेवक ही हों ॥ ४२ ॥ उस नगरके चारों ओर उस नगरको घेरे हुए अनेक कूए अनेक तलाब और अनेक बावडियां थीं जिनके ऊपरका भाग चूनासे सफेदी किया हुआ अत्यंत स्वच्छ दिखाई पडता था। सफेद भवनों-वाले उस नगरको घेरे हुए वे ऐसे मालूम पडते थे मानो आकाशमें चन्द्रमाके पूर्ण विम्बको घेरे हुए अनेक तारे ही शोभायमान हो रहे हों ॥ ४३ ॥ उन तालाबों और बावडियोंमे कहींपर सैकडों कमल थे और कहींपर हजारों कमल थे और वे ऐसे मालूम पडते थे मानों उस वैराट नगररूपी सम्राट्के मुखरूपी चन्द्रमाकी शोभा

॥ ४४ ॥ लोलोर्म्मयो यत्र जलाशयेषु क्षणं पतित्वाथ समुत्पतन्ति । मन्ये मुखं वीक्ष्य विराटराज्ञः स्खलन्त्यनंगादवलाः पदे पदे ॥ ४५ ॥ वापीकूपतडागचत्वरमठ-क्रीडाद्रिवाट्यादिषु भामिन्यो रमणैः सहोत्सुकतयोद्रेकाद्रमन्ते रहः । तन्मन्ये ऽमरदम्पतीशतमिदं स्वर्गात्समुत्तीर्य यत् दृष्ट्वाश्चर्यपरंपरां मुदमगाद्वैराटपार्श्वे स्थितम् ॥४६॥ गमागमाभ्यामटता जनाना श्रेणी चतुर्दिक्षु चतुर्मुखेभ्यः । अत्राकरिष्यदलमेव सुरापगायाः पूरेण सा चेदमविष्यदेका ॥४७॥ यतो बहिर्भागधरासु संस्थिताः कृषीवलाः सार्भकबन्धुयोषित. । मनाग्मनाग्न्तरमाश्रिताश्रमाः दधुर्दिवाग्रामशतोपमेयताम् ॥ ४८ ॥ क्रीडाद्रिशृंगेषु च पाण्डवानामद्यापि चाश्चर्यपरंपरांङ्काः । यान्कांश्चिदालोक्य बलावलिप्ता दर्पं विमुञ्चन्ति महाबला अपि ॥४९॥ जले जने नक्रमहानियोजनं धनुर्भृता ज्यानिहतिर्न सम्पदाम् । रणे यनौ चापगुणे न संग्रहो विशालता

देखनेके लिए पृथ्वीने ही सैकडों वा हजारों नेत्र धारणकर लिए हों ॥ ४४ ॥ वहांके जलाशयोंमें चंचल लहरें क्षण-क्षण भरमें उठती थीं और फिर शीघ्र ही उसमें लीन हो जाती थीं। कविराज कहते हैं कि हम तो ऐसा मानते हैं कि वे लहरेंरूपी स्त्रियां वैराटनगररूपी राजाके मुखको देखकर कामदेवके वश होकर पद-पदपर स्खलित हो रही थीं ॥ ४५ ॥ वहांके कुए, बावडी, तालाब, चौपाड, मठ, क्रीड़ा करनेके छोटे-छोटे पर्वत और रास्तोंमें अनेक स्त्रियां अपने-अपने पतियोंके साथ एकांत स्थानमें बडी उत्सुकता और उन्मत्तताके साथ क्रीडा कर रही थीं। उन्हें देखकर हम तो ऐसा मानते हैं मानों देव और देवांगनाओंके सैकडों जोडे स्वर्गसे उतरकर और यहांकी अनेक आश्चर्यपरंपराको देखकर तथा अत्यंत प्रसन्न होकर इस वैराट नगरके समीपमें ही ठहर गये हैं ॥४६॥ वहांके चौराहोंपर इधर-उधर आनेजानेवाले लोगोंके द्वारा जो चारों दिशाओंमें चार श्रेणियां बन जाती थीं वे ऐसी मालूम पडती थीं मानों आकाशगंगाने अपने पूरसे सब एक ही श्रेणी बना दी हो ॥ ४७ ॥ उस नगरके बाहरके भागकी पृथिवीपर जो खेती करनेवाले किसान अपने भाई बच्चे और स्त्रियोंके साथ रहते थे और उन्होंने जो थोडी-थोडी दूरपर अपने रहनेके स्थान बना लिए थे वे ऐसे जान पडते थे मानो स्वर्गके सैकडों गांव ही हों ॥ ४९ ॥ वहांपर पांडवोंके क्रीडा करनेके जो पर्वत हैं उनकी शिखरपर जो सदा आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले चिन्ह हैं उनमेंसे कुछ थोडेसेको ही देखकर बडे भारी बलको धारण करनेवाले भी योद्धा आज भी अपने अभिमानको छोड बैठते हैं ॥ ४९ ॥ वहांके मनुष्योंमें क्रमहानि (क्रमका उल्लंघन करना) नहीं थी किन्तु जलमें ही नक्रम-

१ इसमें तीन चरण उपजाति छन्दके हैं और एक चरण वसन्त तिलकाका है।

यत्र न सा विशालता ॥ ५० ॥ दण्डोस्ति छत्रे न किल प्रजायां बन्धोऽस्ति हारे न जने क्वचिद्वै । गन्धापहो गन्धवहोस्ति तस्करो न तस्करः कोपि परार्थसंग्रहे ॥ ५१ ॥ नवोढवध्वा नवसंगमे भय न जातु भीतिः परचक्रिणो रणे । वस्त्रापहारो रतकर्मणि ध्रुवं यत्रापहारोस्त्यपरो न कश्चित् ॥ ५२ ॥ छिद्रग्रहो मौक्तिकदामगुम्फे न सूययान्योन्यजनेषु कश्चित् । द्यूते ध्वनिर्मारय मारयेति न बालगोपालमुखेषु यत्र ॥ ५३ ॥ ताम्बूलभुक्ताक्षितिखण्डनं वा भोगोपभोगे न च तत्कदाचित् । क्षतं

हानि अर्थात् बडे-बडे मगर मच्छ थे इसीप्रकार वहांपर धनुष धारण करनेवालोंमें ही प्रत्यंचा (धनुषकी डोरी) की निहति (तोडना वा नमाना) थी वहांके धनकी निहति अर्थात् नाश कभी नहीं होता था। वहांपर चापगुण अर्थात् धनुष और उसकी डोरीका संग्रह केवल युद्धमें ही होता था चाप गुण—अपगुण अर्थात् बुरे गुणोंका संग्रह किसी यतिमें नहीं था। तथा वहांकी जो विशालता वा बडप्पन था वह शालीनता वा गौरवतासे रहित नहीं था ॥ ५० ॥ वहांपर दंड केवल छत्रमें ही था, प्रजामें किसी प्रकारका दंड नहीं था। बंध केवल हारमें था (हार गूंथा जाता था) वहांके मनुष्योंमें किसीको भी किसीप्रकारका बंधन (जेल आदि) नहीं था। वहांपर फूलोंकी सुगंधिको अपहरण करनेवाली वायु ही चोर थी दूसरेके धनको चुरानेवाला वहांपर कोई मनुष्य नहीं था ॥ ५२ ॥ वहांपर नवोढा स्त्रियोंको पतिके नवीन वा प्रथम समागममें ही भय उत्पन्न होता था इसके सिवाय वहांके लोगोंमें परचक्रका (किसी शत्रुरूप अन्य राजाका) भय कभी नहीं होता था। इसीप्रकार वस्त्रोंका अपहरण (वस्त्रोंको उतारकर छीनना) केवल संभोगक्रियामें ही था, इसके सिवाय वहांपर और किसी प्रकारका भी अपहार (छीना झपटी) नहीं था ॥५२॥ वहांपर छिद्रोंका ग्रहण केवल मोतियोंकी माला बनानेमें था अर्थात् माला बनानेमें मोतियोंके छिद्र ढूंढे जाते थे, ईर्ष्याके द्वारा परस्पर एक दूसरेके छिद्र कोई किसीके नहीं ढूंढता था। 'मार-मार' ये शब्द केवल जूआ खेलनेमें थे, इसके सिवाय वहांके बच्चे और गवालियोंतकके मुखसे कभी मार-मार शब्द नहीं निकलते थे ॥ ५३ ॥ वहांपर खंडन शब्द केवल तांबूलोंके खानेमें था इसके सिवाय वहांके भोगोपभोगोंका खण्डन कभी नहीं होता था। इसीप्रकार क्षत शब्द सुन्दर स्त्रियोंके शरीरपर केवल नाखूनोंके चिन्होंका सुनाई पडता था वहांके सुखोंमें अथवा मकानोंकी पक्तियोंमें कभी क्षत शब्द सुनाई नहीं पड़ता था

नखाकैर्वैरस्योषिदगे सैाध्यावलीसंहनने न यत्र ॥ ५४ ॥ रागोऽधरे यत्र नितम्बिनीनां नान्यस्वदाराधनवञ्चनेषु । नेत्रद्वयो रञ्जनमञ्जनानां पापाञ्जनं नैव जनेषु किंचित् ॥ ५५ ॥ पयोजनाले परमस्ति कण्टको न कण्टकः कोऽपि मिथः प्रजायाम् । नून सरोगो न जनोऽत्र कश्चित् परं सरोगो यदि राजहंस. ॥ ५६ ॥ दरिद्रता दातृजने न यत्र परं प्रतिग्राहिणि सास्ति पात्रे । नान्तस्तदाश्चर्यपरंपराणामापूर्यता चेकविधर्मशक्तिः ॥ ५७ ॥ इत्याद्यनेकैर्महिमोपमानैर्वैराटनाम्ना नगरं विलोक्य । स्तोतुं मनाग्मनया प्रवृत्त. सानदमास्ते कविराजमल्ल· ॥५८॥ आसीदुग्रसमग्रवंशविदिता या स्वर्धुनीवामला नानाभूपतिरत्नभूरिव परा जातिश्च गत्ताभिधा । तस्यां बाबरपाति-

॥ ५४ ॥ वहांपर राग शब्द केवल स्त्रियोंके अधरमें पाया जाता था, दूसरोंके धनको ठगने अथवा दूसरोंकी स्त्रियोंको ठगनेमें वहांपर किसीको राग नहीं था। इसी प्रकार दोनों नेत्रोंमें अंजन लगाना केवल स्त्रियोंमें था, वहांके लोगोंमें पापरूप अंजन वा मैल बिल्कुल नहीं था ॥ ५५ ॥ वहांपर कांटे केवल कमलनालमें थे, इसके सिवाय वहांकी प्रजामें परस्पर एक दूसरेको कोई कंटकरूप वा बाधा देनेवाला नहीं था तथा वहांपर कोई भी मनुष्य सरोग अर्थात् रोग सहित नहीं था। यदि वहांपर सरोग (सर--तालाब और ग--चलनेवाला। सरोग अर्थात् तालाबमें चलनेवाला) शब्द था तो केवल राजहंसोंमें था। अर्थात् राजहंस ही तालाबोंपर चलते थे वहांपर कोई मनुष्य रोगी नहीं पाया जाता था ॥ ५६ ॥ वहांपर दाता लोगोंमें दरिद्रता नहीं थी यदि दरिद्रता वस्त्ररहितपना वा निर्ग्रंथपना था तो जिनका प्रतिग्रहण किया जाता था ऐसे पात्रोंमें अर्थात् मुनियोंमें था। कहांतक कहा जाय उस नगरमें होनेवाले आश्चर्योंकी परंपराका आश्चर्योंके समूहका कोई अन्त नहीं था। यदि किसी कविमें कविताकी पूर्ण शक्ति हो तो उसे चाहिए कि वह उन आश्चर्योंका निरूपणकर समस्त आश्चर्योंको दिखलावे ॥ ५७ ॥ इसप्रकार अनेक महिमा और उपमाओंसे भरपूर वैराट नगरको देखकर राजमल्ल कविने आनंदित होकर और उसे अपना समझकर उसकी यह कुछ प्रशंसा लिखी है ॥ ५८ ॥

समस्त तेजस्वी वंशोंमें प्रसिद्ध, गंगानदीके समान निर्मल अनेक राजारूपी रत्नोंको उत्पन्न करनेका स्थान और उत्कृष्ट ऐसी एक गत्ता नामकी जाति थी। उस जातिमें एक बाबर नामक बादशाह हुआ था जो कि देहली प्रान्तमें सुशोभित होनेवाले अपने यशसे जबर्दस्ती समस्त शत्रुओंको जीतनेवाला था और सूर्यके समान

साहिरभवन्निर्जित्यशत्रून् बलाद्दिल्लीमण्डलमण्डितात्मयशसा पूर्णप्रतापानलः ॥ ५९ ॥ तत्पुत्रः समजीजनन्निजकुले व्योम्नीव चण्डांशुमान् दोर्दण्डैरिव खंडनोद्भट-मना नाम्ना हुमायूं नृपः । दुर्वारो त्रिलसत्प्रतापमहिमा चेतांतपत्राकितो विख्यातो भुवि यः समुद्रपरिखापर्यंतभूमीश्वरः ॥ ६० ॥ तत्पुत्रोऽजनि सार्वभौमसदृशः प्रोद्यत्प्रता-पानलज्वालाजालमतल्लिकाभिरभितः प्रज्वालितारित्रजः । श्रीमत्साहिशिरोमणिरकबरो निःशेषशेषाधिपैः नानारत्नकिरीटकोटिघटितः सृग्भिः श्रितांह्रिद्वयः ॥ ६१ ॥ श्रीमद्भिंडीरपिण्डोपमितमितनभः पाण्डुराखण्डकीर्त्या कृष्टं ब्रह्माण्डकाण्डं निजभुजयशसा मण्डपाडम्बरोऽस्मिन् । येनासौ पातिसाहिः प्रतपदकबरप्रख्यविख्यातकीर्तिर्जीया-द्वोक्ताथ नाथः प्रभुरिति नगरस्यास्य वैराटनाम्नः ॥ ६२ ॥ जैनो धर्मोनवद्यो जगति विजयतेऽद्यापि सन्तानवर्ती साक्षाद्दैगम्बरास्ते यतय इह यथा-जातरूपाङ्कलक्ष्याः ।

पूर्ण प्रतापी था ॥ ५९ ॥ जिसप्रकार आकाशमें सूर्य शोभायमान होता है उसीप्रकार उसी अपने कुलमें उस बाबर बादशाहके हुमायुं नामका पुत्र हुआ था जिसने अपनी भुजारूपी दण्डोंसे बडे-बडे योद्धाओंके मान खंडन कर दिये थे । जो अजेय था, उसके प्रतापकी महिमा संसारमें प्रसिद्ध थी, वह एक छत्रधारी बादशाह था और संसारमें प्रसिद्ध तथा समुद्ररूप खाईतक पडी हुई विशाल पृथ्वीका स्वामी था ॥ ६० ॥ उस हुमायुंके पुत्रका नाम बादशाह अकबर था जो कि सार्वभौम सम्राट्के समान था, सबजगह फैले हुए अपने प्रतापरूपी अग्निकी ज्वालाके समूहसे जिसने अपने चारों ओरके समस्त शत्रु जला दिये थे । और बाकी बचे समस्त राजाओंकी मालाओंके द्वारा तथा उनके मुकुटोंमें लगे हुए अनेक रत्नों द्वारा जिसके दोनों चरण आश्रित थे । भावार्थ—सब राजा जिसकी सेवा करते थे ॥ ६१ ॥ समुद्रफेनके समान सफेद और आकाशके समान विशाल ऐसी अपनी अखंड कीर्तिसे तथा अपनी भुजाओंके यशसे जिसने यह समस्त ब्रह्मांडरूपी मंडप इसी वैराट नगरमें आकर्षित कर लिया है और जो अकबरके नामसे समस्त संसारमें प्रसिद्ध है ऐसा इस वैराट नगरका स्वामी बादशाह अकबर सदा चिरंजीव रहो ॥ ६२ ॥

यह संतान दरसंतानरूपसे चला आया निर्दोष जैनधर्म आज भी संसारमें विजयी हो रहा है । तथा साक्षात नग्न अवस्थाको धारण करनेवाले ये दिगम्बर मुनिराज भी आज संसारमें विजयशील हो रहे हैं । मैं उस निर्दोष जैनधर्मको और उन मुनिराजोंको तीनों समय नमस्कार करता हूं, जिनके फैले हुए प्रसादसे यह मोक्षमार्ग

तज्जिनमन्दिरं स्फुटमिह प्रोत्तुंगमत्यद्भुतम्। वैराटे नगरे निधाय विधिवत् पूजाश्च वह्व्यः कृत–मत्रामुत्र सुखप्रदः स्वयशसः स्तम्भः समारोपितः ॥ ७३ ॥ श्रीसंघाधिपतिः प्रतापतपनो भोल्हा द्वितीयोंगजो, दुर्दान्तारिकुलाचलाधरशिरःपाताय वज्रायितः। पार्थाऽऽयायितविक्रमः स्वशरणायायातधात्रीभुजां वैराटीयमहत्तरेष्वपि महत्सूत्रायितं यद्वचः ॥ ७४ ॥ उक्तभ्रातृयुगावरोपि जननोपज्ञीगहेनोः क्रमात् सर्वैरेव गुणैर्वरस्तदुभयप्रोक्तोक्तिसंसूचितः। अन्यैः कैश्चिदपि प्रकर्षकरणैर्लब्धावकाशो गुणैर्नाम्ना 'फामन' साम्यधर्मनिरतो जीयादुपज्ञाग्रणीः ॥ ७५ ॥ येनानन्तरितामिधानविधिना सङ्घाधिनाथेन यच्छर्मारामयशोमयं निजवपुः कर्तुं चिरादीप्सितम्। तन्मन्ये फलवत्तरं कृतमिदं लब्ध्वाधुना सत्कविम् वैराटे स्वयमागतं शुभवशाद् भूमीशमल्लाह्वयम् ॥ ७६ ॥ प्रागज्ञायि महात्मनात्ममतिना येनैतदध्यक्षतः धर्मादेव सुखश्रितो

भरण पोषण करनेवाले थ और शुक्लपक्षके समान अपने वंशके निर्मल यशके स्थान थे ॥ ७२ ॥ उनमेंसे प्रथम पुत्र दूदाके पुत्रका नाम 'न्योता' था। वह न्योता बहुत उत्तम था, अनेक गुणोंसे सुशोभित था और संघका अधिपति था। उसी न्योताने वैराट नगरमें बहुत ऊंचा और अत्यन्त अद्भुत यह जिनमंदिर बनवाया है तथा विधिपूर्वक अनेक प्रकारसे पूजा की है और इस लोक परलोक दोनों लोकोंमें सुख देनेवाला अपने यशका स्तंभ खडा किया है। (अथवा वह जिनालय ही दोनों लोकोंमें सुख देनेवाला यशःस्तंभके समान बनवाया गया था) ॥७३॥ उस दूदाके द्वितीय पुत्रका नाम भोल्हा था जो कि संघका अधिपति था, सूर्यके समान प्रतापी था, उद्भट शत्रुओंके कुलरूपी पर्वतोंके मस्तकपर पडनेकेलिये वज्रके समान था और अर्जुनके समान पराक्रमको धारण करनेवाला था तथा अपनी शरणमें आये हुए राजाओंके लिये भी उसके वचन वैराट नगरके समस्त व्यापारियोंमें महासूत्रके समान माने जाते थे ॥७४॥ दूदाके तृतीय पुत्रका नाम 'फामन' था जो कि दोनों भाइयोंसे छोटा था और सबसे अंतिम पुत्र था, वह सब गुणोंसे श्रेष्ठ था, दोनों बडे भाई भी उसकी प्रशंसा किया करते थे, इनके सिवा अपनी उन्नति करनेवाले अन्य अनेक गुण उसमें विद्यमान थे, वह समतारूपी धर्ममें सदा लीन रहता था और विद्वानोंमें भी शिरोमणि था ऐसा यह फामन सदा जयशील हो ॥ ७५ ॥ एकके बाद एक इस प्रकार परंपरासे जिसको संघाधिपति पद प्राप्त हुआ है ऐसा श्रेष्ठिवर्य फामन बहुत दिनसे अपने शरीरको धर्ममय और यशोमय बनाना चाहता था किंतु मेरी ऐसी राय है कि कविराज राजमल्ल शुभ कर्मोंके उदयसे जो वैराट नगरमें बाद-

यदसुखं प्रायोस्त्यधर्मादिति । तत्तान्ह्वविदुषः कृपापरतया देशोपदेशद्वया-च्छ्रीभट्टारकहेमचन्द्रविदिताम्नाये कृतानात्मनः ॥ ७७ ॥ सामान्यादवगम्य धर्मफलितुं ज्ञातुं विशेषादपि भक्त्या यस्तमपीपृच्छदूषरुचिर्नाम्नाधुना फामनः । धर्मत्व किमथास्य हेतुरथ किं साक्षात्फलं तत्त्वतः स्वामित्वं किमथेति सूरिरवदत् सर्वं प्रणुन्नः कविः ॥ ७८ ॥ धर्मः प्राणिदया तदर्थमथ यत् सत्यव्रतादि स्फुटं यद्वार्हत्प्रतिबिम्बपूजनमतः सत्पात्रदानादि यत् । तद्धेतुर्बहिराप्तवागथ फलं स्वर्गापवर्गश्रियो भव्यस्तत्पदभागु-पासकमणे धर्मं कुरुष्वादरात् ॥७९॥ सत्यं धर्मरसायनो यदि तदा मां शिक्षयोपक्रमात् सारोद्धारमिवाप्यनुग्रहतया स्वल्पाक्षरं सारवत् । आर्षं चापि मृदूक्तिभिः

शाह अकबरके समीप स्वयं आया उसके आनेसे ही श्रेष्ठिवर्य फामनकी वह बहुत दिनकी लगी हुई इच्छा पूरी हुई ॥७६॥ "इस संसारमें धर्मसे ही सुखकी प्राप्ति होती है और अधर्मसे ही दुःखकी प्राप्ति होती है" इस बातको जिस महात्माने अपनी सद्बुद्धिसे पहले ही प्रत्यक्ष जान लिया था तथा जो भट्टारक हेमचन्द्रकी आम्नाय में वर्तमान था ऐसे 'ताल्हू' नामक विद्वानकी कृपासे और उन्हींकी आज्ञा या उपदेशसे श्रेष्ठिवर्य फामनको धर्म-का सामान्य स्वरूप मालूम हुआ था और फिर धर्ममें प्रेम करनेवाले उसी फामनने बडी भक्तिसे इस समय भी वही बात पूछी थी कि धर्मका स्वरूप क्या है ? इसका कारण क्या है उसका प्रत्यक्ष फल क्या है और वास्तवमें उसका स्वामी कौन है ? इसके उत्तरमें प्रसन्न हुए श्री कविराजने उत्तर दिया ॥ ७७-७८ ॥ कि प्राणियोंकी दया करना ही धर्म है अथवा प्राणियोंकी दया पालन करनेके लिये सत्यव्रत अचौर्यव्रत आदि व्रतोंका पालना, भग-वान अरहंतदेवकी प्रतिमाकी पूजन करना और उत्तम पात्रोंको दान देना आदि सब धर्मका स्वरूप है। उसका बहिरंग कारण भगवान अरहंतदेवकी वाणी है, स्वर्ग मोक्षकी विभूति प्राप्त होना उसका फल है और भव्य जीव ही इस पदको धारण कर सकता है अर्थात् भव्य जीव ही उस धर्मका स्वामी है मोक्ष प्राप्त करानेवाले धर्मको भव्य जीव ही धारण कर सकता है इसलिये हे श्रावकोंके मुकुटमणि ! तुम ऐसे इस धर्मको बडे आदरके साथ धारण करो ॥ ७९ ॥ कविराजकी यह बात सुनकर संघाधिपति फामनने फिर प्रार्थना की कि यदि सचमुच धर्म-रूपी रसायन इतना उत्तम है तो अनुग्रहपूर्वक मुझे कुछ उद्यम करके समझाइये । तथा जिस प्रकार दहीमेंसे मक्खन निकालते हैं उसी प्रकार जिसमें थोडे अक्षर हों किन्तु सबका सार रूप हो, जो किसीका उच्छिष्ट न हो

स्फुटमनुच्छिष्टं नवीनं महन्निर्माणं परिघेहि सङ्घनृपतिः भूयोप्यवादीदिति ॥ ८० ॥ श्रुत्वेत्यादिवचःशतं मृदुरुचिर्निर्दिष्टनामा कविर्नेतुं यावदभोघतामभिमतं स्वोपक्रमायोद्यतः । तत्रत्यं जिनमन्दिरं कविमनोदृग्गोचरं व्याहरत्तावच्चेति सहायतां गुरुवचो द्रव्यादिलब्धाविव ॥ ८१ ॥ उच्चैरुच्चतरस्थलादपिदृढग्रावैश्चिता भित्तयः पत्रेस्तम्भसमृद्धकोष्ठघटिताः शालाचतस्रः शुभाः । मध्ये स्यादुरवेदिकोत्तमतनुः कूटोस्ति मन्ये त्वहं वैराटस्य शिरःकिरीटघटितं चैतज्जिनाना गृहम् ॥ ८२ ॥ अनुपमशरसख्यापूर्णवर्णावलीभिर्लिखितमनुजनागामर्त्यसर्वस्वसारम् । ध्वजचमरमृगेन्द्रस्यासनातोद्यछत्रैः समवसरणशोभोद्भासि सद्मेदमत्र ॥ ८३ ॥ चित्रालीर्यदलीलिखत्त्रिजगतामासृष्टिसर्गक्रमादादेशादुपदेशतश्च नियतं श्रीक्षेमकीर्तेः गुरोः । गुर्वाज्ञानतिवृत्तितश्च विदुषस्ताल्हूपदेशादपि वैराटस्य जिनालये लिपिकरस्तत्सार्थ-

अर्थात् किसी भी कविने न कहा हो, जो नवीन हो, महत्वशाली हो और आर्ष वचनोंके अनुकूल हो ऐसा कोमल युक्तियोंसे भरपूर नवीन ग्रंथ बनाइये ॥ ८० ॥ इस प्रकार सैकडों बार ऐसी प्रार्थनाको सुनकर कोमल परिणामोंको धारण करनेवाला राजमल्ल कविराज जबतक अपने अभिप्रायको अव्यर्थ बनानेके लिये इस ग्रंथका प्रारंभ करनेके लिये तैयार हुआ तबतक जिस प्रकार द्रव्यादिककी प्राप्तिमें गुरुके वचन सहायताको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार वैराट नगरका वह भव्य जिनमंदिर कविराजके मन और नेत्रोंको हरण करता हुआ सहायताको प्राप्त हुआ ॥ ८१ ॥ उस मंदिरकी ऊंचेसे ऊंचे स्थानकी भी दिवालें बडे बडे पत्थरोंसे बनी हुई थीं, उसमें चार शुभ शालाएं थीं जो एक दूसरेके समान लगे हुए खंभोंसे और बहुत सुन्दर कोठोंसे बनी हुई थीं । उन सबके मध्य भागमें उत्तम वेदी बनी हुई थी और उसके ऊपर बहुत सुंदर शिखर बना हुआ था । इन सब बातोंसे वह जिनालय ऐसा मालूम पडता था मानों वैराट नगरके मस्तकका मुकुट ही बना हो ॥८२॥ उस जिनालयमें बहुत सुंदर पांचों रंगकी रंगावलीसे मनुष्य तथा नागकुमार आदि देवोंके जो बहुत ही सुंदर चित्र बने हुए थे तथा उसपर ध्वजाएं फहरा रही थीं, चमर लटक रहे थे, भगवानके आसनके नीचे सिंहासन सुशोभित था, बाजोंकी सुंदर आवाज होती रहती थी और भगवानके मस्तकपर छत्र फिरा करते थे । उन सबसे वह जिनालय समवसरणकी शोभाके समान सुंदर दिखाई पडता था ॥८३॥ गुरुवर्य श्रीक्षेमकीर्तिकी आज्ञा और उपदेशसे तथा उन्हीं गुरुकी आज्ञानुसार महाविद्वान् ताल्हूके उपदेशसे उस वैराट नगरके जिनालयमें तीनों लोककी रचनाके क्रमानुसार जो

नामाप्यभूत् ॥ ८४ ॥ यत्र श्रावकसङ्घमण्डितमही स्वर्गाचले वादयुतत् स्याद्वादोद्यदमन्दवादविदितास्तिष्ठन्ति यत्रार्हताः । निर्ग्रंथाः शमिनस्तपोग्निभरतो, निर्दिग्ध-कर्म्मेन्धनाः श्रीवैराटपुरस्थितं जिनगृहं तत्केन संवर्ण्यते ॥ ८५ ॥ पात्रेभ्यो गृहधर्मकर्मनिरतैर्नित्यं सदाचारिभिः दीयन्तेऽभयमेषजानुभवनाचादीनि दानानि च । पूज्यन्ते जिनबिम्बशास्त्रमुनयो यत्रानिश श्रेयसे श्रीवैराटजिनालयः प्रतिदिनं जीयाद्वरेण्योवरः ॥ ८६ ॥ इत्याद्यनेकगुणराजिविराजमानं संप्रेक्षणीयमनिशं जगदीक्षणा-नाम् । तत्र स्थितः किल करोति कविः कवित्वं तद्वर्द्धतामपि गुणं जिनशासनं च ॥ ८७ ॥

इति श्रीस्याद्वादानवद्यपद्यगद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्लविरचितायां श्रावकाचारापरनामलाटीसंहितायां
साधुश्रीदूदात्मजफामनमनःसरोजारविन्दविकाशनैक मार्त्तण्डमण्डलायमानायां कथामुखवर्णनं
नाम प्रथमः सर्गः ।

चित्रावली (अनुक्रमसे तीनों लोकोंकी रचना) लिखी गई थी उससे वह लिखनेवाला चित्रकार भी इस संसारमें सार्थक हो गया था ॥ ८४ ॥ वैराट नगरके जिस जिनालयकी पृथिवी श्रावक श्राविकाओंके संघसे सुशोभित होती हुई स्वर्गकी पृथिवीके समान सुशोभित होती है तथा जहांपर स्याद्वादविद्याके प्रभावसे होनेवाले भारी भारी वादोंमें भी प्रसिद्ध होनेवाले तथा तपश्चरणरूपी अग्निके समूहसे कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाले व अरहंत भगवानके रूपको धारण करनेवाले ऐसे अत्यंत शांत परिणामवाले निर्ग्रंथ मुनिराज विराजमान रहते हैं ऐसे वैराट नगरमें सुशोभित होनेवाले उस जिनालयका वर्णन भला कौन कर सकता है ? ॥ ८५ ॥ जिसके प्रभावसे उस नगरमें धर्मकर्ममें सदा लीन रहनेवाले सदाचारी गृहस्थोंके द्वारा पात्रोंके लिए अभयदान, औषधदान, ज्ञान-दान और आहारदान इसप्रकार चारों दान दिये जाते थे तथा जहांपर सब श्रावक अपना कल्याण करनेके लिए भगवान अरहंतदेवकी प्रतिमाकी, शास्त्रोंकी और मुनियोंकी सदा पूजा किया करते थे ऐसा वह सबसे श्रेष्ठ और अत्यंत सुंदर वैराट नगरका श्रीजिनालय सदा जयशील हो ॥ ८६ ॥ इस प्रकार वह जिनालय अनेक गुणोंसे सुशोभित था और संसारके नेत्रोंके द्वारा सदा देखने योग्य था । उसी जिनालयमें बैठकर कवि राजमल्लने

अथ द्वितीयः सर्ग ।

एतत्कथामुखरसे रसिकाग्रणीर्यो दूदात्मजो जयति फामननामधेयः । वैराटपट्टमहतां महनीयकीर्तिरुग्रोतकान्वयमयो गरिमाम्बुराशिः ॥ १ ॥ (इत्याशीर्वादः)
अहिंसा परमोधर्मः स्यादधर्मस्तदत्ययात् । सिद्धान्तः सर्वतन्त्रोय तद्विशेषोऽधुनोच्यते ॥ २ ॥ सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते । यो मृषादिपरित्यागः सोस्तु

यह कविता की है इसलिए वह जिनालय, कविराजकी यह कविता और यह जैनशासन सदा वृद्धिंगत बना रहे ॥ ८७ ॥

इस प्रकार स्याद्वादस्वरूप निर्दोष गद्यपद्य विद्यामें अत्यन्त चतुर और विद्वानोंमें शिरोमणि ऐसे कविराज राजमल्लके द्वारा बनी हुई तथा सज्जनोत्तम दूदाके सुपुत्र श्रीफामनके मनरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्यमंडलके समान सुशोभित होनेवाली और श्रावकाचार है दूसरा नाम जिसका ऐसी इस 'लाटी संहिता' नामक ग्रंथके चावंली (आगरा) निवासी देहली प्रवासी "धर्मरत्न" लालाराम शास्त्री द्वारा विरचित हिन्दी भाषा टीकामें कथाके प्रारम्भका वर्णन करनेवाला यह पहला सर्ग समाप्त हुआ।

दूसरा सर्ग

जो इस कथाके प्रारंभ के रसमें रसिक लोगोंमें भी सबसे मुख्य है, वैराट नगरके महापुरुषोंमे भी जिसकी पूज्य कीर्ति फैली हुई है, जो अनेक गुणोंका समुद्र है और जो अग्रवंशमें शिरोमणि है ऐसा दूदा सेठका पुत्र फामन सदा जयशील हो ॥ १ ॥ (यह आशीर्वाद रूप श्लोक है)

इस संसारमें अहिंसा ही परम धर्म है और उस अहिंसा धर्मका उल्लंघन करना वा नाश करना ही अधर्म है। यह सिद्धांत सर्वदेशीय है अर्थात् सब देशोंमें और सब मतवाले इस सिद्धांतको मानते हैं। अब आगे उसी अहिंसा धर्मका विशेष वर्णन करते हैं ॥ २ ॥ पाप सहित समस्त योगोंका त्याग करना व्रत कहलाता है तथा झूठ बोलनेका त्याग करना, चोरीका त्याग करना आदि अलग अलग पापोंका त्याग करना बतलाया है वह सब उसी व्रतका विस्तार समझना चाहिये। भावार्थ—मन वचन कायके द्वारा आत्माके प्रदेशोंके परिस्पंदन होनेको

तस्यैव विस्तरः ॥ २ ॥ तद्व्रत सर्वतः कर्तुं मुनिरेव क्षमो महान् । तस्यैव मोक्षमार्गश्च भावी नान्यस्य जातुचित् ॥३॥ अतः सर्वात्मना सम्यक् कर्तव्यं तद्धि धीधनैः । कृच्छ्रलब्धे नरत्वेऽस्मिन् सूकविन्दूदकोपमे ॥ ४ ॥ तत्रालसो जनः कश्चित्कषायभरगौरवात् । असमर्थस्तथाप्येष गृहस्थव्रतमाचरेत् ॥ ५ ॥ उक्तं च । गुण वय तव

योग कहते हैं । वह योग दो प्रकार है एक शुभ योग और दूसरा अशुभ योग । यदि मन वचन कायकी प्रवृत्ति पाप रूप है तो उससे होनेवाला योग पापयोग अथवा अशुभयोग कहलाता है और यदि मन वचन कायकी प्रवृत्ति धर्मरूप है तो वह शुभयोग कहलाता है । अशुभ योगोंका त्याग करनेसे ही शुभ योगोंकी प्रवृत्ति होती है । इसीलिये कविराजने कहा है कि समस्त सावद्य योगोंका (अशुभ पापरूप योगोंका) त्याग करना ही व्रत है और हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह आदि सब पापोंका त्याग इसीमें आ जाता है ॥ २ ॥ उन व्रतोंको पूर्ण रीतिसे पालन करनेके लिये मुनिराज ही समर्थ होते हैं और इसीलिये ही उन मुनिराजोंको ही मोक्षमार्गकी प्राप्ति होती है । मुनिराजके सिवाय और किसीको भी पूर्ण मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ३ ॥ यह मनुष्य जन्म कमलपत्रपर पडी हुई जलकी बूंदोंके समान बडी कठिनतासे प्राप्त हुआ है इसलिये बुद्धिमानोंको सावद्य योगोंके त्यागरूप व्रतको अवश्य ही पूर्णरूपसे अच्छी तरह पालन करना चाहिए । भावार्थ—कमलपत्रपर जलकी बूंद ठहरती नहीं है, पडते ही लुढककर पानीमें मिल जाती है । अतएव जिसप्रकार कमलपत्रपर जलकी बूंदका ठहरना अत्यंत कठिन है उसीप्रकार इस मनुष्य जन्मका प्राप्त होना अत्यंत कठिन है । इसलिए ऐसे मनुष्य-जन्मको पाकर पापरूप योगोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥ ४ ॥ कदाचित तीव्र कषायोंके उदयसे कोई मनुष्य उन व्रतोंको पूर्णरूपसे पालन करनेमें आलस करे अथवा असमर्थ हो तो उसे एकदेशरूप गृहस्थोंका व्रत अथवा श्रावकव्रत अवश्य पालन करना चाहिए ॥ ५ ॥ ग्रंथकारोंने श्रावकोंके व्रत इसप्रकार लिखे हैं—

"गुण वय तव सम पडिमा दाणं जलगालणं च अणत्थिमियं
दंसणणाणचरित्तं किरिया तेवण्ण सावयाणं च ।"

आठ मूलगुण, बारह व्रत, बारह प्रकारका तप एक समता, ग्यारह प्रतिमा, चार प्रकारका दान एक पानी

सम पडिमा दाणं जलगालणं च अणत्थिमियं । दंसणणाणचरित्तं किरिया तेवण्ण सावयाणं च ॥१॥ तथा चोक्तम् । दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य । बंभारंभपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो य ॥ २ ॥ अष्टमूलगुणोपेतो द्यूतादिव्यसनोज्झितः । नरो दर्शनिकः प्रोक्तः स्याच्चेत्सद्दर्शनान्वितः ॥ ६ ॥ मद्य मासं तथा क्षौद्रमथोदुम्बरपञ्चकम् । वर्जयेच्छ्रावको धीमान् केवलं कुलधर्मवित् ॥ ७ ॥ ननु साक्षान्मकारादित्रयं जैनो न भक्षयेत् । तस्य किं वर्जनं न स्यादसिद्धं

छानकर काममें लाना, एक रात्रिभोजनका त्याग करना और रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नोंको धारण करना ये तिरेपन श्रावकोंकी क्रिया कहलाती हैं ॥१॥ अथवा ग्रंथकारोंने श्रावकोंके व्रत इस प्रकार भी कहे हैं "दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्तेयं । बंभारंभ परिग्गह अणुमण-मुद्दिट्ठ देस विरदो य ।" अर्थात्–दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध (प्रोषधोपवास), सचित्त त्याग, रात्रिभुक्तत्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतत्याग और उद्दिष्टत्याग इन ग्यारह प्रतिमाओंको पालन करनेवाला देशविरत श्रावक कहलाता है ॥ २ ॥

जो जीव सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला हो और फिर वह यदि आठों मूलगुणोंको धारण कर ले तथा जूआ चोरी आदि सातों व्यसनोंका त्याग कर दे तो वह दर्शनप्रतिमाको धारण करनेवाला कहलाता है ॥ ६ ॥ केवल अपने कुलधर्मको जाननेवाले बुद्धिमान श्रावकको मद्य मांस शहत और पांचों उंदवरोंका त्याग कर देना चाहिए । भावार्थ–इन आठोंका त्याग कर देना आठ मूलगुण कहलाते हैं तथा इन आठों मूलगुणोंका पालन करना श्रावकोंका कुलधर्म है । जब तक वह इन आठों मूलगुणोंको धारण नहीं कर लेता तब तक वह अपने कुलधर्मका भी पालन नहीं कर सकता औरकी तो बात ही क्या है । इसीलिए श्रीअमृतचन्द्राचार्यने अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें लिखा है 'अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य । जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः' अर्थात् मद्य मांसादिक आठों ही अनंत पापोंके स्थान हैं, इसलिए जो इनका त्याग कर देता है वही शुद्धबुद्धिवाला पुरुष जिनधर्मके सुननेका पात्र होता है । इसका भी अभिप्राय यह है कि जो जीव जैसे पदार्थोंका सेवन करता है उसकी बुद्धि भी वैसी ही हो जाती है । जो मांस खाता है वह स्वाभाविक रीतिसे क्रूर होता है ।

सिद्धसाधनात् ॥८॥ नैवं यस्मादतीचाराः सन्ति तत्रापि केचन । अनाचारसमाः नूनं त्याज्या धर्मार्थिभिः स्फुटम् ॥ ९ ॥ तद्भेदा बहवः सन्ति मादृशां वाग्गोचराः । तथापि व्यवहारार्थं निर्दिष्टाः केचिदन्वयात् ॥ १० ॥ चर्म्मभाण्डे तु निक्षिप्ताः घृततैलजलादयः । त्याज्याः यत्रसादीनां शरीरपिशिताश्रिताः ॥ ११ ॥ नचाशङ्क्यं पुनस्तत्र सन्ति यद्वा न सन्ति ते । संशयोऽनुपलब्धित्वाद् दुर्वारो व्योमचित्रवत् ॥ १२ ॥ सर्वं सर्वज्ञज्ञानेन दृष्टं विश्वैकचक्षुषा । तदाज्ञया प्रमाणेन माननीयं मनी-

इसीप्रकार जो मद्य मांसादिकका सेवन करता है उसकी बुद्धि निर्मल कभी नहीं हो सकती । बुद्धिकी निर्मलता तभी होगी जब कि वह मद्य मांसादिक आठोंका त्याग कर देगा तथा बिना बुद्धिकी निर्मलताके जिनधर्मके सुननेका पात्र नहीं हो सकता । इसलिए जिनधर्मके सुननेका पात्र बननेके लिए कमसे कम इन आठों मूलगुणोंको अवश्य धारण कर लेना चाहिए ॥७॥ कदाचित् यहांपर कोई यह शंका करे कि कोई भी जैनी मद्य मांस शहतको साक्षात् भक्षण नहीं करता इसलिए क्या जैनीमात्रके उनका त्याग नहीं हुआ ? अवश्य हुआ । इसलिए सिद्ध-साधन होनेसे आपके त्याग करानेका उपदेश असिद्ध है । परंतु यह बात नहीं है क्योंकि यद्यपि जैनी इनका साक्षात् भक्षण नहीं करते हैं तथापि उनके कितने ही अतिचार हैं और वे अतिचार अनाचारोंके समान हैं इस-लिए धर्मात्मा जीवोंको उन अतिचारोंका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिए ॥ ८-९ ॥ उन अतिचारोंके बहुतसे भेद हैं जो मेरे समान पुरुषसे कहे भी नहीं जा सकते तथापि केवल व्यवहारके लिए गुरुओंकी आम्नायपूर्वक चले आए कुछ भेद कहे जाते हैं ॥ १० ॥ चमडेके वर्तनमें रक्खे हुए घी तेल पानी आदिका त्याग कर देना चाहिए क्योंकि चमडेके वर्तनमें रक्खे हुए घी तैल आदिमें त्रस जीवोंके शरीरके मांसके आश्रित रहनेवाले जीव अवश्य रहते हैं। भावार्थ-चमडेके वर्तनमें रक्खे हुए घी, तैल जल आदिका भक्षण करना मांसत्यागका पहला अति-चार है ॥११॥ चमडेके बर्तनमें रक्खे हुए तैल घी जल आदिमें जिस पशुका वह चमडा है उस पशुके मांसके आश्रित रहनेवाले जीव हैं या नहीं ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए । यहांपर कदाचित् कोई यह कहे कि जिसप्रकार पूर्ण आकाशका चित्र दिखाई नहीं पडता इसलिए वह कोई पदार्थ नहीं है इसी प्रकार चमडेके वर्तनमें रक्खे हुए तैल घी आदिमें जिस पशुका वह चमडा है उस पशुके मांसके आश्रित रहनेवाले जीव दिखाई नहीं पडते इस-

षिभिः ॥ १३ ॥ नोह्यमेतावता पापं स्याद्वा न स्यादतीन्द्रियात् । अंहो मांसाशिनोऽवश्यं प्रोक्तं जैनागमे यतः ॥ १४ ॥ तदेवं वदयमाणेषु सूत्रेषूदितसूत्रवत् । संशयो नैव कर्तव्यः शासनं जैनमिच्छता ॥ १५ ॥ अन्नं मुग्दादि, शुण्ठ्यादि भेषजं, शर्करादि वा । खाद्यं स्वाद्य तु भोगार्थं ताम्बूलादि यथागमात् ॥ १६ ॥ पेयं दुग्धादि लेपस्तु तैलाभ्यङ्गादिकर्म यत् । चतुर्विधमिदं यावदाहार इति संज्ञितः ॥ १७ ॥ अथाहारकृते द्रव्यं शुद्धशोधितमाहरेत् । अन्यथामिषदोषः स्यात्त-

लिए उसमें जीव हैं या नहीं इस शंकाका दूर होना अत्यन्त कठिन है ॥ १३ ॥ परंतु इसका उत्तर यह है कि भगवान अरहंतदेवने अपने सर्वज्ञ ज्ञानसे समस्त सूक्ष्म पदार्थ भी प्रत्यक्ष देख और जान लिए हैं और गुरुपरंपरापूर्वक उनके उपदेशके अनुसार आचार्योंने वैसा ही शास्त्रोंमें निरूपण किया है इसलिए बुद्धिमानोंको भगवान सर्वज्ञदेवकी आज्ञा मानकर प्रमाणरूपसे सब मान लेना चाहिए ॥१३॥ जो जीव इंद्रियगोचर नहीं होते ऐसे सूक्ष्म अतींद्रिय जीवोंके भक्षण करनेसे पाप होता है या नहीं ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए । क्योंकि मांसभक्षण करनेवालोंको पाप अवश्य होता है ऐसा जैनशास्त्रोंमें स्पष्ट रीतिसे बतलाया है ॥ १४ ॥ इसलिए सर्वज्ञ वीतराग भगवान अरहंतदेवके कहे हुए जैनशासनको धारण करनेकी इच्छा करनेवालोंको जो सूत्र पहले कहा गया है (चमडेके वर्तनमें रक्खे हुए घी तेल पानी आदिका त्याग कर देना चाहिए क्योंकि वह जिस पशुका चमडा है उससे संबंध रखनेवाले मांसके आश्रित रहनेवाले अनेक जीव उसमें रहते हैं) और जो सूत्र आगे कहे जायंगे उनमें कभी संशय नहीं करना चाहिए ॥ १५ ॥ मूंग मोठ चना गेहूं जौ आदि अन्न कहलाता है। सोंठ मिरच पीपल आदि औषधियां कहलाती हैं। मिश्री बूरा लड्डू पेडा बरफी आदि खाद्य पदार्थ कहलाते हैं । भोगोंके लिए आगमानुकूल तांबूल आदि पदार्थ स्वाद्य कहलाते हैं । दूध, पानी आदि पदार्थ पेय कहे जाते हैं और तेल मर्दन करना, उबटन लगाना आदि लेप कहे जाते हैं । ये सब पदार्थ चार प्रकारके आहारके नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ १६-१७ ॥ इनको आहाररूपमें ग्रहण करनेके लिए शुद्ध पदार्थोंको ग्रहण करना चाहिए, अशुद्ध पदार्थ कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए । तथा जो शुद्ध पदार्थ भी ग्रहण किए जायं वे भी शोधकर ग्रहण करने चाहिए । यदि वे पदार्थ विना शोधे हुए ग्रहण किए जायंगे तो उनके भक्षण करनेमें मांस खानेका दोष लगेगा क्योंकि इन खाने

द्रनेकत्रसाश्रितात् ॥ १८ ॥ विद्धं त्रसाश्रितं यावद्दुर्जयेत्तदभक्ष्यवत् । शतशःशोधितं चापि सावधानैर्दृगादिभिः ॥ १९ ॥ संदिग्धं च यदन्नादि श्रितं वा नाश्रितं त्रसैः । मनःशुद्धिप्रसिद्ध्यर्थं श्रावकः क्वापि नाहरेत् ॥२०॥ अविद्धमपि निर्दोषं योग्यं चानाश्रितं त्रसैः । आचरेच्छ्रावकः सम्यग्दृष्टं नादृष्टमीक्षणैः ॥ २१ ॥ ननु शुद्ध यदन्नादि कृत शोधनयानया । मैव प्रमाददोषत्वात्कल्मषस्यास्रवो भवेत् ॥ २२ ॥ गालितं दृढवस्त्रेण सर्पिस्तैलं पयो द्रवम् । तोयं जिनागमाम्नायादाहरेत्स

सर्ग २

पीनेके पदार्थोंमें प्रायः त्रस जीवोंके रहनेकी या आ जानेकी संभावना रहती है । यदि विना शोधे हुए पदार्थ खाए जायंगे तो उनमें आए हुए वा उनमें रहनेवाले वा उत्पन्न होनेवाले जीवोंके मारे जानेका पाप लगेगा और विना शोधे पदार्थोंके साथ वे जीव भी भक्षणमें आ जायंगे इसलिए उनके मांस खानेका भी महा पाप लगेगा । इसलिए खानेके समस्त पदार्थोंको देख शोधकर ही ग्रहण करना चाहिए । खानेके पदार्थोंको विना शोधे ग्रहण करना मांसत्यागका दूसरा अतिचार है ॥ १८ ॥ घुने हुए वा बींधे हुए अन्नमें भी अनेक त्रस जीव होते हैं यदि सावधान होकर नेत्रोंके द्वारा सैकडों बार देखा वा शोधा जाय तो भी घुने हुए अन्नमेंसे सब त्रस जीवोंका निकल जाना असंभव है इसलिए सावधानीके साथ सैकडों बार शोधा वा देखा हुआ भी घुना वा बींधा अन्न अभक्ष्यके समान त्याग कर देना चाहिए ॥ १९ ॥ जिन अन्न आदि पदार्थोंमें त्रस जीवोंके रहनेका सन्देह हो और 'इसमें त्रस जीव हैं वा नहीं हैं' इस बातका संदेह बना ही रहे तो भी श्रावकको मन शुद्ध रखनेके लिए ऐसे पदार्थोंका त्याग कर देना चाहिए । अभिप्राय यह है कि शुधा हुआ भी घुना हुआ अन्न भक्षण करना तथा जिसमें त्रस जीवोंके रहनेका संदेह हो ऐसे पदार्थोंका भक्षण करना मांसत्यागके अतिचार हैं । श्रावकोंको अन्य अतिचारोंके समान इनका भी अवश्य त्याग कर देना चाहिए ॥ २० ॥ जो अन्न आदि पदार्थ घुने हुए नहीं हैं जिनमें कोई किसी प्रकारका दोष नहीं है और जो त्रस जीवोंसे सर्वथा रहित हैं ऐसे पदार्थ नेत्रोंसे अच्छी तरह देख शोधकर खाने आदिके काममें लेने चाहिए, विना अच्छी तरह देखे शोधे योग्य निर्दोष पदार्थ भी काममें नहीं लेने चाहिए ॥ २१ ॥ जो अन्नादिक पदार्थ ऊपर लिखी विधिसे अच्छी तरह शोधकर शुद्ध कर लिये गये हैं उनके ग्रहण करनेमें प्रमादरूप दोषोंसे उत्पन्न हुए पापोंका आस्रव कभी नहीं हो सकेगा । भावार्थ-देख शोधकर शुद्ध किए

न चान्यथा ॥ २३ ॥ अन्यथा दोष एव स्यान्मासातीचारसंज्ञकः । अस्ति तत्र त्रसादीना मृतस्याङ्गस्य शेषता ॥ २४ ॥ दुरवधानतया मोहात्प्रमादाद्वापि शोधितम् । दुःशोधित तदेव स्याद् ज्ञेय चाशोधित यथा ॥ २५ ॥ तस्मात्सद्व्रतरक्षार्थं पलदोषनिवृत्तये । आत्मदृग्भिः स्वहस्तैश्च सम्यगन्नादि शोधयेत् ॥ २६ ॥ यथात्मार्थं सुवर्णादिक्रयार्थी सम्यगीक्षयेत् । व्रतवानपि गृह्णीयादाहारं सुनिरीक्षितम् ॥ २७ ॥ सधर्मेणानभिज्ञेन साभिज्ञेन विधर्मिणा । शोधितं पाचितं चापि

पदार्थोंके ग्रहण करनेमें प्रमादजन्य अतिचार नहीं लग सकते इसलिए जो पदार्थ ग्रहण करनेमें आवें वे सब देख शोधकर ही ग्रहण करने चाहिए ॥ २२ ॥ घी तेल दूध पानी आदि पतले पदार्थोंको जैनशास्त्रोंमें कही हुई विधिसे मजबूत गाढे वस्त्रमें छानकर ही खानेके काममें लाना चाहिए, पतले पदार्थोंको विना छाने कभी काममें नहीं लाना चाहिए ॥ २३ ॥ इसका भी कारण यह है कि विना छने घी तेल आदि पदार्थोंमें त्रस जीवोंके मरे हुए शरीरके अवयव अवश्य रहते हैं । इसलिए विना छने घी तेल आदि पदार्थोंके ग्रहण करनेमें मांसत्यागका अतिचार अवश्य लगता है । अतएव घी तेल आदि पदार्थोंको भी अच्छे मजबूत दोहरे बडे छन्नेमें छानकर ही काममें लाना चाहिये ॥ २४ ॥ जो अन्नादिक पदार्थ मनकी असावधानीसे शोधे गए हैं, या होशहवाशरहित अवस्थामें शोधे गए हैं अथवा प्रमादपूर्वक शोधे गए हैं ऐसे शोधे हुए पदार्थ भी दुःशोधित (अच्छी तरह नहीं शोधे गये) कहलाते हैं और ऐसे दुःशोधित पदार्थ विना शोधे हुएके समान ही गिने जाते हैं ॥ २५ ॥ इसलिए श्रेष्ठ व्रतोंकी रक्षा करनेके लिए और मांसभक्षणके दोषोंका त्याग करनेके लिए श्रावकोंको अन्न आदि पदार्थ अपने ही नेत्रोंसे और अपने ही हाथोंसे अच्छी तरह शोध लेना चाहिए फिर काममें लाना चाहिए ॥ २६ ॥ जिसप्रकार अपने लिए सोना खरीदनेवाला पुरुष उस सोनेको बहुत अच्छी तरह देखकर खरीदता है उसीप्रकार व्रती श्रावकको भी बहुत अच्छी तरह देख शोधकर आहार ग्रहण करना चाहिए ॥२७॥ जो आहार शोधने वा शुद्धतापूर्वक भोजन तैयार करनेकी विधिको न जाननेवाले साधर्मीके द्वारा शोधा हुआ है वा ऐसे ही अजानकार साधर्मीके द्वारा पकाकर तैयार किया हुआ है अथवा जो शोधने वा शुद्धतापूर्वक विधिको जाननेवाले विधर्मीके द्वारा शोधा हुआ है वा ऐसे ही जानकार विधर्मीके द्वारा पकाकर तैयार किया हुआ है ऐसा भोजन भी अपने व्रतोंकी रक्षा करने-

नाहरेद् व्रतरक्षकः ॥ २८ ॥ ननु केनापि स्वीयेन सधर्मेण विधर्मिणा। शोधितं पाचितं भोज्यं सुज्ञेन स्पष्टचक्षुषा ॥ २९ ॥ मैव यथोदितस्योच्चैर्विश्वासो व्रतहा-

वाले श्रावकोंको कभी नहीं ग्रहण करना चाहिए ॥ २८ ॥ कदाचित् यहांपर कोई यह शंका करे कि जो मनुष्य शोधने वा शुद्धतापूर्वक भोजन तैयार करनेकी विधिको जानता है और शोधने आदि कामोंके लिए जिसके नेत्र निर्मल हैं जिसके नेत्रोंमें कोई दोष नहीं है जिसके नेत्रोंकी ज्योति मन्द नहीं है ऐसे मनुष्यके द्वारा शोधा हुआ और पकाया हुआ भोजन ग्रहण कर लेना चाहिए चाहे वह मनुष्य अपना साधर्मी हो और चाहे विधर्मी हो। अर्थात् भोजन शुद्धतापूर्वक तैयार किया हुआ होना चाहिए चाहे वह साधर्मीने तैयार किया हो और चाहे वह विधर्मीने तैयार किया हो भोजन तैयार करने वा शोधनेमें साधर्मी वा विधर्मीके प्रश्नकी क्या आवश्यकता है? परंतु ग्रंथकार कहते हैं कि यह बात नहीं है। क्योंकि जो आहारको शोधने और शुद्धतापूर्वक भोजन तैयार करनेकी विधिको न जाननेवाला साधर्मी हो अथवा शोधने और शुद्धतापूर्वक तैयार करनेकी विधिको जाननेवाला विधर्मी हो इन दोनों प्रकारके मनुष्योंपर दृढ विश्वास किया जायगा तो व्रतोंमें हानि अवश्य होगी। तथा इसका भी कारण यह है कि जो पुरुष अनार्य है अथवा निर्दय है उसको संयमके काममें संयमकी रक्षा करनेमें कोई अधिकार नहीं है। भावार्थ—भोजनका ग्रहण संयमकी रक्षाके लिए किया जाता है और संयमकी रक्षा तभी हो सकेगी जब कि यत्नाचारपूर्वक शोधा जायगा और यत्नाचारपूर्वक तैयार किया जायगा परंतु जो मनुष्य साधर्मी होकर भी शोधने और यत्नाचारपूर्वक तैयार करनेकी विधि नहीं जानता उसके तैयार किये हुये भोजनमें संयमकी रक्षा कभी नहीं हो सकती। इसीप्रकार शोधने और तैयार करनेकी विधि भी जानता है परंतु विधर्मी होनेसे यत्नाचारपूर्वक जीवोंकी रक्षा नहीं कर सकता ऐसा मनुष्य शोधकर जीवोंको अलग कर लेगा परंतु यत्नाचारपूर्वक उनकी रक्षा नहीं कर सकेगा क्योंकि विधर्मी होनेसे वह जीवोंके और दयाके स्वरूपको जान नहीं सकता, पानी छानने जीवाणी यथास्थान पहुंचाने आदिकी पूर्ण विधिको जान नहीं सकता इसलिए जानकार विधर्मीसे भी संयमकी रक्षा नहीं हो सकती। अतएव ग्रंथकारने कहा है कि अनार्य और निर्दय मनुष्यको संयम

नये। अनार्यस्याप्यनार्द्रस्य सयमे नाधिकारिता ॥ ३० ॥ चलितत्वात्सीमश्चैव नूनं भाविव्रतक्षतिः। शैथिल्याद्धीयमानस्य संयमस्य कुतः स्थितिः ॥ ३१ ॥ शोधितस्य चिरात्तस्य न कुर्याद् ग्रहणं कृती। कालस्यातिक्रमाद् भूयो दृष्टिपूत समाचरेत् ॥ ३२ ॥ केवलेनाग्निना पक्व मिश्रितेन घृतेन वा। उषितान्न न भुञ्जीत पिशितासनदोषवित् ॥ ३३ ॥ तत्रातिकालमात्रत्वे परिणामगुणात्तथा। सम्मूर्च्छन्ते त्रसाः सूक्ष्माः ज्ञेयाः सर्वविदाज्ञया ॥ ३४ ॥ शाकपत्राणि सर्वाणि नादेयानि

की रक्षा करनेमें कोई अधिकार नहीं है ॥ २९-३० ॥ यदि व्रती मनुष्य अपनी सीमा वा मर्यादासे चलायमान हो जायगा तो आगे होनेवाले उसके व्रतोंमें अवश्य ही हानि पहुंचेगी तथा यदि वह संयम इसी प्रकार शिथिलता पूर्वक घटता जायगा तो फिर भला उसकी स्थिरता किस प्रकार रह सकेगी ? भावार्थ-खाने पीनेके शोधकी जो मर्यादा है उससे चलायमान होनेसे शिथिलता आती है तथा शिथिलता आनेसे संयमकी हानि होती है और संयमकी हानि होनेसे संयमकी स्थिति नहीं रह सकती। इसलिये संयमको स्थिर रखनेके लिये कभी शिथिलता नहीं आने देना चाहिये तथा शिथिलताका त्याग करनेके लिये अपनी मर्यादाका कभी उल्लंघन नहीं करना चाहिये। व्रती मनुष्यको अपनी प्रतिज्ञा पर सदा कायम रहना चाहिये ॥३१॥ जिन अन्न आदि पदार्थोंको शोधे हुए कई दिन हो गये हैं ऐसे पदार्थ भी व्रती श्रावकोंको ग्रहण नहीं करना चाहिये। जिन पदार्थोंको शोध लेने पर भी बहुतसा काल बीत गया है मर्यादासे अधिक काल हो गया है उनको फिर अपने नेत्रोंसे देख शोध कर ग्रहण करना चाहिये ॥ ३२ ॥ जो रोटी दाल आदि पदार्थ केवल अग्नि पर पकाये हुए हैं अथवा पूडी कचोरी आदि गरम घीमें पकाये हुए हैं अथवा परामठे आदि पदार्थ घी और अग्नि दोनोंके संयोगसे पकाये हुए हैं ऐसे सब प्रकारके पदार्थ मांस-भक्षणके दोषोंको जाननेवाले श्रावकोंको दूसरे दिन बासी नहीं खाने चाहिये ॥ ३३ ॥ इसका भी कारण यह है कि बासी भोजनमें मर्यादासे बाहर काल बीत जाता है इसलिये उनमें इस प्रकारका परिणमन होता है जिससे कि उसमें सूक्ष्म और सम्मूर्च्छन ऐसे त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं जो इंद्रियोंसे दिखाई नहीं पड सकते ऐसे सूक्ष्म त्रसजीव केवल सर्वज्ञदेवके द्वारा प्रतिपादन किये हुए शास्त्रोंसे ही जाने जा सकते हैं। भावार्थ-बासे पदार्थोंमें सूक्ष्म त्रस जीवोंकी उत्पत्ति हो जाती है इसलिये बासे पदार्थ कभी नहीं खाने चाहिये

कदाचूनअ श्रावकैर्मांसदोषस्य वर्जनार्थं प्रयत्नतः ॥ ३५ ॥ तत्रावश्य त्रसाः सूक्ष्माः केचित्स्युर्दृष्टिगोचराः । न त्यजन्ति कदाचित्ते शाकपत्राश्रयं मनाक् ॥ ३६ ॥ तस्माद्धर्मार्थिना नूनमात्मनो हितमिच्छता । आताम्बूल दलं त्याज्यं श्रावकैर्दर्शनान्वितैः ॥ ३७ ॥ रजन्यां भोजनं त्याज्यं नैष्ठिकैर्व्रतधारिभिः । पिशिताशनदोषस्य त्यागाय महदुद्यमैः ॥ ३८ ॥ ननु रात्रिभुक्तित्यागो नात्रोद्देश्यस्त्वया क्वचित् । षष्ठसंज्ञकविख्यातप्रतिमायामास्ते यतः ॥ ३९ ॥ सत्यं सर्वात्मना तत्र निशाभोजन-

॥ ३४ ॥ श्रावकोंको प्रयत्नपूर्वक मांसके दोषोंका त्याग करनेके लिये सब तरहकी पत्तेवाली शाक भाजी भी कभी ग्रहण नहीं करनी चाहिये अर्थात् मेंथी, पालक, चनाका शाक, बथुआ, चौराई आदि पत्तेवाले शाक भी नहीं खाने चाहिये ॥ ३५ ॥ क्योंकि उस पत्तेवाले शाकमें सूक्ष्म त्रस जीव अवश्य होते हैं उनमेंसे कितने ही जीव तो दृष्टिगोचर होते हैं, दिखाई पडते हैं और कितने ही दिखाई नहीं पडते परंतु वे जीव किसी समयमें भी उस पत्तेवाले शाकका आश्रय थोडासा भी नहीं छोडते । भावार्थ–मूलीके पत्ते मेंथी आदि पत्तेवाले शाकमें बहुतसे त्रस जीव रहते हैं जो साफ दिखाई पडते हैं झाडनेसे अलग भी हो जाते हैं और साफ दिखाई देते हैं । तथा बहुतसे ऐसे भी सूक्ष्म जीव होते हैं जो दिखाई नहीं पडते इसलिए पत्तेवाले शाक खानेमें जीवोंकी हिंसा भी होती है और मांसका दोष भी लगता है अतएव श्रावकोंको पत्तेवाले शाक कभी नहीं खाने चाहिये ॥ ३६ ॥ इसलिए अपने आत्माका कल्याण चाहनेवाले धर्मात्मा जीवोंको पत्तेवाले सब शाक तथा पान तक छोड देना चाहिये और दर्शन प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावकोंको विशेषकर इनका त्याग कर देना चाहिये ॥ ३७ ॥

व्रत धारण करनेवाले नैष्ठिक श्रावकोंको मांस-भक्षणके दोषोंका त्याग करनेके लिए बहुत बडे उद्यमके साथ रात्रिमें भोजन करनेका त्याग कर देना चाहिये । भावार्थ–रात्रिमें भोजन करना भी मांसभक्षणका दोष है क्योंकि रात्रिमें सूक्ष्म जीव दिखाई नहीं पडते और वे भोजनमें मिलकर मर जाते हैं तथा मांसभक्षणका दोष उत्पन्न करते हैं । इसलिए श्रावकोंको रात्रिभोजनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ३८ ॥ कदाचित यहांपर कोई यह शंका करे कि आपको यहांपर मूलगुणोंके वर्णनमें रात्रिभोजनके त्यागका उपदेश नहीं देना चाहिये क्योंकि रात्रिभोजनका त्याग करानेवाली छठी प्रतिमा है छठी प्रतिमाके वर्णनमें इसके त्यागका उपदेश देना चाहिये । इसके उत्तरमें

वर्जनम् । हेतोः किन्त्वत्र दिग्मात्रं सिद्धं स्वानुभवागमात् ॥ ४० ॥ अस्ति कश्चिद्विशेषोत्र स्वल्पाभासोर्थतोमहान् । सातिचारोऽत्र दिग्मात्रे तत्रातीचारवर्जिताः ॥ ४१ ॥ निषिद्धमन्नमात्रादिस्थूलभोज्यं व्रते दृशः । न निषिद्धं जलाद्यत्र ताम्बूलाद्यपि वा निशि ॥ ४२ ॥ तत्र ताम्बूलतोयादिनिषिद्धं यावदक्षसा । प्राणान्तेऽपि न भोक्तव्यमौषधादि मनीषिणा ॥ ४३ ॥ न वाच्यं भोजयेदन्नं कश्चिद्दर्शनिको निशि । अव्रतित्वादशक्यत्वात्पक्षमात्रात्सपाक्षिकः ॥ ४४ ॥ अस्ति तत्र कुलाचारः

ग्रंथकार कहते हैं कि यह बात ठीक है परंतु उसके साथ इतना और समझ लेना चाहिये कि छठी प्रतिमामें तो रात्रिभोजनका त्याग पूर्ण रूपसे है और यहांपर मूलगुणोंके वर्णनमें स्थूलरूपसे रात्रिभोजनका त्याग है। मूलगुणोंमें स्थूलरूपसे भी रात्रिभोजनका त्याग करना अपने अनुभवसे भी सिद्ध है और आगमसे भी सिद्ध है ॥ ३९-४० ॥ यहांपर मूलगुणोंके धारण करनेमें जो रात्रिभोजनका त्याग है उसमें कुछ विशेषता है। तथा वह विशेषता मालूम तो थोडी होती है किंतु उसको अच्छी तरह समझ लेनेपर वह विशेषता बहुत बडी मालूम देती है। सामान्य रीतिसे वह विशेषता यह है कि मूलगुणोंमें जो रात्रिभोजनका त्याग है वह अतिचारसहित है उसमें अतिचारोंका त्याग शामिल नहीं है और छठी प्रतिमामें जो रात्रिभोजनका त्याग है वह अतिचाररहित है उसमें रात्रिभोजनके सब अतिचारोंका त्याग है ॥४१॥ इस व्रतमें रात्रिमें केवल अन्नादिक स्थूल भोजनोंका त्याग है इसमें पान जल तथा आदि शब्दसे औषधिका त्याग नहीं है। भावार्थ—यहांपर दर्शनप्रतिमाके वर्णनमें सबसे पहले जो मूलगुणोंका वर्णन है उसमें पानी पान सुपारी इलायची और औषधिको छोडकर बाकी सब पदार्थोंको रात्रिमें भोजन करनेका त्याग बतलाया है। ॥ ४२ ॥ तथा छठी प्रतिमामें पानी पान सुपारी इलायची औषधि आदि समस्त पदार्थोंका सर्वथा त्याग बतलाया है इसलिए छठी प्रतिमा धारण करनेवाले बुद्धिमान मनुष्यको औषधि वा जल आदि पदार्थ प्राणोंके नाश होनेका समय आनेपर भी रात्रिमें कभी नहीं खाने चाहिये ॥ ४३ ॥ कदाचित् यहांपर कोई यह शंका करे कि दर्शनप्रतिमाको धारण करनेवाला (दर्शनप्रतिमामें भी मूलगुणोंका धारण करने-

१ सूर्य निकलनेके दो घड़ी बादसे लेकर सूर्य अस्त होनेके दो घड़ी पहले तक भोजनका समय बतलाया है। यदि सूर्य निकलनेके बाद दो घड़ी दिन चढनेसे पहले अथवा सूर्य अस्त होनेके पहले किन्तु अन्तकी दो घडियोंमें भोजन करे तो छठी प्रतिमाके लिये यह भी अतिचार है।

सैषा नाम्ना कुलक्रिया । तां विना दर्शनिको न स्यान्नरस्यानामतस्तथा ॥४५॥ मांसमात्रपरित्यागादनस्तमितभोजनम् । व्रतं सर्वजघन्य स्यात्तदधस्तात्स्यादक्रियाः ॥४६॥

वाला) अव्रती है उसके कोई व्रत नहीं है इसलिए वह रात्रिमें अन्नादिक भोजनोंका भी त्याग नहीं कर सकता वह रात्रिमें अन्नादिक भोजन खा सकता है अथवा वह अभी अव्रती है इसलिए वह रात्रिभोजनके त्यागमें असमर्थ है-शक्तिरहित है इसलिए भी वह रात्रिमें अन्नादिक भोजन खा सकता है। अथवा वह पाक्षिक है व्रतादिकोंके धारण करनेका केवल पक्ष रखता है। व्रतादिकोंको धारण नहीं करता इसलिये भी वह रात्रिभोजनका त्याग नहीं कर सकता परंतु ऐसी शंका करना ठीक नहीं है क्योंकि इस दर्शनप्रतिमामें अथवा दर्शनप्रतिमाके अंतर्गत मूलगुणोंके धारण करनेमें एक कुलाचार माना गया है—कुलपरंपरासे चला आया जो आचरण उसको कुलाचार कहते हैं और उसी कुलाचारको कुलक्रिया भी कहते हैं। रात्रि-भोजनका त्याग करना इस पाक्षिक श्रावकका कुलाचार वा कुलक्रिया है। इस कुलाचार वा कुलक्रियाके विना वह मनुष्य दर्शनप्रतिमाधारी अथवा पाक्षिक श्रावक नहीं हो सकता और की तो क्या ? इस रात्रिभोजन त्यागरूप कुलक्रियाके विना नाम मात्रसे भी वह पाक्षिक श्रावक नहीं हो सकता। भावार्थ-जो रात्रिमें भोजन करते हैं वे नाममात्रके भी जैनी नहीं है इसलिये जैनीमात्रको तथा नाममात्रसे भी जो जैनी हैं उनको रात्रिभोजनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥४४-४५॥ जो मांसमात्रका त्यागी है और रात्रिभोजन नहीं करता है वह सबसे जघन्यव्रती कहलाता है तथा उससे जो नीचे है अर्थात् जिसके मांस और रात्रिभोजनका भी त्याग नहीं है वहांपर कोई भी क्रिया नहीं समझनी चाहिये। भावार्थ-यहांपर मांसके त्यागसे मद्य मांस मधु तीनोंका त्याग समझना चाहिये। जैनीमात्रके लिये मद्य मांस मधु और रात्रिभोजनका त्याग करना अत्यावश्यक है। जिसके इन तीनोंका त्याग नहीं है उसको नाममात्रका भी जैनी नहींसमझना चाहिये। वह धर्मशास्त्रको सुनने तकका अधिकारी नहीं है क्योंकि यह निश्चित नियम है कि आठ मूलगुणोंको धारण करनेवाला ही जिनधर्मके उपदेश सुननेका अधिकारी होता है। जिसने आठ मूलगुण धारण नही किये हैं वह न तो जैनधर्मके उपदेश सुननेका अधिकारी होता है और न नाममात्रका भी जैनी कहलानेका

नेत्थं यः पाक्षिकः कश्चिद् व्रताभावादव्रत्यती । पक्षमात्रावलम्बी स्यादव्रतमात्रं न चाचरेत् ॥४७॥ यतोस्य पक्षग्राहित्वमसिद्धं बाधसम्भवात् । लोपात्सर्वविदाज्ञायाः साध्या पाक्षिकता कुतः ॥४८॥ आज्ञा सर्वविदः सैव क्रियावान् श्रावको मतः । कश्चित्सर्वनिकृष्टोपि न त्यजेत्स कुलक्रियाः ॥ ४९ ॥ उक्तेषु वदयमाणेषु दर्शनि-

अधिकारी होता है। इसलिये जैनी कहलानेके लिये अथवा जैनधर्मका उपदेश सुननेके लिये सबसे पहले आठ मूलगुणोंको अवश्य धारण कर लेना चाहिये ॥ ४६ ॥ कदाचित् कोई यह कहे कि पाक्षिक श्रावक किसी व्रतको पालन नहीं करता इसीलिये वह अव्रती है। वह तो व्रत धारण करनेकी केवल पक्ष रखता है किसी व्रतको पालन नहीं करता अतएव वह रात्रिभोजनका त्याग भी नहीं कर सकता। परंतु शंका करनेवालेकी यह शंका करना ठीक नहीं है और इसका भी कारण यह है कि रात्रिभोजनका त्याग न करनेसे उसका पाक्षिकपना अथवा व्रतोंके धारण करनेकी पक्षको स्वीकार करना भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष बाधा आ जाती है। जब रात्रिभोजनका त्याग करना कुलक्रिया है और उसके विना दर्शनप्रतिमा वा मूलगुण हो ही नहीं सकते फिर भला रात्रिभोजन करनेवालेके मूलगुणोंका अथवा सम्यग्दर्शन धारण करनेका भी पक्ष किस प्रकार कहा जा सकता है? दूसरी बात यह है कि यदि रात्रिभोजन त्यागरूप कुलक्रियाका पालन न किया जायगा तो फिर सर्वज्ञदेवकी आज्ञाका लोप करना समझा जायगा। क्योंकि सर्वज्ञदेवने रात्रिभोजनका त्याग कुलाचारमें बतलाया है और विना इस कुलाचारके सम्यग्दर्शन हो नहीं सकता इसलिये रात्रिभोजनका त्याग न करना कुलाचारका पालन नहीं करना है और कुलाचारका पालन न करना सर्वज्ञदेवकी आज्ञाका लोप करना है तथा जब सर्वज्ञदेवकी आज्ञाका लोप ही हो जायगा तो फिर उसका पाक्षिकपना भी किस प्रकार ठहर सकेगा ॥ ४७-४८ ॥ क्योंकि भगवान सर्वज्ञदेवकी यही आज्ञा है कि जो क्रियावान् है कुलक्रियाका पालन करता है वही श्रावक माना जाता है। जो सबसे निकृष्ट श्रावक है सबसे कम दरजेके अभ्यासमात्र मूलगुणोंका पालन करता है उसको भी अपनी कुलक्रियाएं कभी नहीं छोडनी चाहियें। अतएव मांस त्याग करनेवाले पाक्षिक श्रावकको रात्रिभोजनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ४९ ॥ बहुत कहां तक कहा जाय इस दर्शनप्रतिमाके वर्णनमें जो कुछ पहले कह चुके

व्रतेषु च। सन्देहो नैव कर्तव्यः कर्तव्यो व्रतसंग्रहः ॥ ५० ॥ प्रसिद्धं सर्वलोकेस्मिन् निशायां दीपसन्निधौ। पतङ्गादि पतत्येव प्राणिजातं त्रसात्मकम् ॥ ५१ ॥ म्रियन्ते जन्तवस्तत्र झम्पापातात्समन्ततः। तत्कलेवरसम्मिश्रं तत्कृतः स्यादनामिषम् ॥ ५२ ॥ युक्तायुक्तविचारोपि नास्ति वा निशि भोजने। मक्षिका नेक्ष्यते सम्यक् का कथा मसकस्य तु ॥ ५३ ॥ तस्मात्संयमवृद्ध्यर्थं निशायां भोजनं त्यजेत्। शक्तिनस्तच्चतुष्कं स्यादन्नाद्यन्यतमादि वा ॥ ५४ ॥ यत्रोषितं न भक्ष्यं

हैं और जो कुछ आगे कहेंगे उसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं करना चाहिये। सब संदेहको छोडकर केवल व्रतों-का संग्रह करना चाहिये ॥ ५० ॥ यह बात समस्त संसारमें प्रसिद्ध है कि रात्रिमें दीपकके सहारे पतंगा आदि अनेक त्रस जीवोंका समुदाय आ जाता है। ॥५१ ॥ वह त्रस जीवोंका समुदाय जरासी हवाका झकोरा लगने मात्रसे ही अपने देखते २ मर जाता है तथा उनका कलेवर उड उड कर सब भोजनमें मिल जाता है। (कुछ जीव तो जीवित ही भोजनमें पडकर मर जाते हैं और फिर वे उसमेंसे अलग नहीं किये जा सकते तथा कुछ मरे हुये भी उड उड कर भोजनमें मिल जाते हैं) ऐसी हालतमें रात्रिभोजनका त्याग न करनेवालोंके मांसका त्याग किस प्रकार हो सकता है ? ॥ ५२ ॥ दूसरी बात यह है कि रात्रिमें भोजन करनेमें योग्य और अयोग्यका विचार भी नहीं रहता है। अरे जहांपर अच्छी तरह मक्खी भी दिखाई न पडे फिर भला उस रात्रिमें मच्छर आदि छोटे छोटे जीव तो किस प्रकार दिखाई दे सकते हैं ? ॥ ५३ ॥ इसलिए संयमकी वृद्धिके लिए रात्रिभोजनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये। यदि अपनी शक्ति हो तो चारों प्रकारके आहारका त्याग कर देना चाहिये। यदि अपनी इतनी शक्ति न हो तो अन्न पानादिक चारों प्रकारके आहारोंमेंसे अन्न आदिक किसी एक प्रकारके अथवा दो प्रकारके वा तीन प्रकारके आहारोंका त्याग कर देना चाहिये ॥५४॥ जहांपर मांसभक्षणके दोषसे बासे भोजनके (एक वा दो दिन पहले बनाये हुये भोजनके) भक्षण करनेका भी त्याग है वहांपर आसव अरिष्ट संधान अथाना आदिकी तो बात ही क्या है। भावार्थ-कुमारीआसव द्राक्षासव आदि सब तरहके आसव पदार्थोंको सडाकर महीनों जमीनमें गाडकर बनाते हैं इसलिए उनमें अनेक सूक्ष्म त्रसजीव उत्पन्न होते रहते हैं सिरका वगैरह भी सब इसमें ही शामिल हैं अतएव ऐसे पदार्थोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। अरिष्ट आचार मुरब्बा आदि भी

स्यादन्नादि पलदोषतः । आसवारिष्टसन्धानाथानादीनां कथात्र का ॥ ५५ ॥ रूपगन्धरसस्पर्शाच्चलित नैव भक्षयेत् । अवश्यं त्रसजीवानां निकोतानां समाश्रयात् ॥ ५६ ॥ दधितक्रसादीनां भक्षणं वक्ष्यमाणतः । कालादर्वाक्, ततस्तूर्द्धं न भक्ष्यं तदभक्ष्यवत् ॥ ५७ ॥ इत्येवं पलदोषस्य दिग्मात्रं लक्षण स्मृतम् ।

सब महीनों वा बरसों रक्खे रहते हैं इसलिए उनमें अनेक त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं किसीमें स्थूल जीव उत्पन्न हो जाते हैं जो साफ दिखाई देते हैं और किसीमें सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते हैं । प्रायः देखा जाता है कि अचार बेचनेवाले अचारमें बडी बडी लटें उत्पन्न हो जानेपर उसमें तेजाब मिला देते हैं जो सब जीव मरकर उसीमें मिल जाते हैं ऐसे अचारमें और मांसमें कोई अंतर नहीं है । बहुतसे लोग लटें उत्पन्न होनेपर पानीसे धो डालते हैं और फिर उसमें थोडासा मसाला मिला देते हैं ऐसा करनेसे बडी बडी लटें निकलकर मर जाती हैं पर सूक्ष्म लटें उसीमें रह जाती हैं तथा वह अचार जीव उत्पन्न होनेका योनिभूत बन जाता है इसलिए उसमें फिर वैसे ही जीव उत्पन्न हो जाते हैं । इसलिए आसव अरिष्ट अचार मुरब्बा आदि सब पदार्थ मांसके समान अभक्ष्य हैं इनका त्याग सदाके लिए कर देना चाहिये ॥ ५५ ॥ इसी प्रकार जो पदार्थ रूप, रस, गंध, स्पर्शसे चलायमान हो जाते हैं जिनका रूप बिगड जाता है, रस बिगड जाता है-चलित हो जाता है, गंध बदल जाती है, स्पर्श बिगड जाता है ऐसे चलित पदार्थोंको भी कभी नहीं खाना चाहिए । क्योंकि ऐसे पदार्थोंमें अनेक त्रस जीवोंकी और निगोद राशिकी उत्पत्ति अवश्य हो जाती है ॥ ५६ ॥ दूध दही छाछ आदि रसोंका भक्षण उनके कहे हुये नियमित समयके पहले पहले कर लेना चाहिये अर्थात् जितनी उनकी मर्यादा कही है वहीं तक उनको खाना चाहिये । उस मर्यादाके बाहर अभक्ष्य पदार्थोंके समान उसे कभी नहीं खाना चाहिये । अर्थात् दूध दही आदिकी जितनी मर्यादा है उसके बीत जाने पर वे अभक्ष्य हो जाते हैं फिर उनका भक्षण कभी नहीं करना चाहिये ॥५७॥ इस प्रकार मांसके दोषोंका थोडासा वर्णन किया । अब आगे मांस खानेसे क्या फल मिलता है उसको बतलाते हैं सो सुनो ॥५८॥ सिद्धांतशास्त्रोंमें यह बात सिद्ध है कि मांसका एक अंशमात्र भी भक्षण करनेसे समस्त जीवोंके भाव सब ओरसे संक्लेशरूप हो जाते हैं । भावार्थ—मांस भक्षण करनेवालोंके परिणाम सदा क्रूर और संक्लेशरूप

फलितं भक्षणादस्य वक्ष्यामि शृणुताधुना ॥ ५८ ॥ सिद्धान्ते सिद्धमेवैतत् सर्वतः सर्वदेहिनाम् । मांसांशस्याशनादेव भावः संक्लेशितो भवेत् ॥ ५९ ॥ न कदाचित् मृदुत्व स्याद्यद्योग व्रतधारणे । द्रव्यतो कर्मरूपस्य तच्छक्तेरनतिक्रमात् ॥ ६० ॥ अनाद्यनिधना नूनमचिन्त्या वस्तुशक्तयः । न प्रतर्क्याः कुतर्कैर्यत् स्वभावोऽ

रहते हैं उनके परिणामोंमें स्वाभाविक क्रूरता आ ही जाती है और फिर वे हिंसा झूठ चोरी आदि पापोंके करनेमें जरा भी संकोच नहीं करते हैं ॥ ५९ ॥ क्रूर और संक्लेश परिणाम होनेके कारण उन परिणामोंमें फिर व्रत धारण करने योग्य कोमलता कभी नहीं रह सकती तथा उन परिणामोंमें तीव्र कर्मरूप शक्तिके बननेका उल्लंघन कभी नहीं होता है। भावार्थ—मांस भक्षण करनेवाला कभी व्रत धारण नहीं कर सकता क्योंकि उसके परिणाम कभी कोमल वा दयारूप हो ही नहीं सकते। मांस भक्षण करनेसे परिणामोंमें सदा क्रूरता बनी रहती है। तथा अदयारूप और कठोर परिणाम होनेसे उसके सदा तीव्र कर्मों का बंध होता रहता है। इसलिये श्रावकोंको मांस त्याग के सब दोष भी छोड देने चाहिये ॥ ६० ॥ कदाचित् यहां पर कोई यह शंका करे कि मांसमें ऐसी क्या बात है जो उसके भक्षण करनेसे परिणामोंमें सदा संक्लेशता बनी रहती है ? सो इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक पदार्थकी शक्तियां अचिन्त्य हैं और वे अनादिकालसे चली आ रही हैं और अनंतकाल तक बराबर बनी रहेंगी । इसमें किसी भी कुतर्कीको किसी प्रकारका कुतर्क नहीं करना चाहिये क्योंकि जो जिसका स्वभाव है उसमें किसीका तर्क चल नहीं सकता। भावार्थ—जिस प्रकार गिलोय कडवी होती है अथवा ईख मीठी होती है। इसमें किसीका तर्क चल नहीं सकता कि ईख मीठी ही क्यों होती है गिलोय कडवी क्यों होती है। इस क्योंका संसारमें कोई ऊत्तर नहीं है क्योंकि गिलोयका कडवा होना और ईखका मीठा होना उसका स्वभाव है। जो जिसका स्वभाव है उसमें किसीका कोई तर्क नहीं चल सकता। इसी प्रकार मांसका ऐसा ही स्वभाव है अथवा मांस भक्षण करने वालोंका ऐसा स्वभाव हो ही जाता है ॥ ६१ ॥ अथवा जिस प्रकार चुंबक पत्थर और सूई दोनों अलग अलग पदार्थ हैं परन्तु दोनोंके मिलनेसे एक ऐसी विभावरूप शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे कि चुंबक पत्थर सूईको अपनी ओर खींच लेता है अथवा सूई चुंबक पत्थरकी ओर खिंचकर चली जाती है। उसी प्रकार जीव अलग

तर्कगोचरः ॥ ६१ ॥ अयस्कान्तोपलाकृष्टसूचीवत्तद्द्वयोः पृथक् । अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धादिकारिणी ॥ ६२ ॥ न वाच्यमकिंचित्करं वस्तु बाह्यमकारणम । धत्तूरादिविकाराणामिन्द्रियार्थेषु दर्शनात् ॥ ६३ ॥ उक्त च । यद्बवस्तुबाह्यं गुणदोषसूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः । अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यल ते ॥ ३ ॥ एवं मांसाशनाद्भावोऽवश्य सक्लेशितो भवेत् । तस्मादसातबन्धः स्यात्ततो भ्रान्तिस्ततोऽसुखम् ॥ ६४ ॥ एतदुक्तं परिज्ञाय श्रद्धाय च

पदार्थ है और मांस अलग पदार्थ है परन्तु जीवमें एक वैभाविक नामकी ऐसी शक्ति है जो उस जीवके साथ मांसका संयोग होने पर (मांस भक्षण कर लेनेपर) तीव्र बंधका कारण होती है ॥ ६२ ॥ कदाचित् यहां पर कोई यह शंका करे कि शुभ अशुभ बंध करनेवाले परिणाम जीवके ही होते हैं उसमें बाह्य वस्तु कोई कारण नहीं है बाह्य पदार्थ तो आकिंचित्कर है वे कुछ नहीं कर सकते, इसका भी अभिप्राय यह है कि मांसके भक्षण करनेसे जीवके परिणामोंमें कोई अन्तर नहीं पडना चाहिये । मांस तो बाह्य पदार्थ है और बाह्य पदार्थ जीवके परिणामों में कारण नहीं होना चाहिये परन्तु यह शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि धतूरा आदि खा लेनेसे जीवकी इन्द्रियोंमें विकार हो ही जाता है । भावार्थ–जिस प्रकार धतूरा बाह्य पदार्थ है उसके खा लेनेसे इन्द्रियोंमें विकार हो ही जाता है यह बात प्रत्यक्ष दिखाई पडती है उसी प्रकार मांस भक्षण करनेसे जीवके परिणामोंमें तीव्र बंध करने योग्य क्रूरता आ ही जाती है ॥ ६३ ॥ लिखा भी है–गुण दोषोंके उत्पन्न होनेमें जो बाह्य पदार्थ निमित्त कारण पडते हैं वे अभ्यन्तर मूल कारणके होनेसे ही निमित्त कारण होते हैं अर्थात् अभ्यन्तर कारण मुख्य कारण है और बाह्य पदार्थ गौण कारण है । तथा कहीं कहीं पर केवल अंतरंग कारणसे ही कार्यकी सिद्धि हो जाती है । अतएव आत्मा जो आत्मामें लीन होता है उसका कारण केवल अंतरंग कारण है । उसके लिऐ बाह्य कारणकी आवश्यकता नहीं पडती । इस प्रकार मांस भक्षण करनेसे इस जीवके परिणाम संक्लेशरूप अवश्य होते हैं तथा संक्लेश परिणाम होनेसे असाता वेदनीयका बंध होता है । असाता वेदनीयका बंध होनेसे संसारमें परिभ्रमण होता है और संसारमें परिभ्रमण होनेसे दुःख उत्पन्न होता है । इस प्रकार मांस भक्षण करना अनंत काल तक अनंत दुःखोंका कारण है ॥६४॥

मुहुर्मुहुः । ततो विरमणं कार्यं श्रावकैर्धर्मवेदिभिः ॥ ६५ ॥ मद्यं त्यक्तवतस्तस्य वक्ष्यतीचारवर्जनम् । यत्यागेन भवेच्छुद्धः श्रावको ज्ञातस्वर्णवत् ॥ ६६ ॥ ह्यक्षज्ञानयुक्तस्य मादनान्मद्यमुच्यते । ज्ञानाद्यावृत्तिहेतुत्वात्स्यात्तदवद्यकारणम् ॥ ६७ ॥ भङ्गाहिफेनधत्तूरखस्खसादिफलं च यत् । मादयताहेतुरन्यद्वा सर्वं मद्यवदीरितम् ॥ ६८ ॥ एवमित्यादि यद्वस्तु सुरेव मदकारकम् । तन्निखिलं त्यजेद्धीमान् श्रेयसे ह्यात्मनो गृही ॥ ६९ ॥ दोषत्व प्राग्मतिभ्रंशस्ततोमिथ्याववोधनम् ।

इस प्रकार ऊपर जो कुछ मांस भक्षणके दोष बतलाये हैं उनको जानकर और उनपर बार बार श्रद्धान कर धर्मका स्वरूप जाननेवाले श्रावकोंको उन अतिचारोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ६५ ॥

अब आगे जिसने मद्यका त्याग कर दिया उसके लिये उसके अतिचार छोडनेका उपदेश देते हैं। जिस प्रकार कीट कालिमाके हटा देनेसे सुवर्ण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार मद्यके अतिचारोंका त्याग कर देनेसे श्रावक अत्यंत शुद्ध हो जाता है ॥ ६६ ॥ जिन अल्पज्ञानी जीवोंके इंद्रियजन्य ज्ञान है वे जीव मद्यपान करनेसे उन्मत्त रूप हो जाते हैं अर्थात् मद्यपान (नशीली चीजोंका खाना पीना) इंद्रियोंको धारण करनेवाले संसारी जीवोंको उन्मत्तताका कारण है इसीलिये वह मद्य कहलाता है तथा मद्यपान करनेसे ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि अशुभ कर्मोंका बंध होता है इसलिये वह पापका कारण है ॥ ६७ ॥ भांग, अहिफेन (नागफेन) धतूरा, खसखसके दाने आदि (चर्स गांजा) जो जो पदार्थ नशा उत्पन्न करनेवाले हैं वे सब मद्यके समान ही कहे जाते हैं ॥ ६८ ॥ ये सब पदार्थ तथा इनके समान और ऐसे पदार्थ जो कि मद्यके समान मद्य वा नशा उत्पन्न करनेवाले हैं वे सब पदार्थ अपने आत्माका कल्याण करनेके लिये बुद्धिमान गृहस्थको छोड देने चाहिये। भावार्थ—भांग धतूरा चर्स गांजा आदि नशीले पदार्थोंका सेवन करना मद्य त्यागके अतिचार हैं । श्रावकोंको इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ६९ ॥ इस मद्यके सेवन करनेसे तथा भांग धतूरा खसखस आदि मद्यत्यागके अतिचार रूप नशीले पदार्थोंके सेवन करनेसे पहले तो बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, फिर मिथ्याज्ञान होता है माता बहिन आदिको भी स्त्री समझने लगता है तथा इस प्रकारका मिथ्याज्ञान होनेसे फिर रागादिक उत्पन्न होते हैं, रागादिक उत्पन्न होनेसे फिर व्यभिचार सेवन अभक्ष्य भक्षण वा अन्य अन्याय रूप क्रियाएं उत्पन्न होने

रागादयस्ततः कर्म ततो जन्मेह क्लेशता ॥ ७० ॥ दिग्मात्रमत्र व्याख्यातं तावन्मात्रैकहेतुतः । व्याख्यास्यामः पुरो व्यासात्तद्व्रतावसरे वयम् ॥ ७१ ॥ माक्षिकं मक्षिकानां हि मांसासृक् पीडनोद्भवम् । प्रसिद्धं सर्वलोके स्यादागमेष्वपि सूचितम् ॥ ७२ ॥ न्यायात्तद्भक्षणे नूनं पिशिताशनदूषणम् । त्रसास्ता मक्षिका यस्मा-दामिषं तत्कलेवरम् ॥ ७३ ॥ किञ्च तत्र निकोतादिजीवाः संसर्गजा. क्षणात् । सन्मूर्च्छिमा न मुञ्चन्ति तत्सङ्ग जातु क्रव्यवत् ॥ ७४ ॥ यथा पक्व च शुष्क

लगती हैं तथा व्यभिचार सेवन वा अभक्ष्य भक्षण करनेसे इस संसारका जन्ममरण रूप परिभ्रमण बढता है और जन्म मरण रूप परिभ्रमण बढनेसे इस जीवको सदा संक्लेश वा दुःख उत्पन्न होते रहते हैं । इसलिये नशीली सब चीजोंका त्याग कर देना ही इस जीवके लिये कल्याणकारी और सुख देनेवाला है ॥ ७० ॥ इस प्रकार जो जो पदार्थ केवल नशा उत्पन्न करनेवाले हैं ऐसे भांग धतूरा आदि मद्यके थोडेसे ही अतिचारोंका वर्णन यहां पर किया है । इनके विस्तारका वर्णन हम आगे व्रतोंका निरूपण करते समय करेंगे ॥ ७१ ॥

शहतकी उत्पत्ति मक्खियोंके मांस रक्त आदिके निचोडनेसे होती है । यह बात समस्त संसारमें प्रसिद्ध है तथा शास्त्रोंमें भी यही बात बतलाई है ॥ ७२ ॥ इस प्रकार न्यायसे भी यह बात सिद्ध हो जाती है कि शहतके खानेमें मांस भक्षणका दोष आता है क्योंकि मक्खियां त्रस जीव हैं और शहत उनका कलेवर है जो त्रस जीवोंका कलेवर होता है वह सब मांस कहलाता है शहत भी मक्खियोंका कलेवर है इसलिए वह भी मांस ही है अतएव शहतका खाना मांस खानेके समान है ॥ ७३ ॥

---

१ शहत एक प्रकारसे मक्खियोंकी उगलन है । मक्खियां फूलोंका रस पीती है कुछ देर तक उस रसका पाक उनके पेटमें होता है और यथेष्ट पाक हो जानेपर फिर वे मक्खियां अपने छत्तेमें उसको उगल देती हैं वही शहत कहलाता है । जो लोग शहत निकालते हैं वे पहले धूआं करके अथवा और किसी तरह मक्खियोंको उड़ा देते हैं और फिर उनके छतोंको निचोड़ कर शहत निकाल लेते हैं । इस प्रकार करनेसे एक तो हजारों मक्खियोंको घर रहित कर देते हैं । दूसरे यद्यपि मक्खियां उड़ जाती हैं तथापि हजारों बच्चे उस छत्तेमें रह जाते हैं जो निचोड़ते समय सब मर जाते हैं और उनके मांस रक्तका सब अर्क उस सहतमें आ जाता है । इस प्रकार शहत एक मांसके समान ही अपवित्र पदार्थ है । इनके सिवाय एक बात यह भी है कि जिसमें रक्त मांसका रस है उसमें बहुत जल्दी छोटे छोटे सूक्ष्म त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं तथा जिन चीजोंका पाक पेटमें हो चुका है उनके उगलने पर उस उगलनमें भी अनेक सूक्ष्म जीव उत्पन्न हो जाते हैं इस प्रकार शहत अनेक सूक्ष्म त्रस जीवोंका समुदाय है इसलिये गृहस्थोंको उसका सर्वथा त्याग करना चाहिये ।

वा पलं शुद्धं न जातुचित् । प्रासुकं न भवेत्क्वापि नित्यं साधारणं यतः ॥ ७५ ॥ अयमर्थो यथाग्न्यादि कारणात्प्रासुकं भवेत् । शुष्कं वाप्यग्निपक्वं वा प्रासुकं न तथामिषम् ॥ ७६ ॥ प्राग्वदत्राप्यतीचाराः सन्ति केचिज्जिनागमात् । यथा पुष्परसः पीतः पुष्पाणामासवो यथा ॥ ७७ ॥ उदुम्बरफलान्येव नादेयानि दृगात्मभिः ।

इसके सिवाय एक बात यह भी है कि जिस प्रकार मांसमें सूक्ष्म निगोदराशि सदा उत्पन्न होती रहती है उसी प्रकार शहतमें भी रक्त मांसके संबंधसे सदा सूक्ष्म निगोदराशि उत्पन्न होती रहती है । शहत किसी भी अवस्थामें क्यों न हो उसमें सदा जीव उत्पन्न होते रहते हैं उन जीवोंसे रहित शहत कभी नहीं रहता ॥७४॥ मांस चाहे कच्चा हो चाहे पका हुआ हो चाहे पक रहा हो और चाहे सूखा हो वह कभी शुद्ध नहीं हो सकता । इसका भी कारण यह है कि वह सदा साधारण रहता है उसमें हर अवस्थामें अनंतकायरूप निगोद राशि उत्पन्न होती रहती है । इसलिये मांस किसी भी अवस्थामें क्यों न हो वह कभी प्रासुक नहीं हो सकता ॥ ७५ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार गेहूं जौ आदि अन्न अपने अपने कारण मिलनेसे प्रासुक हो जाते हैं अर्थात् भून लेनेसे, पका लेनेसे, कूट लेनेसे, पीस लेनेसे गेहूं जौ आदि अन्न प्रासुक हो जाते हैं उस प्रकार मांस चाहे सूखा हो चाहे अग्निपर पकाया हुआ हो किसी भी अवस्थामें क्यों न हो, वह कभी प्रासुक नहीं हो सकता ॥७६॥ जिस प्रकार पहले शराब और मांसके अतिचार कह चुके हैं उसी प्रकार इस शहतके अतिचार भी जैन-

१ लिखा भी है "आमास्वपि पक्वास्वपि त्रिपच्यमानासु मांसपेशीषु । सातत्येनोदगादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥ आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति मांसपेशीम् । स निहन्ति सततनिचितं पिंडं बहु जीवकोटीनाम् ॥ अर्थ—मांस चाहे कच्चा हो चाहे पका हुआ हो और चाहे पक रहा हो कैसा ही क्यों न हो उसमें उसी जातिको निगोदराशि हर समय उत्पन्न होती रहती है । इसीलिये जो मनुष्य कच्चे अथवा पके हुए मांसको खाता है अथवा उसे छूता है वह असंख्यात समयसे इकट्ठे हुए अनेक करोड़ों जीवोंके पिंडोंको मारता है । भावार्थ—सूईकी नोकपर जितना मांस आता है उसमें भी हर समय अनंतानन्त निगोदराशि उत्पन्न होती रहती है तथा जिसका वह मांस है उस जातिके त्रस जीव भी उसमें सदा उत्पन्न होते रहते हैं । इसलिये मांसका खाना तो क्या मांसके छूनेमें भी अनन्तानन्त जीवोंका घात होता है । इसलिये मांससे सदा दूर रहना ही कल्याणकारी है । आजकल डाक्टरी दवाइयोंमें भी शराब और मांसका भाग रहता है बहुतसी दवाइयोंमें मछलियोंकी चर्बी वा तेल रहता है इसलिये मांस त्याग करनेवाले जीवोंको डाक्टरी दवाईका भी त्याग कर देना चाहिये ।

नित्यं साधारणान्येव त्रसांगैराश्रितानि च ॥ ७८ ॥ अत्रोदुम्बरशब्दस्तु नूनं स्यादुपलक्षणम् । तेन साधारणास्त्याज्या ये वनस्पतिकायिकाः ॥ ७९ ॥ उक्तं च ।

शास्त्रोंमें वर्णन किये हैं जैसे पुष्पोंका रस पीना अथवा फूलोंका बना हुआ आसव खाना आदि सब शहत त्याग-व्रतके अतिचार हैं। गुलकंदका खाना भी इसी दोषमें समझ लेना चाहिये ॥ ७७ ॥

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवोंको उदंबर फल भी नहीं खाना चाहिये । क्योंकि उदंबर फल साधारण हैं अनंतानंत निगोद राशिके स्थान हैं तथा अनेक त्रस जीवोंसे भरे हुए हैं। भावार्थ—बडका फल, गूलर, पीपल का फल अंजीर और पाकर इनको उदंबर फल कहते हैं। इनके पेडोंमेंसे सफेद दूधसा निकलता है इसलिये इन-को क्षीरफल भी कहते हैं। इनमें त्रस जीव तो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। बड पीपर गूलरमें हजारों जीव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं तथा अंजीरमें भी सूक्ष्म जीव रहते ही हैं, अंजीर गूलरसाही फल है इसलिये उसमें सूक्ष्म जीवों-का होना स्वाभाविक है । इसलिये सम्यग्दृष्टिको इन सबका त्याग कर देना अत्यावश्यक है ॥ ७८ ॥ यहांपर जो उदंबर शब्दका त्याग कराया है वह उपलक्षणरूप है । किसी एक जगह दूध दही घी रखा था, किसीने किसीसे कहा कि भाई जरा घीको देखना कोई बिगाड न जाय या खा न जाय उसके इस कहनेका यह अर्थ नहीं है कि घीकी तो वह रक्षा करे और दूध दहीको बिगडने देवे । किंतु इसका अभिप्राय यही है कि घी दूध दही इन तीनोंकी रक्षा करना । इसीको उपलक्षण कहते हैं। इसी प्रकार यहांपर उदंबरका त्याग उपलक्षणसे कराया है। जिस प्रकार उदंबर साधारण है अनंतकायात्मक है उसी प्रकार जितने वनस्पति साधारण वा अनंत कायात्मक हैं उन सबका त्याग कर देना चाहिये तथा जिन जिन पदार्थोंमें त्रस जीव रहते हों वा रहने-की संभावना हो उन सबका भी त्याग कर देना चाहिये। अनंतकायात्मक अथवा साधारण वनस्पति कौन कौन हैं इन सबका खुलासा आगे श्रीगोमट्टसारजीके गाथाओंमें कहे हुए श्लोकों द्वारा कहते हैं ॥ ७९ ॥

मूलग्गपोरबीआ साहा तह खंधकंदबीअरुहा
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ।

मूलग्गपोरबीआ साहा तह खंधकदबीअरुहा। सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य॥ ४ ॥ साहारणमाहारं साहारणमाणपाणगहणं च। साहारणजीवाणं

जिनका मूल या जड ही बीज हो ऐसे हल्दी अदरख आदिको मूलजीव कहते हैं। जिनका अग्र वा अग्र भाग ही बीज हो जो ऊपरकी डाली काट कर लगा देनेसे लग जांय ऐसे मेहदी आदिको अग्रबीज कहते हैं। जिनका पर्व वा गांठ ही बीज हो ऐसे गन्ना आदिको पर्वबीज कहते हैं। कंद ही जिनका बीज हो ऐसे सूरण पिंडालु आदिको कंद-बीज कहते हैं। जिनका स्कंध ही बीज हो ऐसे ढाक आदिको स्कंधबीज कहते हैं। जो बीजसे उत्पन्न हों ऐसे गेंहू जौ आदिको बीजरुह कहते हैं तथा जो मूल अग्रबीज आदि निश्चित बीजोंके बिना अपने आप उत्पन्न हों उनको सम्मूर्च्छन कहते हैं। जैसे घास आदि। ये सब प्रत्येक वनस्पति कहलाते हैं। जिन वनस्पतियोंमें अनंत निगोद जीवोंके शरीर हों उनको अनंतकाय वा प्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं तथा जिन वनस्पतियोंमें अनंतकाय शरीर न हों उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। इस प्रकार प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर तथा अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर दोनों ही प्रकारके जीव सम्मूर्च्छन समझने चाहिये।

यहांपर इतना और समझ लेना चाहिये कि प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीरकी अवगाहना उत्कृष्ट भी घनांगुलके असंख्यातवें भागमात्र ही है। इसलिये एक एक अदरककी गांठमें असंख्यात प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर हैं तथा एक एक प्रतिष्ठित शरीरमें अनंतानंत जीव हैं। इस प्रकार एक एक अदरककी गांठमें महा अनंतानंत जीव समझने चाहिये।

साहारणमाहारं साहारणमाणपाणगहणं च। साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं।

ये निगोदके जीव साधारण नामा नामकर्मकी प्रकृतिके उदयसे साधारण कहलाते हैं। साधारणका अर्थ सब जीवोंके एक साथ होना है। उस निगोद पिंडमें अनंतानंत जीव एक साथ उत्पन्न होते हैं उन सबकी आहार पर्याप्ति साथ साथ होती है और वह पहले समयमें होती है। आहारवर्गणारूप पुद्गलस्कंधोंको खल (हड्डी आदि कठिन भागरूप) रस (रक्त आदि नरम भागरूप) भागरूप परिणमानेकी शक्तिको आहार पर्याप्ति कहते हैं। यह

आहार पर्याप्ति भी सब जीवोंकी साथ साथ उत्पन्न होती है तथा उन्हीं आहार वर्गणारूप पुद्गल स्कंधोंको शरीर के आकार परिणमानेकी शक्तिको शरीरपर्याप्ति कहते हैं। यह शरीर पर्याप्ति भी सबकी साथ साथ होती है तथा उन्हीं पुद्गल स्कंधोंको स्पर्शन इंद्रियके आकाररूप परिणमानेकी शक्तिको इंद्रियपर्याप्ति कहते हैं। यह इंद्रिय-पर्याप्ति भी उन जीवोंकी एक साथ होती है तथा श्वासोच्छ्वासरूप आणप्राणपर्याप्ति भी उन सब जीवोंकी साथ साथ होती है। पहले समयमें एक निगोद शरीरमें अनंतानंत जीव उत्पन्न हुए थे। फिर दूसरे समयमें अनंतानंत जीव आकर और उत्पन्न हो जाते हैं फिर तीसरे समयमें भी अनंतानंत जीव और आकर उत्पन्न हो जाते हैं। नये नये जो जीव आकर उत्पन्न होते जाते हैं वे जिस प्रकार आहार आदि पर्याप्तियोंको धारण करते हैं उनके ही साथ पहलेके समस्त जीव आहारादि पर्याप्तियोंको धारण करते हैं। इन सब जीवोंका आहारादिक सब एक साथ होता है इसलिए इनको साधारण कहते हैं।

जत्थेक मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं । चंकमइ जत्थ इको चंकमणं तत्थ णंताणं ॥

एक निगोद शरीरमें जिस समय एक जीव अपनी आयु नाश होने पर मरता है उसी समयमें जिनकी आयु समान हो ऐसे अनंतानंत जीव एक साथ मर जाते हैं। तथा जिस समयमें एक जीव उत्पन्न होता है उसी समयमें समान स्थितिके धारक अनंतानंत जीव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जन्ममरण जिन जीवोंका एक साथ साधारण हो उनको साधारण जीव कहते हैं। इसी प्रकार दूसरे समयमें जो अनंत जीव उत्पन्न हुए थे वे भी साथही मरते हैं। इस प्रकार एक निगोद शरीरमें एक एक समयमें अनंतानंत जीव एक साथ उत्पन्न होते हैं और एक साथ ही मरते हैं और वह निगोद शरीर ज्यों का त्यों बना रहता है। उस निगोद शरीरकी उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात कोडाकोडी सागर है। इतने समय तक उसमें प्रत्येक समयमें अनंतानंत जीव उत्पन्न होते रहते हैं और अनंतानंत जीव प्रत्येक समयमें मरते रहते हैं। इतना विशेष है कि जिस निगोदमें पर्याप्त उत्पन्न होते

वादरकादयः । न भक्ष्या दैवयोगाद्वा रोगिणाप्यौषधच्छलात् ॥ ८० ॥ तद्भक्षणे महापापं प्राणिसन्दोहपीडनात् । सर्वज्ञाज्ञाबलादेतद्दर्शनीयं दृगंगिभिः ॥ ८१ ॥ नन्

हैं उसमें पर्याप्त ही उत्पन्न होते हैं अपर्याप्त नहीं । तथा जिसमें अपर्याप्त उत्पन्न होते हैं उसमें अपर्याप्त ही उत्पन्न होते हैं उसमें पर्याप्त उत्पन्न नहीं हो सकते । क्योंकि उनके समान कर्मका उदय होता है । ऊपर जो अदरख, आलू, आदि मूलबीज, अग्रबीज, पोरबीज आदि अनंत कायात्मक साधारण बतलाए हैं उन्हें कभी नहीं खाना चाहिए । यदि कोई रोगी हो और उसे औषधिरूपमें इन साधारण वनस्पतियोंका सेवन करना पडे तो भी उसे इन साधारण वनस्पतियोंका भक्षण नहीं करना चाहिए । भावार्थ—इन साधारण वनस्पतियोंके सेवन करनेमें फल तो बहुत थोडा है और हिंसा अनंतानंत जीवोंकी होती है । जहां पर सुईके अग्रभाग पर आए हुए अदरक आदिके जरासे टुकडेमें अनंतानंत जीव हैं वहां पर अदरकके दो चार गांठोंमें वा दस बीस आलुओंमें कितने अनंतानंत जीव होंगे इसका हिसाब लगाना भी कठिन है । इसलिये ऐसे अनंतानंत कायस्वरूप साधारण वनस्पतियोंका सर्वथा त्याग कर देना ही उचित है । बीमारीकी हालतमें औषधि रूपमें भी इनका सेवन करना अनुचित है । इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव इनका सर्वथा ही त्याग कर देते हैं । दैवयोगसे अर्थात् जबर्दस्त कारण मिलने पर भी सम्यग्दृष्टी इनका सेवन नहीं करते ॥ ८० ॥ इसका भी कारण यह है कि इन साधारण वनस्पतियोंके भक्षण करनेमें अनंतानंत जीवोंका घात होता है अथवा यों कहना चाहिए कि अनंतानंत जीवोंसे भरे हुए अनंत पिंडोंका नाश होता है । इसलिए इनके भक्षण करनेमें महापाप होता है । इस महापापका विचार भगवान सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके अनुसार सम्यग्दृष्टियोंको अवश्य करना चाहिए । भावार्थ—इन साधारण वनस्पतियोंके भक्षण करनेमें महापाप समझकर सम्यग्दृष्टियोंको इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए । आलू अदरक आदि कंदमूल वा साधारण वनस्पतिको कभी भक्षण नहीं करना चाहिए ॥ ८१ ॥

कदाचित् यहांपर कोई यह शंका करे कि इस पक्षधर्मका अनुमान किस हेतुसे करना चाहिये, अर्थात् आलू अदरक आदि मूलबीज वा अन्य साधारण वनस्पतियोंमें अनंतानंत जीव हैं यह बात किस प्रकार मान लेनी

केनानुमीयेत हेतुना पक्षधर्मता । प्रत्यक्षानुपलब्धित्वाज्जीवाभावोवधार्यते ॥ ८२ ॥ मैवं प्रागेव प्रोक्तत्वात्स्वभावोऽतर्कगोचरः । तेन सर्वविदाज्ञायाः स्वीकर्तव्यं यथो-

चाहिये । क्योंकि उनमें चलते फिरते जीव प्रत्यक्ष तो दिखाई देते ही नहीं हैं । इसलिये प्रत्यक्षमें तो उन साधारण-वनस्पतियोंमें जीवोंका अभाव ही दिखाई पडता है और इसीलिये उनमें कोई जीव नहीं है और जीव न होनेसे उनके भक्षण करनेमें कोई पाप नहीं है ऐसा ही निश्चय करना पडता है । परंतु ऐसी शंका करनेवालेके लिये ग्रंथकार कहते हैं कि यह बात नहीं है । हम यह बात पहले कह चुके हैं कि प्रत्यक पदार्थका जो अलग अलग स्वभाव है उसमें किसी प्रकारका तर्क वितर्क नहीं चल सकता । गिलोय कडवी होती है और गन्ना मीठा होता है यह उन दोनोंका स्वभाव है । इसमें कोई यह नहीं पूछ सकता कि गन्ना मीठा क्यों होता है अथवा गिलोय कडवी ही क्यों होती है । जिस पदार्थका जैसा स्वभाव होता है वह वैसा ही रहता है । इसी प्रकार आलू अदरक आदि कंदमूलोंका वा अन्य साधारण वनस्पतियोंका यही स्वभाव है कि उनमें प्रत्येक समयमें अनंतानंत जीव उत्पन्न होते रहें और मरते रहें तथा जैसा उनका स्वभाव है वैसा ही सर्वज्ञदेवने बतलाया है । सर्वज्ञदेव सर्वज्ञ और वीतराग हैं अर्थात् सूक्ष्म स्थूल समस्त पदार्थोंको एक साथ जानते हैं और उनमें राग द्वेषका सर्वथा अभाव है तथा मिथ्याभाषणका कारण राग द्वेष वा अजानकारी है वे दोनों ही अरहंतदेवमें नहीं हैं क्योंकि वे सर्वज्ञ और वीतराग हैं इसलिये वे कभी भी मिथ्या निरूपण नहीं कर सकते अतएव भगवान् सर्वज्ञदेवकी आज्ञानुसार पदार्थोंका जैसा स्वरूप बतलाया है वह अवश्य मान लेना चाहिये । यद्यपि आलू अदरक आदि कंदमूलोंमें वा अन्य साधारण वनस्पतियोंमें जीव दिखाई नहीं पडते हैं क्योंकि वे अत्यन्त सूक्ष्म हैं परंतु सर्वज्ञदेवने

१ नेत्रोंसे वेही पदार्थ दिखाई देते हैं जो स्थूल हैं सूक्ष्म पदार्थ महापरिमाण रूप होने पर भी दिखाई नहीं देते । जैसे रूईका रत्ती भर पिंड भी स्थूल होने से दिखाई देता है परन्तु समस्त संसारको भरी हुई और अपनी शक्तिसे बड़े बड़े पेड़ों तकको उखाड़कर फेंक देनेवाली हवा दिखाई नहीं पड़ती इसका कारण केवल सूक्ष्मता है । कपूरकी एक जरासी डली दिखाई देगी परन्तु लाखों मन कपूरकी बनी हुई हवा दिखाई नहीं देगी । इसी प्रकार कंद मूलोंमें सूक्ष्म जीव होते हैं इसीलिये वे दिखाई नहीं पड़ते । यदि वेही जीव स्थूल शरीर धारण करलें तो दिखाई देने लग जायं ।

दितम् ॥ ८३ ॥ नन्वस्तु तत्तदाज्ञाया पृष्टुमीहामहे परम् । यदेकाक्षशरीराणां भक्ष्यत्वं प्रोक्तमर्हता ॥ ८४ ॥ सत्यं बहुत्वभादत्र भक्ष्यत्वं नोक्तमर्हता । कुतश्चित्कारणा-

उनमें अनंतानंत जीव राशि बतलाई है इसलिये भगवान सर्वज्ञदेवकी आज्ञा मानकर कंदमूल वा साधारण वनस्पतियोंके भक्षण करनेका त्याग अवश्य कर देना चाहिये। लिखा भी है "सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते। आज्ञासिद्धं तु तद् ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः" अर्थात्—भगवान् अरहंतदेवके द्वारा कहे हुए सूक्ष्म तत्त्व भी किसी हेतुसे खंडित नहीं होते इसलिए उनकी आज्ञा मानकर उनके कहे हुए सूक्ष्म पदार्थोंको भी उसी प्रकार मान लेना चाहिए क्योंकि भगवान् अरहंतदेव सर्वज्ञ और वीतराग होनेसे अन्यथावादी वा मिथ्यानिरूपण करने वाले नहीं हैं ॥ ८२-८३ ॥

सर्वज्ञदेवकी आज्ञा मान लेना ठीक है इसमें किसीको कुछ कहना नहीं है परन्तु इसमें इतना और पूछ लेना चाहते हैं कि भगवान अरहंतदेवने ही तो एकेन्द्रिय जीवोंके शरीरको भक्ष्य वा खाने योग्य बतलाया है। फिर आप अनंतकाय वनस्पतियोंके भक्षण करनेका निषेध क्यों करते हैं वे भी तो एकेन्द्रिय जीव हैं ॥ ८४ ॥ उत्तर—यह ठीक है कि सर्वज्ञदेवने दो इन्द्रिय आदि जीवोंके शरीरके भक्षण करनेका निषध किया है क्योंकि दो इन्द्रिय आदि जीवोंके शरीरकी मांस संज्ञा है तथा एकेन्द्रिय जीवोंके शरीरकी मांस[1] संज्ञा नहीं है इसीलिए सर्वज्ञदेवने एकेन्द्रिय जीवोंके प्रासुक शरीरको भक्षण करनेका निषेध नहीं किया है तथापि उन्होंने (अरहंतदेवने) अनंत कायिक वनस्पतियोंके भक्षण करनेका निषेध किया ही है क्योंकि अनंतकायिक वनस्पतियोंके भक्षण करनेमें

१ मांसं जीवशरीरं जीव शरीरं भवेन्नवा मांसम्। यद्वन्निम्बो वृक्षः वृक्षस्तु भवेन्नवा निम्बः ॥

मांस प्राणियोंका शरीर है परन्तु जितने प्राणियोंके शरीर होते हैं वे सब मांस नहीं होते। प्राणियोंका शरीर मांस होता भी है और नहीं भी होता। जैसे नीम वृक्ष होता है परन्तु वृक्ष नीम होता भी है और नहीं भी होता क्योंकि नीमके सिवाय आम अनार आदि भी वृक्ष होते हैं। इसी प्रकार अन्य जीवका शरीर होकर भी मांस नहीं कहलाता और न उसके खानेमें दोष है।

देव नोल्लंघ्यं जिनशासनम् ॥ ८५ ॥ एवं चेत्तत्र नीवास्ते कियन्तो वद कोविद ! हेतोर्यदत्र सर्वज्ञैरभक्ष्यत्वमुदीरितम् ॥ ८६ ॥ घनाङ्गुलासंख्यभागमात्रैकं तद्वपुः स्मृतम् । तत्रैकस्मिन् शरीरे स्युः प्राणिनोऽनन्तसंज्ञिताः ॥ ८७ ॥ उक्तं च । एयणिगोयसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा । सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीद-

अनेक जीवोंका घात होता है । इसलिये किसी भी कारणसे भगवान अरहंतदेवकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये । भावार्थ—एकेन्द्रिय जीवोंमें भी वनस्पति कायिक जीवोंके दो भेद हैं एक अनंतकायरूप साधारण और दूसरे प्रत्येक वनस्पति । प्रत्येक वनस्पतिमें एक शरीरमें एक ही जीव होता है इसलिये उससे उत्पन्न हुए अन्न आदि फल भक्ष्य हैं तथा साधारण शरीरमें एक एक शरीरमें अनंतानंत जीव होते हैं ऐसे वनस्पति सदा त्याज्य हैं । यही भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा है इसका उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिये ॥ ८५ ॥

प्रश्न—यदि यही बात है अर्थात् साधारण वनस्पतियोंके भक्षण करनेमें अनेक जीवोंका बध होता है तो विद्वानोंको बतलाना चाहिये कि उसमें कितने जीव रहते हैं जिस कारणसे कि भगवान अरहंतदेवने उनको अभक्ष्य बतलाया है ॥ ८६ ॥

उत्तर—साधारण जीवोंका शरीर घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है । अर्थात् साधारण जीवोंका शरीर इतना सूक्ष्म होता है कि वह देखनमें आ नहीं सकता किंतु उसको अनुमानसे जाननेके लिये एक अंगुल लंबे एक अंगुल चौडे और एक अंगुल ऊंचे क्षेत्रके यदि असंख्यात भाग किये जायं तो उनमेंसे एक भाग प्रमाण साधारण जीवोंका शरीर होता है उतने छोटे अत्यन्त सूक्ष्म शरीरमें अनंतानंत जीव रहते हैं ॥ ८७ ॥ गोम्मट-सारमें भी लिखा है ।

एयणियोयसरीरे जीवा दव्वपमाणदो दिट्ठा । सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ।

---

१ लिखा भी है—

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि । नवनीतनिम्बकुसुमं केतकमित्येवमवहेयम् ॥

मूली अदरक मक्खन नीमके फूल बेतकी आदिका भी त्याग कर देना चाहिये क्योंकि इनके खानेमें फल थोड़ा है और घात अनंतानंत जीवोंका होता है ।

कालेण ॥ ७ ॥ इदमेवात्र तात्पर्यं तावन्मात्रावगाहके । केचिन्मिथोवगाहाः स्युरेकीभावादिवापरे ॥ ८८ ॥ उक्तं च । जंबूदीवे भरहे कोसलसाकेयतग्घरायं च ।

अर्थ–एक निगोद शरीरमें अनंतानंत जीव हैं उनकी अनंतानंत संख्या सिद्धराशिसे अनंत गुणी है तथा अब तक जितने सिद्ध हुए हैं उन सबकी संख्यासे भी अनंतगुणी है। भावार्थ–समस्त अक्षय अनंतानंत जीवराशिमें अनंतका भाग देनेसे जो संख्या आती है उतने सिद्ध हैं तथा अनादि कालसे अबतक जितने सिद्ध हुए हैं उनकी संख्या भी अनंतानंत है उस सिद्ध राशिकी अनंतानंत संख्यासे अनंतानंत संख्याको गुणा कर देनेपर जो लब्ध राशि आती है उतने जीव एक निगोद शरीरमें रहते हैं। आलू अदरक आदि जितने भी साधारण वनस्पति हैं वे सब ऐसे ही ऐसे असंख्यात निगोद शरीरका बना हुआ पिंड है इसलिये वह सब त्याज्य है ॥ १ ॥

कदाचित कोई यह प्रश्न करे कि इतने अत्यन्त सूक्ष्म एक शरीरमें उतने ही बडे शरीरको धारण करनेवाले अन्य अनंतानंत जीव उसमें किस प्रकार रह सकते हैं तो इसका उत्तर यह है कि सूक्ष्म पदार्थ जगह नहीं रोकता है। जगह रोकनेकी शक्ति स्थूल पदार्थोंमें ही है। चांदनी धूप प्रकाश अंधकार आदि ऐसे बहुतसे स्थूल सूक्ष्म पदार्थ भी हैं जो जगह नहीं रोकते हैं फिर भला अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ तो जगह रोक ही किस प्रकार सकता है? उन निगोदिया जीवोंका शरीर भी अत्यन्त सूक्ष्म होता है इसलिये उसी एक शरीरमें उतने ही अवगाहको धारण करनेवाले अन्य शरीर भी समा जाते हैं और सब मिल कर एकरूप हो जाते हैं। इसीलिये आचार्योंने बतलाया है कि अत्यंत सूक्ष्म एक निगोदियाके शरीरमें उतने ही बडे शरीरको धारण करनेवाले अनंतानंत जीव रहते है। लिखा भी हैं।

जंबूदीपे भरहे कोसलसाकेय तग्घरायं च ।
खंधंडर आवासा पुलवि सरीराणि दिट्ठंता ।
खंधा असंखलोगा अंडरआवासपुलविदेहावि ।
हेट्ठिलजोणिग्गाहो असंखलोगेण गुणिदकमा ।

खंधंडर आवासा पुलविसरीराणि दिट्ठंता ॥ ८ ॥ एतन्मत्वार्हता प्रोक्तमाजवंजवभीरुणा। कन्दादिलक्षणत्यागे कर्तव्या सुमतिः सती ॥ ८९ ॥ एवमन्यदपि त्याज्यं यत्साधारणलक्षणम्। त्रसाश्रितं विशेषेण तद्द्वियुक्तस्य का कथा ॥ ९० ॥ साधारणं च केषांचिन्मूलं स्कन्धस्त्वगमात्। शाखाः पत्राणि पुष्पाणि पर्वदुग्धफलानि

अर्थ—जिसप्रकार जंबूद्वीपमें भरतक्षेत्र है, भरतक्षेत्रमें कौशल आदि देश हैं, कौशल आदि देशोंमें साकेत आदि नगर हैं और उन नगरोंमें घर हैं उसीप्रकार इस लोकाकाशमें स्कंधोंकी संख्या असंख्यात लोकप्रमाण है। प्रतिष्ठित प्रत्येक जीवोंके शरीरोंको स्कंध कहते हैं। लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उनको असंख्यातसे गुणा कर देनेपर जो लब्धि आवे उतनी संख्या उन स्कंधोंकी है तथा एक एक स्कंधमें असंख्यात लोकप्रमाण अंडर हैं। एक एक अंडरमें असंख्यात लोकप्रमाण आवास हैं। एक एक आवासमें असंख्यात लोकप्रमाण पुलवी हैं तथा एक एक पुलवीमें असंख्यात लोकप्रमाण निगोद शरीर हैं और एक एक निगोद शरीरमें अनन्तानन्त जीव हैं ॥ १-२ ॥

यही समझकर भगवान अरहंतदेवने कहा है कि जिनको इस संसारके परिभ्रमणसे कुछ भी भय है उनको कंदमूल आदिके त्याग करनेमें ही अपनी सम्यक् और उत्तम बुद्धि लगानी चाहिए ॥ ८९ ॥ श्रावकोंको जिस प्रकार कंदमूलका त्याग कर देना चाहिए उसी प्रकार और भी जो जो साधारण हों उन सबका त्याग कर देना चाहिए तथा जिन पदार्थोंमें त्रस जीव रहते हों उनका विशेष रीतिसे त्याग करना चाहिए और जिनमें त्रस जीव भी रहते हों तथा जो साधारण भी हों अनंत जीवोंका आश्रय भी हों ऐसे पदार्थोंकी तो बात ही क्या है? अर्थात् ऐसे पदार्थोंका तो अवश्य ही त्याग कर देना चाहिए ॥ ९० ॥ किसी वृक्षकी जड साधारण होती है, किसीका स्कंध साधारण होता है, किसीकी शाखाएं साधारण होती हैं, किसीके पत्ते साधारण होते हैं, किसीके फूल साधारण होते हैं, किसीके पर्व (गांठ) साधारण होते हैं, किसीका दूध साधारण होता है और किसीके फल साधारण होते हैं। इसप्रकार उनका साधारणपना आगमसे जान लेना चाहिए ॥ ९१ ॥ इनमेंसे किसी किसीके तो मूल पत्ते स्कंध फल फूल आदि अलग अलग साधारण होते हैं और किसी किसीके मिले हुए पूर्णरूपसे साधारण

च ॥ ९१ ॥ तत्र व्यस्तानि केषांचित्समस्तान्यथदेहिनाम् । पापमूलानि सर्वाणि ज्ञात्वा सम्यक् परित्यजेत् ॥ ९२ ॥ मूलसाधारणास्तत्र मूलकाश्चाद्रकादयः । महापापप्रदाः सर्वे मूलोन्मूल्या गृहिव्रतैः ॥ ९३ ॥ स्कन्धपत्रपयःपर्वतुर्यसाधारणा यथा । गंडीरकस्तथा चार्कदुग्धं साधारण मतम् ॥ ९४ ॥ पुष्पसाधारणाः केचित्करीरशर्षपादयः । पर्वसाधारणाश्चेक्षुदण्डाः साधारणाग्रकाः ॥ ९५ ॥ फलसाधारणं ख्यातं प्रोक्तोदुम्बरपञ्चकम् । शाखासाधारणा ख्याता कुमारीपिण्डकादयः ॥९६॥ कुंपलानि च सर्वेषां मृदूनि च यथागमम् । सन्ति साधारणान्येव प्रोक्तकालावधेरधः ॥ ९७ ॥ शाकाः साधारणाः केचित्केचित्प्रत्येकमूर्तयः । वल्यः साधारणाः

होते हैं परंतु ये सब प्राणियोंके लिए पापके कारण होते हैं इनके भक्षण करनेसे वा अन्य किसी काममें लाकर विराधना करनेसे महापाप लगता है इसलिए इन सबको अच्छी तरह जानकर सबका त्याग कर देना चाहिए ॥ ९२ ॥ मूली, अदरक, आलू, अरबी, रतालू, जमीकंद आदि सब मूलसाधारण कहलाते हैं । अर्थात् इनकी जडें सब साधारण हैं । तथा ये सब अनंतकाय हैं इनके भक्षण करनेसे तथा किसी प्रकारसे भी काममें लानेसे महापाप उत्पन्न होता है । इसलिए व्रती गृहस्थोंको इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ॥ ९३ ॥ गंडीरक एक प्रकारके कडुए जमीकंदको कहते हैं । उसके स्कंध भी साधारण होते हैं, पत्ते भी साधारण होते हैं, दूध भी साधारण होता है और पर्व (गांठें) भी साधारण होते हैं । इसप्रकार उसके चारों अवयव साधारण होते हैं । दूधोंमें आकका दूध साधारण होता है ॥९४॥ फूलोंमें करीरके फूल और सरसोंके फूल तथा और भी ऐसे ही फूल साधारण होते हैं तथा पर्वोंमें ईखकी गांठें साधारण होती हैं तथा उसका आगेका भाग भी साधारण होता है ॥९५॥ फलोंमें साधारण फल पांचों उदंबर फल होते हैं तथा शाखाओंमें साधारण कुमारी पिंड (गंवारपाठा) है । अर्थात् गंवारपाठा शाखारूप ही होता है और उसकी सब शाखाएं साधारण हैं ॥ ९६ ॥ वृक्षोंपर पहले ही पहले जो नए पत्ते निकलते हैं जो बडे कोमल होते हैं जिनको कोंपल कहते हैं वे सब अपने नियत समयके भीतर भीतर साधारण रहते हैं । भावार्थ–समस्त वृक्षोंपर जो जो नए पत्ते निकलते जाते हैं वे सब कुछ समय तक साधारण रहते हैं अपना साधारण अवस्थाका समय बीत जानेपर फिर वे ही पत्ते बडे होनेपर प्रत्येक हो जाते हैं ॥ ९७ ॥ शाकोंमें (चना मेथी बथुआ पालक कुलफी आदि शाकोंमें) कोई शाक साधारण होते हैं और कोई

प्रत्येक होते हैं इसीप्रकार लता या वेलोंमें कोई लताएं साधारण होती हैं और कोई लताएं प्रत्येक होती हैं ॥९८॥ इन सब साधारणोंका स्वरूप जानकर इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए क्योंकि मन वचन काय वा कृत कारित अनुमोदनासे समस्त पापोंका त्याग कर देना उत्सर्ग मार्ग है और अपनी शक्तिके अनुसार त्याग करना अपवाद मार्ग है ॥ ९९ ॥ शक्तिके अनुसार त्याग करनेमें भी अपना विवेक वा विचार ही कल्याण करनेवाला होता है। (यह कार्य मेरे आत्माके लिए कल्याण करनेवाला है और यह नहीं है। इसप्रकारके विचारोंको विवेक कहते हैं) श्रावकोंके द्वारा जो कुछ पापोंका त्याग किया जाय वह विवेक वा विचारपूर्वक ही त्याग होना चाहिए। क्योंकि जो कार्य बिना विवेकके वा बिना विचारके किया जाता है वह या तो निष्फल जाता है या उसका फल बहुत ही थोडा मिला करता है ॥१००॥ कभी कभी ऐसा भी होता है कि जो विवेकरहित पुरुष अपने अज्ञानसे अथवा अपने अशुभ कर्मके उदयसे जो कुछ शुभ अथवा अशुभ कार्य करते हैं उनसे अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जाते हैं। भावार्थ-ऐसे निर्विवेकी लोग धर्म समझकर भी अनेक महापापरूप कार्य कर डालते हैं जिनसे कि जन्म जन्मांतर तक अनेक अनर्थ वा दुःख उत्पन्न होते रहते हैं ॥ १०१ ॥ जैसे इस संसारमें कितने ही प्रमादी पुरुष ऐसे हैं जो अपना भला करनेके लिए वा अपना कल्याण करनेके लिए देवताओंकी पूजा करनेमें वा यज्ञ करनेमें वा अन्य ऐसे ही कामोंमें अनेक जीवोंकी हिंसा करते हैं और अपने अज्ञानसे वा मिथ्याज्ञानसे उसे स्वर्गका कारण मानते हैं ॥१०२॥ इसलिए जो जीव अपनी शक्तिके अनुसार व्रत धारण करना चाहते हैं और पदार्थोंकी संख्याका एक देशरूपसे त्याग करना चाहते हैं उन्हें विवेकी अवश्य होना चाहिए। भावार्थ—जिस प्रकार पूर्ण महाव्रतोंके धारण करनेमें विवेककी परम आवश्यकता है उसी प्रकार अपनी शक्तिके अनुसार व्रत धारण करनेमें

शक्तितो व्रतधारिणा ॥ १०३ ॥ विवेकस्यावकाशोस्ति देशतो विरतावपि । आदेयं प्रासुकं योग्यं नादेयं तद्विपर्ययम् ॥ १०४ ॥ न च स्वात्मेच्छया किंचिदादेयमादेयमेव तत् । नात्तं यत्तदनादेयं भ्रान्तोन्मत्तकवाक्यवत् ॥ १०५ ॥ तस्माद्यत्प्रासुकं शुद्धं तुच्छहिंसाकरं शुभम् । सर्वं त्यक्तुमशक्येन ग्राह्यं तत्कचिदल्पशः ॥१०६॥

वा एकदेश त्याग करनेमें भी विवेककी परम आवश्यकता है। इस संसारमें जीव कहां कहां है किस किस कार्यमें जीवहिंसा होती है इस प्रकारका विचार हुए बिना कभी पापोंका त्याग नहीं हो सकता अथवा कभी व्रत धारण नहीं हो सकते। यदि इस प्रकारके विचारके बिना कोई व्रत धारण भी करेगा तो वह अनेक अनर्थोंका कारण मिथ्या व्रत अथवा अज्ञानतापूर्वक व्रत होगा। जैसे कोई २ लोग जन्माष्टमी आदिका व्रत धारण करते हैं दिन भर नहीं खाते परंतु फिर आधीरातके बाद रातमें ही खाते हैं परतु ऐसे व्रत सब निर्विवेक पूर्ण व्रत कहलाते हैं क्योंकि दिनभरके लिए अन्न पान त्यागकर थोडासा पुण्य कमाया था और रातमें खाकर अनंत पापोंका संचय कर लिया जिससे वह पुण्य भी नष्ट हो गया और बचे हुए पापोंसे नरकादिकके दुःख भोगने पडे। इसलिए एक देश त्यागमें विवेककी बडी भारी आवश्यकता है। बिना विवेक वा विचारके जप तप व्रत आदि सब व्यर्थ हैं। ॥ १०३ ॥ एक देश त्याग करनेमें भी विवेक वा विचारकी बडी भारी आवश्यकता है क्योंकि जो निर्जीव और योग्य पदार्थ हैं उन्हींका ग्रहण करना चाहिए तथा जो सचित्त वा जीवराशिसे भरे हुए हैं साधारण वा त्रस जीवोंसे भरे हुए हैं अथवा अयोग्य हैं ऐसे पदार्थोंको कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए ऐसे पदार्थोंका दूर हीसे त्याग कर देना चाहिए ॥ १०४ ॥ जो कुछ अपनी इच्छानुसार ग्रहण कर लिया है वही आदेय वा ग्रहण करने योग्य है तथा जो कुछ अपनी इच्छानुसार छोड दिया है वही अनादेय वा त्याग करने योग्य है ऐसा सिद्धान्त नहीं है। जिस प्रकार किसी पागल वा उन्मत्त पुरुषके वाक्य उसकी इच्छानुसार कहे जाते हैं, पदार्थोंकी सत्ता वा असत्ताके अनुसार नहीं कहे जाते और इसीलिए वे मिथ्या वा ग्रहण करने अयोग्य समझे जाते हैं उसी प्रकार इच्छानुसार ग्रहण करना वा छोडना भी मिथ्या वा विवेकरहित समझा जाता है। इसलिए किसी भी पदार्थका त्याग वा ग्रहण अपनी इच्छानुसार नहीं होना चाहिए किन्तु विवेकपूर्वक यथार्थ शास्त्रोंके अनुसार होना

यावत्साधारणं त्याज्यं त्याज्यं यावत्त्रसाश्रितम्। एतत्त्यागे गुणोवश्यं संग्रहे स्वल्पदोषता ॥ १०७ ॥ ननु साधारणं यावत्तत्सर्वं लक्ष्यते कथम्। सत्यं जिनागमे प्रोक्ता-ल्लक्षणादेव लक्ष्यते ॥ १०८ ॥ तल्लक्षणं यथा भंगे समभागः प्रजायते। तावत्साधारणं ज्ञेयं शेषं प्रत्येकमेव तत् ॥१०९॥ तत्राप्यल्पलीकरणं योग्यं योगेषु वस्तुषु।

चाहिए ॥ १०५ ॥ अतएव जो पुरुष पूर्णरूपसे पांचों पापोंका त्याग नहीं कर सकते, महाव्रत धारण नहीं कर सकते उनको जो पदार्थ प्रासुक हैं जीवरहित हैं, शुद्ध हैं, शुभ हैं और जो बहुत थोडी हिंसासे वा थोडेसे ही सावद्य कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले हैं ऐसे पदार्थ भी बहुत थोडे ग्रहण करने चाहिए और वे भी कभी २ ग्रहण करना चाहिए सदा उन्हींमें लीन नहीं रहना चाहिए ॥ १०६ ॥ जो साधारण हैं उनका सबका त्याग कर देना चाहिए और जिनमें त्रस जीव रहते हैं उनका सबका त्याग कर देना चाहिए। इनके त्याग करनेसे गुण—मूल गुण और उत्तरगुण बढते हैं और इनका ग्रहण करनेसे भक्षण करनेसे महापाप उत्पन्न होते हैं ॥ १०७ ॥

प्रश्न—यदि साधारण वनस्पतियोंका त्याग कर देना चाहिये तो फिर यह भी बतलाना चाहिये कि साधारण वनस्पतियोंकी पहिचान क्या है। किस लक्षणसे उनका ज्ञान हो सकता है। उत्तर—ठीक है अर्थात् आपका यह पूछना ठीक है। जैन-शास्त्रोंमें जो कुछ साधारणका लक्षण बतलाया गया है उसी लक्षणसे साधारण वनस्पतियोंका ज्ञान हो सकता है ॥ ७८ ॥ उसका लक्षण शास्त्रोंमें इस प्रकार लिखा है कि जिसके तोडनेमें दोनों भाग एकसे हो जायं जिस प्रकार चाकूसे दो टुकडे करनेपर दोनों भाग चिकने और एकसे हो जाते हैं उसी प्रकार हाथसे तोडनेपर भी जिसके दोनों भाग चिकने एकसे हो जांय वह साधारण वनस्पति है। जबतक उसके टुकडे इसी प्रकारके होते रहते हैं तब तक उसे साधारण समझना चाहिये तथा जिसके टुकडे चिकने और एकसे न हों ऐसी बाकीकी समस्त वनस्पतियोंको प्रत्येक समझना चाहिये ॥ १०९ ॥ इस प्रकार पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर जो

१ उदाहरणमें ककड़ी लेना चाहिये। जो ककड़ी बहुत छोटी नरम होती है जिसपर सफेदीसी जमी रहती है और रेखाएं नहीं पड़तीं ऐसी नरम ककड़ी साधारण होती है। उसको तोड़नेसे अवश्य ही चाकूकेसे एकसे चिकने टुकड़े होते हैं। यदि वही ककड़ी कुछ दिन तक उसी वेल पर और लगी रहे तो उसकी सफेदी दूर हो जाती है और उसपर रेखाएं पड़ जाती है। ऐसी ककड़ी प्रत्येक हो जाती है। यदि उसको तोड़ा जाय तो

यतस्तृष्णानिवृत्त्यर्थमेतत्सर्वं प्रकीर्तितम् ॥ ११० ॥ इति सक्षेपतः रूपातं सान्वा मूलगुणाष्टकम् । अर्थादुत्तरसंज्ञाश्च गुणाः स्युर्गृहमेधिनाम् ॥१११॥ तांस्तानवसरे तत्र वक्ष्यामः खल्पविस्तरात् । इतः प्रसङ्गतो वक्ष्ये तत्सप्तव्यसनोज्झनम् ॥११२॥ द्यूतमांसमुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः । महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद् बुधः ॥ ११३ ॥ अक्षपासादिनिक्षिप्त वित्ताज्जयपराजयम् । क्रियायां विद्यते यत्र सर्वं द्यूतमिति स्मृतम् ॥ ११४ ॥ प्रसिद्धं द्यूतकर्मेदं सद्यो बन्धकरं स्मृतम् । यावदा-

योग्य पदार्थ हैं उनको भी बहुत थोडी मात्रामें ग्रहण करना चाहिये अर्थात् योग्य पदार्थोंमें भी अधिक भागका त्याग कर जितने कमसे अपना कार्य सिद्ध हो सकता है उतना ही ग्रहण करना चाहिये। बाकी सबका त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि यह सब त्याग वा समस्त व्रत, मूलगुण उत्तरगुण आदि तृष्णाको दूर करनेके लिये ही कहे गये हैं। यदि तृष्णा कम न हुई तो त्याग करना व्यर्थ है। क्योंकि तृष्णा घटानेके लिये ही त्याग किया जाता है। ॥११०॥ इस प्रकार अत्यन्त संक्षेपसे गृहस्थोंके समुदायरूप मूलगुणोंका वर्णन किया। इसके आगे जो गृहस्थोंके अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत आदि गुण हैं व्रत हैं वे सब अर्थात् उत्तरगुण कहलाते हैं। भावार्थ—जब मद्य मांस मधु और पांचों उदंबरोंके त्यागकी मूलगुण संज्ञा है तो फिर अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रतकी उत्तरगुण संज्ञा माननी ही पडेगी ॥ १११ ॥ उन अणुव्रत गुणव्रत तथा शिक्षाव्रतोंका वर्णन थोडेसे विस्तारके साथ उनके कथन करनेके समय करेंगे। इस समय प्रसंग पाकर सातों व्यसनोंके त्यागका वर्णन करते हैं ॥ ११२ ॥

जूआ खेलना, मांस भक्षण करना, शराब पीना, वेश्या सेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन करना ये सातों महापाप व्यसन कहलाते हैं। बुद्धिमान् विद्वानोंको इन सातों व्यसनोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ११३ ॥

जिस क्रियामें खेलनेके पासे डालकर धनकी हार जीत होती है वह सब जूआ कहलाता है अर्थात् हार जीतकी शर्त लगाकर तास खेलना, चौपड खेलना, शतरंज खेलना, नकीमूठ खेलना आदि सब जूआ कहलाता

एकसी नहीं टूटती किन्तु कुछ भाग आगेको बढ़ा हुआ और कुछ भाग दबा हुआ टूटता है। प्रायः फल पत्ते आदि प्रारम्भमें साधारण होते हैं और फिर कुछ दिन बाद प्रत्येक हो जाते हैं।

पन्मयं ज्ञात्वा त्याज्यं धर्मानुरागिणा ॥ ११५ ॥ तत्र वहुः कथाः सन्ति दूयूतस्यानिष्टसूचिकाः । रतास्तत्र नराः पूर्वं नष्टा धर्मसुतादयः ॥ ११६ ॥ श्रूयते दृश्यते चैव दूयूतस्यैतद्विजृम्भितम् । दरिद्राः कर्तितोपाङ्गा नराः प्राप्ताधिकारकाः ॥ ११७ ॥ न वाच्यं दूयूतमात्रं स्यादेकं तद्व्यसनं मनाक् । चौर्यादि सर्वव्यसनपतिरेष

है ॥ ११४ ॥ यह जूआ खेलना संसार भरमें प्रसिद्ध है । उसी समय महा अशुभ कर्मोंका बंध करनेवाला है और समस्त आपत्तियोंको उत्पन्न करनेवाला है ऐसा समझकर धर्ममें प्रेम करनेवाले श्रावकोंको इसका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥ ११५ ॥ जो लोग इस जूआमें लीन हुए हैं वे सब नष्ट हुए हैं । राजा युधिष्ठिरको इस जूआ खेलनेके ही कारण अनेक आपत्तियां उठानी पडी थीं, जूआ खेलने वालोंको अनेक आपत्तियां उठानी पडी और अनेक दुःख भोगने पडे इन सब चरित्रोंको कहनेवालीं बहुतसी कथाएं हैं ॥ ११६ ॥ इस जूआ खेलनेका फल प्रति दिन सुना जाता है और प्रति दिन देखा जाता है । इस जूआ खेलनेसे लोग दरिद्र हो जाते हैं उनके अंग उपांग सब काटे जाते हैं तथा और भी अनेक प्रकारके दुःख उन्हें भोगने पडते हैं ॥ ११७ ॥ इस जूआ खेलनेको एक ही व्यसन नहीं समझना चाहिये और न इसे छोटासा व्यसन समझना चाहिये । किंतु यह जूआ खेलनेका व्यसन चोरी आदि सब व्यसनोंका स्वामी है इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है ॥ ११८ ॥ इस जूआ खेलनेके

---

१ इसकी एक कथा है । किसी देशका राजा कुछ दुष्ट पुरुषोंकी संगतिमें पड़कर जूआ खेलने लग गया था । उस राजाके यहां दो मंत्री बहुत पुराने थे । वह मंत्रीका पद उनको वंश परम्परासे प्राप्त था । उन मंत्रियोंने बहुत निषेध किया बहुत समझाया परन्तु राजाने छोडा नहीं । अन्तमें लाचार होकर उन मंत्रियोंने वह देश छोड़ दिया ।

देश छोड़कर भी वे मंत्री चुप नहीं बैठे । उन्होंने जआ छुडानेके लिये एक और उपाय सोचा । कुछ दिनोंमें दाढी मूछ और जटाएं बढ़ाकर उन्होंने अपना रूप बदला । उनमेंसे एक महंत गुरु बन गया और दूसरा उसका शिष्य बन गया । वे गुरु शिष्य पहले तो आस पासके गांवोंमें फिरे वे प्रायः बड़े बूढ़ोंको जानते थे और उन्होंने अपनी प्रसिद्धि करनेके लिये दस बीस जगह कुछ रुपये पैसे भी गाड़ दिये थे । अतः जहां जाते वहीं रुपये पैसे बताकर प्रसिद्ध महंत बन गये थे । जिन बड़े बूढ़ोंको जानते थे उनका नाम पहलेसे ही बता देते थे इस प्रकारसे भी उनको महंतता खूब बढ़ गई थी । अंतमें वे उसी शहरमें पहुंचे और प्रायः प्रसिद्ध पुरुषोंके नाम बताकर तथा पचासों जगह गड़ा हुआ धन बतलाकर बहुत ही प्रसिद्ध और पूज्य बन गये । वे झूठ मूठका योग साधन भी करते और शिष्योंको संतुष्ट करनेके लिये एक मछली पकड़नेका जाल ओढ़ कर नियत समय पर बैठा करते थे ।

न संशयः ॥ ११८ ॥ विद्यन्तेत्राप्यतीचारास्तत्समा इव केचन । जेतव्यास्तेपि दृग्मार्गे लग्नैः प्रत्यग्रबुद्धिभिः ॥ ११९ ॥ अन्योन्यस्पर्धया यत्र विजिगीषा द्वयोरिति ।

त्यागरूप व्रतके कितने ही अतिचार हैं जो कि जूआ खेलनेके ही समान हैं इसलिए सम्यग्दर्शनके मार्गमें लगे हुए

इतने लम्बे समयमें राजा जूआमें बहुतसा धन हार चुका था परन्तु फिर भी उससे जूआ छूटता नहीं था। उन महंतकी प्रसिद्धि सुनकर वह भी उनके पास आया। कुछ इधर उधरकी बातचीत होनेके बाद राजाने उस जालको देखा और आश्चर्यके साथ पूछा।

राजा—महाराज यह जाल जैसा क्या है और आप इसे क्यों ओढ़े हैं?

महंत—यह मछली पकड़नेका जाल है। कभी कभी मछली पकड़नेका काम आता है।

राजा—क्या महाराज आप मछलियोंका शिकार किया करते हैं?

महंत—अरे नहीं भाई! हम सरीखे कभी क्या शिकार किया करते हैं परन्तु जब कभी मांस खानेकी तीव्र इच्छा होती है और किसी भी शिष्यसे नहीं मिलता तब लाचार होकर मछलियोंकी शिकार करनी पड़ती है।

राजा—आश्चर्यके साथ क्या महाशय आप मांस भी खाते हैं?

महंत—अरे राजा तू बड़ा भोला है। कहीं हमारे ऐसे योगी मांस खाया करते हैं परन्तु जब कभी मद्यका नशा अधिक हो जाता है तब मांस खानेकी तीव्र लालसा अपने आप हो जाती है और उसके परवश होकर हमें मांस खाना पड़ता है।

राजा—महाराज मैं क्या सुन रहा हूं आप मद्य भी पीते हैं?

महंत—अरे हमारे ऐसे योगी कभी मद्य पिया करते हैं मद्य पीनेसे योग साधन सब नष्ट हो जाता है। परन्तु जब कभी किसी वेश्याके यहां चले जाते हैं तो वहां पर उसके आधीन होनेसे मद्य पीना पड़ता है।

राजा—महाराज तो आप वेश्या सेवन भी करते हैं?

महंत—नहीं नहीं वेश्या सेवन करनेके लिये हमें प्रति दिन जानेका अभ्यास नहीं है पर जब कभी परस्त्री की प्राप्ति नहीं होती तब कभी चले जाते हैं।

राजा—महाराज तो आप परस्त्री भी सेवन करते हैं?

महंत—अरे नहीं नहीं परस्त्री सेवन करनेका तो हमें अभ्यास नहीं है पर जब कभी चोरीमें बहुतसा धन हाथ लग जाता है तब उसे ऐसे ही कामोंमें खर्च करना पड़ता है।

राजा—बहुत ही आश्चर्यके साथ महाराज आप चोरी भी करते हैं?

व्यवसायादतें कर्म द्यूतातीचार इष्यते ॥ १२० ॥ यथाहं धावयाम्यत्र यूयं चाप्यत्र धावत । यदतिरिक्तं गच्छेयं त्वत्तो गृह्णामि चेप्सितम् ॥ १२१ ॥ इत्येवमाद-

तीव्र बुद्धि श्रावकोंको इन अतिचारोंका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिए ॥११९॥ जैसे अपने अपने व्यापारके कार्योंके सिवाय कोई भी दो पुरुष परस्पर एक दूसरेकी ईर्ष्यासे किसी भी कार्यमें एक दूसरेको जीतना चाहते हों तो उन दोनोंके द्वारा उस कार्यका करना भी जूआ खेलनेका अतिचार कहलाता है । भावार्थ—व्यापारी लोग जो एक दूसरेसे चढ बढकर व्यापार करना चाहते हैं वा करते हैं वह तो अतिचार नहीं है परंतु व्यापारको छोड-कर अन्य किसी भी काममें हार जीतकी इच्छा रखकर परस्परकी ईर्ष्यासे उस कामको करना जूआ खेलनेका अतिचार है ॥१२०॥ जैसे मैं यहांसे इस स्थानसे दौडना प्रारंभ करता हूं तू भी मेरे साथ दौड लगा । हम दोनोंमेंसे जो मैं आगे निकल जाऊंगा तो तुझसे अपनी यह इच्छा पूरी कर लूंगा। भावार्थ-तुझसे इतने रुपये ले लूंगा या यह पदार्थ ले लूंगा, इसीप्रकार यदि तू आगे निकल जायगा तो मैं तुझे इतने रुपये दूंगा या यह पदार्थ दे दूंगा । इसप्रकारकी शर्त लगाकर दौडना या और कोई ऐसा ही काम करना जूआका अतिचार है ॥ १२१॥ इसीप्रकार

महत--अरे मूर्ख हमारे जैसे योगी कहीं चोरी किया करते हैं परन्तु जब कभी जूएमें हार कर सब धन चला जाता है और जूआ खेलना छूटता नहीं तब लाचार होकर चोरी ही करनी पडती है।

राजा--आप जूआ भी खेलते हैं?

महंत--हां इसमें कुछ हानि नहीं है यथा राजा तथा प्रजा।

राजा यह सुनने हीसे चौंका और मस्तक नवा कर कहने लगा कि महाराज खेलता तो मैं भी हूं परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ये सब व्यसन इस एक जूआसे ही होते हैं। मैं आजसे इस जूआका त्याग करता हूं।

महाराज! आप सब जानते हैं आपको भविष्य भी मालूम है अतएव कृपाकर यह और बतला दीजिये कि मेरे पुराने दो मंत्री देश छोड़कर कहां चले गये हैं वे कहां हैं उनके बिना इस राज्यकी हो दुर्गति हो गई है।

अन्तमें क्षमा प्रार्थनाके बाद वे दोनों मंत्री अपने पद पर नियुक्त हुए। राजाने उन दुष्टोंका साथ छोड़ दिया और राज्यकी व्यवस्था उत्तम रीतिसे होने लगी।

इससे सिद्ध होता है कि जूआ सब व्यसनोंका राजा है।

योप्यन्ये द्यूतातीचारसंज्ञिकाः । क्षपणीया क्षणादेव द्यूतत्यागोन्मुखैर्नरैः ॥ १२२ ॥ मांसस्य भक्षणे दोषाः प्रागेवात्र प्रपञ्चिताः । पुनरुक्तभयाद्भूयो नीता नोद्देश-प्रक्रियाम् ॥ १२३ ॥ कर्म तत्र प्रवृत्तिः स्यादासक्तिर्व्यसनं महत् । प्रवृत्तिर्यत्र त्याज्या स्यादासक्तेस्तत्र का कथा ॥ १२४ ॥ मैरेयमपि नादेयमित्युक्तं प्रागितो यतः । ततोत्र वक्तव्यतायां पिष्टपेषणदूषणम् ॥ १२५ ॥ प्राग्वदत्र विशेषोस्ति महानप्यविवक्षितः । सामान्यलक्षणाभावे तद्विशेषक्षतिर्यथा ॥ १२६ ॥ प्रवृत्तिस्तु क्रियामात्र-

ऐसे ही ऐसे और भी कितने ही जूआके अतिचार हैं। जिन गृहस्थोंने जूआ खेलनेका त्याग कर दिया है उनको ऐसे जूआके अतिचारोंका उसी समय त्याग कर देना चाहिए ॥ १२२ ॥

मांसभक्षणके दोष पहले विस्तारके साथ कह चुके हैं इसलिये पुनरुक्त दोषके भयसे यहांपर उनका वर्णन नहीं किया है। जिस कथनको एक बार कह दिया जाता है उसी कथनको फिर दुबारा कहना पुनरुक्त दोष कहलाता है। कवियोंके लिये यह बडा भारी दोष है इसी दोषके डरसे यहांपर मांसभक्षणके दोष नहीं दिखलाये हैं क्योंकि इसके दोष पहले विस्तारके साथ कह चुके हैं ॥ १२३ ॥ मांसभक्षणमें प्रवृत्ति होना मांसकर्म कहलाता है और मांसभक्षणमें आसक्त होना सो मांसभक्षण नामका सबसे बडा व्यसन कहलाता है । जब कि मांसभक्षणकी प्रवृत्ति ही त्याज्य है, त्याग करने योग्य है, फिर भला आसक्तिकी तो कथा ही क्या है ? अर्थात् मांसभक्षणमें कभी प्रवृत्ति भी नहीं होनी चाहिये फिर भला मांसभक्षणका व्यसन तो दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये ॥१२४॥

इसीप्रकार मद्य वा शराबका त्याग कर देना चाहिए इसी बातको पहले अच्छी तरह कह चुके हैं। यदि इस समय फिर कहा जायगा तो पिष्टपेषण दूषण होगा अर्थात् जिसप्रकार पिसे हुएको फिर पीसना व्यर्थ है उसीप्रकार शराबके दोष पहले लिख चुके हैं अब फिर लिखना व्यर्थ है ॥ १२५ ॥ यद्यपि विशेष कहनेकी यहांपर कुछ विवक्षा नहीं है तथापि मूलगुणोंमें जो मांसका त्याग कराया है उससे यहांपर कुछ विशेषता है । जहां किसीका सामान्य लक्षण कहा जाता है वहांपर उसका विशेष भी अवश्य होता है । जिसका सामान्य लक्षण नहीं होता उसका विशेष भी नहीं होता। जब पहले उसको सामान्य रीतिसे त्याग करा चुके हैं तो फिर विशेष रीतिसे त्याग करानेकी भी अवश्य आवश्यकता होती है। वही विशेष त्याग यहांपर कराया गया है ॥ १२६ ॥ शराब पीनेकी

मासक्तिर्व्यसनं महत् । त्यक्तायां तत्प्रवृत्तौ वै का कथा सक्तिवर्जने ॥ १२७ ॥ तदलं बहुनोक्तेन तद्गन्धोऽपकारणम् । स्मृतमात्रं हि तन्नाम धर्मध्वंसार्थं जायते ॥ १२८ ॥ पण्यस्त्री तु प्रसिद्धा या वित्तार्थं सेवते नरम् । तन्नाम दारिका दासी वेश्या पत्तननायिका ॥ १२९ ॥ तत्त्यागः सर्वतः श्रेयान् श्रेयोर्थं यततां नृणाम् । मद्यमांसादि दोषान्वै निःशेषान् त्यक्तुमिच्छुनाम् ॥ १३० ॥ आस्तां तत्सङ्गमे दोषो दुर्गतौ पतनं नृणाम् । इहैव नरकं नूनं वेश्यान्यासक्तचेतसाम् ॥ १३१ ॥ उक्तं च । याः खादन्ति पलं पिबन्ति च सुरां जल्पन्ति मिथ्यावचः स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठाक्षतिम् । नीचानामपि दूरवक्रमनसः पापात्मिकाः कुर्वते

क्रिया करना शराबकी प्रवृत्ति कहलाती है और उसमें अत्यंत आसक्त होना व्यसन कहलाता है । जब उसकी प्रवृत्तिका ही त्याग कराया जाता है तो फिर उसमें आसक्त होनेका त्याग तो अवश्य करना चाहिए ॥ ११७ ॥ इसलिए अधिक कहनेसे कुछ लाभ नहीं है शराबकी गंध भी महापाप उत्पन्न करनेवाली है । शराबका नाम भी स्मरणमात्रसे धर्मका नाश हो जाता है फिर भला उस शराबको किसी काममें लाने वा पीनेसे तो धर्मकी रक्षा कभी हो ही नहीं सकती ॥ १२८ ॥

जो स्त्री केवल धनके लिये पुरुषका सेवन करती है उसको वेश्या कहते हैं ऐसी वेश्याएं संसारमें प्रसिद्ध हैं । उन वेश्याओं को दारिका, दासी, वेश्या वा नगरनायिका आदि नामोंसे पुकारते हैं ॥ १२९ ॥ जो मनुष्य अपने आत्माके कल्याणके लिये प्रयत्न करना चाहते हैं और मद्य मांस आदिके समस्त दोषोंको त्याग कर देना चाहते हैं उनको इस वेश्या सेवनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये। ऐसे पुरुषोंके लिये पूर्णरूपसे वेश्या सेवनका त्याग कर देना ही कल्याणकारी है । भावार्थ–वेश्या सेवन करनेसे न तो मद्य मांसके दोष दूर हो सकते हैं और न आत्माका कल्याण हो सकता है । इसलिये इन दोनोंकी इच्छा करनेवालोंको वेश्या सेवनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये । ॥ १३ ॥ वेश्या सेवन करनेसे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं तथा मनुष्योंको नरकादिक दुर्गतियोंमें पडना पडता है यदि इन परलोकके दुःखोंकी उपेक्षा भी करें तो जिनका हृदय वेश्या सेवनमें लीन हो रहा है उनको इस जन्ममें ही निश्चयसे नरककी अनेक यातनाएं वा अनेक दुःख भोगने पडते हैं । उनके लिये यह लोक ही यह जन्म ही नरक बन जाता है । ॥ १३१ ॥ लिखा भी है–

लालापानमहर्निशं न नरकं वेश्यां विहायाऽपरम् ॥ ९ ॥ रजकशिलासदृशीभिः कुक्कुरकर्परसमानचरिताभिः । वेश्याभिर्यदि संगः कृतमिव परलोकवार्ताभिः ॥ १० ॥ प्रसिद्धं बहुभिस्तस्या प्राप्ता दुःखपरंपराः । श्रेष्ठिना चारुदत्तेन विख्यातेन यथा पराः ॥ १३२ ॥ यावान् पापभरो यादृग्दारिका दरिकर्मणः । कविनापि न वा तावान्

या खादन्ति पलं पिबन्ति च सुरां जल्पन्ति मिथ्यावचः
स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठा क्षतिम् ।
नीचानामपि दूरवक्रमनसः पापात्मिका कुर्वते
लालापानमहर्निशं न नरकं वेश्यां विहायापरम् ॥ १ ॥
रजकशिलासदृशीभिः कुक्कुरकर्परसमानचरिताभिः ।
वेश्याभियदि संगः कृतमिव परलोकवार्ताभिः ॥ २ ॥

अर्थ—यह पापिनी वेश्या मांस खाती है, शराव पीती है, झूठ बोलती है, केवल धनके लिये प्रेम करती है अपने धन और प्रतिष्ठाका नाश करती है और कुटिल मनसे वा बिना मनके नीच लोगोंकी लारको भी रात दिन चाटती रहती है इसलिये कहना चाहिये कि वेश्याको छोडकर संसारमें और कोई नरक नहीं है। वेश्या ही घोर नरक है ॥ १ ॥ यह वेश्या धोबीकी शिलाके समान है अर्थात् जिस प्रकार धोबीकी शिलापर ऊंच नीच अनेक घरोंके बुरेसे बुरे मैल आकर बहते हैं उसी प्रकार वेश्याके शरीरपर भी ऊंच नीच अनेक पुरुषोंके घृणित-से घृणित और अत्यन्त निन्दनीय ऐसे वीर्य वा लार आदि मल आकर बहते हैं अथवा जिस प्रकार धोबीकी शिला बुरसे बुरे मल मूत्र आदिके संसर्गसे स्पर्श करने योग्य नहीं रहती उसी प्रकार निन्दनीय और अपवित्र मलोंके संसर्गसे वेश्या भी स्पर्श करने योग्य नहीं होती। इस प्रकारसे भी वह वेश्या धोबीकी शिलाके समान है इसके सिवाय वह वेश्या कुत्तेके मुंहमें लगे हुए हड्डीके खप्परके समान आचरण करती रहती है अर्थात् जिस प्रकार उस खप्परको चवानेवाला कुत्ता उस खप्परको चबाता है और उसके चबानेसे जो मुंहके भीतरी गलपट्टों-से रुधिरकी धारा बहती है उसको वह कुत्ता समझता है यह मीठी मीठी रुधिरकी धारा इस खप्परसे ही निकली

क्वापि वक्तुं च शक्यते ॥ १३३ ॥ आस्तां च तद्वतादत्र चित्रकादिरुजो नृणाम् । नारकादिगतिभ्रान्तेर्यद् दुःखं जन्मजन्मनि ॥ १३४ ॥ न वाच्यमेकमेवैतत्तावत्

है उसीप्रकार वेश्या सेवन करनेवाला अपने धनकी हानि करता है अपने शरीरकी हानि करता है और फिर भी उसे वेश्याके सेवन करनेसे आनन्द मानता है। इसप्रकार जो कुत्तेके मुंहमें लगा हुआ खप्पर काम करता है वही काम वेश्या करती है इसलिए वेश्या कुत्तेके मुंहमें लगे हुए खप्परके समान समझनी चाहिए। ऐसी वेश्याके साथ जो पुरुष समागम करते हैं वे साथ ही साथ परलोककी बातचीत भी अवश्य कर लेते हैं। भावार्थ—ऐसी वेश्याका सेवन करनेवाले पुरुष अवश्य ही नरक जाते हैं इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है इस वेश्या सेवनमें आसक्त होनेके कारण अनेक लोगोंने अनेक प्रकारके दुःख पाये हैं और जन्म जन्मान्तर तक दुःख पाये हैं सो शास्त्रमें प्रसिद्ध ही हैं। जैसे अत्यंत प्रसिद्ध सेठ चारुदत्तने इस वेश्या सेवनसे ही अनेक प्रकारके दुःख सहे थे ॥ १३२ ॥ इस संसारमें वेश्याएं अपनी वेश्यावृत्तिसे जितने पाप उत्पन्न करती हैं उन सबको कवि भी नहीं कह सकते फिर भला औरोंकी तो बात ही क्या है ॥ १३३ ॥ वेश्या सेवन करनेसे मनुष्योंको इसी जन्ममें गर्मी उपदंश आदिके अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं यदि उनको न भी गिना जाय तो भी यह मनुष्य उस वेश्या सेवनके महापापसे अनेक जन्मों तक नरकादिक दुर्गतियोंके परिभ्रमणसे उत्पन्न होनेवाले अत्यंत घोर दुःख सहता रहता है ॥ १३४ ॥ वेश्या सेवन करनेवाला जन्म जन्म तक नरकादिक दुर्गतियोंके दुःख सहता रहता है उसको यही एक दुःख भोगना पडता है यह बात नहीं कहनी चाहिये क्योंकि ऐसा कहनेसे वेश्या सेवनमें थोडा दोष सिद्ध होता है। परंतु वेश्या सेवन करना सबसे बडा महा दोष है। जूआ खेलनेके व्यसनमें लीन होनेका कारण

१ लिखा भी है—

दर्शनाद् हरते चित्तं स्पर्शनाद् हरते बलम्। सेवनाद् हरते वीर्यं वेश्या प्रत्यक्षराक्षसी ॥

अर्थात्—यह वेश्या देखनेमात्रसे चित्तको हरण कर लेती है स्पर्श करने मात्रसे बलको हर लेती है और सेवन करनेसे वीर्य वा शक्तिको हरण कर लेती है इसलिये कहना चाहिये कि यह वेश्या प्रत्यक्ष राक्षसी है।

म्मात्राल्पदोषतः । द्यूतादिव्यसनासक्तेः कारण धर्मध्वंसकृत् ॥ १३५ ॥ सुगमत्वाद्धि विस्तारप्रयासो न कृतो मया । दोषः सर्वप्रसिद्धोत्र वावदूकतया कृतम् ॥१३६॥ सन्ति तत्राप्यतीचाराश्चतुर्थव्रततर्तिनः । निर्देक्ष्यामो वयं तांस्तान् तत्तत्रावसरे यथा ॥ १३७ ॥ ख्यातः पण्याङ्गनात्यागः सच्चेपादक्षप्रत्ययात् । आखेटकपरित्यागः साधीयानिति शस्यते ॥ १३८ ॥ अन्तर्भावोस्ति तस्यापि गुणाणुव्रतसंज्ञके । अनर्थदण्डत्यागाख्ये बाह्यानर्थक्रियादिवत् ॥ १३९ ॥ तत्तत्रावसरेऽवश्यं वक्ष्यामो नातिविस्तरात् । प्रसङ्गाद्वा तदत्रापि दिङ्मात्र नक्तुमर्हति ॥ १४० ॥ ननु चानर्थदण्डोस्ति भोगादन्यत्र या क्रियाः । आत्मानन्दाय यत्कर्म तत्कथं स्यात्तथा-विधम ॥ १४१ ॥ यथा सूक्चंदनं योषिद्वस्त्राभरणभोजनम । सुखार्थं सर्वमेवैतत्तथाखेटक्रियापि च ॥ १४२ ॥ मैवं तीव्रानुभागस्य बन्धः प्रमादगौरवात् । प्रमादस्य

यह वेश्या सेवन ही है और धर्मका नाश करनेवाला यह वेश्या सेवन ही है ॥ १३५ ॥ वेश्या सेवनके दोषोंको जान लेना अत्यंत सुगम है इसीलिये ग्रंथकारने इसके दोष विस्तारके साथ वर्णन नहीं किये हैं। इसके सिवाय इस वेश्या सेवनके दोष बालगोपाल तक सब लोगोंमें प्रसिद्ध हैं इसीलिये व्यर्थ ही अधिक कहनेसे कोई लाभ नहीं है ॥ १३६ ॥ इस वेश्या सेवनके त्यागरूप चतुर्थ ब्रह्मचर्याणुव्रतको धारण करनेवाले पुरुषोंके लिये इस वेश्या सेवनके त्यागमें भी कितने ही अतिचार लगते हैं। जिनको हम समयानुसार ब्रह्मचर्याणुव्रतका वर्णन करते समय वर्णन करेंगे ॥ १३७ ॥ इस प्रकार इन्द्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले दोषोंका वर्णन कर अत्यंत संक्षपसे वेश्या सेवनके त्यागका वर्णन किया। अब आगे शिकार खेलनेका त्याग करना भी अत्यंत प्रशंसनीय है इसलिये उसका वर्णन करते हैं ॥ १३८ ॥

यद्यपि शिकार खेलना बाह्य अनर्थ क्रियाओंके समान है। इसलिये उसका त्याग अनर्थदण्डत्याग नामके गुणव्रतमें अंतर्भूत हो जाता है ॥ १३९ ॥ तथा अनर्थदंड त्यागका वर्णन करते समय थोडेसे विस्तारके साथ इसका भी वर्णन करेंगे तथापि प्रसंग पाकर थोडासा वर्णन यहां भी कर देते हैं ॥ १४० ॥ प्रश्न—भोगोपभोगों-के सिवाय जो क्रियाएं की जाती हैं उनको अनर्थदंड कहते हैं परंतु शिकार खेलनेसे आत्माको आनंद प्राप्त होता है इसलिये शिकार खेलना अनर्थदंड नहीं है किन्तु जिस प्रकार पुष्पमाला, चन्दन, स्त्रियां, वस्त्र आभरण भोजन आदि समस्त पदार्थ आत्माको सुख देनेवाले हैं आत्माको सुख देनेके लिये काममें लाये जाते हैं उसी

निवृत्त्यर्थं स्मृतं व्रतकदम्बकम् ॥ १४३ ॥ स्रक्चंदनवनितादौ क्रियायां वा सुखाप्तये । भोगभावो सुखं तत्र हिंसा स्यादानुषङ्गिकी ॥ १४४ ॥ आखेटके तु हिंसायाः भावः स्याद्भूरिजन्मिनः । पश्वादेर्वानुयोगेन भोगः स्याद्वा नवा क्वचित् ॥ १४५ ॥ हिंसानन्दैन तेनोच्चैरौद्रध्यानेन प्राणिनाम् । नारकस्यायुषो बन्धः स्यान्निर्दिष्टो

प्रकार शिकार खेलनेसे भी आत्माको सुख प्राप्त होता है। इसलिये वह अनर्थदंड कभी नहीं हो सकता? ॥ १४१-१४२ ॥ उत्तर—परंतु ऐसी शंका करना ठीक नहीं है । क्योंकि प्रमादकी अधिकता होनेसे अनुभाग-बंध की अत्यंत तीव्रता हो जाती है और प्रमादको दूर करनेके लिये ही समस्त व्रत पाले जाते हैं। भावार्थ-कर्मोंमें जो फल देनेकी शक्ति पडती है उसको अनुभागबंध कषायोंसे होता है तथा कषाय पंद्रह प्रमादोंमें शामिल हैं इस प्रकार सिद्ध होता है कि प्रमादकी हीनाधिकतासे ही अनुभागबंधकी हीनाधिकता होती है। शिकार खेलनेमें कषायोंकी अत्यंत तीव्रता है जानवर वा पशुओंके मारनेकी तीव्र लालसा होती है इसलिये शिकार खेलनेसे अशुभ कर्मोंमें अत्यंत तीव्र फल देनेकी शक्ति पडती है। इसलिये शिकार खेलना भोगोपभोगकी सामग्री नहीं है किन्तु महाप्रमादरूप है ॥ १४३ ॥ माला चन्दन स्त्री आदिके सेवन करनेमें सुखकी प्राप्तिके लिये केवल भोगोपभोग सेवन करनेके भाव किये जाते हैं तथा उनके सेवन करनेसे सुख मिलता भी है और उसमें जीवहिंसा होती है वह प्रसंगानुसार होती है । भावार्थ—चन्दन माला स्त्री वस्त्र आभरण आदिके सेवन करनेमें केवल उनके सेवन करनेके भाव होते हैं हिंसा करनेके परिणाम नहीं होते परंतु शिकार खेलनेमें अनेक प्राणियोंकी हिंसा करनेके ही परिणाम होते हैं। शिकार खेलनेके लिये जब घरसे निकलता है तब पशु पक्षियों-के मारनेके परिणामोंको लेकर ही घरसे निकलता है। तदनंतर उसके कर्मोंके उदयके अनुसार भोगपभोगकी प्राप्ति होती भी है और नहीं भी होती। भावार्थ-शिकार खेलनेवाला प्राणियोंको मारनेके ही अभिप्रायसे जाता है परंतु यह बात दूसरी है कि उसके हाथसे कोई जीव मरे या न मरे उसके परिणाम हिंसारूप ही रहते हैं ॥ १४४-१४५ ॥ शिकार खेलना हिंसामें आनंद मानना है और हिंसामें आनंद मानना रौद्रध्यान है तथा ऐसे रौद्रध्यानसे प्राणियोंको नरकायुका ही बंध होता है ऐसा जैनशास्त्रोंमें वर्णन किया है ॥ १४६ ॥ इसलिये मानना

जिनागमे ॥ १४६ ॥ ततोवश्यं हि हिंसायां भावश्चानर्थदण्डकः । त्याज्यः प्रागेव सर्वेभ्यः संक्लेशेभ्यः प्रयत्नतः ॥ १४७ ॥ तत्रावान्तररूपस्य मृगयाभ्यासकर्मणः । त्यागः श्रेयानवश्य स्यादन्यथाऽसातबन्धनम् ॥ १४८ ॥ अतीचारास्तु तत्रापि सन्ति पापानुयायिनः । यानपास्य व्रतिकोपि निर्मलीभवति ध्रुवम् ॥ १४९ ॥ कार्यं विनापि क्रीडार्थं कौतुकार्थमथापि च । कर्तव्यमटनं नैव वापीकूपादिवर्त्मसु ॥ १५० ॥ पुष्पादिवाटिकासूच्चैर्वनेषूपवनेषु च । सरित्तडागक्रीडाद्रिसरःशून्यगृहादिषु ॥ १५१ ॥ शस्याधिष्ठानक्षेत्रेषु गोष्ठीनेष्वन्यवेश्मसु । कारागारगृहेषूच्चैर्मठेषु नृपवेश्मसु ॥ १५२ ॥ एवमित्यादिस्थानेषु विना कार्यं न जातुचित् । कौतुकादि-

पडता है कि इस प्रकारकी हिंसा करनेमें अपने परिणाम रखना अवश्य ही अनर्थदंड है और इसीलिये समस्त संक्लेशरूप परिणामोंके त्याग करनेके पहले इस शिकार खेलनेका त्याग बडे प्रयत्नसे बडी सावधानीसे कर देना चाहिये ॥ १४७ ॥ शिकार खेलनेका अभ्यास करना शिकार खेलनेकी मनोकामना रखकर निशान मारनेका अभ्यास करना तथा और भी ऐसी ही ऐसी शिकार खेलनेकी साधनरूप क्रियाओंका करना भी सब इ ी शिकार खेलनेमें ही अंतर्भूत होता है इसलिये ऐसी क्रियाओंका, ऐसे अभ्यास करनेका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिये क्योंकि ऐसी क्रियाओंका त्याग करना भी कल्याण करने वाला है । यदि ऐसी हिंसारूप क्रियाओंका त्याग नहीं किया जायगा तो फिर उन क्रियाओंसे दुःख देनेवाले अशुभ वा असाता वेदनीय कर्मोंका ही बंध होगा ॥ १४८ ॥ इस शिकार खेलनेके त्याग करनेरूप व्रतके कितने ही अतिचार हैं जो शिकार खेलनेके समान ही पाप उत्पन्न करने वाले हैं उन समस्त अतिचारोंका त्याग कर व्रती गृहस्थ भी अत्यंत निर्मल हो जाता है, इसलिए अपने व्रत निर्मल करनेके लिए अतिचारोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥ १४९ ॥ विना किसी अन्य प्रयोजनके केवल क्रीडा करनेके लिए अथवा केवल तमाशा देखनेके लिए इधर उधर नहीं घूमना चाहिए, किसी बावडी वा कूआके मार्गमें वा और भी ऐसे ही स्थानोंमें विना प्रयोजनके कभी नहीं घूमना चाहिए ॥ १५० ॥ जिसने शिकार खेलनेका त्याग कर दिया है उसको विना किसी अन्य कार्यके केवल तमाशा देखनेके लिए वा केवल मन बहलानेके लिए पौधे फूल वृक्ष आदिके बगीचोंमें, बडे बडे वनोंमें, उपवनोंमें, नदियोंमें, सरोवरोंमें, क्रीडा करनेके छोटे छोटे पर्वतोंपर, क्रीडा करनेके लिए बनाए हुए तालाबोंमें, सूने मकानोंमें, गेहूं जौ मटर आदि अन्न

विनोदार्थं न गच्छेन्मृगयोज्झितः ॥ १५३ ॥ तस्कारादिविघातार्थं स्थानेषु चण्डभीरुषु । योद्धुमुत्सुकभूपादियोग्यासु युद्धभूमिषु ॥ १५४ ॥ गीतनादविवाहादिनाट्य-शालादिवेश्मसु । हिंसारम्भेषु कूपादिखननेषु च कर्म्मसु ॥ १५५ ॥ न कर्तव्या मतिर्धीरै स्वप्नमात्रे मनागपि । केवलं कर्मबन्धाय मोहस्यैतद्धि स्फूर्जितम् ॥ १५६ ॥ गच्छन्नप्यात्मकार्यार्थं गच्छेद् भूमिं विलोकयन् । युगदघ्नां दृशा सम्यगीर्यासंशुद्धिहेतवे ॥ १५७ ॥ तत्र गच्छन्न छिन्द्याद्वा तरुपर्णफलादिकान् । पद्भ्यां दोर्भ्यां न

उत्पन्न होनेवाले खेतोंमें, पशुओंके बांधनेके स्थानोंमें, दूसरोंके घरोंमें, जेलखानोंमें, बडे बडे मठोंमें, राजमहलोंमें वा और भी ऐसे ही ऐसे स्थानोंमें कभी नहीं जाना चाहिए ॥ १५१-१५३ ॥ जिन स्थानोंमें चोर, डाकू, हत्यारे आदि महा अपराधी मनुष्योंको प्राणदंड दिया जाता हो ऐसे अत्यंत भयानक और भय उत्पन्न करनेवाले स्थानोंमें जहांपर युद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले राजा सेनापति आदि लोग युद्ध कर सकें ऐसी युद्ध करनेयोग्य युद्धभूमिमें जिनमें गाना, नाचना, उत्सव, विवाह, नाटक आदि होते हों ऐसे स्थानोंमें जानेके लिए धीर वीर पुरुषको स्वप्नमें भी कभी बुद्धि नहीं करनी चाहिए, इसीप्रकार जिनमें बहुतसी हिंसा वा आरंभ होता हो ऐसे कूआ बावडी खुदाने आदिके कार्योंके करनेमें स्वप्नमें भी कभी अपनी थोडीसी बुद्धि भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि ऐसे स्थानोंमें जानेसे वा ऐसे स्थानोंको बनवानेसे केवल अशुभ कर्मोंका बंध ही होता है तथा मोहनीय कर्मके तीव्र उदयसे ही ऐसे स्थानोंमें जानेके लिए वा ऐसे काम करनेके लिए बुद्धि उत्पन्न होती है, इसलिए यह सब मोहकर्मका ही कार्य समझना चाहिए ॥ १५५-१५६ ॥ व्रती गृहस्थको जब कभी अपने कार्यके लिए भी कहीं जाना हो तो उसे शुद्ध ईर्यापथ पालन करनेके लिए अपने दोनों नेत्रोंसे शरीरप्रमाण पृथ्वीको देखते हुए जाना चाहिए ॥१५७॥ मार्गमें चलते हुए व्रती गृहस्थको अपने पैरोंसे छोटे छोटे पौधे, पत्ते वा फल नहीं तोडने वा काटने चाहिए तथा अपने दोनों हाथोंसे पानीपर चोट नहीं मारना चाहिए । भावार्थ—न तैरना चाहिए, न जलक्रीडा करनी चाहिए तथा और भी ऐसे कार्य नहीं करने चाहिए जिनसे पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पति-कायिक और त्रसकायिक जीवोंका घात होता हो ॥ १५८ ॥ इसीप्रकार ढेले पत्थर फेंकना, पत्थरोंसे पृथ्वीको कूटना, इधर उधर घूमना, केवल मनोविनोदके लिए कूदना, हिंसाका उपदेश देना इत्यादि विना प्रयोजनके व्यर्थ

कुर्वीत जलस्फालनकर्म च ॥ १५८ ॥ शर्करादिपरिक्षेपं प्रस्तरैर्भूमिकुट्टनम्। इतस्ततोऽटनं चापि क्रीडाकूर्दनकर्म च ॥ १५९ ॥ हिंसोपदेशमित्यादि न कुर्वीत विचक्षणः। प्राक्पदव्यामिवारूढः सर्वतोनर्थदण्डमुक् ॥ १६० ॥ व्याख्यातो मृगयादोषः सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात्। अर्गलेवाऽव्रतादीना व्रतादीना सहोदरः ॥ १६१ ॥ अथ चौर्यव्यसनस्य त्यागः श्रेयानिति स्मृतः। तृतीयाणुव्रतस्यान्तर्भावी चाप्यत्र सूत्रितः ॥ १६२ ॥ तल्लक्षणं यथा सूत्रे निर्दिष्टं पूर्वसूरिभिः। यद्ददत्तादानं तत्स्तेयं स्तेयविवर्जितैः ॥१६३॥ व्यसनं स्यात्तत्रासक्तिः प्रवृत्तिर्वा मुहुर्मुहुः। यद्वा व्रतादिना क्षुद्रैः परित्यक्तुमशक्यता ॥१६४॥ तदेतद्व्यसनं नून निषिद्धं गृहमेधिनाम्। संसारदुःखभीरूणामशरीरसुखैषिणाम् ॥ १६५ ॥ तत्स्वरूपं प्रवक्ष्यामः पुरस्तादल्पविस्तरात्। उच्यतेत्रापि दिङ्मात्र सोपयोगि प्रसङ्गसात् ॥ १६६ ॥ उक्तः प्राणि-

ही हिंसा उत्पन्न होनेवाले कार्य पूर्णरूपसे अनर्थदंडोंका त्याग करनेवाले तथा पहली दर्शनप्रतिमाको धारण करनेवाले चतुर गृहस्थको कभी नहीं करने चाहिए ॥ १५९-१६० ॥ इसप्रकार भगवान सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके अनुसार शिकार खेलनेके दोष बतलाए। इन दोषोंके त्याग कर देनेसे सब अव्रत रुक जाते हैं और व्रतोंको अत्यंत सहायता पहुंचती है ॥ १६१ ॥

आगे चोरी करनेरूप व्यसनका त्याग करनेके लिए उपदेश देते हैं, क्योंकि चोरीका त्याग कर देना भी इस जीवके लिए कल्याणकारी है। यद्यपि चोरीका त्याग तीसरे अचौर्य अणुव्रतमें अंतर्भूत होता है तो भी व्यसनरूपसे त्याग करनेका यहां उपदेश दिया है ॥ १६२ ॥ अचौर्य महाव्रतको धारण करनेवाले पहलेके आचार्योंने चोरीका लक्षण करते हुए बतलाया है कि जो दूसरेका विना दिया हुआ पदार्थ ग्रहण कर लेना है वही चोरी है ॥१६३॥ उस चोरी करनेरूप कार्यमें अत्यंत आसक्त होना अथवा चोरी करनेमें वार बार प्रवृत्ति करना चोरीका व्यसन कहलाता है अथवा क्षुद्रपुरुष जो अचौर्य आदि व्रतोंको धारणकर चोरी आदिका त्याग नहीं कर सकते उसको भी चोरीका व्यसन कहते हैं ॥ १६४ ॥ जो संसारके दुःखोंसे भयभीत हैं और आत्मजन्य सुखोंकी इच्छा करते हैं ऐसे गृहस्थोंके लिए यह चोरीका व्यसन अवश्य ही त्याग करनेयोग्य बतलाया है अर्थात् व्रती गृहस्थोंको इस चोरीके व्यसनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥ १६५ ॥ आगे अचौर्य अणुव्रतका वर्णन करते समय थोडेसे विस्तारके साथ इसका वर्णन करेंगे, परंतु यहां भी इसका थोडासा प्रसंग आ गया है इसलिए प्रकरणके

बधो हिंसा स्यादधर्मः स दुःखदः । नार्थाज्जीवस्य नाशोस्ति किन्तु बन्धोत्र पीडया ॥ १६७ ॥ ततोऽवश्यं हि पापः स्यात्परस्वहरणे नृणाम् । यादृशं मरणे दुःखं तादृशं द्रविणक्षतौ ॥ १६८ ॥ एवमेतत्परिज्ञाय दर्शनश्रावकोत्तमैः । कर्तव्या न मतिः क्वापि परदारधनादिषु ॥ १६९ ॥ आस्तां परस्वीकाराद्यद् दुःखं नारकादिषु । यदत्रैव भवेद् दुःखं तद्वक्तु कः क्षमो नरः ॥ १७० ॥ चौर्यासक्तो नरोवश्यं नासिकादिक्षतिं लभेत् । गर्दभारोहणं चापि यद्वा पञ्चत्वमाप्नुयात् ॥ १७१ ॥ उद्विग्नो विघ्नशंकी च भ्रान्तोनवस्थचित्तकः । न क्षणं तिष्ठते स्वस्थः परवित्तहरो नरः ॥१७२॥ परस्वहरणासक्तैः प्राप्ता दुःखपरंपराः । श्रूयते तत्कथा शास्त्राच्छि-

अनुरोधसे थोडासा यहां भी वर्णन कर देते हैं ॥ १६६ ॥ शास्त्रोंमें लिखा है कि प्राणियोंका बध करना हिंसा है तथा हिंसा करना ही अधर्म है और अत्यंत दुःख देनेवाला है । यद्यपि दूसरेका धन हरण करनेमें जीवका नाश नहीं होता है तथापि उसको जो मानसिक महासंताप और वेदना होती है उससे चोरी करनेवालोंको अशुभ कर्मोंका तीव्र बंध होता है और इसीलिये चोरी करनेवाले मनुष्योंको अवश्य महापाप उत्पन्न होता है क्योंकि जिसका धन हरण किया जाता है उसको जैसा मरनेमें दुःख होता है वैसा ही दुःख धनके नाश हो जानेपर होता है ॥ १६७-१६८ ॥ ऊपर लिखे अनुसार चोरी करनेके महा दोषोंको समझ कर दर्शनप्रतिमा धारण करनेवाले उत्तम श्रावकोंको दूसरेकी स्त्री वा दूसरेका धन हरण करनेके लिये कभी भी अपनी बुद्धि नहीं करनी चाहिये ॥ १६९ ॥ दूसरेका धन हरण करनेसे वा चोरी करनेसे जो नरकादि दुर्गतियोंमें महा दुःख होता है वह तो होगा ही है किंतु ऐसे लोगोंको इस जन्ममें ही जो दुःख होते हैं उनको भी कोई मनुष्य कह नहीं सकता ॥ १७० ॥ जो मनुष्य चोरी करनेमें आसक्त रहता है पकडे जानेपर उसकी नाक काट ली जाती है वा हाथ काट लिये जाते हैं, उसे गधे पर चढाकर बाजारमें घुमाया जाता है और अंतमें उसे प्राणदंड दिया जाता है ॥ १७१ ॥ जो मनुष्य दूसरेका धन हरण करता है उसके चित्तमें सदा उद्वेग वा भय बना रहता है, उसे पदपदपर विघ्नोंकी शंका बनी रहती है, उसका हृदय हर समय इधर उधर घूमा करता है, उसका चित्त सदा डवांडोल रहता है और वह एक क्षण भी निराकुल नहीं रह सकता ॥ १७२ ॥ दूसरेके धन हरण करनेमें आसक्त रहनेवाले लोगोंने पहले जन्म जन्मांतर तक अनेक प्रकारके दुःख पाये हैं। जिनकी कथाएं शास्त्रोंसे सुनी जाती हैं। जैसे शिवभूति

वभूतिर्द्विजो यथा ॥ १७३ ॥ न केवल हि श्रूयन्ते दृश्यन्तेऽत्र समक्षतः। यतोद्यापि चुरासक्तो निग्रह लभ्यते नृपैः ॥ १७४ ॥ सन्ति तत्राप्यतीचाराश्चौर्यत्याग-व्रतस्य च। तानवश्यं यथास्थाने ब्रूमो नातीवविस्तरात् ॥ १७५ ॥ अथान्ययोषिद्व्यसन दूरतः परिवर्जयेत्। आशीर्विषमिवासा यच्चरित्रं स्याज्जगत्त्रये ॥ १७६ ॥ तुर्याणुव्रते तस्यान्तर्भावः स्यादस्य लक्षणात्। लक्ष्यतेत्रापि दिग्मात्र प्रसङ्गादिह साम्प्रतम् ॥ १७७ ॥ देवशास्त्रगुरूनत्वा बन्धुवर्गात्मसाक्षिकम्। पत्नी पाणिगृहीता स्यातदन्या चेटिका मता ॥ १७८ ॥ तच्च पाणिगृहीता या सा द्विधा लक्षणाद्यथा। आत्मज्ञातिः परज्ञातिः कर्मभूरूढिसाधनात् ॥१७९॥ परिणीतात्मज्ञातिश्च धर्म-

ब्राह्मणने चोरी करनेसे ही अनेक प्रकारके दुःख पाये थे ॥ १७३ ॥ चोरी करनेवालोंके दुःखोंकी कथाएं केवल सुनी ही नहीं जाती हैं किंतु इस समयमें भी प्रत्यक्ष देखी जाती हैं क्योंकि आजकल भी चोरी करनेवाले लोगोंको राज्यकी ओरसे अनेक प्रकारके कठोर दंड दिये जाते हैं ॥ १७४ ॥ इस चौर्यत्यागव्रतके कितने ही अतिचार हैं उनको भी समयानुसार अचौर्याणुव्रतका वर्णन करते समय थोडेसे विस्तारके साथ अवश्य वर्णन करेंगे ॥ १७५ ॥ अब आगे परस्त्री व्यसनके त्यागका वर्णन करते हैं।

जिन स्त्रियोंका चरित्र तीनों लोकोंमें सर्पके महाविषके समान प्रसिद्ध है ऐसी परस्त्रियोंके सेवन करनेका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिये तथा दूरसे ही कर देना चाहिये ॥ १७६ ॥ परस्त्रीत्याग व्रतका जो लक्षण है उससे यह व्रत चौथे अणुव्रतमें अंतर्भूत होता है तथापि इस समय प्रकरण पाकर यहांपर उसका थोडासा वर्णन करते हैं ॥ १७७ ॥ देव शास्त्र गुरुको नमस्कार कर तथा अपने भाई बंधुओंकी साक्षीपूर्वक जिस कन्याके साथ विवाह किया जाता है वह विवाहिता स्त्री कहलाती है। ऐसी विवाहिता स्त्रीके सिवाय अन्य सब पत्नियां दासी कहलाती हैं ॥ १७८ ॥ उसमें भी जो विवाहिता पत्नी है वह दो प्रकार है तथा उन दोनोंके लक्षण अलग अलग हैं। कर्मभूमिमें रूढिसे चली आई जो अलग अलग जातियां हैं उनमेंसे अपनी जातिकी कन्याके साथ विवाह करना और अन्य जातिकी कन्याके साथ विवाह करना इस प्रकार अपनी जातिकी विवाहिता पत्नी और अन्य जातिकी विवाहिता पत्नीके भेदसे पत्नियोंके दो भेद हो जाते हैं ॥ १७९ ॥

अपनी जातिकी जिस कन्याके साथ विवाह किया जाता है वह धर्मपत्नी कहलाती है ऐसी धर्मपत्नी

पत्नीति सैव च। धर्मकार्ये हि सधीची यागादौ शुभकर्मणि ॥ १८० ॥ सूनुस्तस्याः समुत्पन्नः पितुर्धर्मेधिकारवान्। स पिता तु परोक्षः स्यादैवात्प्रत्यक्ष एव वा ॥१८१॥ स सूनुः कर्मकार्येपि गोत्ररक्षादिलक्षणे। सर्वलोकाविरुद्धत्वादधिकारी न चेतरः ॥ १८२ ॥ परिणीतानात्मज्ञातिर्या पितृसाक्षिपूर्वकम्। भोगपत्नीति

ही यज्ञपूजा प्रतिष्ठा आदि शुभ कार्योंमें वा प्रत्येक धर्मकार्यमें साथ रह सकती है ॥ १८० ॥ उस धर्मपत्नीसे जो पुत्र उत्पन्न होता है वही पिताके धर्मका अधिकारी होता है क्योंकि कभी कभी पिता तो परोक्ष हो जाता है। संन्यास धारण कर लेता है अथवा स्वर्गवासी हो जाता है तथा भाग्योदयसे कभी प्रत्यक्ष भी बना रहता है। भावार्थ—पिता परोक्ष हो वा प्रत्यक्ष हो अर्थात् चाहे स्वर्गवासी हो जाय वा संन्यास धारण कर ले अथवा प्रत्यक्ष बना रहे तथापि स्वजातिवाली धर्मपत्नीसे उत्पन्न हुआ पुत्र ही धर्मका और वंश वा गोत्रकी रक्षा का अधिकारी होता है अन्य बिजातीय भोगपत्नीसे उत्पन्न हुआ पुत्र न तो धर्मका अधिकारी होता है और न वंश चलानेका अधिकारी होता है ॥ १८१ ॥ वह धर्मपत्नीसे उत्पन्न हुआ पुत्र ही समस्त धर्मकार्योंमें अधिकारी होता है और गोत्रकी रक्षा करनेरूप कार्यमें अर्थात् पुत्र उत्पन्न कर आगेके लिये गोत्रकी रक्षा करनेरूप कार्यमें वा अपने समस्त घरका स्वामी बनाने वा समस्त गृहस्थधर्मकी रक्षा करनेरूप कार्यमें अधिकारी होता है क्योंकि धर्मपत्नीसे उत्पन्न हुआ पुत्र ही समस्त लोकका अविरोधी पुत्र है। अन्य जातिकी विवाहिता कन्यारूप पत्नी से उत्पन्न हुआ पुत्र ऊपर लिखे कार्योंमें कुछ भी अधिकार नहीं रखता ॥ १८२ ॥

जो पिताकी साक्षीपूर्वक अन्य जातिकी कन्याके साथ विवाह किया जाता है वह भोगपत्नी कहलाती है क्योंकि वह स्त्री केवल भोगोपभोग सेवन करनेमें ही काम आती है अन्य किसी भी धर्मकार्यमें काम नहीं आती। ऊपर लिखा भी जा चुका है कि धर्मकार्योंमें तथा गोत्रकी रक्षा करने आदि कार्योंमें धर्मपत्नी ही साथ रह सकती है। भोगपत्नी नहीं। भोगपत्नी केवल भोगनेमें ही काम आती है अन्य किसी कार्यमें नहीं ॥१८३॥ इसप्रकार अपनी जाति और पर जातिके भेदसे स्त्रियां दो प्रकार हैं तथा जिसके साथ विवाह नहीं हुआ है ऐसी स्त्री दासी वा चेटी कहलाती है, ऐसी दासी केवल भोगाभिलाषिणी होती है ॥ १८४ ॥ दासी और भोगपत्नी

सा ज्ञेया भोगमात्रैकसाधनात् ॥१८३॥ आत्मज्ञातिः परज्ञातिः सामान्यवनिता तु या। पाणिग्रहणशून्या चेच्चेटिका सुरतप्रिया ॥ १८४ ॥ चेटिका भोगपत्नी च द्वयोर्भोगाङ्गमात्रतः। लौकिकोक्तिविशेषोपि न भेदः पारमार्थिकः ॥ १८५ ॥ भोगपत्नी निषिद्धा स्यात्सर्वतो धर्मवेदिनाम्। ग्रहणस्याविशेषेपि दोषो भेदस्य सम्भवात् ॥ १८६॥ अस्ति दोषविशेषोऽत्र जिनदृष्टश्च कश्चन। येन दास्याः प्रसङ्गेन वज्रलेपोघसंचयः ॥ १८७ ॥ भावेषु यदि शुद्धत्व हेतुः पुण्यार्जनादिषु। एव वस्तुस्वभा-

ये दोनों ही केवल उपभोग सेवन करनेके ही काम आती है। इसलिए यद्यपि लौकिक दृष्टिके अनुसार उनमें कुछ थोडासा भेद है तथापि परमार्थसे वा यथार्थसे देखा जाय तो उन दोनोंमें कोई भेद नहीं है। भावार्थ—भोगपत्नी एक प्रकारसे दासीके ही समान है (क्योंकि न तो उसे किसी भी धर्मकार्यमें शामिल होनेका अधिकार है और न उसे गोत्रकी रक्षा करनेका अर्थात् उसकी संतानको घरकी जायदाद वा धनके स्वामी बननेका अधिकार है) ॥१८५॥ धर्मके जाननेवाले पुरुषोंको भोगपत्नीका पूर्णरूपसे त्याग कर देना चाहिए क्योंकि यद्यपि विवाहिता होने से वह ग्रहण करनेयोग्य है तथापि धर्मपत्नीसे वह सर्वथा भिन्न है, सब तरहके अधिकारोंसे रहित है, इसलिए उसके सेवन करनेमें दोष ही है ॥ १८६ ॥ भोगपत्नीके सेवन करनेसे अनेक प्रकारके विशेष दोष उत्पन्न होते हैं जिनको कि भगवान सर्वज्ञदेव ही जानते हैं, क्योंकि यह नियम है कि दासीके साथ विषय सेवन करनेसे वज्रलेपके समान पापोंका संचय होता है तथा भोगपत्नीको दासीके ही समान बतलाया है, इसलिए भोगपत्नीका सेवन करनेसे भी वज्रलेपके समान पापोंका संचय होता है ॥ १८७ ॥ यदि पुण्य उपार्जन करनेमें भावोंकी शुद्धता ही कारण है क्योंकि वस्तुका स्वभाव ही इसीप्रकार है तो फिर दासी वा उसके समान भोगपत्नीके साथ विषय सेवन करनेसे वह परिणामोंकी शुद्धता अवश्य नष्ट हो जाती है ॥ १८८ ॥ लिखा भी है—

मुनिरेव हि जानाति द्रव्यसंयोगजं गुणम्। मक्षिका वमनं कुर्यात्तद्विद् छर्दिप्रणाशिनी ॥

अर्थात् किस किस द्रव्यके संयोगसे कैसा कैसा गुण प्रकट होता है इस बातको मुनि ही जानते हैं। हम लोगोंके अल्पज्ञानमें यह बात नहीं आ सकती। देखो मक्खीके पेटमें चले जानेसे वमन हो जाता है परंतु उसकी विष्ठा वा बीट खा लेनेसे वमन रोग दूर हो जाता है। अतएव यह सिद्ध है कि दासी वा भोगपत्नीके सेवन करनेमें

वत्वात्तद्रतात्तद्धि-नश्यति ॥ १८८ ॥ उक्तं च । मुनिरेव हि जानाति द्रव्यसंयोगजं गुणम् । मक्षिका वमनं कुर्यात्तद्वित्, छर्दिंप्रणाशिनी ॥ ११ ॥ ननु यथा धर्मपत्न्यां यैव दास्यां क्रियैव सा । विशेषानुपलब्धेश्च कथ मे वधार्यते ॥ १८९ ॥ मैवं यतो विशेषोस्ति युक्तिस्वानुभवागमात् । दृष्टान्तस्यापि सिद्धत्वाद्धेतोः साध्यानुकूलतः ॥ १९० ॥ मैवं स्पर्शादि यद्वस्तु बाह्य विषयसंज्ञिकम् । तद्धेतुस्तादृशो भावो जीवस्यैवास्ति निश्चयात् ॥ १९१ ॥ दृश्यते जलमेवैकमेकरूपं स्वरूपतः ।

विषय सेवनकी तीव्र लालसा रहती है, इसीलिए परिणामोंकी शुद्धता नहीं रह सकती तथा परिणामोंमें तीव्र कषायोंका संचार होनेसे वा कामसेवनकी तीव्र लालसा होनेसे तीव्र पापकर्मोंका बंध होता है।

शंका–विषय सेवन करते समय जो क्रिया धर्मपत्नीमें की जाती है वही क्रिया दासीमें की जाती है उन दोनोंके साथ होनेवाली क्रियाओंमें कोई किसी प्रकारका अंतर नहीं है, फिर भला दासी और धर्मपत्नीमें भेद क्यों बताया जाता है। जिसप्रकार उनके साथ होनेवाली क्रियामें कोई भेद नहीं है उसीप्रकार उन दोनोंमें कोई भेद नहीं होना चाहिए ॥ १८९ ॥ समाधान–परंतु ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि दासी और धर्मपत्नीमें बहुत भारी अंतर है, यह बात युक्तिसे भी सिद्ध होती है, आगमसे भी सिद्ध है और अपने अनुभवसे भी सिद्ध होती है। इसके लिए अनेक दृष्टांत मिलते हैं और इस साध्यको सिद्ध करनेवाले अनेक हेतु मिलते हैं ॥ १९० ॥ केवल यही नहीं समझना चाहिए कि कर्मबंध होनेमें वा परिणामोंमें शुभ अशुभपना होनेमें स्पर्श करना वा विषय सेवन करना आदि वाह्य वस्तु ही कारण है किंतु जीवोंके वैसे परिणाम होना ही निश्चयसे कारण हैं। भावार्थ–वाह्य क्रिया एकसी होनेपर भी सबके परिणाम एकसे नहीं होते, इसीप्रकार धर्मपत्नीके सेवन करनेमें जीवोंके मंद परिणाम होते हैं इसलिए उनसे तीव्र अशुभ कर्मोंका बंध नहीं होता, किंतु दासीके सेवन करनेमें विषय सेवन करनेकी तीव्र लालसा होती है इसीलिए उसके सेवन करनेसे तीव्र अशुभ कर्मोंका बंध होता है। अतएव दासी और धर्मपत्नीमें बहुत भारी भेद है ॥ १९१ ॥ संसारमें भी देखा जाता है कि जो जल स्वरूपसे एकरूप है अथवा एक ही है वह एक ही जल चन्दनके पेडमें देनेसे चन्दनरूप हो जाता है, नीममें देनेसे कडवा हो जाता है, धतूरेमें देनेसे विषरूप हो जाता है और ईखमें देनेसे मीठे गन्नेरूप परिणत हो जाता है। भावार्थ—जिसप्रकार एक ही

चन्दनादिवनराजिं प्राप्य नानात्वमध्यगात् ।१९२। न च वाच्यमयं जीवः स्वायत्तः केवलं भवेत् । बाह्यवस्तु विनाश्रित्य जायते भावसन्ततिः ।१९३। ततो बाह्यनिमित्तानु रूपं कार्यं प्रमाणतः । सिद्धं तत्प्रकृतेऽप्यस्मिन्नस्ति भेदो हि लीलया ॥ १९४ ॥ अत्राभिज्ञानमप्यस्ति सर्वलोकाभिसम्मतम् । दासाः दास्याः सुता ज्ञेया तत्सुतेभ्योऽन्या

जल पात्रभेदसे अनेक प्रकारका परिणत हो जाता है उसीप्रकार धर्मपत्नी वा दासीमें एकसी क्रिया होनेपर भी पात्रभेदसे परिणामोंमें बडा भारी अंतर पड जाता है तथा परिणामोंमें अंतर पडनेसे शुभ अशुभरूप कर्मबंधमें बडा भारी अंतर पड जाता है ॥ १९२ ॥ कदाचित् यह कहा जाय कि यह जीव शुभ अशुभरूप कर्मबंध करनेमें नितांत स्वाधीन है क्योंकि भाव वा परिणामोंकी परंपरा वाह्य पदार्थोंके आश्रय किए विना भी बराबर बनी ही रहती है अर्थात् परिणामोंके शुभ अशुभ होनेमें वाह्य पदार्थ कोई कारण नहीं है शुभ वा अशुभ परिणामोंको उत्पन्न करना सर्वथा जीवके आधीन है इसलिये चाहे दासीका सेवन किया और चाहे धर्मपत्नीका सेवन किया जाय उन दोनोंके सेवन करनेमें परिणामोंमें कोई अंतर नहीं पडता इसलिये दासी और धर्मपत्नीमें कोई भेद नहीं है सो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि परिणामोंमें शुभ अशुभपना वाह्य पदार्थोंके आश्रयसे ही होता है। वाह्य पदार्थोंका जैसा निमित्त मिलता है वैसे ही परिणाम बदलकर हो जाते हैं ॥१९३॥ इसलिये यही प्रमाण मानना चाहिये कि जैसा वाह्य पदार्थोंका निमित्त मिलता है उन्हींके अनुसार कार्यकी सिद्धि होती है। इसी न्याय-के अनुसार इस प्रकरणमें भी दासी और धर्मपत्नीमें लीलापूर्वक वा बहुत ही सरल रीतिसे भेद सिद्ध हो जाता है ॥ १९४ ॥ इस विषयमें समस्त लोगोंके द्वारा माना हुआ ज्ञान ही प्रमाण है क्योंकि समस्त संसारके समस्त लोग यह मानते हैं कि दासीसे जो पुत्र उत्पन्न होते हैं वे दास कहलाते हैं और वे दास धर्मपत्नीसे उत्पन्न हुए पुत्रोंसे सर्वथा भिन्न दूसरे प्रकारके ही कहलाते हैं। भावार्थ-धर्मपत्नीसे उत्पन्न हुए पुत्र पिताके बाद धर्मकार्यके भी स्वामी होते हैं और स्थावर जंगम संपत्तिके भी स्वामी होते हैं तथा आगे गोत्रकी रक्षा भी उन्हींसे होती है। दासीके पुत्रोंको न तो पिताके द्वारा अनुष्ठित देवपूजा वा पात्रदान देना आदि धर्मकार्य सौंपे जाते हैं, न वे स्थावर जंगम संपत्तिके अधिकारी होते हैं और न वे उस गोत्रकी रक्षा कर सकते हैं अतएव दासीसे उत्पन्न हुए पुत्र धर्मपत्नी-

दशाः ॥१९५॥ कृतं च बहुनोक्तेन सूक्तं सर्वविदाज्ञया । स्वीकर्तव्यं गृहस्थेन दर्शनव्रतधारिणा ॥१९६॥ भोगपत्नी निषिद्धा चेत्का कथा परयोषिताम् । तथाप्यत्रोच्यते

से उत्पन्न हुए पुत्रोंसे सर्वथा भिन्न होते हैं। इससे भी धर्मपत्नी और दासीमें बडा भारी अंतर सिद्ध होता है ॥१९५॥ बहुत कहनेसे क्या ? भगवान सर्वज्ञदेवकी आज्ञानुसार शास्त्रोंमें जो कुछ वर्णन किया है, जो व्रत बतलाये हैं वे सब दर्शनप्रतिमारूप व्रतको धारण करनेवाले गृहस्थोंको अवश्य स्वीकार करने चाहिए। अवश्य धारण करने चाहिए ॥ १९६ ॥ शास्त्रोंमें जब भोगपत्नीका सेवन करना ही निषिद्ध बतलाया है-त्याग करने

१ पहले कह चुके हैं अपनी जातिकी कन्याके साथ जो विवाह किया जाता है वह स्त्री धर्मपत्नी कहलाती है और अन्य जातिकी कन्याके साथ जो विवाह किया जाता है वह भोगपत्नी कहलाती है। भोगपत्नी यद्यपि विवाहिता स्त्री है तथापि उसे केवल अन्य जातिकी कन्या होनेके कारण दासीके समान बतलाया है और इसीलिये उसके त्याग करनेका उपदेश दिया है। जैसा कि ऊपर लिख चुके हैं।

वर्तमान समयमें पश्चिमी सभ्यता एवं विद्यामें रंगे हुए धर्मशास्त्रके अज्ञानकार लोगोंको कृपासे कुछ ऐसा वातावरण बह रहा है जिसमें बहते हुये तथा आर्ष मार्गानुकूल चली आई धर्मशास्त्रकी गद्दीपर बैठकर शास्त्र बांचनेवाले तथा बड़े बड़े विद्यालयोंकी धर्मशास्त्रकी गद्दीपर बैठकर धर्मशास्त्रकी शिक्षा देनेवाले और इसी कारण अपनेको धुरन्धर माननेवाले कुछ विद्वान् अंतर्जातीय विवाह वा विजातीय विवाहको (अन्य जातिकी कन्याके साथ विवाह करनेको) धर्मशास्त्रके अनुकूल मानते हैं उन्हें ऊपर लिखे वचनोंसे यह निश्चय करलेना चाहिये कि अन्य जातिकी कन्याके साथ विवाह करना रखी हुई दासीके समान है क्योंकि वह भोगपत्नी हो सकती है धर्मपत्नी नहीं हो सकती तथा भोगपत्नी दासीके समान बतलाई है जैसा कि ऊपर १८५वें श्लोकमें लिखा है।

ऊपर यह भी बतलाया गया है कि जिस प्रकार दासीके पुत्रको किसी धार्मिक कार्य करनेका वा किसी भी प्रकारकी संपत्तिका भाग लेनेका अधिकार नहीं है उसी प्रकार भोगपत्नीके पुत्रको भी कोई अधिकार नहीं है। और तो क्या ? भोगपत्नीके पुत्रको गोत्रकी रक्षा करनेका भी अधिकार नहीं है क्योंकि ऊपर स्पष्ट शब्दोंमें लिखा गया है कि ये सब अधिकार धर्मपत्नीके पुत्रको ही हैं दासी वा भोगपत्नीके पुत्रको ये अधिकार नहीं है। इसलिये विजातीय विवाह वा अंतर्जातीय विवाह धर्मशास्त्रके सर्वथा विरुद्ध है और इसीलिये महापाप है। उसकी सन्तान दासीपुत्रके समान है उसको भगवान अरहंतदेवकी पूजा करनेका वा पात्र देनेका कोई अधिकार नहीं है इसीलिये अन्तर्जातीय विवाह वा विजातीय विवाह करना वा ऐसे विवाह करनेका उपदेश देना मुनिमार्ग वा मोक्षमार्ग का लोप करना है जब उसको सन्तानको भगवानकी पूजा करनेका भी अधिकार नहीं है तो फिर वही अंतर्जातीय विवाह गृहस्थधर्मका भी नाश करनेवाला है। इस प्रकार यह अंतर्जातीय विवाह धर्मका सर्वथा नाश करनेवाला है और इसीलिये महापापरूप है तथा नरक निगोदादिक दुर्गतियोंका खुला मार्ग है। इसमें कोई किसी प्रकारका सन्देह नहीं है।

किञ्चित्तत्स्वरूपाभिव्यक्तये ॥१९७॥ विशेषोस्ति मिथश्चात्र परत्वैकत्वतोपि च । गृहीता चागृहीता च तृतीया नगराङ्गना ॥१९८॥ गृहीतापि द्विधा तत्र यथाद्या जीव-भर्तृका । सत्सु पित्रादिवर्गेषु द्वितीया मृतभर्तृका ॥१९९॥ चेटिका या च विख्याता पतिस्तस्याःस एव हि । गृहीता सापि विख्याता स्यादगृहीता च तद्वत् ॥२००॥ जीवत्सु बन्धुवर्गेषु रण्डा स्यान्मृतभर्तृका । मृतेषु तेषु सैव स्यादगृहीता च स्वैरिणी ॥२०१॥ अस्याः संसर्गवेलायामिंगिते नरि वैरिभिः । सापराधतया दण्डो नृपादिभ्यो भवेद् ध्रुवम् ॥२०२॥ केचिज्जैना वदन्त्येवं गृहीतैषा स्वलक्षणात् । नृपादिभिर्गृहीतत्वान्नीतिमार्गानतिक्रमात् ॥२०३॥ विख्यातो नीतिमार्गोयं स्वामी स्याज्जगतां नृपः ।

योग्य बतलाया है फिर भला परस्त्रीके सेवन करनेकी तो बात ही क्या है। उसका त्याग तो अवश्य कर देना ही चाहिए और विना किसीके कहे सुने कर देना चाहिए। उसका त्याग करनेके लिए कुछ विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है तथापि प्रकरण पाकर उसका स्वरूप बतलानेके लिए यहांपर थोडासा उसका वर्णन करते हैं ॥ १९७ ॥ परस्त्रियां भी दो प्रकार हैं एक दूसरेके आधीन रहनेवाली और दूसरी स्वतंत्र रहनेवाली, जिनको गृहीता और अगृहीता कहते हैं। इनके सिवाय तीसरी वेश्या भी परस्त्री कहलाती है ॥१९८॥ उनमें भी गृहीता वा विवाहिता स्त्रियां दो प्रकारकी हैं एक ऐसी स्त्रियां जिनका पति जीता है तथा दूसरी ऐसी जिनका पति तो मर गया हो परंतु माता, पिता, भाई आदि जीते हों और उन्हींके यहां रहती हों अथवा जेठ देवरके यहां रहती हों ॥ १९९ ॥ इनके सिवाय जो दासी हो जो कि दासीके नामसे प्रसिद्ध हो और उसका पति वही घरका स्वामी हो तो वह भी गृहीता कहलाती है। यदि वह दासी किसीकी रक्खी हुई न हो, स्वतंत्र हो तो वह गृहीता दासीके समान ही अगृहीता कहलाती है ॥२००॥ जिसके भाई बंधु जीते हों परंतु पति मर गया हो ऐसी विधवा स्त्रीको भी गृहीता ही कहते हैं। यदि ऐसी विधवा स्त्रीके भाई बंधु आदि सब मर जांय और वह स्वतंत्र रहती हो तो उसको अगृहीता कहते हैं ॥ २०१ ॥ यदि ऐसी स्त्रियोंके साथ संसर्ग करते समय कोई शत्रु राजाको खबर कर दे तो इस महा अपराधके बदले उस मनुष्यको राज्यकी ओरसे भी कठोर दंड मिलता है ॥ २०२ ॥

कोई कोई लोग यह भी कहते हैं कि जिस स्त्रीका पति भी मर जाय और भाई बंधु आदि भी सब मर जांय तो भी अगृहीता नहीं कहलाती किंतु गृहीता ही कहलाती है क्योंकि गृहीताका जो (किसीके द्वारा ग्रहण

वस्तुतो यस्य न स्वामी तस्य स्वामी महीपतिः ॥ २०४ ॥ तन्मतेषु गृहीता सा पित्राद्यैरावृतापि या । यस्याः संसर्गतो भीतिर्जायते न नृपादितः ॥ २०५ ॥ तन्मते द्विधैव स्वैरी गृहीतागृहीतभेदतः । सामान्यवनिता या स्याद् गृहीतान्तर्भावतः ॥ २०६ ॥ एतत्सर्वं परिज्ञाय स्वानुभूतिसमक्षतः । पराङ्गनासु नादेया बुद्धिर्धीधनशा-

की हुई) लक्षण बतलाया है वह उसमें घटित होता है क्योंकि नीतिमार्गका उल्लंघन न करते हुए राजाओंके द्वारा वह ग्रहण की जाती है इसलिए वह गृहीता ही है ॥ २०३ ॥ नीतिमार्गका उल्लंघन न करते हुए राजाओंके द्वारा वह ग्रहण की हुई समझी जाती है इसका भी कारण यह है कि संसारमें यह नीतिमार्ग प्रसिद्ध है कि संसार भरका स्वामी राजा होता है । वास्तवमें देखा जाय तो जिसका कोई स्वामी नहीं होता उसका स्वामी राजा होता ही है ॥ २०४ ॥ जो लोग इस नीतिको मानते हैं उनके मतके अनुसार उसको गृहीता ही मानना चाहिये । चाहे वह माता पिताके साथ रहती हो या अकेली रहती हो । उनके मतमें अगृहीता उसको समझना चाहिये जिसके साथ संसर्ग करनेसे राजादिका डर न हो ॥२०५॥ ऐसे लोगोंके मतमें इच्छानुसार रहनेवाली (कुलटा) स्त्रियां दो प्रकारकी ही समझनी चाहिये एक गृहीता और दूसरी अगृहीता । जो सामान्य स्त्रियां हैं वे सब गृहीतामें ही अन्तर्भूत कर लेना चाहिये (तथा वेश्याएं अगृहीता समझनी चाहिये) ॥ २०६ ॥ अपने अनुभव और प्रत्यक्षसे इन सब परस्त्रियोंके भेदोंको समझ कर बुद्धिमान् पुरुषोंको परस्त्रियोंके सेवन करनेमें अपनी बुद्धि कभी नहीं लगानी चाहिये ॥ २०७ ॥ जो कुलटा परस्त्री समस्त शास्त्रोंमें निषिद्ध है, स्थान स्थानपर उसके सेवन करनेका

---

१ इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार भाई बंधु पिता माता वा देवर जेठ श्वसुर सासु आदि अपनी विधवा भगिनी वा बहूकी रक्षा करनेके कारण वा उसका भरण पोषण करनेके कारण उस विधवाके स्वामी कहलाते हैं अथवा वह विधवा उनके आश्रय रहती है इसलिये भी वे स्वामी कहलाते हैं। इसी प्रकार अपने राज्यकी समस्त विधवाओंकी रक्षा करना उनके धर्मकी रक्षा करना तथा समयानुसार भरण पोषण करना राजाका काम है। इसी लिये कहा गया है कि नीति मार्गका उल्लंघन न करते हुए राजाओंके द्वारा ग्रहण की हुई समझी जाती है ।" इससे सिद्ध होता है कि उन विधवाओंकी रक्षा करना अथवा उनके शील धर्मकी रक्षा करना राजाका मुख्य कर्तव्य है। जहां ऐसा राजा होता है वहां परकी माता पिता भाई बंधु वा सासु ससुर देवर जेठ आदिसे रहित अकेली विधवाएं भी गृहीता ही समझनी चाहिये क्योंकि नीति मार्गका उल्लंघन न करनेवाला वह राजा ही माता पिताके समान उनके धर्मकी रक्षा करता है।

लिमिः ॥२०७॥ या निषिद्धास्वि शास्त्रेषु लोकेत्रातीव गर्हिता । सा श्रेयसी कुतोन्यस्त्री लोकद्वयहितैषिणाम् ॥२०८॥ त्याज्यं वत्स परस्त्रीषु रतिं तृष्णोपशान्तये । विमृश्य चापदां चक्रं लोकद्वयविध्वंसिनीम् ॥ २०९ ॥ श्रूयन्ते बहवो नष्टाः परस्त्रीसङ्गलालसाः । ये दशास्यादयो नूनमिहामुत्र च दुःखिताः ॥ २१० ॥ श्रूयन्ते न परं तत्र दृश्यन्तेऽद्यापि केचन । रागाङ्गारेषु संदग्धाः दुःखितेभ्योपि दुःखिताः ॥ २११ ॥ आस्तां यन्नरके दुःखं भावतीव्रानुवेदिनाम् । जातं परांगनासक्ते लोहांग-नादिलिंगनात् ॥ २१२ ॥ इहैवानर्थसन्दोहो यावानस्ति सुदुस्सहः । तावान्न शक्यते वक्तुमन्ययोषिन्मनेरितः ॥ २१३ ॥ आदावुत्पद्यते चिन्ता द्रष्टुं वक्तुं समीहते ।

निषेध किया है तथा जो इस संसारमें भी अत्यन्त निन्दनीय गिनी जाती है ऐसी परस्त्री इस लोक और परलोक दोनों लोकोंका हित चाहनेवाले लोगोंके लिये कल्याण करनेवाली किस प्रकार हो सकती है अर्थात् परस्त्री सेवन करनेसे इस जीवका कल्याण कभी नहीं हो सकता ॥ २०८ ॥

इसलिए हे वत्स ! हे प्रिय ! परस्त्रीमें प्रेम करना अनेक आपत्तियोंका स्थान है तथा वह परस्त्री दोनों लोकोंके हितका नाश करनेवाली है यही समझकर अपनी तृष्णा वा लालसाको शांत करनेके लिये परस्त्रीमें प्रेम करनेका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ २०९ ॥ इस परस्त्री सेवनकी लालसा रखनेवाले रावण आदि बहुतसे महापुरुष नष्ट हो गये और उन्होंने इस लोक तथा परलोक दोनों लोकोंमें अनेक प्रकारके दुःख पाये ऐसा अनेक शास्त्रोंमें सुना जाता है ॥ २१० ॥ परस्त्रीकी लालसा रखनेवाले पुरुष अनेक प्रकारसे दुःखी होते हैं यह बात केवल शास्त्रोंमें ही नहीं सुनी जाती किंतु आजकल भी देखी जाती है । आजकल भी ऐसे बहुतसे लोग हैं जो इस रागरूपी अंगारेकी अग्निसे जलकर अत्यन्त दुःखी लोगोंसे भी अधिक दुखी हो रहे हैं ॥ २११ ॥ परस्त्रियोंमें आसक्त रहनेवाले लोगोंको उनकी तीव्र लालसाके कारण नरकमें गरम लोहेकी बनी स्त्रियोंके आलिंगन करानेसे जो महा दुःख होता है वह तो होता ही है किन्तु इस लोकमें भी परस्त्री सेवन करनेवालोंको जो अत्यन्त असह्य दुःख और अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं वे भी कहे नहीं जा सकते ॥ २१२-१३ ॥ देखो, परस्त्री सेवन करनेवालोंके सबसे पहले चिंता उत्पन्न होती है फिर उस परस्त्रीको देखनेकी लालसा उत्पन्न होती है, फिर उसके साथ बातचीत करनेकी लालसा होती है, फिर उसका हृदय भ्रममें पड जाता है और फिर हृदयमें

ततः स्वान्तभ्रमस्तस्मादरतिर्जायते ध्रुवम् ॥ २१४ ॥ ततः क्षुत्तृड्विनाशः स्याद्वपुःकार्श्यं ततो भवेत् । ततः स्याद्व्यमाभावस्ततः स्याद्द्रविणक्षतिः ॥ २१५ ॥ उपहास्यं च लोकेस्मिन् ततः शिष्टेष्वमान्यता । इंगिते राजदण्डः स्यात्सर्वस्वहरणात्मकः ॥ २१६ ॥ भवेद्वा मरणं मोहादन्यस्त्रीलीनचेतसः । चित्रं किमत्र रोगाणामुद्भवोपि भवेद् ध्रुवम् ॥ २१७ ॥ यद्वाऽमुत्रेह यद्दुःखं यावद्यादृक् च दुःस्सहम् । अन्यस्त्रीव्यसनासक्तः सर्वं प्राप्नोति निश्चितम् ॥२१८॥ अस्मदीयमतं चैतद् दोषवित्तद्धि मुञ्चति । न मुञ्चति तथा मन्दो ज्ञातदोषोपि मूढधीः ॥ २१९ ॥

इतिश्रीस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिराजजल्लविरचितायां श्रावकाचारापरनाम लाटीसंहितायां साधुश्रीदूदात्मज फामनमनःसरोजारविन्दविकाशनैकमार्तण्डमण्डलायमानायां दर्शनप्रतिमामहाधिकारमध्ये मूलगुणाष्टकप्रतिपादनसप्तव्यसनरोधवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ।

भ्रम उत्पन्न होनेसे अवश्य ही अरुचि हो जाती है अर्थात् किसी भी काममें उसका चित्त नहीं लगता ॥२१४॥ अरुचि उत्पन्न होनेसे उसकी भूख प्यास सब नष्ट हो जाती है, भूख प्यास नष्ट होनेसे शरीर कृश हो जाता है, शरीर कृश होनेसे फिर वह मनुष्य उद्यम नहीं कर सकता, किसी भी प्रकारका व्यापार नहीं कर सकता और व्यापार न करनेसे उसके धनका नाश हो जाता है ॥ २१५ ॥

इसके सिवाय इस संसारमें उसकी हंसी होती है, संसारमें हंसी होनेसे भले शिष्ट वा सभ्य लोगोंमें उसकी अमान्यता वा अपमान हो जाता है तथा मालूम हो जानेपर उसे कठोर राजदंड मिलता है तथा राज्यकी ओरसे उसका सब धन हरण कर लिया जाता है ॥ २१६ ॥ अथवा तीव्र मोह होनेके कारण परस्त्री सेवन करनेवालोंका मरण भी हो जाता है तथा उपदंश आदि अनेक प्रकारके भयंकर रोग उत्पन्न हो जाते हैं इसके लिये तो कुछ आश्चर्य ही नहीं करना चाहिये अर्थात् परस्त्री सेवन करनेवालोंके उपदंश आदि भयंकर रोग उत्पन्न होते ही हैं इसमें तो किसी प्रकारका संदेह ही नहीं है ॥ २१७ ॥ अथवा परलोकमें जितने असह्यसे असह्य दुःख हैं वे सब परस्त्री सेवन करनेरूप व्यसनमें लीन होनेवाले मनुष्योंको अवश्य प्राप्त होते हैं ॥ २१८ ॥ हमारा तो यह सिद्धांत है कि जो इस परस्त्री सेवनके दोषोंको जानता है, इसको अवश्य छोड

अथ तृतीयः सर्गः ।

दूदांगजः फामननामधेयः स्ववंशवेश्मज्वलदच्छदीपः । जीयाज्जिनेशांघ्रिसरोरुहालिरस्यां कथायां रसिकावतंसः ॥ १ ॥ इत्याशीर्वादः । सम्यक्त्वं दुर्लभं लोके सम्यक्त्वं मोक्षसाधनम् । ज्ञानचारित्रयोर्बीजं मूलं धर्मतरोरिव ॥ १ ॥ तदेव सत्पुरुषार्थस्तदेव परमं पदम् । तदेव परमं ज्योतिः तदेव परमं तपः ॥ २ ॥ तदेवेष्टार्थ-

देता है । कदाचित् कोई मन्द बुद्धि होता है और वह दोषोंको नहीं जानता तो वह नहीं भी छोडता है परन्तु जो दोषोंको जानकर भी नहीं छोडता उसे सबसे बढकर मूर्ख समझना चाहिये ॥ २१९ ॥

इस प्रकार स्याद्वाद स्वरूप निर्दोष गद्य पद्य विद्यामें अत्यन्तचतुर और विद्वानोंमें शिरोमणि ऐसे कविराज राजमल्लके द्वारा बनी हुई तथा सज्जनोत्तम दूदाके सुपुत्र श्री फामनके मनरूपी कमलको प्रफुल्लितकरनेके लिये सूर्यमंडलके समान सुशोभित होनेवाली और श्रावकाचार है दूसरा नाम जिसका ऐसी इस लाटी संहिता नामके ग्रंथकी चावली (आगरा) निवासी मैनपुरी प्रवासी "धर्मरत्न" लालाराम शास्त्री द्वारा विरचित हिन्दी भाषा टीकामें दर्शनप्रतिमा नामके महा अधिकारमें आठ मूलगुणोंको पालन करने और सातों व्यसनोंका त्याग करनेका वर्णन करनेवाला यह दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥ २ ॥

अथ तीसरा सर्ग

जो अपने वंशरूपी घरमें जलता हुआ स्वच्छ दीपक है, जो भगवान अरहंतदेवके चरणकमलोंके लिये भ्रमरके समान है और जो इस श्रावकाचाररूपी कथामें रसिकोंमें भी शिरोमणि है ऐसा वह सेठ दूदाका पुत्र फामन सदा जयशील हो ॥ १ ॥ इत्याशीर्वादः ।

इस संसारमें सम्यग्दर्शन ही दुर्लभ है, सम्यग्दर्शन ही मोक्षका साधन है सम्यग्दर्शन ही ज्ञान और चारित्रका बीज है अर्थात् ज्ञानचारित्रको उत्पन्न करनेवाला है और सम्यग्दर्शन ही धर्मरूपी वृक्षके लिये जडके समान है ॥१॥ यह सम्यग्दर्शन ही सबसे उत्तम पुरुषार्थ है, यह सम्यग्दर्शन ही सबसे उत्तम पद है यह सम्यग्दर्शन ही उत्कृष्ट ज्योति है और यह सम्यग्दर्शन ही सबसे श्रेष्ठ तप है ॥ २ ॥ यह सम्यग्दर्शन ही इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि है, यही परम मनोरथ है, यही केवल आत्मासे उत्पन्न होनेवाला अतीन्द्रिय सुख है और यही सम्यग्दर्शन अनेक

संसिद्धिस्तदेवास्ति मनोरथः । अद्यातीतं सुखं तत्स्यात्तत्कल्याणपरंपरः ॥ ३ ॥ विना येनात्र संसारे भ्रमतिस्म शरीरभाक् । भ्रमिष्यति तथानन्तं कालं भ्रमति संप्रति ॥ ४ ॥ अपि येन विना ज्ञानमज्ञानं स्यात्तदज्ञवत् । चारित्रं स्यात्कुचारित्रं तपो बालतपः स्मृतम् ॥ ५ ॥ अत्रातिविस्तरेणालं कर्म यावच्छुभात्मकम् । सर्वं तत्पुरतः

कल्याणोंकी परंपरा है ॥ ३ ॥ इस सम्यग्दर्शनके ही बिना इस घोर संसारमें यह प्राणी अनादि कालसे अबतक भ्रमण कर रहा है और आगे अनंत कालतक बराबर परिभ्रमण करेगा ॥ ४ ॥

इस सम्यग्दर्शनके बिना ही इस जीवका ज्ञान अज्ञानी पुरुषके समान अज्ञान वा मिथ्याज्ञान कहलाता है चारित्र मिथ्याचारित्र कहलाता है और तप बालतप वा अज्ञानतप कहलाता है ॥ ५ ॥ इस विषयको बहुत बढा कर कहनेसे क्या लाभ है, थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि इस संसारमें जो शुभरूप कर्म हैं शुभकार्य हैं शुभभाव हैं वे सब सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होते हैं और बिना सम्यग्दर्शनके वे सब कार्य वा भाव मिथ्या होते हैं

---

१ जिस प्रकार अज्ञानी पुरुष अपने हिताहितको नहीं जान सकता उसी प्रकार विना सम्यग्दर्शनके यह जीव अपने हित अहितको नहीं जानता। इसीलिये यह जीव इस संसारको नहीं छोडता। यदि यह जीव अपने आत्माका हित पहचानता तो फिर अपने आत्माका कल्याण करनेके लिये अवश्य प्रयत्न करता जैसा कि सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने पर करता है।

ज्ञानका कार्य पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका जानना है। जिस प्रकार बाह्य पदार्थोंके जानने और देखनेके लिए प्रकाशकी आवश्यकता है उसी प्रकार शुद्ध आत्माके स्वरूपको जाननेके लिये भी प्रकाशकी आवश्यकता पडती है। सम्यग्दर्शन आत्माको प्रकाशित करनेके लिए एक देदीप्यमान प्रकाश है। जिस समय यह प्रकाश प्रगट होता है उसी समय यह जीव "यह मेरा है यह मेरा नहीं है सम्यग्दर्शनादिक गुण वा वैराग्यादिक भाव मेरे निजके गुण वा भाव है तथा धन मित्र बांधव और शरीरादि मेरे नहीं हैं ये जड है पुद्गल हैं मैं चैतन्य स्वरूप हूं इस प्रकार स्वपर भेद विज्ञानको प्राप्त होता है। जब इस जीवको इस प्रकारका स्वपर भेद विज्ञान प्राप्त हो जाता है तभी यह जीव संसारमें परिभ्रमण करानेवाले राग द्वेष मोह आदिको छोड देता हैं और सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्ररूप अपने आत्माके गुणोंको ग्रहण कर लेता है। यही इस आत्माका सर्वोत्तम कल्याण करनेवाला हित है।

जब तक इस जीवको इस प्रकारका प्रकाशरूप सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता तब तक ज्ञान चाहे जितना बढ़ जाय वह सब अज्ञानी पुरुषके अज्ञान के समान ही कहलाता है क्योंकि वह पदार्थोंके स्वरूपको विपरीत ही जानता है। आत्माके हितके बदले अहित ही करता है। वर्तमानमें भी बड़े बड़े वैज्ञानिक केवल जडवादका ही विकाश कर रहे हैं सबसे मुख्य आत्मतत्वको जाननेकी तो क्या उसको वे मानते ही नहीं यह उनका सबसे बड़ा भारी घोर अन्धकारमय अज्ञान है। मिथ्यादृष्टि-मुनि ग्यारह अंगोंके जानकार हो जाने पर भी आत्मज्ञानसे वंचित होनेके कारण अज्ञानी ही कहलाते हैं।

सम्यक् सर्वं मिथ्या तदन्ययात् ॥ ६ ॥ तच्च तत्त्वार्थश्रद्धानं सूत्रे सम्यक्त्वलक्षणे । प्रामाणिकं तदेवं स्याच्छ्रुतकेवलिभिर्मतम् ॥ ७ ॥ तत्त्वं जीवास्तिकायाद्यास्तत्स्वरूपो-
र्थसंज्ञकः । श्रद्धानं चानुभूतिः स्यात्तेषामेवेति निश्चयात् ॥ ८ ॥ सामान्यादेकमेवैतत्तद्विशेषविधेर्द्विधा । परोपचारसापेक्षाद्धेतोर्द्वैतबलादपि ॥ ९ ॥ तद्विशेषविधिस्ता-
वन्निश्चयाद्व्यवहारतः । सम्यक्त्वं स्याद्द्विधा तत्र निश्चयश्चैकधा यथा ॥ १० ॥ शुद्धस्यानुभवः साक्षाज्जीवस्योपाधिवर्जितः । सम्यक्त्वं निश्चयान्नूनमर्थादेकविधं

विपरीत होते हैं अशुभ होते हैं ॥६॥ इस सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थसूत्रमें वा मोक्षशास्त्रमें तत्त्वार्थश्रद्धान बतलाया है। "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" ऐसा सूत्र है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक पदार्थमें अलग अलग धर्म रहता है। उसी धर्मसे उस पदार्थका निश्चय किया जाता है। उस धर्मको तत्त्व कहते हैं। अर्थ शब्दका अर्थ निश्चय करना है, जिस पदार्थका निश्चय उसमें रहनेवाले धर्मसे कर लिया है उस पदार्थका स्वरूप कभी विपरीत नहीं हो सकता ऐसे यथार्थ पदार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। यह जो सम्यग्दर्शनका लक्षण बतलाया है वही प्रमाण है और वही श्रुतकेवलियोंने माना है ॥ ७ ॥ जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष ये सात तत्त्व कहलाते हैं इनका जो स्वरूप है वही पदार्थ कहलाता है तथा निश्चयनयसे उन पदार्थोंकी अनुभूति होना श्रद्धान कहलाता है ॥ ८ ॥ वह यथार्थ पदार्थोंका श्रद्धान वा अनुभूति अथवा सम्य-
ग्दर्शन सामान्य रीतिसे एक प्रकार है और विशेष विधिसे विशेष रीतिसे वही दो प्रकार है। उसके उत्पन्न होनेके कारण जो कि पर पदार्थोंके उपचारोंकी अपेक्षा रखते हैं दो प्रकारके हैं। उन कारणोंके दो भेद होनेसे सम्यग्दर्शनके भी दो भेद हो जाते हैं ॥ ९ ॥ उसके दो भेद निश्चय और व्यवहारसे होते हैं। इसीलिये सम्य-
ग्दर्शन भी निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शनके भेदसे दो प्रकारका कहलाता है। उसमेंसे निश्चय सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार है। निश्चय सम्यग्दर्शनके और भेद प्रभेद नहीं हैं ॥ १० ॥ जो बिना किसी उपाधिके बिना किसी उपचारके शुद्ध जीवका साक्षात् अनुभव होता है वही निश्चयनयसे निश्चयसम्यग्दर्शन कहलाता है। उस निश्चय सम्यग्दर्शनमें कोई उपाधि वा उपचार नहीं है इसलिये ही वह सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार-
का होता है। भावार्थ—अनुभव शब्दका अर्थ उपलब्ध होना प्राप्त होना वा जानना है। वह अनुभव मतिज्ञाना-

वरण और वीर्यान्तराय कर्मके क्षय वा क्षयोपशयसे होता है तथा शुद्ध जीवके अनुभवको रोकनेवाला दर्शन-मोहनीय तथा अनन्तानुबंधी कर्म है। इसलिये दर्शनमोहनीय कर्म और अनन्तानुबंधी कषायके उपशम क्षय वा क्षयोपशम होनेसे और इसके साथ ही मतिज्ञानावरण कर्म तथा वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम होनेसे शुद्ध आत्माका अनुभव होता है और साक्षात् वा प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार शुद्ध आत्माका साक्षात् अनुभव होना निश्चयसम्यग्दर्शन कहलाता है। संसारमें जितने भेद होते हैं वे सब उपाधिसे होते हैं वा उपचारसे होते हैं परन्तु यह शुद्ध आत्माका अनुभव विना किसी उपाधि वा उपचारके होता है इसलिये यह निश्चय सम्यग्दर्शन भेद रहित है एक ही प्रकार है। सो ही प्रकारान्तरसे दूसरे शास्त्रोंमें इसका लक्षण लिखा है। यथा—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः। स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥१॥

अर्थात्—शुद्ध आत्माका निश्चय हो जाना अनुभव हो जाना निश्चय सम्यग्दर्शन है। शुद्ध आत्माका ज्ञान हो जाना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और शुद्ध आत्मामें लीन हो जाना निश्चय सम्यक्चारित्र है। इसीलिये इन निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रसे कभी बंध नहीं होता है ॥ १ ॥ आगे व्यवहार सम्यग्दर्शनका लक्षण बतलाते हैं। जीव अजीव आदि सातों तत्त्वोंका नाश न होनेवाला चल मलिन रहित गाढ श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। भावार्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इनमें जीवतत्त्व ही मुख्यतत्त्व है अथवा यों भी कह सकते हैं कि तत्त्व एक जीव ही है। बाकी आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष आदि सब उसीके परिकर हैं इसलिये आत्मतत्त्वका यथार्थ श्रद्धान करना अथवा आत्मा आदि सातों तत्त्वोंका श्रद्धान करना ही व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है। यही व्यवहार सम्यग्दर्शनका लक्षण है। सो ही दूसरे शास्त्रोंमें लिखा है। यथा—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसि मधिगमो णाणं। रायादीपरिहरणं चरणं एसो हु मोक्खपहो ॥ १ ॥

लक्षणाद्यथा । जीवादि-सप्ततत्त्वाना श्रद्धान गाढमव्ययम् ॥१२॥ उक्तं च ।जीवादीसद्दहण सम्मत्तं तेसि मधिगमो णाणं । रायादीपरिहरण चरण एसो हु मोक्खपहो ॥२॥ यद्वा व्यवहृते वाच्य स्थूलं सम्यक्त्वलक्षणम् । आप्तागमधर्मादिश्रद्धानं दूषणोज्झितम् ॥ १३ ॥ उक्तं च । नास्ति चार्हत्परो देवो धर्मोनास्ति दयापरः ।

अर्थात्—जीवादिक सातों पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है उन्हीं जीवादिक सातों पदार्थों-को जानना सम्यग्ज्ञान है और राग द्वेषको दूर करना सम्यक्चारित्र है। ये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र ही मोक्षके मार्ग हैं वा मोक्षके कारण हैं ॥ १ ॥ अथवा व्यवहारके लिये स्थूल सम्यग्दर्शनका लक्षण इस प्रकार भी आचार्योंने बतलाया है कि आप्त, आप्तका कहा हुआ आगम और आप्तका कहा हुआ दयामय धर्म इन तीनोंका सब प्रकारके दोषोंसे रहित श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। भावार्थ-देव शास्त्र धर्मका वा धर्मको पालनेवाले गुरुका श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इन दोनों लक्षणोंमें केवल ऊपरसे देखनेकी ही भिन्नता है वास्तवमें कोई भेद नहीं है क्योंकि आगमके श्रद्धानमें आगममें कहे हुए सातों तत्त्वोंका श्रद्धान आ जाता है अथवा तत्त्वोंके श्रद्धानमें देव शास्त्र गुरुका श्रद्धान आ जाता है क्योंकि जीवतत्त्वके श्रद्धानमें जो चार घातिया रहित शुद्ध जीवका स्वरूप है वही आप्त है, उसी आप्तका कहा हुआ सातों तत्त्वोंको वर्णन करनेवाला आगम है और संवर वा निर्जराके स्वरूपमें दयामय अहिंसामय धर्मका स्वरूप वर्णन करना धर्म है। इसप्रकार विचार करनेसे व्यवहार सम्यग्दर्शनके दोनों ही लक्षण पृथक् पृथक् नहीं हैं किंतु दोनों ही एक हैं केवल बतलाने-का वा कथन करनेका प्रकार अलग अलग है और कुछ भेद नहीं है ॥१३॥ यही लक्षण अन्य शास्त्रोंमें भी लिखा है। यथा—

नास्ति चार्हत्परोदेवो धर्मो नास्ति दयापरः। तपः परं च नैर्ग्रन्थ्यमेतत्सम्यक्त्वलक्षणम् ॥

अर्थ—भगवान अरहंतदेवके समान अन्य कोई देव नहीं है, दयाके समान और कोई धर्म नहीं है और निर्ग्रंथ अवस्थाके समान और कोई उत्कृष्ट तप नहीं है अर्थात् तप करनेवाले गुरु निर्ग्रंथ ही होते हैं ऐसा मानना ही सम्यग्दर्शन है। यही सम्यग्दर्शनका लक्षण है ॥ १ ॥ यह सम्यग्दर्शन जिसप्रकार अपने लक्षणसे निश्चय और

तपः पर च नैर्ग्रन्थ्यमेतत्सम्यक्त्वलक्षणम् ॥३॥ हेतुतोपि द्विधोदिष्टं सम्यक्त्वं लक्षणाद्यथा । तन्निसर्गादधिगमादित्युक्तं पूर्वसूरिभिः ॥१४॥ निसर्गस्तु स्वभावोक्तिः सोपायोधिगमो मतः । अर्थोय शब्दमात्रत्वादर्थतः सूच्यतेऽधुना ॥ १५ ॥ नाम्ना मिथ्यात्वकर्मैकमस्ति सिद्धमनादितः । सम्यक्त्वोत्पत्तिवेलायां द्रव्यतस्तत्त्रिधा भवेत्

व्यवहार रूप दो प्रकार है उसी प्रकार यह सम्यग्दर्शन अपने उत्पन्न होनेके कारणोंके भेदसे भी दो प्रकार है। उसके उत्पन्न होनेके दो कारण हैं एक निसर्ग और दूसरा अधिगम। जो निसर्गसे उत्पन्न होता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो अधिगमसे उत्पन्न होता है उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं ऐसा पहले आचार्योंने निरूपण किया है ॥ १४ ॥ जो सम्यग्दर्शन स्वभावसे उत्पन्न होता है, अपने आप उत्पन्न होता है जो विना किसी उपदेशके उत्पन्न हो जाता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो बहिरंग उपदेश आदि उपायोंसे उत्पन्न होता है उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह अर्थ केवल शब्दमात्रसे बतलाया है। जो भेद वा जो अर्थ उन शब्दोंसे निकलता है वह बतलाया है। वास्तवमें उन दोनोंमें क्या भेद है तथा निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन किसको कहते हैं यह बात अब आगे बतलाते हैं ॥ १५ ॥ सम्यग्दर्शनरूप आत्माके गुणका घात करनेवाला एक मिथ्यात्व कर्म है। वह मिथ्यात्व कर्म अनादिकालसे एक ही प्रकारका चला आ रहा है। जब इस जीवको मिथ्यात्वकर्मके उपशम होनेसे प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तब वही एक प्रकारका मिथ्यात्वकर्म अलग अलग द्रव्यरूप तीन प्रकारका हो जाता है ॥ १६ ॥ अधःकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीन करण प्रसिद्ध हैं इन तीनों करणोंका समय अंतर्मुहूर्त है। यह जीव जिस अंतर्मुहूर्तमें इन तीनों करणोंको करता है उसी अंतर्मुहूर्तमें उस मिथ्यात्वकर्मके तीन भेद कर डालता है। ये भेद किसी दूसरे समयमें नहीं होते करणत्रय करते समय ही होते हैं। भावार्थ—सम्यक्त्वके उत्पन्न होनेमें पांच लब्धियां कारण हैं। क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, करण ये पांच लब्धियां हैं। सम्यक्त्व उत्पन्न होने योग्य कर्मोंके क्षयोपशम होनेको क्षायोपशमिक लब्धि कहते हैं। आत्माकी विशेष निर्मलताको विशुद्धि कहते हैं। योग्य उपदेशको देशना कहते हैं। पंचेन्द्रिय सेनी आदि योग्यता मिलनेको प्रायोग्य लब्धि कहते हैं। ये चार लब्धियां भव्य अभव्य

सबके साधारण हो सकती हैं। करणलब्धि असाधारण है । इसके होनेपर सम्यक्त्व वा चारित्र होता ही है। मोहनीय कर्मको उपशम करनेके लिए तीन प्रकारके जो विशुद्ध परिणाम होते हैं उनको करण कहते हैं, उसके तीन भेद हैं, अधःप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इन तीनोंका काल अंतर्मुहूर्त है और प्रत्येकका काल भी लघु अंतर्मुहूर्त है इनमें परिणामोंकी विशुद्धि बराबर बढती जाती है। जहांपर जीवोंके ऊपरके समयके परिणाम नीचेके समयके परिणामोंसे मिल जांय, ऊपर नीचेके परिणाम समान हों अथवा असमान भी हों ऐसे परिणामोंके होनेको अधःप्रवृत्तिकरण कहते हैं। इसमें सब जीवोंकी विशुद्धि एकसी बढती जाती है। अपूर्वकरणमें जो परिणाम विशुद्धताको लिए बढते रहते हैं वे ऐसे विशुद्ध होते हैं जो पहले कभी विशुद्ध नहीं हुए थे । प्रति समय असंख्यातगुणी विशुद्धता बढती जाती है। इसमें भिन्न समयके जीवोंके परिणाम तो कभी मिलते ही नहीं किंतु एक समयवर्ती जीवोंके परिणाम परस्पर मिल भी जांय और न भी मिलें। अनिवृत्तिकरणमें एक समयवर्ती सब जीवोंके परिणाम परस्पर मिल जाते हैं। इसमें अपूर्वकरणसे भी विशुद्धि और अधिक बढती जाती है। इस प्रकार निश्चित क्रमसे जो परिणामोंमें विशुद्धि बढती जाती है उसको करणलब्धि कहते हैं । जिस समय यह जीव इन तीनों करणोंको करता है उसी समय उन परिणामोंकी विशुद्धताके कारण मिथ्यात्वकर्मके तीन टुकडे हो जाते हैं। सो ही गोमट्टसारमें लिखा है–

जंतेण कोदव्वं वा पढमुवसम सम्मभाव जंतेण । मिच्छं दव्वं तु तिधा असंखगुणहीणदव्वकमा ॥

अर्थ–जिस कोदों नामके धान्योंको चक्कीमें पीसनेपर उसके तीन भाग हो जाते हैं चांवल अलग हो जाते हैं भूसी अलग हो जाती है और कण अलग हो जाते हैं उसी प्रकार उपशम सम्यग्दर्शनरूपी चक्कीके द्वारा पीसे जानेपर मिथ्यात्वकर्म भी तीन भागोंमें बट जाता है । पहले भागको मिथ्यात्वकर्म कहते हैं यह सबसे अधिक बलवान और अधिक होता है। दूसरा सम्यकमिथ्यात्व है यह उससे कम बलवान है और इसकी द्रव्यसंज्ञा भी

मिच्छादव्वं तु तिहा असंखगुणहीणदव्वकमा ॥४॥ त्रिधाभूतस्य तस्योच्चैरेवं मिथ्यात्वकर्मणः । भेदाश्चयरचतुष्कं च स्यादनन्तानुबन्धिनः ॥१८॥ एतत्समुदितं प्रोक्तं दर्शनं मोहसप्तकम् । प्रागुपशमसम्यक्त्वे तत्सप्तोपशमो भवेत् ॥१९॥ उक्तं च । पढमं पढमे णियदं पढमं विदियं च सव्वकालम्हि । खाइय सम्मत्तो पुण जच्छ जिणा केवलं तम्हि ॥५॥ निसर्गेऽधिगमे वापि सम्यक्त्वे तुल्यकारणम् । दृग्मोहसप्तकस्य स्यादुभयाभावसज्ञकः ॥२०॥ उक्तं च । सत्तण्हं उवसमदो उवसम-

उससे थोडी होती है । तीसरा सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व है । यह दूसरेसे भी कम बलवान और द्रव्यमें कम होता है। इसप्रकार अनादिकालसे चले आए मिथ्यात्वकर्मके तीन भेद हो जाते हैं ॥ १७ ॥ मिथ्यात्वकर्मके ऊपर लिखे तीन भेद तथा अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ चार भेद ये सब मिलकर सात भेद दर्शनमोहसप्तक (सम्यग्दर्शनको घात करनेवाली सात प्रकृतियां) कहलाता है । जब इस जीवको सबसे पहले उपशम सम्यग्दर्शन होता है तब इन सातों प्रकृतियोंका उपशम हो जाता है । भावार्थ–ये सातों प्रकृतियां सम्यग्दर्शनको घात करनेवाली हैं इन सातों प्रकृतियोंके उपशम होनेसे उपशम सम्यग्दर्शन होता है ॥ १९ ॥ सो ही लिखा है ।

पढमं पढमे णियदं पढमं विदियं च सव्वकालम्हि । खाइय सम्मत्तो पुण जच्छ जिणा केवलं तम्हि ॥

अर्थ—यह नियम है कि प्रथम अवस्थामें अर्थात् अनादि मिथ्यादृष्टी आत्मामें सबसे पहले प्रथमसम्यक्त्व अर्थात् औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है तथा प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन और द्वितीय क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन समस्त समयमें उत्पन्न हो सकता है । परन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन वहीं होता है जहां श्रुतकेवली अथवा भगवान सर्वज्ञदेव विद्यमान हों । भावार्थ–क्षायिक सम्यग्दर्शन केवली अथवा श्रुतकेवलीके चरणकमलोंके निकट ही होता है । दूसरी जगह नहीं होता ॥ ५ ॥ सम्यग्दर्शन चाहे निसर्गज हो और चाहे अधिगमज हो दोनों प्रकारके सम्यग्दर्शनोंमें सम्यग्दर्शनको घात करनेवाली ऊपर लिखी सातों प्रकृतियोंका अभाव होना समान कारण है । अर्थात् दोनों प्रकारके सम्यग्दर्शनोंमें इन सात प्रकृतियोंका अभाव होना ही चाहिये विना इन सातों प्रकृतियोंके अभाव हुए सम्यग्दर्शन कभी उत्पन्न नहीं हो सकता ॥२०॥ सो ही लिखा है–

सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मोखयादु खइओय । विदियकसाउदयादो असंजदो होदि सम्मोसो ।

सम्मो दुखयादुखइओय । विदिय कसाउदयादो असंजदो होदि सम्मो सो ॥ ६ ॥ किन्तु सत्यन्तरंगेस्मिन् हेतावुत्पद्यते च यत् । नैसर्गिकं हि सम्यक्त्वं विनोदेशादि हेतुना ॥२१॥ यत्पुनरचान्तरंगेस्मिन् सति हेतौ तथाविधि । उपदेशादिसापेक्ष स्यादधिगमसंज्ञकम् ॥ २२ ॥ बाह्य निमित्तमत्रास्ति केषांचिद्विम्बदर्शनम् । अर्ह-

अर्थ—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व ये दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियां तथा अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ इन सब सातों प्रकृतियोंके उपशम होनेसे औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है तथा इन सातों प्रकृतियों के क्षय होनेसे क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। इस अविरतसम्यग्दर्शन नामके चौथे गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरण कर्मका उदय होनेसे संयम नहीं होता इसीलिये इस गुणस्थानको असंयत सम्यग्दर्शन कहते हैं।

सातों प्रकृतियोंके उपशम वा क्षय होनेपर जो विना बाह्य कारणोंके सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है उसको नैसर्गिक वा निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥२१॥ तथा जो अंतरंग कारणोंके होनेपर अर्थात् सातों प्रकृतियोंका अभाव होनेपर जो उपदेश आदि वाह्य कारणोंकी अपेक्षा रखते हुए सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। भावार्थ—ऊपर लिखी सातों प्रकृतियोंका अभाव होना तो सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमें अंतरंग वा मुख्य कारण है। यह तो दोनों प्रकारके सम्यग्दर्शनोंमें होना ही चाहिये। इन प्रकृतियोंके अभाव होनेपर जो वाह्य उपदेश आदि कारणोंके विना ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो अंतरंग तथा बहिरंग दोनों कारणोंके मिलनेपर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। यही निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शनमें अंतर है ॥ २२ ॥

इस सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमें बाह्य निमित्त कारण अनेक हैं। किसीको भगवान अरहंतदेवके प्रतिबिंबोंके दर्शन करनेसे सम्यग्दर्शन होता है, किसीको भगवान अरहंतकी महिमा वा विभूति (समवशरणादिक विभूति) के देखनेसे सम्यग्दर्शन हो जाता है। सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमें किसीको धर्मश्रवण कारण पडता है, किन्हींको बडे बडे देवोंकी ऋद्धियोंका देखना ही कारण पडता है, किन्हींको जातिस्मरण (पहले भवका

तामितरेषां तु जिनमहिमदर्शनम् ॥२३॥ धर्मश्रवणमेकेषां यद्वा देवर्द्धिदर्शनम्। जातिस्मरणमेकेषां वेदनाभिभवस्तथा ॥२४॥ एवमित्यादि बहवो विद्यन्ते बाह्यहेतवः सम्यक्त्वप्रथमोत्पत्तावन्तरङ्गानतिक्रमात् ॥२५॥ अस्यैतल्लक्षणं नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः। जिनोक्तं श्रद्दधात्येव जीवाद्यर्थं यथास्थितम् ॥२६॥ उक्त च ।. णो इंदि- एसु विरदो णो-जीवे थावरे तसे चावि । जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥७॥ ननूल्लेखः किमेतावानस्ति किं वाऽपरोऽप्यतः। लक्ष्यते येन सद्दृष्टिर्लक्ष्णेनाञ्चितः पुमान् ॥२७॥ अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः। सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यैरच संलक्ष्यते सुदृक् ॥ २८ ॥ उक्तमाक्षुखज्ञानमनादेयं दृगात्मनः

स्मरण हो आना) ही कारण पडता है और किन्हींको नरकादिककी तीव्र वेदनाके कारण आत्माको तीव्र दुःख होना वा आत्माका तिरस्कार होना ही सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमें कारण पडता है ॥ २३-२४ ॥ प्रथम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होते समय मिथ्यात्व आदि सातों प्रकृतियोंके अभावरूप अंतरंग कारणोंके होनेपर ऊपर लिखे बाह्यकारण भी निमित्तकारण होते हैं तथा इनके सिवाय और और भी ऐसे ही अनेक कारण निमित्तकारण पड जाते हैं ॥ २५ ॥ इसप्रकारका सम्यग्दर्शन जिसके उत्पन्न हो गया है ऐसे इस सम्यग्दृष्टीका लक्षण निश्चयसे यही है कि वह भगवान सर्वज्ञदेवके द्वारा कहे हुए जीवादिक पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका अवश्य श्रद्धान करता है। भावार्थ–सम्यग्दृष्टी जीव भगवान अरहंतदेवके कहे हुए जीवादिक पदार्थोंका अवश्य श्रद्धान करता है, इसीलिए जीवादिक पदार्थोंके श्रद्धान करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥ २६ ॥ सो ही लिखा है।

णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि । जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥

अर्थात्–जो न तो इंद्रियोंसे विरक्त होता है और न त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग करता है जो केवल भगवान अरहंतदेवके कहे हुए पदार्थोंका श्रद्धान करता है उसको अविरत सम्यग्दृष्टी कहते हैं।

शंका–क्या सम्यग्दर्शनका यही एक लक्षण है ? अथवा और भी कोई ऐसा लक्षण है जिससे सुशोभित होनेवाला यह सम्यग्दृष्टी पुरुष पहचाना जा सके ॥ २७ ॥ समाधान–सम्यग्दृष्टीके और भी अनेक लक्षण हैं जो कि सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं अर्थात् जो सम्यग्दर्शनके साथ ही रहते हैं जो विना सम्यग्दर्शनके कभी नहीं रह सकते। ऐसे ही लक्षणोंसे वह सम्यग्दृष्टी पहचाना जाता है । भावार्थ–यहां पर सम्यग्दर्शनका आत्मभूत

नादेयं कर्मसर्वस्वं तद्वद्दृष्टोपलब्धितः ॥२९॥ सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम् । गोचरं वावधिस्वान्तपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥३०॥ न गोचरं मतिज्ञानश्रुत-ज्ञानयोर्मनाक् । नापि देशावधेस्तत्र विषयोनुपलब्धितः ॥३१॥ अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित्सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् । तद्दृग्मोहोदयान्मिथ्यास्वादरूपमनादितः ॥३२॥

लक्षण बतलाया है । आत्मभूत लक्षण वही होता है जो उसके सदा साथ रहता है जैसे अग्निका लक्षण उष्णता है । उष्णताके अभावमें अग्निका सर्वथा अभाव होता है तथा जहां जहां अग्नि होती है वहां वहां उष्णता अवश्य होती है इसीलिए उष्णता अग्निका लक्षण कहा जाता है । इसी प्रकार अनुक्रमसे आगे सम्यग्दर्शनके लक्षण बतलावेंगे ॥ २८ ॥ संसारमें जो इन्द्रियजन्य सुख है अथवा बाह्य पदार्थोंका जितना भी भौतिक ज्ञान है वह सब सम्यग्दृष्टीके लिए त्याज्य है ग्रहण करने योग्य नहीं है क्योंकि वह सब मिथ्या है । इन्द्रियजन्य सुख भी मिथ्या है और आत्मज्ञानसे भिन्न ज्ञान भी सब मिथ्या है इसीलिए वे दोनों ही त्याज्य हैं । इसीप्रकार उन इन्द्रिय-जन्य सुखोंमें वा आत्मज्ञानशून्य ज्ञानमें उन्मत्त करानेवाले जितने भी कर्म हैं जिनके उदय होनेसे यह जीव इंद्रिय, जन्य सुखोंको सुख मान लेता है और आत्मज्ञानशून्य मिथ्याज्ञानको ज्ञान मान लेता है वे सब कर्म भी त्याग करने योग्य हैं । यह बात प्रत्यक्ष भी देखी जाती है और अनुभवसे भी सिद्ध होती है ॥ २९ ॥ वास्तवमें विचार किया जाय तो मालूम होता है कि यह सम्यग्दर्शन अत्यंत सूक्ष्म है । शुद्ध आत्माका निर्मल गुण होनेके कारण अत्यंत सूक्ष्म है इसीलिए यह केवलज्ञानके गोचर है अथवा परमावधिज्ञान सर्वावधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानके गोचर है । भावार्थ—ये ही ज्ञान इसको जान सकते हैं और ज्ञान नहीं जान सकते ॥ ३० ॥ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों ही ज्ञान इस सम्यग्दर्शनको किंचिन्मात्र भी नहीं जान सकते और न देशावधिज्ञान ही इसको जान सकता है क्योंकि इन तीनों ज्ञानोंमें यह अत्यन्त निर्मल आत्माका गुण विषयभूत ही नहीं होता ॥ ३१ ॥ इसका भी कारण यह है कि यह सम्यग्दर्शन आत्माका एक (अनिर्वचनीय जो वचनसे कहा नहीं जा सके) निर्विकल्पक (जिसके लिए 'यह ऐसा है' इसप्रकारका विकल्प न हो सके) गुण है । वही सम्यग्दर्शन रूप गुण अनादिकालसे दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे विपरीत स्वरूप अनुभवमें आ रहा है । भावार्थ—दर्शनमोहनीय कर्म उस सम्यग्द-

दैवात्कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे । भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥३३॥ प्रयत्नमन्तरेणापि दृग्मोहोपशमो भवेत् । अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनति-

र्शनका अनुभव नहीं होने देता तथा वह दर्शनमोहनीय कर्मका उदय इतने ही से संतुष्ट नहीं होता किंतु उस गुणको विपरीतरूप अनुभव कराता है जिससे यह जीव इंद्रियजन्य सुखोंको सुख मान लेता है और आत्मज्ञान-शून्य भौतिकज्ञानको ज्ञान मान लेता है। ऐसा मान लेना ही मिथ्यात्व है और अनंत संसारका कारण है। जैसे दूध मीठा होता है परंतु कडवी तूंबीके निमित्तसे वही मीठा दूध कडवा हो जाता है इसीप्रकार दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे सम्यक्त्व भी मिथ्यात्वरूप परिणत हो जाता है ॥३२॥ जब यह जीव किसी समय दैवयोगसे अर्थात् विशेष पुण्यकर्मके उदयसे काललब्धि आदि पहले कही हुई पांचों लब्धियोंको प्राप्त होता है तथा इसका संसाररूपी समुद्र अत्यंत निकट रह जाता है और भव्यरूप भावका विपाक होने लगता है तब यह जीव दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम होनेसे सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है। भावार्थ—पुण्योदय दो प्रकारका है एक पापानुबंधी पुण्य और दूसरा पुण्यानुबंधी पुण्य। इनमेंसे पापानुबंधी पुण्य तो बेकार है। कुछ दिन सुख देकर फिर दुःखसागरमें डुबा देता है परंतु पुण्यानुबंधी पुण्य इस जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी योग्यता उत्पन्न कर सकता है। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेके बाद यह जीव अधिकसे अधिक अर्द्धपुद्गलपरावर्तन तक संसारमें परिभ्रमण कर सकता है इससे अधिक नहीं इसीलिये कहा गया है कि जिसका संसार परिभ्रमण अत्यन्त निकट रह गया है जो अत्यन्त निकट भव्य है उसीको सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। भव्य शब्दका अर्थ सम्यग्दर्शन प्रगट होनेकी योग्यता होना है। जबतक सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता तबतक तो वह योग्यता यों ही पडी रहती है कुछ काम नहीं करती। परंतु जब इस जीवके सम्यग्दर्शन प्रगट होनेका समय आता है तब वह योग्यता अपना काम करती है और उसी योग्यताके अनुसार वह जीव उस सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लेता है। यही उस जीवके भव्यत्व भावका विपाक वा फल है। यदि भव्यत्वभाव न होता तो सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता, जिस जीवके भव्यत्वभाव होता है उसी जीवके सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शनका प्रगट होना भव्यत्वभावका ही फल

क्रमात् ॥३४॥ अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृग्मोहोपशमाद् यथा । पुंसोऽवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पकैः ॥३५॥ सामान्याद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् । सत्तारूपं पारिणामि प्रदेशेषु परं चितः ॥ ३६ ॥ तत्रोल्लिखस्तमोनाशे तमोरेरिव रश्मिभिः । दिशः प्रसादमासेदुः सर्वतो विमलाशयाः ॥ ३७ ॥ दृग्मोहोप-

है । यह सब सामग्री सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके लिये कारण है ॥३३॥ तदनंतर विना किसी प्रयत्नके अन्तर्मुहूर्त-के लिये दर्शन मोहनीयकर्मका उपशम अपने आप हो जाता है अर्थात् उपशम सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है । उस समयमें भी गुणश्रेणी निर्जराका उल्लंघन नहीं होता अर्थात् असंख्यात गुणी निर्जरा बराबर होती चली जाती है ॥ ३४ ॥ दर्शन मोहनीय कर्मके उपशम होनेसे जो उपशम सम्यग्दर्शन प्रगट होता है वह आत्माकी एक अवस्था विशेष है । उसके पहले आत्माकी अवस्था मिथ्यात्वरूप थी अर्थात् स्वपर भेद विज्ञान वा निजात्म-ज्ञानसे रहित थी और अब सम्यग्दर्शनके प्रकट होनेसे वह मिथ्यात्वरूप अवस्था बदल कर सम्यक्त्वरूप हो जाती है । आत्मज्ञानसे सुशोभित हो जाती है । इतना होनेपर भी उसमें चैतन्यके विकल्पोंसे कोई आकार कल्पना नहीं होती है अर्थात् वह सम्यग्दर्शन ज्ञानके समान साकार वा सविकल्पक नहीं होता है किंतु निराकार वा निर्विकल्प ही बना रहता है ॥ ३५ ॥ वह सम्यग्दर्शन निर्विकल्पक सामान्य रीतिसे भी निर्विकल्प है और विशेष रीतिसे भी निर्विकल्पक है । जिस प्रकार पदार्थोंका सामान्य ग्रहण दर्शनरूप निर्विकल्पक है और विशेष ग्रहण ज्ञानरूप सविकल्पक है उस प्रकार सम्यग्दर्शन उभय रूप नहीं है किंतु वह सामान्य विशेष दोनों प्रकारसे निर्विकल्पक है । दोनों प्रकारसे निर्विकल्प होनेपर भी वह सत्तारूप है अभावरूप नहीं है तथा आत्माके प्रदेशोंमें परिणाम उत्पन्न करनेवाला है । भावार्थ—वह सम्यग्दर्शन यों ही पडा रहनेवाला निर्विकल्पक गुण नहीं है किंतु आत्माके प्रदेशोंमें परिणमन उत्पन्न कर देता है अर्थात् आत्माके प्रदेशोंकी अवस्था ही बदल देता है । वह सम्य-ग्दर्शन आत्माके प्रदेशोंमें क्या अवस्था बदल देता है उसीको आगे दिखलाते हैं ॥ ३६ ॥ जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे अंधकारके नाश होनेपर सब दिशाएं चारों ओरसे अत्यन्त निर्मल और प्रसन्न हो जाती हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेसे दर्शनमोहनीय कर्मके नाश होनेपर आत्माके समस्त प्रदेशोंमें एक प्रकारकी निर्मलता

और शुद्धता प्रगट हो जाती है उस शुद्धताके कारण न तो द्रव्यकर्मोंका बंध होता है, न भावकर्मोंका बंध होता है और न नोकर्मोंका बंध होता है अर्थात् उस शुद्धताके कारण तीनों प्रकारके बंधका अभाव हो जाता है। भावार्थ—सम्यग्दर्शन आत्माका एक गुण है और वह प्रकाशरूप है। जिस प्रकार अंधेरेमें अपने परायेका कुछ ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार विना सम्यग्दर्शनके अपना (आत्माका) और पराया शरीर धन आदि परद्रव्योंका ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार सूर्यके निकलते ही अपने परायेका स्पष्ट ज्ञान होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनरूपी सूर्यके प्रगट होते ही स्वपरभेद विज्ञान स्पष्ट हो जाता है जिससे यह आत्मा संसारमें परिभ्रमण करानेवाले भौतिक पदार्थोंको आत्मासे भिन्न पराया समझकर छोडनेका प्रयत्न करने लगता है और आत्माके सम्यग्दर्शनादि गुणोंको अपने आत्माका समझकर ग्रहण करने लगता है ॥ ३७-३८ ॥ अथवा इसका दूसरा उदाहरण यह भी है कि जिस प्रकार मद्य अथवा धतूरेका विष उतर जाता है तो उस विषके कारण जो मूर्च्छा वा वेहोशी थी वह दूर हो जाती है तथा उस मूर्च्छाके दूर होनेसे वह मनुष्य सावधान और नीरोग हो जाता है उसी प्रकार दर्शनमोहनीय कर्मके उदय होनेसे इस जीवको जो मूर्च्छा रहा करती थी जिस मूर्च्छाके कारण यह जीव पुत्र मित्र कलत्रादिक परपदार्थोंको ही अपना मानकर अज्ञानी बना हुआ था तथा जो चित्तकी अस्थिरता रहती थी जिसके कारण इस जीवका हृदय प्रत्येक पदार्थमें मोह करता हुआ डवांडोल रहता था और उसी दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे प्रत्येक पदार्थमें जो भ्रम बना रहता था किसी भी पदार्थका निश्चय नहीं कर सकता था वह सब मूर्च्छा, चित्तकी अस्थिरता और भ्रम आदि दर्शनमोहनीयके उपशम होनेपर सब शांत हो जाता है। भावार्थ—मूर्च्छा चित्तकी अस्थिरता और भ्रम आदि रोग सब दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे होते थे जब दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम होता है तब मूर्च्छा आदि सब रोग अपने आप नष्ट हो जाते हैं और उन सब रोगोंके नाश होनेसे यह जीव सदाके लिये नीरोग और स्वस्थ हो जाता है ॥ ३९-४० ॥

मर्दिछतः ॥ ३९ ॥ दृग्मोहस्योदयान्मूर्च्छावैचित्र्यं वा तथा भ्रमः । प्रशान्ते तस्य मूर्च्छाया नाशाज्जीवो निरामयः ॥ ४० ॥ श्रद्धानादिगुणाः बाह्यं लक्षं सम्यग्दृगात्मनः । न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्यायाः ॥ ४१ ॥ अपि चात्मानुभूतिश्च ज्ञान ज्ञानस्यपर्यायात् । अर्थाद्ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्बाह्यलक्षणम् ॥ ४२ ॥ यथोन्नाघो हि दुर्ज्ञेयो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः । वाङ्मनःकायचेष्टानामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥ ४३ ॥ नन्वात्मानुभवः साक्षात्सम्यक्त्वं वस्तुतःस्वयम् । सर्वतः

ऊपर यह लिख चुके हैं कि जीवादिक पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है अथवा देव शास्त्र गुरुका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है परंतु ये श्रद्धानादिक गुण सम्यग्दर्शनके बाह्य लक्षण हैं क्योंकि वे सम्यग्दर्शनरूप नहीं हैं किंतु ज्ञानकी पर्यायें हैं। भावार्थ—ज्ञानका अर्थ जानना है और श्रद्धानका अर्थ मानना है । जानना और मानना ये दोनों एक हैं इसलिये श्रद्धान ज्ञानकी ही पर्याय मानी जाती है और इसीलिये वह सम्यग्दर्शनका यथार्थ लक्षण नहीं हो सकता यदि उसे लक्षण माना जायगा तो बाह्य लक्षण मान सकते हैं, यथार्थ नहीं ॥४१॥ इसी प्रकार स्वात्मानुभूति (अपने आत्माका अनुभव होना) भी सम्यग्दर्शनका लक्षण माना जाता है परंतु वह स्वात्मानुभूति अथवा अपने शुद्ध आत्माका अनुभव ज्ञान है क्योंकि अनुभव होना अथवा अनुभूति होना ज्ञानकी ही पर्याय है। इसलिये वह ज्ञानस्वरूप ही है तथा जो ज्ञानस्वरूप है वह सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता न सम्यग्दर्शनका लक्षण हो सकता है। यदि फिर भी उसको सम्यग्दर्शनका लक्षण माना जायगा तो वह बाह्य लक्षण ही होगा यथार्थ लक्षण नहीं हो सकता ॥ ४२ ॥ वास्तवमें देखा जाय तो जिस प्रकार किसी नीरोग पुरुषकी नीरोगताका जानना अत्यन्त कठिन है तथापि मनकी क्रियाओंमें उत्साह होना अथवा शरीरकी क्रियाओंमें उत्साह होना आदि स्थूल गुणरूप लक्षणोंसे उस नीरोगताका ज्ञान हो जाता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन अत्यन्त सूक्ष्म गुण है और वह निर्विकल्पक है तथापि श्रद्धानादिक बाह्य लक्षणोंसे ही वह पहचाना जाता है ॥ ४३ ॥

शंका—यहांपर कोई शंका करता हुआ कहता है कि वास्तवमें देखा जाय तो आत्माका अनुभव होना ही स्वयं साक्षात् सम्यग्दर्शन है क्योंकि वह आत्माका अनुभव मिथ्यादृष्टीके किसी भी देशमें अथवा किसी भी कालमें

सर्वकालस्य मिथ्यादृष्टेरसम्भवात्॥ ४४ ॥ नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि सत्सामान्यविशेषयोः। अप्यनाकारसाकारलिङ्गयोस्तथयोर्न्यते ॥ ४५ ॥ आकारोऽर्थविकल्पःस्यादर्थः स्वपरगोचरः। सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम्॥ ४६ ॥ नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता। शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥४७॥

नहीं होता। मिथ्यादृष्टीके आत्माका अनुभव नितांत असंभव है, इसलिए आत्माका अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन है अथवा यही सम्यग्दर्शनका लक्षण है ॥ ४४ ॥

समाधान--परंतु ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि जिसने ऐसी वा यह शंका की है वह सामान्य और विशेषके भेदसे सर्वथा अनभिज्ञ है अर्थात् सामान्य और विशेषमें कुछ भेद नहीं जानता और न वह अनाकार तथा साकारमें कुछ भेद समझता है। भावार्थ--आत्मानुभव साकार वा सविकल्परूप है क्योंकि वह ज्ञानका अंश है और सम्यग्दर्शन निर्विकल्प गुण है और इसीलिए अनाकार है। इसलिए जो पुरुष आत्मानुभवको सम्यग्दर्शन कहता है वह साकार अनाकारमें निर्विकल्पक सविकल्पमें अथवा सामान्य विशेषमें कुछ भेद नहीं समझता आगे उन्हीं सबके भेदोंको बतलाते हैं ॥ ४५ ॥ यह आत्मा है, यह घडा है, यह वस्त्र है, यह मकान है, इसप्रकार जो पदार्थोंमें विकल्प होता है उसको आकार कहते हैं। पदार्थ दो प्रकारके हैं स्व और पर अर्थात् ज्ञान वा निजात्मा स्वपदार्थ है और पुद्गलादिक परपदार्थ हैं। उन पदार्थोंमें जो विकल्प होता है यह आत्मा है, यह पुद्गल है इत्यादि रूप जो विकल्प होता है उसको उपयोग कहते हैं। यही विकल्परूप उपयोग ज्ञान वा ज्ञानका लक्षण कहलाता है। भावार्थ--स्वपर पदार्थोंमें जो विकल्परूप उपयोग होता है उसीको ज्ञानका लक्षण कहते हैं और वह साकार होता है ॥ ४६ ॥ जिन पदार्थोंमें 'यह आत्मा है, यह पुद्गल है' इत्यादिरूप आकार नहीं होता उसको अनाकार कहते हैं। यह अनाकार ही निर्विकल्पक कहलाता है। आकार वा विकल्परूप होना ज्ञानका लक्षण है और ज्ञानको छोडकर बाकीके जितने गुण हैं उन समस्त अनंत गुणोंका लक्षण अनाकार वा निर्विकल्पता ही है। भावार्थ--'यह आत्मा है, यह पुद्गल है' इसप्रकारका विकल्पक ज्ञानमें ही पडता है इसलिए ज्ञान तो साकार वा सविकल्पक है और बाकीके जितने अनंत गुण हैं वे सब निर्विकल्पक वा निराकार हैं। इस हिसाबसे सम्यग्दर्शन भी निर्वि-

नन्वस्ति वास्तवं सर्वं सामान्यं च विशेषवत् । तत्किंचित्स्यादनाकारं किंचित्साकारमेव तत् ॥ ४८ ॥ सत्यं सामान्यवद्ज्ञानमर्थाद्वास्ति विशेषवत् । यत्सामान्य-मनाकारं साकारं यद्विशेषभाक् ॥ ४९ ॥ ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्तसल्लक्षणांकिताः । सामान्याद्वा विशेषाद्वा सन्त्यनाकारलक्षणाः ॥ ५० ॥ ततोवक्तुमशक्यत्वा-

कल्प और निराकार है ॥ ४७ ॥ शंका–शंकाकार कहता है कि संसारमें जितने पदार्थ हैं वे सब सामान्य और विशेषरूप हैं कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसमें सामान्य और विशेष दोनों धर्म न रहते हों फिर क्या कारण है कि कुछ गुण तो अनाकार हो जाते हैं और कुछ गुण साकार हो जाते हैं ॥ ४८ ॥ समाधान–शंकाकारका यह कहना ठीक है कि ज्ञान सामान्य धर्मसहित भी है और सामान्य धर्मसहित होनेके कारण विशेष धर्मसहित भी है, परंतु उसमें इतनी विशेषता है कि सामान्य धर्म रहनेके कारण वह अनाकार कहलाता है और विशेष धर्म रहनेके कारण वह साकार कहलाता है। भावार्थ–ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है। इन्द्रिय पदार्थोंके संबंध होने पर जो पदार्थोंके सामान्य धर्मका ग्रहण होता है उसको दर्शन कहते हैं, यह दर्शन अनाकार है और निर्विकल्परूप है। तद-नंतर उसी ज्ञानमें "जो यह घट है पट है" इत्यादि रूप विकल्प होता है उसीको ज्ञान कहते हैं इसीलिये ज्ञान सवि-कल्पक और साकार कहा जाता है। इसीप्रकार ज्ञान सब अवस्थाओंमें साकार और सविकल्पक होता है और बाकीके सभी अनंतगुण दर्शनके समान निराकार और निर्विकल्पक होते हैं। ज्ञान गुणमें प्रत्येक पदार्थके विशेष्य विशेषण संबंध प्रगट होते हैं इसीलिये वह साकार है और बाकीके गुण सब निराकार हैं क्योंकि उनमें किसी भी पदार्थोंको वा किसी भी संबंधको प्रगट करनेकी योग्यता नहीं है। यहां तक कि उसमें अपने स्वरूपके प्रगट करनेकी भी योग्यता नहीं है इसीलिये वे सब निराकार हैं ॥४९॥ ज्ञानको छोडकर बाकीके जितने गुण हैं वे सब सत्‌रूप हैं, सत्तामात्र है, अस्तित्वरूप है। ज्ञानको छोडकर बाकीके समस्त गुणोंको चाहे सामान्य रीतिसे ग्रहण किया जाय और चाहे विशेष रीतिसे ग्रहण किया जाय दोनों ही प्रकारसे वे सब अनाकार ही प्रतीत होते हैं। भावार्थ–जिसप्रकार ज्ञान सामान्यसे निराकार व निर्विकल्पक है और विशेषतासे साकार व सविकल्पक है उस प्रकारसे ज्ञानको छोडकर बाकीके गुण साकार व सविकल्प नहीं हैं किंतु सामान्य विशेष दोनों रीतिसे निराकार

न्निर्विकल्पस्य वस्तुनः । तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥ ५१ ॥ स्वापूर्वार्थद्वयोरेष ग्राहकं ज्ञानमेकशः । नात्र ज्ञानमपूर्वार्थो ज्ञानं ज्ञाने परः परः ॥ ५२ ॥ स्वार्थोहि ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमेकं गुणश्चितः । परार्थाः स्वात्मसम्बन्धिगुणाः शेषाः सुखादयः ॥ ५३ ॥ तथथा सुखदुःखादिभावो जीवगुणःस्वयम् । ज्ञानं तद्वेदकं

और निर्विकल्पक हैं ॥ ५० ॥ इसी कारण निर्विकल्पक पदार्थ कभी कहनेमें नहीं आ सकते अर्थात् उनको कोई कह नहीं सकता । वे सब वचनके अगोचर हैं तथापि ज्ञानके द्वारा उनको अलगकर उनका निरूपण किया जाता है । भावार्थ निर्विकल्पक पदार्थोंको अलग अलग जाननेका साधन ज्ञान ही है ज्ञानके सिवाय वे और किसी प्रकार वा किसीके द्वारा नहीं जाने जा सकते ॥५१॥ ज्ञान अपने स्वरूपको भी ग्रहण करता है और अपूर्व परपदार्थोंके स्वरूपको भी ग्रहण करता है तथापि वह ज्ञान अपूर्व परपदार्थोंको ग्रहण करते समय परपदार्थरूप नहीं हो जाता ज्ञान ज्ञान ही रहता है और परपदार्थ सदा परपदार्थ ही रहता है । भावार्थ–जिस प्रकार दीपक अपने स्वरूपको भी प्रकाशित करता है और अन्य पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है तथा अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करते समय वह अन्य पदार्थरूप नहीं हो जाता किंतु सबसे भिन्न अपने दीपक स्वरूपमें ही रहता है । उसी प्रकार ज्ञान अपने स्वरूपको भी प्रकाशित करता है और अन्य परपदार्थोंको प्रकाशित करता है तथा अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करते समय वह अन्य पदार्थरूप नहीं हो जाता किंतु अपने ही स्वरूपरूप रहता है ॥५२॥ ऊपर कह चुके हैं कि ज्ञान स्वार्थ पदार्थ दोनोंको जानता है । अब यहां पर यह बतलाते हैं कि स्वार्थ क्या है और पदार्थ क्या है । ज्ञान आत्माका एक गुण है । वह आत्माका ज्ञान गुण ही ज्ञानका स्वार्थ है तथा उस ज्ञानसे संबंध रखनेवाले बाकीके सुखादि गुण हैं वे सब ज्ञानके लिये परार्थ है । भावार्थ ज्ञान अपने स्वरूपको भी जानता है और परपदार्थोंको भी जानता है । इसप्रकार ज्ञान स्व पर दोनों पदार्थोंको जानता है । संसारमें जितने परपदार्थ हैं वे सब दो प्रकारके हैं, एक ऐसे जो ज्ञानसे सर्वथा भिन्न हैं और दूसरे ऐसे जो ज्ञानसे भिन्न होनेपर भी सर्वथा भिन्न नहीं हैं किंतु ज्ञानसे अविनाभावी तादात्म्य संबंध रखते हैं । घट पटादिक पदार्थ ज्ञानसे सर्वथा भिन्न हैं परंतु आत्माके सुख वीर्य सम्यक्त्व आदि गुण ज्ञानसे भिन्न होनेपर भी ज्ञानके साथ अविनाभावी तादात्म्य संबंध रखते हैं इसप्रकार ज्ञानके

नूनं नार्थादृज्ञानं सुखादिमत् ॥ ५४ ॥ अपि सन्ति गुणाः सम्यक् श्रद्धानादिविकल्पकाः । उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनोच्यते ॥ ५५ ॥ तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतयः । चरण च यथाम्नायादर्थात्तत्त्वार्थगोचरम् ॥ ५६ ॥ तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा । प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकारश्चरण क्रिया

लिए स्वयं ज्ञान स्वार्थ है और सुखादिक अन्य समस्त गुण परार्थ हैं ॥५३॥ यही बात आगे स्पष्ट करते हैं। सुख दुःखादिक जितने आत्माके भाव हैं वे सब स्वयं जीवके गुण हैं और ज्ञान उन सबको निश्चयसे जानता है, परंतु उन आत्माके समस्त गुणोंको वा समस्त भावोंको जानता हुआ भी वह ज्ञान उन सुखादि गुणोंरूप नहीं हो जाता किंतु उन सबसे भिन्न ही रहता है। भावार्थ—आत्मामें अनंत गुण हैं और वे सब भिन्न भिन्न हैं। ज्ञान भी सबसे भिन्न है परंतु इतना विशेष है कि ज्ञान अपनेको जानता हुआ भी अन्य सब गुणोंको जानता है, परंतु अन्य गुण न तो अपनेको जानते हैं और न किसी अन्य पदार्थोंको जानते हैं इसीलिए वे निर्विकल्पक और निराकार हैं और ज्ञानके द्वारा जाने जाते हैं। इन सब गुणोंमें सम्यग्दर्शन भी आत्माका एक गुण है वह अन्य गुणोंके समान निर्विकल्पक और निराकार है और ज्ञानके साथ अविनाभावी तादात्म्य संबंध रखता है तथापि ज्ञानके द्वारा जाना जाता है। आगे उसी सम्यग्दर्शनको दिखलानेके लिए कहते हैं ॥ ५४ ॥

उस ज्ञानके साथ अविनाभावी और तादात्म्य संबंध रखनेवाले किंतु ज्ञानसे भिन्न ऐसे यथार्थ श्रद्धान आदि और भी बहुतसे गुण हैं। अब आगे उन्हीं श्रद्धान आदि गुणोंका उद्देश लक्षण और परीक्षा आदि बतलाते हैं ॥ ५५ ॥ नाममात्र कथन करनेको उद्देश कहते हैं। श्रद्धान श्रद्धा रुचि प्रतीति और आचरण ये सब श्रद्धानके ही पर्यायवाचक शब्द हैं वा श्रद्धानके ही नाम हैं इसलिए इनके कहनेको ही उद्देश कहते हैं परंतु ये श्रद्धानादिक सब शास्त्रोंकी आज्ञानुसार यथार्थ तत्त्वोंके होने चाहिए। भावार्थ—शास्त्रोंकी आज्ञानुसार यथार्थ तत्त्वोंका श्रद्धान करना रुचि करना प्रतीति करना और तद्रूप आचरण करना आदि सब एकार्थवाचक हैं, श्रद्धानके ही पर्यायवाची शब्द हैं। इसलिए इन सबको कहना श्रद्धानादिक गुणोंका उद्देश है ॥ ५६ ॥ अपनी बुद्धिका तत्त्वोंके सन्मुख होना, उनका विश्वास करनेके लिए बुद्धिका उद्यत होना श्रद्धा है। उन तत्त्वोंमें आत्मीय भावोंका

॥५७॥ अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञानं ज्ञानस्यैवार्थपर्ययात् । क्रिया वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु ॥ ५८ ॥ व्यस्ताश्चैते समस्ता वा सद्दृष्टेर्लक्षणं न वा । सपक्षे वा विपक्षे वा सन्ति यद्वा न सन्ति वा ॥ ५९ ॥ स्वानुभूतिसनाथाश्चेत्सन्ति श्रद्धादयो गुणाः । स्वानुभूतिं विनाभासाः नार्याच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥ ६० ॥ तस्माच्छ्रद्धादयः

होना उन तत्त्वस्वरूप अपनी बुद्धिका होना रुचि है। 'यह इसीप्रकार है' इसप्रकार विश्वास करना प्रतीति है और उसके अनुकूल क्रिया करना आचरण है। भावार्थ—श्रद्धा रुचि प्रतीति और आचरण ये सब श्रद्धानके ही पर्याय-वाचक शब्द हैं ॥ ५७ ॥ श्रद्धा रुचि प्रतीति क्रिया इन चारोंमेंसे पहलेके श्रद्धा रुचि प्रतीति ये तीन ज्ञान ही हैं क्योंकि ज्ञानकी ही पर्याय हैं तथा शुभ कार्योंमें मन वचन कायका व्यापार होना आचरण है ॥ ५८ ॥ श्रद्धा रुचि प्रतीति और आचरण ये चारों ही अलग अलग अथवा मिले हुए सम्यग्दृष्टीके लक्षण हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं। यदि हों तो चारों ही सपक्षमें हो सकते हैं अथवा चारों ही विपक्षमें हो सकते हैं। यदि न हों तो नहीं भी हो सकते हैं। भावार्थ—ये श्रद्धादिक सम्यग्दृष्टीके भी हो सकते हैं, मिथ्यादृष्टीके भी हो सकते हैं। भिन्न भिन्न भी हो सकते हैं और मिले हुए सब भी हो सकते हैं ॥ ५९ ॥ यदि ये ही श्रद्धादिक गुण स्वानुभूतिके होनेपर हों तो वे सब सम्यग्दर्शनके गुण कहलाते हैं। यदि वे विना स्वानुभूतिके हों तो वे गुण नहीं कहलाते किंतु गुणाभास कहलाते हैं। इसका भी अभिप्राय यह है कि विना स्वानुभूतिके श्रद्धा आदिक सम्यग्दर्शनके गुण नहीं हो सकते ॥६०॥ अतएव यह निश्चित हुआ कि यदि श्रद्धादिक गुण स्वानुभूतिके साथ हों तो उन्हींको सम्यग्दर्शन कह देते हैं। यदि वे मिथ्याश्रद्धानके साथ हों तो वे सम्यग्दर्शन नहीं कहलाते किंतु श्रद्धाभास सम्यक्त्वाभास अथवा मिथ्यात्वरूप कहलाते हैं। भावार्थ—पहले कह चुके हैं कि स्वानुभूति सम्यग्दर्शनके साथ रहनेवाला अविनाभावी गुण है इसीलिए स्वानुभूतिको ही सम्यग्दर्शन कहते हैं, इसीप्रकार यदि श्रद्धा आदि गुण भी स्वानुभूतिके साथ हों तो उनको भी सम्यग्दर्शन ही समझना चाहिए। इसीलिए पदार्थोंके यथार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। यदि वे श्रद्धा आदि गुण मिथ्यादर्शनके साथ हों तो उनको मिथ्यात्व ही कहते हैं फिर उनको सम्यग्दर्शन नहीं कहते ॥ ६१ ॥ यदि श्रद्धान आदि गुण न तो सम्यग्दर्शनके साथ हों और न मिथ्यादर्शनके

सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिवत् । न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवञ्चितः ॥ ६१ ॥ सम्यग्मिथ्याविशेषाभ्यां विना श्रद्धादिमात्रकाः । सपक्षवद्विपक्षेपि वृत्तित्वाद् व्यभिचारिणः ॥ ६२ ॥ अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्दृष्टिश्रद्धादयो यतः । मिथ्याश्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो यतः ॥६३ ॥ ननु तत्त्वरुचिःश्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात् । सम्यग्मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तु कुतोऽर्थतः ॥६४॥ नैवं यतः समव्याप्तिः श्रद्धास्वानुभवद्वयोः । नूनं नानुपलब्धार्थे श्रद्धा खरविषाणवत् ॥६५॥ विना

साथ हों दोनोंमेंसे किसीके साथ न हों तो वे सपक्षमें भी (सम्यग्दर्शनके साथ भी) रह सकते हैं तथा सपक्षके समान विपक्षमें भी (मिथ्यादर्शनके साथ भी) रह सकते हैं । दोनोंमें रह सकते हैं इसलिए वे व्यभिचारी हैं। भावार्थ–यदि वे सम्यक्त्व वा मिथ्यात्वके साथ न हों अकेले ही हों तो भी वे व्यभिचारी वा सदोष हैं॥६२॥ इससे यह सिद्ध हुआ कि यदि श्रद्धादिक गुण सम्यग्दृष्टीके गुण हों सम्यग्दर्शनके साथ हों तब तो वे श्रद्धादिक कहलाते हैं यदि वे श्रद्धादिक मिथ्यात्वके साथ हों तो फिर वे श्रद्धादिक नहीं कहलाते किंतु मिथ्यात्वके साथ होनेसे मिथ्या कहलाते हैं ॥ ६३ ॥

आगे शंकाकार इसमें शंका करता है कि तत्त्वोंमें रुचि होनेको श्रद्धा कहते हैं क्योंकि श्रद्धाका लक्षण श्रद्धान करना ही है फिर वह सम्यग्दर्शन तथा मिथ्यादर्शनके साथ होनेसे दो प्रकारकी किस प्रकार हो जाती है। भावार्थ—जब श्रद्धा करनेको ही श्रद्धा कहते हैं तो फिर वह मिथ्याश्रद्धा और सम्यक्श्रद्धाके भेदसे दो प्रकारकी किस प्रकार हो जाती है॥६४॥ समाधान–कवि कहते हैं कि शंकाकारकी यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि श्रद्धा और स्वानुभूति दोनोंकी समव्याप्ति है अर्थात् दोनों साथ ही रहती हैं। जहां जहां स्वानुभूति होती है वहीं वहीं श्रद्धा होती है जहां स्वानुभूति नहीं होती वहां श्रद्धा भी नहीं होती, इसलिए गधेके सींगके समान अनुपलब्ध पदार्थमें श्रद्धा कभी नहीं रह सकती। भावार्थ–विना स्वानुभूतिके श्रद्धा कभी नहीं रह सकती ॥ ६५ ॥ स्वानुभूतिके विना होनेवाली श्रद्धा केवल कहने सुननेमात्रकी श्रद्धा है अर्थात् वास्तवमें श्रद्धा नहीं है । यद्यपि वह तत्त्वार्थके अनुकूल है तथापि स्वानुभूतिकी उपलब्धि न होनेसे वह श्रद्धा श्रद्धा नहीं कही जा सकती । भावार्थ–श्रद्धा आत्माका गुण है यदि वह विना आत्मानुभूतिके हो तो उसका आत्मद्रव्यरूप आधार उपलब्ध न होनेसे आत्म-

स्वात्मानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः । तत्त्वार्थानुगतार्थ्यार्थाच्छूद्ध नानुपलब्धितः ॥ ६६ ॥ लब्धिः स्यादविशेषाद्धि सदसतोरुन्मत्तवत् । नोपलब्धिरिहाख्याता तच्छ्रद्धा-
नुपलब्धिवत् ॥ ६७ ॥ ततोस्ति यौगिकी रुढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम् । अर्थादप्यविरुद्धं स्यात्सूक्तं स्वात्मानुभूतिवत् ॥ ६८ ॥ गुणाश्चान्ये प्रसिद्धा ये
सद्दृष्टेः प्रशमादयः । बहिर्दृष्ट्या यथा स्वं ते सन्ति सम्यक्त्वलक्षणम् ॥६९॥ तत्राद्यःप्रशमो नाम संवेगश्च गुणः क्रमात् । अनुकम्पा तथास्तिक्यं वदंति तल्लक्षणं

तत्त्वका अनुभव न होनेसे वह वास्तविक श्रद्धा आत्मानुभूतिके साथ होनेवाली श्रद्धा प्रगट ही नहीं हो सकती, इसीलिए उस श्रद्धाको सम्यग्दर्शन नहीं कह सकते ॥ ६६ ॥ उन्मत्त पुरुषके समान सत् वा असत् पदार्थमें विना किसी विशेषताके साथ होनेवाली लब्धि उपलब्धि नहीं कहला सकती वह बाकीकी अन्य अनुपलब्धियोंके समान अनुपलब्धिरूप ही समझी जाती है। भावार्थ—सत्को सत्रूप अनुभव करना और असत्को असत्रूप अनुभव करना यथार्थ पदार्थकी उपलब्धि है। यदि वह उपलब्धि सत् असत्में सामान्य हो उन्मत्तके समान विशेषता रहित वा मिथ्यारूप हो तो उसे अनुपलब्धि ही समझना चाहिए ॥ ६७ ॥ अतएव चाहे तो यौगिक रीतिसे समझिये और चाहे रूढिसे समझिये सब तरहसे श्रद्धा ही सम्यग्दर्शनका लक्षण सिद्ध होता है इसलिए कहना चाहिए कि "जो श्रद्धा स्वानुभूतिके साथ होती है वही श्रद्धा कहलाती है" यह जो पहले कह चुके हैं वही सर्वथा अविरुद्ध और सर्वथा सत्य है ॥ ६८ ॥

इस श्रद्धाके सिवाय और भी जो प्रशम संवेग आदि सम्यग्दृष्टीके प्रसिद्ध गुण हैं वे भी अपनी अपनी योग्यतानुसार सम्यग्दर्शनके बाह्य लक्षण हैं। भावार्थ—यदि वे स्वानुभूतिके साथ हों तो वे सम्यग्दर्शनरूप हैं अथवा सम्यग्दर्शनके लक्षण हैं। यदि वे स्वानुभूतिके साथ न हों तो सम्यग्दर्शनके लक्षण नहीं हैं किंतु वे आभासरूप अथवा मिथ्यारूप हैं ॥ ६९ ॥ आगे उन्हीं गुणोंके नाम बतलाते हैं। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार सम्यग्दर्शनके लक्षण कहलाते हैं आगे इन्हींका लक्षण अनुक्रमसे कहते हैं ॥ ७० ॥

पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमें अथवा असंख्यात लोकप्रमाण क्रोधादिक भावोंमें स्वभावसे ही मनका शिथिल होना प्रशम कहलाता है। भावार्थ—इंद्रियोंके समस्त विषयोंसे अपने मनको हटा लेना अथवा असंख्यात भेदरूप

यथा ॥७०॥ प्रशमो विषयेष्वैर्भावक्रोधादिकेषु च । लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छियिलं मनः ॥ ७१ ॥ सयः कृतापराधेषु यदा जीवेषु जातुचित् । तद्वधादि-विकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥७२॥ हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुबन्धिनाम् । अपि शेषकषायाणां नूनं मन्दोदयोऽशतः ॥ ७३ ॥ आरम्भादि क्रिया तस्य दैवाद्वा स्यादकामतः । अन्तः शुद्धेः प्रसिद्धत्वान्नहेतुः प्रशमक्षतेः ॥ ७४ ॥ सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः । अन्यत्र प्रशमं मन्ये प्याभासः स्यात्तदन्य

कषायोंके परिणामोंसे मनको हटा लेना प्रशम कहलाता है ॥ ७१ ॥ अथवा जिन्होंने उसी समय अपराध किया है ऐसे जीवोंमें उनके मारने आदिके लिये कभी भी विकाररूप बुद्धि न होना प्रशम कहलाता है । भावार्थ-प्रशम का अर्थ परिणामोंकी स्वाभाविक शान्तता है । जिसके परिणाम शान्त होते हैं तथा स्वाभाविक शांत होते हैं उसके मनमें न तो कभी कषाय उत्पन्न होती है न कभी इन्द्रियोंके विषयोंकी लंपटता उत्पन्न होती है और न कभी उसका मन क्षमासे रहित होता है । बस ऐसे स्वाभाविक अत्यन्त शान्त परिणामोंको प्रशम कहते हैं ॥७२॥ उस प्रशम गुणके उत्पन्न होनेमें अतन्तानुबंधी कषायोंके उदयका अभाव होना तथा बाकीकी अप्रत्याख्यानावरण वा प्रत्याख्यानावरण कषायोंका अंशमात्रसे अत्यन्त मंद उदय होना ही कारण है । भावार्थ—जब दर्शनमोहनीय कर्म और अनन्तानुबंधी कषायोंका अभाव हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायका मंद उदय होता है तभी यह ऊपर लिखा हुआ सम्यग्दर्शनका अविनाभावी प्रशम गुण उत्पन्न होता है । इतनी सब सामग्रीका मिलना प्रशम गुणका कारण है ॥७३॥ यदि कदाचित् चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे तथा उसकी विना इच्छाके जो उससे आरंभादिक क्रिया होती है वह आरंभादिक क्रिया उसके प्रशम गुणको नाश नहीं कर सकती अर्थात् उसके द्वारा होनेवाली आरंभादिक क्रियासे उसके प्रशम गुणका नाश नहीं होता क्योंकि उसके अंतरंगकी शुद्धता बराबर जाज्वल्यमान प्रगट रहती है । वह अंतरंगकी शुद्धता प्रशम गुणको नाश नहीं होने देती ॥ ७४ ॥ इसप्रकार ऊपर कहा हुआ जो प्रशम गुण है वह यदि सम्यग्दर्शनके साथ हो, स्वानुभूतिके साथ हो तो वह सम्यग्दर्शनका परम गुण कहलाता है । यदि वही प्रशम गुण सम्यग्दर्शन वा स्वानुभूतिके साथ न हो तो वह सम्यग्दर्शन वा स्वानुभूतिके न होनेसे प्रशमाभास अथवा मिथ्या कहलाता है । भावार्थ--विना

यात् ॥ ७५ ॥ संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः । सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥ ७६ ॥ धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धास्यानुभवोऽथवा । तत्फलं सुखमत्यक्षमक्षय क्षायिकं च यत् ॥ ७७ ॥ इतरत्र पुनारागस्तद्गुणेष्वनुरागतः । नातद्गुणेनुरागोपि तत्फलस्याप्यलिप्सया ॥ ७८ ॥ अत्रानुरागशब्देन नाभिलाषो निरुच्यते । किन्तु शेषमधर्माद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि ॥ ७९ ॥

सम्यग्दर्शनके प्रशम गुण कभी हो नहीं सकता । इसीलिए वह सम्यग्दर्शनका लक्षण कहलाता है ॥ ७५ ॥ आगे संवेगका लक्षण बताते हैं । भगवान वीतराग सर्वज्ञके द्वारा कहे हुए अहिंसारूप धर्ममें अथवा रत्नत्रयरूप धर्ममें वा उत्तमक्षमादिरूप आत्माके धर्ममें तथा उन धर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले स्वर्गमोक्षादिरूप फलोंमें अत्यंत उत्साह होना उसको धारण करनेकी अत्यंत लालसा रखना संवेग कहलाता है, अथवा धर्मात्मा जीवोंमें अत्यंत अनुराग होना संवेग है, अथवा पांचों परमेष्ठियोंमें अत्यंत प्रेम होना भक्ति होना संवेग है ॥ ७६ ॥ सम्यग्दर्शनमय आत्मा ही धर्म है अथवा शुद्ध आत्माका अनुभव होना धर्म कहलाता है तथा उस शुद्ध आत्माके अनुभवसे जो अतींद्रिय अक्षय और क्षायिक सुख मोक्षरूप सुख उत्पन्न होता है वही उस धर्मका फल है ॥ ७७ ॥ ऊपर जो धर्मात्मा पुरुषोंमें अनुराग करना संवेग गुण बतलाया है उसका अर्थ यह है कि उन धर्मात्माओंमें जो रत्नत्रयादिक गुण हैं उन गुणोंमें प्रेम वा अनुराग होनेके कारण ही उन धर्मात्माओंमें अनुराग होता है । यदि किसी पुरुषमें रत्नत्रयादिक गुण न हों तो उसमें अनुरागके फलकी इच्छा न रखते हुए भी अनुरागी नहीं होना चाहिये । भावार्थ—गुणोंमें अनुराग होना ही संवेग है । धर्मात्माओंमें जो अनुराग होता है वह रत्नत्रयादिक गुणके कारण ही होता है । यदि किसीमें रत्नत्रयादिक गुण न हो तो किसी भी सम्यग्दृष्टीकी बुद्धि उसके अनुराग करनेमें परिणत नहीं हो सकती ॥७८॥

यहांपर अनुराग शब्दका अर्थ अभिलाषा वा इच्छा नहीं है किंतु विना अभिलाषाके किसी प्रकारकी इच्छाके स्वाभाविक रीतिसे केवल गुणोंमें प्रेम होना ही अनुराग कहलाता है अथवा अधर्मसे और अधर्मके फलसे निवृत्त हो जाना अधर्मका सर्वथा त्याग कर देना ही अनुराग कहलाता है । भावार्थ—अधर्मका त्याग किये

नचाशंक्यं निषिद्धः स्यादभिलाषो भोगेष्वलम्। शुद्धोपलब्धिमात्रेपि हेयो भोगाभिलाषवत् ॥ ८० ॥ अर्थात्सर्वेभिलाषः स्यान्मिथ्या कर्मोदयात्परम्। स्वार्थैस्यार्थ-क्रियासिद्धयै नालं प्रत्यक्षतो यतः ॥ ८१ ॥ क्वचित्तस्यापि सद्भावे नेष्टसिद्धिरहेतुतः। अभिलाषस्याभावेऽपि स्वेष्टसिद्धिस्तुहेतुतः ॥ ८२ ॥ यशःश्रीसुतमित्रादि सर्वं कामयते जगत्। नास्य लाभोऽभिलाषोऽपि विना पुण्योदयात्सतः ॥ ८३ ॥ जरामृत्युदरिद्रादि नापि कामयते जगत्। तत्संयोगो बलादस्ति सतस्तत्राशुभोदयात्

विना कभी धर्ममें प्रेम नहीं हो सकता। इसलिये अधर्मका त्याग और धर्मप्रेम दोनों एक ही बात है इसीको धर्मानुराग वा संवेग कहते हैं ॥७९॥ यहांपर किसी भी पुरुषको ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि इस संवेगके लक्षणके प्रकरणमें केवल भोगोंकी अभिलाषा करनेवाला ही निषिद्ध बतलाया हो किंतु जो शुद्ध आत्माकी उपलब्धि वा प्राप्ति होनेपर भोगोंकी अभिलाषा करता है वह तो सदा निषिद्ध वा त्याज्य है ही। अर्थात् शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होनेपर या तो भोगोंकी अभिलाषा नहीं हो सकती अथवा भोगोंकी अभिलाषा होनेपर शुद्ध आत्माकी उपलब्धि ठहर नहीं सकती। इसलिये भोगोंकी अभिलाषा तो सर्वथा और सदा त्याग करने योग्य है। किन्तु यहां तो सब प्रकारकी अभिलाषाका त्याग करना बतलाया है क्योंकि संसारमें जितनी भी अभिलाषाएं हैं वे सब मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होती हैं तथा वे सब अभिलाषाएं अपने अभीष्ट पदार्थोंको सिद्ध करनेके लिये कभी समर्थ नहीं होतीं अर्थात् अपनी अभिलाषाओंके अनुसार कभी भी इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि नहीं होती। यह यह बात प्रत्यक्ष है ॥ ८०-८१ ॥ देखो कहींपर तो ऐसा देखा जाता है कि तीव्र अभिलाषाके होनेपर भी अपने कारणरूप पुण्यकर्मके उदयके बिना इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि कभी नहीं होती तथा कहींपर ऐसा देखा जाता है कि अभिलाषाका सर्वथा अभाव है किसी भी पदार्थकी किंचित मात्र भी अभिलाषा नहीं है तथापि अपने कारण रूप पुण्यकर्मके उदयसे अपने इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि अपने आप हो जाती है ॥ ८२ ॥ इसके सैकडों उदाहरण हैं। देखो समस्त संसारमें यश फैलना, अपने घर बहुतसी लक्ष्मीका होना तथा पुत्र मित्रोंका होना आदि बातोंको समस्त संसार चाहता है परन्तु पुण्यकर्मके उदयके विना अभिलाषाके होने पर भी इन सब बातोंकी प्राप्ति इस पुरुषको नहीं होती है। इसी प्रकार बुढापा, मृत्यु और दरिद्रता आदिको इस संसारमें कोई नहीं चाहता। परंतु

॥ ८४ ॥ संवेगो विधिरूपः स्यान्निर्वेदस्तु विशेषसात् । स्याद्विवक्षावशाद्द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयोः ॥८५॥ त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा । संवेगोऽप्यथवा धर्मसाभिलाषो न धर्मवान् ॥ ८६ ॥ नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः । नित्यं रागादिसद्भावात्प्रत्युताऽधर्म एव हि ॥ ८७ ॥ नित्यं रागी कुदृष्टिः स्या-

अशुभ कर्मके उदयसे इन बातोंका संबंध जबर्दस्ती हो जाता है। अर्थात् जब अशुभ कर्मका उदय आता है तो विना चाहके भी बुढापा आ जाता है दरिद्रता आ जाती है तथा मृत्यु हो जाती है। भावार्थ-इच्छा होनेपर भी यशादिक नहीं बढते तथा विना इच्छाके भी मृत्यु हो ही जाती है। इससे सिद्ध होता है कि अभिलाषासे किसी इष्ट पदार्थकी सिद्धि नहीं होती। इसलिये संसारमें जितनी भी अभिलाषाएं हैं वे सब त्याज्य हैं ॥ ८३-८४ ॥ यह संवेग विधिरूप भी है और निषेध करनेसे निषेधरूप भी है। धर्ममें अनुराग करना विधिरूप संवेग है और अधर्मका त्याग करना निषेधरूप संवेग है वास्तवमें देखा जाय तो वे दोनों ही एक हैं उन दोनोंमें कोई किसी प्रकारका अंतर नहीं है क्योंकि अधर्मका त्याग करना ही धर्मानुराग है जैसा कि पहले लिख चुके हैं अतएव केवल कहनेकी शैलीमें केवल अंतर है वक्ताकी इच्छानुसार केवल विधिरूप वा निषेधरूप हो गया है। वास्तवमें कोई भेद नहीं है ॥ ८५ ॥ समस्त अभिलाषाओंका त्याग कर देना अथवा संसारसे अरुचिरूप वैराग्यरूप परिणामोंका धारण करना संवेग है तथा इसी संवेगको धर्म कहते हैं क्योंकि जिसके अभिलाषा है वह धर्मात्मा कभी नहीं हो सकता। भावार्थ-पहले भी लिख चुके हैं कि अभिलाषाएं सब मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होती हैं इससे भी सिद्ध होता है कि जिसके अभिलाषाएं हैं वह मिथ्यादृष्टी है अभिलाषा करनेवाला सम्यग्दृष्टी वा धर्मात्मा कभी नहीं हो सकता ॥ ८६ ॥ कदाचित् कोई यह कहे कि क्रिया करनेमात्रसे ही धर्म होता है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टी पुरुषके रागादिक भाव सदा बने रहते हैं इसलिये उसके सदा क्रिया होती रहती है परन्तु उसकी उस क्रियाको धर्म नहीं कहते किंतु अधर्म ही कहते हैं इससे सिद्ध होता है कि क्रिया करनेको धर्म नहीं कहते हैं किंतु त्यागको ही धर्म कहते हैं ॥ ८७ ॥ मिथ्यादृष्टी सदा राग सहित रहता है वह कभी किसी अवस्थामें भी रागसहित नहीं रहता तथा सम्यग्दृष्टी सदा राग रहित रहता है अथवा यों कहना चाहिये कि

नास्यात्क्वचिदरागवान् । अस्तरागोस्ति सद्दृष्टिर्नित्यं वा स्यान्नरागवान् ॥ ८८ ॥ अनुकंम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः । मैत्रभावोथ माध्यस्थ्यं निःशल्यं वैरवर्ज-
नात् ॥ ८९ ॥ दृग्मोहानुदयस्तत्र हेतुर्वाच्योस्तिकेवलम् । मिथ्याज्ञान विना न स्याद्वैरभावः क्वचिद्यथा ॥ ९० ॥ मिथ्या यत्परतः स्वस्य स्वस्माद्वा परजन्मिनाम् ।

वह सम्यग्दृष्टी कभी भी राग सहित नहीं होता सदा वैराग्यरूप ही रहता है । बस वही उसका संवेग धर्म है । इससे सिद्ध होता है कि संवेग वा धर्म त्यागरूप ही होता है । क्रिया रूप नहीं होता । हां; वह विधिरूप अवश्य होता है जैसा कि पहले विधिरूप और निषेधरूप बतला चुके हैं इस प्रकार सम्यग्दर्शनके संवेग गुणका लक्षण बतलाया ॥ ८८ ॥ अब आगे अनुकंपारूपगुणका लक्षण बतलाते हैं—

समस्त जीवोंपर दया धारण करना अनुकंपा है अथवा समस्त जीवोंका उपकार करना अनुकंपा है अथवा समस्त जीवोंमें मैत्रीभाव धारण करना अनुकंपा है वा राग द्वेष छोड कर माध्यस्थ भाव धारण करना अनुकंपा है अथवा वैरभाव छोडकर शल्यरहित हो जाना कषाय रहित हो जाना अनुकंपा है ॥८९॥ इस अनुकंपा गुणके होनेमें दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका अभाव होना ही कारण है क्योंकि मिथ्याज्ञानके विना कभी वैरभाव वा शत्रुता हो ही नहीं सकती । भावार्थ—ज्ञानका अर्थ जानना है वह ज्ञान जब सम्यग्दर्शनके साथ होता है सम्यग्ज्ञान कहलाता है और जब मिथ्यादर्शनके साथ होता है तब मिथ्याज्ञान कहलाता है । मिथ्यादर्शन दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे होता है तथा उसके साथ ही मिथ्याज्ञान होता है । उस मिथ्याज्ञानसे ही पदार्थोंका स्वरूप विपरीत जानने लगता है और विना कारणके भी वैरभाव धारण करने लगता है इसलिये दर्शनमोहनीय कर्मके अभाव होनेसे ही वैरभाव आदिके नष्ट होनेसे अनुकंपा गुण प्रगट होता है ॥९०॥ यह जीव सुख दुःख आदिक अथवा मृत्यु वा थोडेसे जीवन आदिको अपनेमें देखकर दूसरोंमें होनेके लिये इच्छा करता है अथवा इनको दूसरोंमें देखकर अपनेमें होनेके लिये इच्छा करता है परन्तु यह सब उसका मिथ्यात्व है । भावार्थ—यह जीव सुख जीवन आदिको अपनेमें देखकर मित्रपुत्र आदिमें होनेके लिये इच्छा करता है अथवा अपने शत्रु लोगोंमें वा अन्य किसीमें भी देखकर अपनेमें होनेकी इच्छा करता है इसी प्रकार दुःख वा मृत्यु आदिको शत्रुओंमें होने-

इच्छेत्तन्मुखदुःखादि मृत्युर्वा जीवितं मनाक् ॥ ९१ ॥ अस्ति यस्यैतदज्ञानं मिथ्यादृष्टिः सः शल्यवान् । अज्ञानाद्वंतुकामोपि क्षमो हंतुं न चापरम् ॥ ९२ ॥ समता सर्वभूतेषु यानुकम्पा परत्र सा । आर्यैनः स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्यवर्जनात् ॥ ९३ ॥ रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे बन्ध एव हि । न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेया

की इच्छा करता है अथवा जिसके संबधसे ये दुःख आदिक होते हैं उसको अपना शत्रु समझकर उससे द्वेष-
भाव करने लगता है परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो इस प्रकारका रागभाव वा द्वेषभाव दोनों ही मिथ्या हैं उसका
इस प्रकार समझना मिथ्याज्ञान है और ऐसी समझ वा ऐसा मानना दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे ही होता
है ॥ ९१ ॥ जिसके ऐसा विपरीत ज्ञान होता है वह वास्तवमें मिथ्यादृष्टी होता है । शल्यसहित होता है ।
यद्यपि वह अपने अज्ञानसे दूसरोंको मारना चाहता है । परन्तु वह मार नहीं सकता । दूसरेका मरना जीना
उसके पुण्य पाप कर्मके आधीन होता है । मिथ्यादृष्टी जीव दुःख देनेवालेको अपना शत्रु समझकर मारना चाहता
है परन्तु उसका मरना जीना उसके हाथ न होनेसे वह मार नहीं सकता । इतना होनेपर भी वह जो उसके
मारनेकी इच्छा करता है यह उसका मिथ्यात्व है । इसप्रकार सिद्ध हुआ कि जबतक मिथ्यात्व रहता है तबतक
अनुकंपा नहीं हो सकती । मिथ्यात्व वा दर्शनमोहनीयके अभाव होनेपर वा सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेपर ही
अनुकंपा गुण प्रगट होता है ॥ ९२ ॥ वह अनुकंपा दो प्रकारकी है । एक स्वानुकंपा अपने आत्मापर दया करना
और दूसरी परानुकंपा दूसरे जीवोंपर दया करना । समस्त जीवोंमें अनुकंपा वा दया धारण करना परानुकंपा
कहलाती है तथा कांटेके समान सदा हृदयमें चुभनेवाली दुःख देनेवाली शल्योंका त्याग कर देना स्वानुकंपा
कहलाती है । अपने आत्माको दुःख देनेवाले शल्य हैं अतएव शल्योंका त्याग करना ही अपने आत्मापर दया
करना है । जो अपने आत्मापर दया करता है, अपने आत्माको पापोंसे बचाता है वही दूसरोंपर दया कर
सकता है इसलिये स्वानुकंपा सब अनुकंपाओंमें प्रधान है । इसके होनेपर परानुकंपा अवश्य होती है और
अपने आप होती है । शल्योंके त्याग देनेपर समताभाव हो ही जाता है ॥ ९३ ॥ दोनों प्रकारकी अनुकंपामें
स्वानुकंपा प्रधान है इसका भी कारण यह है कि इस आत्माके जब रागादिक अशुद्ध भाव होते हैं तब बंध

कृपात्मनि ॥ ९४ ॥ आस्तिक्यं सत्त्वसद्भावे स्वतः सिद्धे गतिश्चितः । धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चात्मादि धर्मवित् ॥ ९५ ॥ अस्त्यात्मा जीवसंज्ञो यः स्वतःसिद्धोप्य-मूर्तिमान् । चेतनः स्यादजीवस्तु यावानप्यस्त्यचेतनः ॥ ९६ ॥ अस्त्यात्मानादितो बद्धः कर्ममिः कार्मणात्मकैः । कर्ता भोक्ता च तेषां हि तत्क्षयान्मोक्षभाग्भवेत् ॥९७॥

अवश्य होता है। जो कि इस आत्माको संसारके महा दुःखोंका कारण है। यदि उन रागादिक अशुद्ध भावोंका अभाव हो जाय तो वह दुःख देनेवाला कर्मोंका बंध नहीं होता। बंध न होनेसे यह आत्मा अनंत सुखोंका भोक्ता हो जाता है, इसलिए अपने आत्मापर कृपा अवश्य करना चाहिए। भावार्थ–कर्मबंध करनेवाले अशुद्ध भावोंका त्याग कर देना ही स्वानुकंपा है इसीसे आत्मा अनंत सुखका भागी होता है, इसलिए यह स्वानुकंपा अवश्य करनी चाहिए ॥ ९४ ॥ इसप्रकार अनुकंपाका निरूपण किया अब आगे आस्तिक्यका वर्णन करते हैं।

आत्मा आदि समस्त तत्त्वोंमें जो जो धर्म जिस जिस प्रकार उपस्थित है उन्हींके समान अपने आप सिद्ध होनेवाले समस्त तत्त्वोंमें, धर्ममें, धर्मके कारणोंमें और धर्मके फलमें निश्चय बुद्धि रखना आस्तिक्य कहलाता है। भावार्थ–अस्ति शब्दसे आस्तिक्य बना है पदार्थोंका वा धर्मका जैसा स्वरूप है अथवा सर्वज्ञदेवने जैसा स्वरूप कहा है उसीके अनुसार उनका विश्वास करना आस्तिक्य कहलाता है ॥ ९५ ॥ जिसकी जीव संज्ञा है उसको आत्मा कहते हैं। वह आत्मा स्वतःसिद्ध है किसीके द्वारा बनाया हुआ नहीं है, अमूर्त है और चेतन है इसी प्रकार संसारमें जितने अचेतन पदार्थ हैं वे सब अजीव हैं। भावार्थ-संसारमें पदार्थ दो प्रकारके हैं एक जीव और दूसरे अजीव ॥ ९६ ॥ उन दोनों प्रकारके पदार्थोंमेंसे जो जीवतत्त्व है वह अनादिकालसे कार्माण वर्गणाओंके द्वारा बने हुए ज्ञानावरणादि कर्मोंसे बंधा हुआ है तथा वही जीवतत्त्व उन्हीं कर्मोंका कर्ता है उन्हीं कर्मोंका भोक्ता है और उन्हीं कर्मोंके नाश होनेसे मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ९७ ॥ इस संसारी जीवके उन्हीं कर्मोंके निमित्तसे निरंतर पुण्य पाप उत्पन्न होता रहता है सदा उन कर्मोंका फल सुख दुःखादिक प्राप्त होता रहता है और उन्हीं कर्मोंके निमित्तसे आस्रवादिक अन्य पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं। भावार्थ–इस जीवके जो निरंतर कर्मबंध होता रहता है वह दो प्रकारका होता है एक पुण्यरूप और दूसरा पापरूप। पुण्यका फल सुख मिलता

अस्ति पुण्यं च पापं च तद्धेतुस्तत्फलं च वै । आस्रवाद्यास्तथा सन्ति तस्य संसारिणोऽनिशम् ॥ ९८ ॥ अस्त्येवं पर्यायादेशाद्बन्धो मोक्षस्तु तत्फलम् । अपि शुद्धनयादेशात् शुद्धः सर्वोपि सर्वदा ॥ ९९ ॥ तत्रायं जीवसंज्ञो यः स्वयंवेद्यश्चिदात्मकः । सोहमन्ये तु रागाद्याः हेयाः पौद्गलिका अमी ॥ १०० ॥ इत्याद्यनादिजीवादि वस्तुजातं यतोऽखिलम् । निश्चयव्यवहाराभ्यामास्तिक्यं तत्तथामतिः ॥१०१॥ सम्यक्त्वेनाविनाभूतस्वानुभूत्येकलक्षणम् । आस्तिक्यं नाम सम्यक्त्वं मिथ्यास्तिक्यं ततो-

सर्ग ३

है और पापका फल दुःख मिलता है । उस सुख वा दुःखके होनेसे जो रागद्वेषरूप परिणाम होते हैं तथा उन्हींके द्वारा जो नवीन कर्म आते हैं उनको आस्रव कहते हैं हैं आस्रव होनेपर फिर कर्मोंका बंध होता है समयानुसार उनका संवर निर्जरा होती है और उन समस्त कर्मोंका नाश होनेपर मोक्ष होती है । इसप्रकार समस्त तत्त्व वा समस्त पदार्थ इस अशुद्ध जीवमय ही प्रगट होते हैं ॥ ९८ ॥ पर्यायदृष्टिसे अथवा पर्यायार्थिक नयसे इस आत्माके कर्मका बंध होता है तथा पर्यायार्थिक दृष्टिसे ही मोक्ष प्राप्त होती है और पर्यायार्थिक दृष्टिसे ही उन कर्मोंका फल सुख दुःख प्राप्त होता है । यदि शुद्ध नयसे देखा जाय तो ये संसारी समस्त जीव सदा शुद्ध हैं । भावार्थ—शुद्ध निश्चयनयसे सब जीव शुद्ध हैं शुद्ध नयसे बंध मोक्ष आदि कुछ नहीं है ॥ ९९ ॥ उन समस्त तत्त्वोंमें यह जीव स्वयं वेद्य है, मैं सुखी हूं मैं दुःखी हूं इत्यादि रूपसे स्वयं जाना जाता है तथा चैतन्यस्वरूप है और 'मैं सुखी हूं, मैं ज्ञानी हूं, मैं ज्ञान सुख आदि गुणोंका अखंड पिंड हूं' इसप्रकार स्वयं प्रत्यक्ष है । ऐसे इस आत्माको छोडकर बाकीके पुद्गलके बने हुए जितने भी रागादिक भाव हैं वे सब त्याज्य हैं ॥ १०० ॥ इसप्रकार अनादिकालसे चले आए जितने भी जीवादिक पदार्थ हैं वे सब निश्चय और व्यवहारनयसे दो प्रकारके हैं । उन दोनों भेदोंको लिए हुए समस्त पदार्थोंको उसीरूप मानना वा निश्चय करना आस्तिक्य है । भावार्थ—पदार्थका जैसा स्वरूप है वैसा ही उसका श्रद्धान करना आस्तिक्य है । जीवादिक समस्त पदार्थ निश्चयनयसे शुद्ध स्वरूप हैं और व्यवहारसे अशुद्ध स्वरूप हैं इसलिए निश्चयनयसे शुद्धस्वरूप श्रद्धान करना और व्यवहारनयसे अशुद्धस्वरूप श्रद्धान करना आस्तिक्य कहलाता है ॥ १०१ ॥ सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाली स्वानुभूति ही जिसका लक्षण है अर्थात् जो सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाली स्वानुभूतिके ही साथ होता है ऐसा जो आस्तिक्य

न्यथा ॥ १०२ ॥ ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः । न प्रत्यक्षं कदाचित्तच्छेषज्ञानचतुष्टयम् ॥ १०३ ॥ यदि वा देशतोऽप्यक्षमाद्यं स्यात्सुखादिवत् । स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोऽर्थतः ॥ १०४ ॥ सत्यमाद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि । प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृग्मोहोपशमादितः ॥ १०५ ॥ स्वात्मानुभूतिमात्रं स्यादास्तिक्य परमो गुणः । भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रे परत्वतः ॥ १०६ ॥ अपि तत्र परोक्षत्वे जीवादौ परवस्तुनि । गाढं प्रतीतिरस्यास्ति यथा सम्यग्दृगात्मनः

है वही आस्तिक्य सम्यग्दर्शन कहलाता है तथा उससे भिन्न जो आस्तिक्य है जो आस्तिक्य सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाली स्वानुभूतिके साथ नहीं होता उसे मिथ्या आस्तिक्य वा मिथ्यादर्शन समझना चाहिए ॥ १०२ ॥

आगे कोई शंकाकार कहता है कि वास्तवमें देखा जाय तो एक केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष है । केवलज्ञानको छोडकर बाकीके चारों ज्ञान परोक्ष हैं । अथवा जिसप्रकार आत्मजन्य सुख प्रत्यक्ष होता है उसीके समान इंद्रियजन्य ज्ञान भी एकदेश प्रत्यक्ष होता है । ऐसी अवस्थामें वह आस्तिक्य गुण स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? भावार्थ—आस्तिक्यगुण स्वानुभूतिके साथ होनेसे स्वानुभूतिके समान स्वयंप्रत्यक्ष होता है । उसमें शंकाकार कहता है कि मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानीके होनेवाला वह आस्तिक्यगुण उस मतिज्ञान श्रुतज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है । मतिज्ञान श्रुतज्ञान तो परोक्ष हैं । आगे इसीका समाधान करते हैं ॥ १०३-१०४ ॥ उत्तर— यह ठीक है कि मतिज्ञान श्रुतज्ञान दोनों ही परोक्ष हैं परंतु वे परपदार्थोंके जाननेमें परोक्ष हैं अपने आत्माका अनुभव करनेमें तो वे भी प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि अपने आत्माका अनुभव दर्शनमोहनीयकर्मके उपशम होनेसे अथवा क्षय होनेसे वा क्षयोपशम होनेसे ही होता है । भावार्थ— आत्मप्रत्यक्ष होनेमें दर्शनमोहनीय कर्म ही बाधक है । जब दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव हो जाता है तब बाधकके दूर होनेसे स्वयं उसका प्रत्यक्ष हो जाता है । इसलिए कहना चाहिए कि मतिज्ञान श्रुतज्ञान परपदार्थोंके जाननेमें परोक्ष हैं और बाधकके दूर होनेपर अपने आत्माके अनुभव करनेमें प्रत्यक्ष हैं ॥ १०५ ॥ अपने आत्माका अनुभव करनेरूप स्वानुभूतिस्वरूप जो यह आस्तिक्य गुण है वह आत्माका परम गुण है । वह आस्तिक्य अपने आत्मस्वरूप ही होता है । परद्रव्योंमें हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता क्योंकि परद्रव्य सदा पर ही रहते हैं इसलिए उनका ज्ञान तो होता है परंतु स्वानुभूति-

॥१०७॥ न तथास्ति प्रतीतिर्वा नास्ति मिथ्यादृशः स्फुटम् । दृग्मोहस्योदयात्तत्र भ्रान्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥ १०८ ॥ ततः सिद्धमिदं सम्यग्युक्तिस्वानुभवागमात् । सम्यक्त्वेनाविनाभूतं सत्रास्तिक्यं गुणो महान् ॥ १०९ ॥ उक्तं च । संवेओ निव्वेओ णिंदण गरहा य उवसमो भत्ती । वच्छल्ल अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते

स्वरूप वा आस्तिक्यस्वरूप प्रत्यक्ष नहीं होता ॥१०६॥ यद्यपि स्वानुभूति वा आस्तिक्यगुणको धारण करनेवाले पुरुषके जीवादिक परपदार्थ परोक्ष होते हैं तथापि जिसप्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुषके अपनी आत्मामें गाढ विश्वास होता है उसीप्रकार उस आस्तिक्य गुणको धारण करनेवाले पुरुषके उन परोक्षस्वरूप परपदार्थोंमें भी गाढ विश्वास होता है । भावार्थ--यद्यपि सम्यग्दृष्टी पुरुष परपदार्थोंको परोक्ष जानता है तथापि स्वानुभव द्वारा प्रत्यक्ष होनेवाले आत्माके समान उन पदार्थोंमें भी वह गाढ विश्वास करता है । उसके विश्वास वा श्रद्धानमें किंचिन्मात्र भी अंतर नहीं है ॥ १०७ ॥ जिसप्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुष आत्मतत्त्व और परपदार्थ दोनोंमें यथार्थ श्रद्धान करता है उस प्रकारका श्रद्धान वा विश्वास मिथ्यादृष्टीके नहीं होता क्योंकि उसके उस विश्वासका बाधक दर्शनमोहनीयकर्मका उदय सदा बना रहता है । उस दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे उस मिथ्यादृष्टीके सदा भ्रम बना रहता है । भावार्थ-मिथ्यादृष्टीके सदा भ्रम बने रहनेके कारण किसी भी पदार्थमें यथार्थ श्रद्धान नहीं हो सकता । इसी लिए उसके आस्तिक्य गुण प्रगट नहीं हो सकता ॥ १०८ ॥ इसलिए युक्तिसे अपने अनुभवसे तथा आगमसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी कि सम्यग्दर्शनके सदा साथ रहनेवाला यह आस्तिक्यगुण आत्माका सर्वोत्कृष्ट गुण है और यही सम्यग्दर्शनका लक्षण है ॥ १०९ ॥

इसप्रकार प्रशम संवेग अनुकंपा आस्तिक्य इन चारों गुणोंका निरूपण किया । जिसप्रकार सम्यग्दर्शनके ये चार गुण हैं उसीप्रकार अन्य ग्रंथकारोंने आठ गुण भी बतलाए हैं । आगे उन्हींको बतलाते हुए उनको इन चारोंमें ही अंतर्भूत होते हुए दिखलाते हैं । अन्य शास्त्रोंमें लिखा है ।

संवेओ णिव्वओ णिंदण गरहा य उवसमो भत्ती । वच्छलं अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते ।

अर्थ—संवेग, निर्वेद, निंदा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकंपा ये आठ गुण सम्यग्दर्शनमें होते

॥ ८ ॥ उक्तं गाथार्थसूत्रेपि प्रशमादिचतुष्टयम् । नातिरिक्तं यतोऽस्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥ ११० ॥ अस्त्युपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम् । तद्यथास्त्यादि-लक्ष्यस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत् ॥ १११ ॥ यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः । सचोपलक्ष्यते भक्त्या वात्सल्येनाथवार्हताम् ॥ ११२ ॥ तत्र भक्तिरनौद्धत्यं

हैं अर्थात् ये सम्यग्दर्शनके आठ गुण हैं ॥ १ ॥ इस ऊपर लिखे हुए गाथामें जो आठ गुण बतलाए हैं उसमें इस प्रथम कहे हुए प्रशम संवेग आदि गुण भी आ गए हैं तथा इस गाथामें कहे हुए आठों गुण इस ग्रंथमें कहे हुए प्रशम संवेग आदि चारों गुणोंसे भिन्न नहीं हैं किंतु कोई लक्षण हैं और कोई उपलक्षण हैं । भावार्थ–प्रशम संवेग अनुकंपा और आस्तिक्य ये चार तो सम्यग्दर्शनके लक्षण हैं और ये ही निंदा गर्हा भक्ति वात्सल्यके उपलक्षण हैं । ये उपलक्षण क्यों हैं इसी बातको आगे उपलक्षणका लक्षण कहते हुए दिखलाते हैं ॥ ११० ॥ जो लक्षणका भी लक्षण होता है उसको उपलक्षण कहते हैं । जैसे जो आस्तिक्यादिक गुण सम्यग्दर्शनरूप लक्ष्यके लक्षण हैं वे ही आस्तिक्यादि गुण निंदा गर्हा आदिक उपलक्षण कहे जाते हैं । भावार्थ--किसी पदार्थका जो गुण लक्षण कहा जाता है वह तो उसका लक्षण होता है परंतु आगे उस लक्षणका जो लक्षण करते हैं उस लक्षणसे जो जो ग्रहण करते हैं उन सबका वही लक्षण उपलक्षण कहलाता है । जैसे किसीने कहा कि इस दहीको कुत्ता न खा जाय । इसका यह अर्थ नहीं है कि कुत्ता तो न खा जाय बिल्ली कौआ आदि अन्य पशु खा जांय । किंतु उसका अर्थ यही है कि कुत्ता बिल्ली कौआ आदि सबसे इसकी रक्षा करना । इसप्रकार वह कुत्ता अन्य बिल्ली कौआ आदि उस दहीको बिगाडनेवाले सभी पशुओंका उपलक्षण होता है । इसीलिए ग्रंथकारने कहा है कि जो लक्ष्यका लक्षण होता है वही आगेवालोंका उपलक्षण होता है ॥ १११ ॥ जैसे जो संवेग गुण सम्यग्दर्शनका लक्षण है वही संवेग गुण भगवान अरहंतदेवकी भक्ति अथवा वात्सल्य गुणका उपलक्षण है । भावार्थ--संवेग गुणसे भगवान अरहंत देवकी भक्ति और वात्सल्य दोनोंका ग्रहण किया जाता है इसलिए संवेग गुण भक्ति और वात्सल्य दोनोंका उपलक्षण है ॥ ११२ ॥ इन चारों गुणोंमेंसे मन वचन कायके अत्यंत शांत होनेसे जो उद्धतताका अभाव हो जाता है उसको भक्ति कहते हैं तथा उनके गुणोंको बढानेके लिए जो मनमें उल्लास होता है उसको वात्सल्य

वाग्वपुश्चेतसां शमात् । वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः ॥ १२३ ॥ भक्तिर्या नाम वात्सल्यं न स्यात्संवेगमन्तरा । संवेगो हि दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणौ ॥ ११४ ॥ दृग्मोहस्योदयाभावात्प्रसिद्धः प्रशमो गुणः । तत्रापि व्यञ्जक बाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम् ॥ ११५ ॥ निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि । पश्चा-

कहते हैं । भावार्थ--जिसकी भक्ति की जाती है उसके लिए मन वचन कायसे उद्धतपनेका त्यागकर अत्यंत नम्र होना पडता है उसीको भक्ति कहते हैं तथा जिसके साथ वात्सल्य वा प्रेम किया जाता है उसके गुण बढानेके लिए मनमें हर्ष प्रगट होता है इसीको वात्सल्य कहते हैं ॥ ११३ ॥ भक्ति और वात्सल्य ये दोनों ही गुण संवेगके विना नहीं हो सकते, संवेगके साथ ही होते हैं और संवेग सम्यग्दर्शनका लक्षण है तथा भक्ति और वात्सल्य ये दोनों ही गुण उपलक्षणसे ग्रहण किए जाते हैं। भावार्थ—जब यह निश्चित है कि भक्ति और वात्सल्य विना संवेगके नहीं होते तो यह अर्थात् सिद्ध है कि वे दोनों ही संवेगके साथ अवश्य होते हैं इसलिए संवेगके कहनेसे उन दोनोंका ग्रहण अपने आप हो जाता है। अथवा यों कहना चाहिए कि जो संवेग सम्यग्दर्शनका लक्षण है वही संवेग भक्ति और वात्सल्यका उपलक्षण है ॥ ११४ ॥ इसीप्रकार सम्यग्दर्शनका प्रशम गुण दर्शनमोहनीय कर्मके उदयके अभाव होनेपर प्रगट होता है, यह बात प्रसिद्ध है तथा उस प्रशमगुणको प्रगट करनेवाला बाहरसे ही बतानेवाला निंदन और गर्हण है। भावार्थ—जिसप्रकार विना संवेगके भक्ति और वात्सल्य नहीं होते थे उसीप्रकार विना प्रशमके निंदन गर्हण नहीं होते हैं । अतएव यह सिद्ध है कि निंदन गर्हण होनेसे प्रशम गुण अवश्य सिद्ध हो जाता है ॥ ११५ ॥ इस संसारमें रागादिक दुष्ट कर्म अत्यंत कठिनतासे दूर किए जाते हैं ऐसे उन रागादिक भावोंके होनेपर अत्यंत पश्चात्ताप उत्पन्न करनेवाला अत्यंत दुःख देनेवाला कर्मोंका बंध होता है। वह कर्मोंका बंध न तो अपेक्षणीय वा राग करनेके योग्य है और न उपेक्षणीय वा द्वेष करने योग्य है। भावार्थ-इस जीवके साथ राग द्वेष आदि भावकर्म अनादिकालसे चले आ रहे हैं इसीलिए वे बडी कठिनतासे दूर हो सकते हैं। उन्हीं रागादिक भावोंके कारण कर्मोंका बंध होता है। उस कर्मोंके बंधसे न तो राग करना और न द्वेष करना किंतु समता भाव वा शांत परिणामोंको धारणकर उनसे स्वयं हट जाना ही निंदन गुण है ॥ ११६ ॥ इसी

त्तापकरो बन्धो नोपेक्ष्यो नाप्यपेक्षितः ॥ ११६ ॥ गर्हणं तत्परित्यागः पञ्चगुर्वात्मसाक्षिकः । निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये ॥ ११७ ॥ अर्थादेव द्वय सूक्तं सम्यक्त्वस्योपलक्षणम् । प्रशमस्य कषायाणामनुद्रेकाविशेषतः ॥ ११८ ॥ शेषमुक्तं यथाम्नायाद् ज्ञातव्यं परमागमात् । आगमाब्धेः परंपारं मादृग्गन्तुं क्षमः कथम् ॥ ११९ ॥ एवमित्यादिसत्यार्थं प्रोक्तं सम्यक्त्वलक्षणम् । कैश्चिल्लक्षणिकैः सिद्धैः प्रसिद्धं सिद्धसाधनात् ॥ १२० ॥ भवेद्दर्शनिको नूनं सम्यक्त्वेन युतो नरः ।

प्रकार केवल कर्मोंका नाश करनेके लिए अरहंतादिक पांचों परमेष्ठियोंकी साक्षीपूर्वक तथा अपनी शक्तिके अनुसार और सब तरहके प्रमादोंसे रहित होकर उन रागद्वेषोंका त्याग कर देना गर्हण गुण है ॥ ११७ ॥ इस प्रकार जो निंदन और गर्हण गुण ऊपर बतलाए हैं वे कषायोंके उदयके अभाव होनेपर ही होते हैं इसीलिए ये दोनों प्रशम गुणके धारण करनेवाले सम्यग्दर्शनके उपलक्षण होते हैं । भावार्थ---सम्यग्दर्शनका लक्षण प्रशम है और निंदन गर्हण ये दोनों गुण प्रशमके साथ ही होते हैं विना प्रशमके नहीं होते इसलिए प्रशमके कहनेसे ही इनका ग्रहण हो जाता है । अतएव जो प्रशम गुण सम्यग्दर्शनका लक्षण है वही प्रशम गुण निंदन गर्हण दोनोंका उपलक्षण है । प्रशम गुण सम्यग्दर्शनका लक्षण है और निंदन गर्हण दोनों उपलक्षण हैं ॥ ११८ ॥ इसके सिवाय शेष जो कथन है वह सब आचार्यपरंपरासे चले आए आगमके अनुसार जान लेना चाहिए क्योंकि यह जिनागम एक प्रकारका महासागर है । इसके पार पहुंचना मेरे समान क्षुद्र बुद्धिको धारण करनेवालेका काम नहीं है ॥ ११९ ॥ इसप्रकार ऊपर लिखे अनुसार जो सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा है वही यथार्थ लक्षण है । वही लक्षण समस्त लक्षणोंके जानकार कितने ही सिद्ध पुरुषोंने कहा है और यही लक्षण हेतुवादसे सिद्ध होता है ॥ १२० ॥

इसप्रकार जिस सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा है उससे जो सुशोभित होता है जिसके वह सम्यग्दर्शन होता है वह मनुष्य दर्शनिक अथवा दर्शनप्रतिमावाला कहलाता है । यदि किसी मनुष्यके वह सम्यग्दर्शन न हो और वह मनुष्य क्रियावान् हो यत्नाचारसे चलनेवाला वा व्रतादिकोंका पालन करनेवाला हो तो भी दर्शनिक वा दर्शनप्रतिमावाला नहीं कहलाता दर्शनप्रतिमाभास अथवा मिथ्यादृष्टी कहलाता है ॥ १२१ ॥ क्योंकि संसारमें जितने भी क्रियारूप व्रत वा तप हैं वे चाहे एकदेशरूप हों और चाहे पूर्णरूप महाव्रत हों वे सब विना सम्यग्दर्शनके

दर्शनप्रतिमाभासः क्रियावानपि तद्विना ॥ १२१ ॥ देशतः सर्वतश्चापि क्रियारूपं व्रतादि यत् । सम्यक्त्वेन विना सर्वमव्रतं कुतपश्च तत् ॥ १२२ ॥ ततः प्रथमतो ऽवश्यं भाव्यं सम्यक्त्वधारिणा । अव्रतिनाणुव्रतिना मुनिनाथेन सर्वतः ॥ १२३ ॥ ऋते सम्यक्त्वभावं यो धत्ते व्रततपःक्रियाम् । तस्य मिथ्यागुणस्थानमेकं स्यादागमे स्मृतम् ॥ १२४ ॥ प्रकृतोपि नरो नैव मुच्यते कर्मबन्धनात् । स एव मुच्यते ऽवश्यं यदा सम्यक्त्वमश्नुते ॥ १२५ ॥ किञ्च प्रोक्ता क्रियाप्येषा दर्शनप्रतिमात्मिका । सम्यक्त्वेन युता चेत्सा तद्गुणस्थानवर्तिना ॥ १२६ ॥ तत्राप्यस्ति विशेषो ऽयंतुर्यपञ्चमयोर्द्वयोः । योगाद्वा रूढितश्चापि गुणस्थानविशेषयोः ॥ १२७ ॥ सैवैका

अव्रत कहलाते हैं तथा विना सम्यग्दर्शनके जितना भी तप है वह सब कुतप कहलाता है ॥ १२२ ॥ इसलिए अव्रती श्रावकोंको वा अणुव्रतादि गृहस्थोंके बारह व्रत धारण करनेवाले श्रावकोंको और महाव्रतादि धारण करनेवाले मुनियोंको सबसे पहले सम्यग्दर्शन अवश्य धारण करना चाहिए ॥ १२३ ॥ शास्त्रोंमें लिखा है कि विना सम्यग्दर्शनके जो व्रत वा तपश्चरणकी क्रियाओंको धारण करता है उसके सदा पहला मिथ्यात्वगुणस्थान ही रहता है । भावार्थ---विना सम्यग्दर्शनके महाव्रत धारण करनेवाला मुनि भी मिथ्यादृष्टी वा मिथ्यात्व नामके पहले गुणस्थानमें रहनेवाला कहलाता है ॥१२४॥ विना सम्यग्दर्शनके कैसा ही विद्वान् पुरुष क्यों न हो वह कर्मबंधनसे कभी छूट नहीं सकता तथा वही मनुष्य जब सम्यग्दर्शन धारण कर लेता है तब फिर वह उन कर्मबंधनोंसे अवश्य छूट जाता है । भावार्थ---कर्मोंके नाश करनेकी शक्ति सम्यग्दर्शनमें ही है और किसीमें नहीं है ॥ १२५ ॥ ऊपर जो यह दर्शनप्रतिमारूप क्रिया बतलाई है वह यदि उन उन गुणस्थानोंमें होनेवाले सम्यग्दर्शनके साथ हो तब तो वह दर्शनप्रतिमा कहलाती है अन्यथा नहीं । भावार्थ---दर्शनप्रतिमा पांचवें गुणस्थानमें होती है । उसमें आठ मूलगुणोंको धारण और सप्तव्यसनका त्याग है । यदि यह सब सम्यग्दर्शनके साथ हो तब तो दर्शनप्रतिमा कही जाती है । यदि सम्यग्दर्शन न हो तो फिर उसे दर्शनप्रतिमा नहीं कहते किंतु वह मिथ्यात्व ही कहलाता है ॥ १२६ ॥ उसमें भी इतना विशेष है कि सम्यग्दर्शनके साथ साथ आठ मूलगुणोंका साक्षात् धारण करनेरूप क्रिया तथा सातों व्यसनोंके त्याग करनेरूप क्रिया योगसे तथा रूढिसे चौथे पांचवें दोनों विशेष गुणस्थानोंमें एकसी ही होती है । भावार्थ—चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शन भी होता है और आठ मूलगुणोंका पालन तथा

क्रिया साक्षादष्टमूलगुणात्मिका । व्यसनाद्युज्झिता चापि दर्शनेन समन्विता ॥ १२८ ॥ एवमेव च सा चेत्स्यात्कुलाचारक्रमात्परम् । विना नियमादि तावत्प्रोच्यते सा कुलक्रिया ॥ १२९ ॥ भावशून्याः क्रिया यस्मानेष्टसिद्ध्यै भवन्ति हि । क्रियामात्रफलं चास्ति स्वल्पभोगानुषङ्गजम् ॥ १३० ॥ दर्शनप्रतिमा नास्य गुणस्थानं न पञ्चमम् । केवलं पाक्षिकः सः स्यादसंयतगुणस्थानादसंयतः ॥ १३१ ॥ किंच सोपि क्रियामात्रात्कुलाचारक्रमागतात् । स्वर्गादिसंपदोभुक्त्वाक्रमाद्याति शिवालयम् ॥ १३२ ॥

सातों व्यसनोंका त्याग भी होता है। पांचवें गुणस्थानमें भी ये सब क्रियाएं होती हैं। इसप्रकार चौथे पांचवें दोनों गुणस्थानोंमें ये ऊपर लिखी क्रियाएं एकसी होती हैं तथापि उनमें नीचे लिखे अनुसार अंतर है ॥ १२७-१२८ ॥ यदि ये ऊपर लिखी क्रियाएं विना किसी नियमके यों ही कुलपरंपरासे चली आई हों तो उनको व्रत नहीं कहते किंतु कुलक्रिया कहते हैं । भावार्थ—व्रत तभी कहलाता है जब कि नियमपूर्वक धारण किया जाता है । मद्य-मांसादिकका वा व्यसनोंका नियमपूर्वक त्याग किए विना कुलाचार कहलाता है व्रत नहीं कहलाता ॥ १२९ ॥ इसका भी कारण यह है कि बिना भावोंके की हुई किसी भी क्रियासे अपने इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि नहीं होती है। ऐसे विना भावोंके जो क्रियाएं की जाती हैं उनका फल केवल क्रिया करनेमात्रका होता है जैसे थोडीसी भोगो-पभोगकी सामग्रीका मिलजाना आदि। इसके सिवाय और कुछ फल नहीं मिलता तथा जो त्याग भावपूर्वक किया जाता है उसका फल स्वर्ग मोक्ष मिलता है ॥१३०॥ इसप्रकार जो मनुष्य, मद्य, मांस, मधु, पांचों उदम्बर तथा व्यसनोंका सेवन नहीं करता परन्तु उनके सेवन न करनेका नियम भी नहीं लेता इन ऊपर लिखे पापोंको भावपूर्वक त्याग नहीं करता उसके न तो दर्शनप्रतिमा होती है और न पांचवां गुणस्थान ही होता है। उसको केवल पाक्षिक श्रावक कहते हैं और उसके असंयत नामका चौथा गुणस्थान होता है। भावार्थ—जो जीव सम्य-ग्दर्शनको धारण करता है और मद्य मांसादिकके त्याग करनेका नियम नहीं लेता परन्तु कुलक्रमसे चली आई परिपाटीके अनुसार उनका सेवन भी नहीं करता उसके चौथा गुणस्थान होता है ॥ १३१ ॥ इस प्रकार सम्य-ग्दर्शनको धारण करनेवाला पुरुष भी कुलक्रमसे चली आई परिपाटीके अनुसार जो क्रियाएं पालन करता है वह भी स्वर्गादिककी सम्पदाओंको भोग कर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करता है। भावार्थ—यद्यपि वह नियमपूर्वक मद्य

सम्यक्त्वेन विहीनोऽपि नियमेनाप्यथोज्झितः। योपि कुलक्रियासक्तः स्वर्गादिपदमाप्नुयात्॥ १३३ ॥ अथ क्रियां च तामेव कुलाचारोचितां पराम्। व्रतरूपेण गृह्णाति तदा दर्शनिको मतः॥ १३४ ॥ दर्शनप्रतिमा चास्य गुणस्थानं च पंचमम्। संयतासंयताख्यश्च संयमोस्य जिनागमात्॥ १३५ ॥ दृग्वेकादशान्तानां

मांसादिकका त्याग नहीं करता केवल कुल परिपाटीके अनुसार उनका त्यागी होता है तथापि सम्यग्दर्शनके प्रतापसे वह स्वर्गादिकोंके सुख भोगकर कुछ ही समयमें मोक्ष प्राप्त करता है ॥ १३२ ॥ तथा जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे भी रहित होता है और नियमपूर्वक भावपूर्वक मद्य मांस मधु उदम्बर व्यसन आदिका त्याग भी नहीं करता केवल अपनी कुलक्रियाका पालन करता है कुलपरम्पराके अनुसार [कुलपरम्परासे चली आई परिपाटीके अनुसार] मद्य मांस मधु पांचों उदम्बर और व्यसनोंका सेवन नहीं करता वह मनुष्य भी स्वर्गादिक सुखोंको प्राप्त होता है। भावार्थ-यद्यपि सम्यग्दर्शनके न होनेसे उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होती तथापि पापोंका सेवन न करनेसे वह पुण्यबन्धका अधिकारी अवश्य होता है ॥ १३३ ॥ यदि वही मनुष्य सम्यग्दर्शनके साथ साथ कुलपरम्परासे चली आई परिपाटीके अनुसार मद्य मांस आदिके न सेवन करनेरूप क्रियाओंको व्रत रूपसे धारणकर लेता है तब वह दर्शनप्रतिमाको धारण करनेवाला दर्शनिक कहलाता है। भावार्थ—जो सम्यग्दृष्टी पुरुष नियमपूर्वक (देवगुरुकी साक्षीपूर्वक प्रतिज्ञा लेकर आठों मूलगुणोंको धारण कर लेता है तथा सातों व्यसनोंका त्यागकर देता है उसके पहिली दर्शनप्रतिमा होती है ॥ १३४ ॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शनके साथ नियमपूर्वक आठों मूलगुणोंको धारण करनेवाले तथा सातों व्यसनोंका त्याग करनेवाले पुरुषके पहिली दर्शनप्रतिमा कहलाती है। उसका गुणस्थान संयतासंयत नामका पांचवां गुणस्थान कहलाता है और वह भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंके अनुसार अपने संयमका पालन करता है ॥ १३५ ॥ यह निश्चय है कि सम्यग्दर्शनको आदि लेकर (दर्शनप्रतिमाको आदि लेकर) जो ग्यारह प्रतिमाएं हैं उनकी निर्दोष व्याप्ति अनादिकालसे पांचवें गुणस्थानके साथ ही चली आ रही है। भावार्थ—कदाचित् कोई यह समझ ले कि दर्शनप्रतिमा चौथे गुणस्थानमें ही मान ली जाय तो क्या हानि है उसको समझानेके लिए कहते हैं कि यह बात

प्रतिमानामनादितः । पंचमेन गुणेनामा व्यभिः साधीयसी स्मृतेः ॥ १३६ ॥ ननु या प्रतिमा प्रोक्ता दर्शनाख्या तदादिमा । जैनानां सास्ति सर्वेषामर्थादव्रतिनामपि ॥ १३७ ॥ मैवं सति तथा तुर्य-गुणस्थानस्य शून्यता । नूनं दृग्प्रतिमा यस्मादगुणे पंचमके मता ॥ १३८ ॥ नोह्यं दृग्प्रतिमामात्रमस्तु तुर्यगुणे नृणाम् । व्रतादि-

नहीं है दर्शनप्रतिमा चौथे गुणस्थानमें नहीं हो सकती किन्तु पांचवें गुणस्थानमें ही होती है और इसका भी कारण यह है कि अनादि कालसे निर्दोष वा अव्यभिचारी नियम चला आ रहा है कि ग्यारह प्रतिमाएं पांचवें गुणस्थानमें ही होती हैं अन्य किसी भी गुणस्थानमें नहीं होतीं ॥ १३६ ॥

यहांपर शंकाकार कहता है कि यह जो पहिली दर्शनप्रतिमा कही है वह तो समस्त जैनियोंके होती है और इस हिसाबसे अव्रत सम्यग्दृष्टीके भी अवश्य होनी चाहिए । भावार्थ—चौथे गुणस्थानमें रहनेवाले अव्रत सम्यग्दृष्टीके भी यदि पहिली दर्शनप्रतिमा मान ली जाय तो क्या हानि है ॥ १३७ ॥ समाधान—परन्तु यह मानना ठीक नहीं है क्योंकि यदि ऐसा मान लिया जायगा अर्थात् अव्रत सम्यग्दृष्टियोंके भी पहिली प्रतिमा मान ली जायगी तो फिर चौथे गुणस्थानका सर्वथा अभाव मानना पडेगा क्योंकि यह नियम है कि दर्शन-प्रतिमा पांचवें गुणस्थानमें ही होती है । भावार्थ—यदि अविरत सम्यग्दृष्टीके ही दर्शनप्रतिमा मान ली जाय तो फिर उसके पांचवां गुणस्थ न ही मानना पडेगा क्योंकि प्रतिमाएं सब पांचवें गुणस्थानमें ही होती हैं तथा अवि-रत सम्यग्दृष्टीके पांचवां गुणस्थान माननेसे फिर चौथा गुणस्थान कोई बन ही नहीं सकेगा इस प्रकार चौथे गुणस्थानका अभाव ही मानना पडेगा ॥ १३८ ॥

यहांपर शंकाकार फिर कहता है कि अच्छा भाई मनुष्योंके होनेवाली दर्शनप्रतिमा तो चौथे गुणस्थानमें ही मान लो और शेष बची हुई व्रतादिक दश प्रतिमाओंको पांचवें गुणस्थानमें मान लो । ऐसा माननेसे कोई विशेष हानि भी नहीं है परन्तु कवि कहते हैं कि यह शंका भी कभी नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह शंका करना ही ठीक नहीं है । इसका भी कारण यह है कि नियमपूर्वक मद्य मांसादिकका त्याग कर लेनेपर भी फिर अव्रतीपना किस कारणसे माना जायगा । यदि नियमपूर्वक मद्य मांसादिकके त्याग करनेरूप व्रतको धारण कर

प्रतिमाः शेषाः सन्तु पंचमके गुणे ॥ १३९ ॥ मैवं सति नियमादावव्रतित्वं कुतोऽर्थतः । व्रतादिप्रतिमासूच्चैरव्रतित्वानुषङ्गतः ॥ १४० ॥ ततो विविक्षतं साधु सामान्यात्सा कुलक्रिया । नियमेन सनाथा चेद्दर्शनप्रतिमात्मिका ॥ १४१ ॥ किंच मूलगुणादीनामादानेऽथापि वर्जने । समस्ते प्रतिमास्त्याद्या व्यस्तेसति कुलक्रिया

लेनेपर भी अव्रत अवस्था मानी जायगी तो फिर व्रत आदि बाकीकी दश प्रतिमाओंको धारण कर लेनेपर भी अव्रत अवस्था मान लेनी पडेगी । भावार्थ–दर्शनप्रतिमावाला नियमपूर्वक आठ मूलगुणोंको धारण करता है और सातों व्यसनोंका त्याग करता है यदि इस प्रकार नियमपूर्वक व्रत धारण कर लेने पर भी उसे अव्रती माना जाय तो फिर नियमपूर्वक अणुव्रतादिकोंको धारण कर लेनेपर भी अव्रती कहलानेमें कौन रोकेगा और इस प्रकार ग्यारह प्रतिमाओंको धारणकर लेनेपर भी वह अव्रती कहलावेगा तथा ऐसा माननेसे फिर पांचवें गुणस्थानका अभाव वा लोप मानना पडेगा इसलिए ऊपर लिखी शंका सर्वथा अनुचित है। दर्शनप्रतिमा पांचवें गुणस्थानमें ही होती है। यही सिद्धान्त शास्त्रानुकूल है और अनादिकालसे चला आ रहा है ॥ १३९-१४० ॥ अतएव सामान्य रीतिसे बिना किसी नियमके केवल कुलपरंपरासे चली आई परिपाटीके अनुसार जो मद्य मांस मधु पंचोदुंबर सातों व्यसनोंका सेवन न करना है उसको कुलक्रिया कहते हैं वा कुलाम्नाय कहते हैं और यदि उनके सेवन न करनेका नियम ले लिया जाय, नियमपूर्वक मद्यादिकका त्याग कर दिया जाय तो ऐसे सम्यग्दृष्टीके वह दर्शनप्रतिमा कहलाती है । यह जो हमने ऊपर कहा है सो बहुत ही ठीक शास्त्रानुकूल कहा है। भावार्थ–जो सम्यग्दृष्टी इन पापोंके त्याग करनेका नियम नहीं लेता परन्तु इनका सेवन भी नहीं करता उसका वह सेवन न करना तो कुलाचार कहलाता है और यदि वह उनका नियमपूर्वक त्याग कर दे तो फिर उसके वह दर्शनप्रतिमा हो जाती है ॥ १४१ ॥ उसमें भी इतना विशेष और समझ लेना चाहिए यदि कोई सम्यग्दृष्टी समस्त आठों मूलगुणोंको धारण करे और समस्त सातों व्यसनोंका त्याग करे तब तो उसके पहिली दर्शनप्रतिमा होती है। यदि वह अलग अलग किसी एक दो व्यसनोंका त्याग करे अथवा मूलगुणोंमेंसे किसी एक दो चार मूलगुणोंको धारण करे तो उसके पहिली दर्शन प्रतिमा नहीं कहलाती किन्तु कुलक्रिया कहलाती

॥ १४२ ॥ यथा चैकस्य कस्यापि व्यसनस्योज्झने कृते । दर्शनप्रतिमा न स्यात्स्याद्वा साध्वी कुलक्रिया ॥ १४३ ॥ यदा मूलगुणादानं द्यूतादिव्यसनोज्झनम् । दर्शनं सर्वतश्चैतत्त्रयं स्यात्प्रतिमादिमा ॥ १४४ ॥ दर्शनप्रतिमायास्तु क्रियाया व्रतरूपतः । तस्याः कुलक्रियायाश्चाविशेषोऽप्यस्ति लेशतः ॥ १४५ ॥ प्रमादोद्रेक-

है ॥ १४२ ॥ जैसे किसी सम्यग्दृष्टी मनुष्यने किसी एक व्यसनका त्यागकर दिया तो उसके दर्शनप्रतिमा नहीं कहलायगी किन्तु श्रेष्ठ कुलक्रिया कहलावेगी। भावार्थ-विना नियमके जो कुलपरम्पराकी परिपाटीके अनुसार सेवन नहीं किया जाता उसको कुलक्रिया कहते हैं तथा जो सम्यग्दृष्टी नियमपूर्वक किसी एक व्यसनका त्याग कर देता है वा एक दो मूलगुण धारण कर लेता है उसके वह श्रेष्ठ कुलक्रिया उत्तम कुलक्रिया कहलाती है ॥ १४३ ॥ जब उसके पूर्ण सम्यग्दर्शन होगा, आठों मूलगुण होंगे और सातों व्यसनोंका त्याग होगा । ये तीनों नियमपूर्वक पूर्ण रीतिसे होंगे, तभी उसके पहली दर्शनप्रतिमा होगी अन्यथा नहीं ॥ १४४ ॥ दर्शनप्रतिमामें होनेवाली व्रतरूप क्रियाओंमें (नियमपूर्वक धारण की हुई क्रियाओं में) तथा बिना नियमके होनेवाली कुलक्रियाओंकी क्रियाओंमें यद्यपि कुछ अशोंमें अविशेषता है एकसापन है तथापि यदि यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो उसमें बहुत कुछ अन्तर है। भावार्थ-दर्शन प्रतिमावाला भी जूआ नहीं खेलता, मद्य मांसादिकका सेवन नहीं करता और कुलक्रियाको पालन करनेवाला भी जूआ नहीं खेलता, मद्य मांसादिकका सेवन नहीं करता। इस प्रकार यद्यपि दोनोंकी क्रियाओंमें एकसापन है तथापि उन दोनों की क्रियामें तत्त्वदृष्टिसे बहुत अन्तर है। आगे उसी अंतरको दिखलाते हैं ॥ १४५ ॥ कुलक्रियामें प्रमादकी तीव्रता होती है क्योंकि प्रमाद ही उसे नियमपूर्वक त्याग नहीं करने देता अतएव प्रमादकी तीव्रता होनेके कारण कुलक्रियाएं सदोष समझी जाती हैं उनमें समय समयपर अनेक प्रकारके अनेक दोष लगते रहते हैं तथा दर्शनप्रतिमा धारण करनेवालेकी जो क्रियाएं हैं उनमें प्रमादकी अत्यंत मंदता है क्योंकि प्रमादोंकी मंदतासे ही वह नियमपूर्वक उनका त्याग करता है इसीलिए उसकी क्रियाएं निर्दोष हैं अथवा मन्दरूपसे प्रमादकी सत्ता रहनेके कारण कचित् कदाचित् कुछ थोडासा दोष लग भी जाता है इसलिए उस थोडेसे दोष-

तोदश्यं सदोषाःस्यात्कुलक्रियाः । निर्दोषाः स्वल्पदोषा वा दर्शनप्रतिमाक्रियाः ॥ १४६ ॥ यथा कश्चित्कुलाचारी द्यूतादिव्यसनोज्झनम् । कुर्याद्वा न यथेच्छायां कुर्यादेव दृगात्मकः ॥ १४७ ॥ अथ च पाक्षिको यद्वा दर्शनप्रतिमान्वितः । प्रकृत न परं कुर्यात्कुर्याद्वा वक्ष्यमाणकम् ॥ १४८ ॥ प्रामाणिकः क्रमोप्येष ज्ञातव्यो व्रतसंचये । भावना चागृहीतस्य व्रतस्यापि न दूषिका ॥ १४९ ॥ भावयेद्भावनां नूनमुपर्युपरि सर्वतः । यावन्निर्वाणसप्राप्तौ पुमोवस्थान्तरं भवेत् ॥ १५० ॥ उक्तं च—जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्कइ तहेव सद्दहणं । सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामर ठाणं ॥ ९ ॥ यथात्र पाक्षिकः कश्चिद्दर्शनप्रतिमोऽथवा ।

वाली क्रियाएं कहते हैं। भावार्थ—कुल क्रियाएं सदा सदोष रहती हैं क्योंकि उनमें नियमपूर्वक त्याग नहीं होता तथा दर्शनप्रतिमावालेकी क्रियाएं निर्दोष होती हैं अथवा उनमें यदि दोष लगता है तो थोडासा लगता है और वह भी कभी किसी कारणसे लगता है अन्यथा नहीं ॥ १४६ ॥ जैसे कुलक्रियाको पालन करनेवाला कोई पुरुष जूआ खेलने, चोरी करने आदि व्यसनोंका त्याग कर भी सकता है और नहीं भी कर सकता। त्याग करना और न करना उसकी इच्छापर निर्भर है उसकी इच्छा हो तो त्याग कर दे और यदि उसकी इच्छा न हो तो त्याग न करे। उसके नियमपूर्वक त्याग होना ही चाहिए यह बात नहीं है किंतु दर्शनप्रतिमावालेके नियमपूर्वक इनका त्याग होता है क्योंकि त्याग किये विना दर्शनप्रतिमा हो ही नहीं सकती। बस यही इन दोनोंमें अन्तर है ॥ १४७ ॥

जो पाक्षिक श्रावक होता है अथवा दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक होता है। वह कुलपरम्परासे चली आई परिपाटीका पालन नहीं करता किंतु नीचे लिखे अनुसार व्रतोंको पालन करता है ॥ १४८ ॥ व्रतोंके धारण करनेमें यही क्रम प्रामाणिक समझना चाहिये तथा जो आगेके व्रत धारण नहीं किये हैं उनको धारण करनेके लिये भावना रखनेमें कोई दोष नहीं है ॥ १४९ ॥ अथवा मोक्ष प्राप्त करनेमें जब तक इस जीवकी अंतिम शुद्ध अवस्था प्राप्त न हो जाय अर्थात् मोक्ष प्राप्त न हो जाय तब तक ज्यों ज्यों ऊंचे व्रत धारण करता जाय त्यों त्यों आगेके व्रत धारण करनेके लिये सर्वत्र भावनाएं रखनी चाहिए ॥ १५० ॥ सो ही शास्त्रोंमें लिखा है—

जं सक्कइ तं कीरइ जं चण सक्कइ तहेव सद्दहणं। सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं ॥

उपर्युपरि शुद्धयर्थं यद्यत्कुर्यात्तदुच्यते ॥ १५१ ॥ सर्वतोविरतिस्तेषां हिंसादीनां व्रतं महत् । नैतत्सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिङ्गमर्हताम् ॥१५२॥ मूलोत्तरगुणाः सन्ति देशतो वेश्मवर्तिनाम् । तथानगारिणां न स्युः सर्वतः स्युः परेऽथ ते ॥ १५३ ॥ तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम् । क्वचिदव्रतिनां यस्मात्सर्व-

अर्थ—जो कर सकता है वह कर लेना चाहिए और जो नहीं कर सकता उसका श्रद्धान करना चाहिए क्योंकि श्रद्धान करनेवाला जीव अजर अमर ऐसे मोक्षस्थानको प्राप्त होता है। इससे भी सिद्ध होता है कि आगामी व्रतोंकी भावना अवश्य रखनी चाहिए।

अब आगे पाक्षिक श्रावक अथवा दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक आगे आगे अपनी आत्माको शुद्ध करनेके लिए क्या क्या करता है, कौन कौनसे व्रत पालन करता है इसी बातको दिखलाते हैं ॥ १५१ ॥ इस संसारमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये पांच पाप कहलाते हैं। इन पांचों पापोंका पूर्णरीतिसे त्याग कर देना मन बचन काय और कृतकारित अनुमोदनासे त्याग कर देना महाव्रत कहलाते हैं। यह महाव्रत धारण करना भगवान अरहंतदेवका चिन्ह है। जिनलिंग अथवा निर्ग्रंथलिंग कहलाता है। इस अवस्थाको इन महाव्रतोंको गृहस्थलोग धारण नहीं कर सकते ॥१५२॥ किंतु गृहस्थलोग एकदेश व्रतोंको धारण करते हैं। इन्हीं एकदेश व्रतोंको मूलगुण और उत्तरगुण कहते हैं। ये एकदेशव्रतरूप मूलगुण अथवा उत्तरगुण मुनियोंके नहीं होते किंतु गृहस्थोंके ही होते हैं। मुनियोंके तो हिंसादि पांचों पापोंके पूर्णरूपसे त्याग करनेरूप महाव्रत होते हैं अथवा यों कहना चाहिए कि मुनियोंके मूलगुण और उत्तरगुण इन गृहस्थोंके मूलगुण वा उत्तरगुणोंसे सर्वथा भिन्न हैं। भावार्थ—गृहस्थोंके मूलगुण उत्तरगुण भिन्न हैं तथा मुनियोंके भिन्न हैं मुनि अपने मूलगुण उत्तरगुण पालन करते हैं और गृहस्थ अपने मूलगुण उत्तरगुण पालन करते हैं ॥ १५३ ॥ इनमेंसे आठ मूलगुण व्रत धारण करनेवाले गृहस्थोंके होते हैं अथवा अव्रती सम्यग्दृष्टियोंके भी होते हैं क्योंकि ये सर्वसाधारण व्रत हैं, प्रत्येक मनुष्यके पालन करने योग्य हैं, अतएव व्रती अव्रती दोनों प्रकारके श्रावकोंके होते हैं ॥ १५४ ॥ इस जीवके जबतक सम्यग्दर्शनरूप गुण रहता है तबतक मद्य मांस मधुका त्याग तथा पांचों उदंबरोंका त्यागरूप गुण

साधारणा इमे ॥ १५४ ॥ निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाःस्फुटम्। तद्विनापि व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च गुणोंगिनाम् ॥ १५५ ॥ एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः। किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथ वा ॥ १५६ ॥ मद्यमांसमधुत्यागी यथोदुम्बरपञ्चकम्। नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथापि तथा गृही ॥ १५७ ॥ यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम्। अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भिः श्रेयसीं क्रियाम् ॥ १५८ ॥ त्यजेद्दोषांस्तु तत्रोक्तान् सूत्रेऽतीचारसंज्ञकान्।

चाहे तो स्वभावसे हों और चाहे कुलपरम्पराकी परिपाटीके अनुसार चले आ रहे हों, नियमरूपसे वा व्रतरूपसे धारण न किए हों तो भी वे गुण ही कहलाते हैं ॥ १५५ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि इन गुणोंको धारण किए विना यह मनुष्य नाममात्रसे भी श्रावक नहीं कहला सकता। फिर भला पाक्षिक श्रावक वा गूढ़ श्रावक,वा नैष्ठिक श्रावक अथवा साधक श्रावक किस प्रकार कहला सकता है। भावार्थ—श्रावकपद प्राप्त करनेके लिए मद्य मांस मधुका त्याग तथा पांचों उदंबरोंका त्याग करना अत्यावश्यक है ॥ १५६ ॥ जो मनुष्य मद्य मांस मधुका त्यागी है और जिसने पांचों उदम्बरोंका त्यागकर दिया है ऐसा गृहस्थ नाममात्रका श्रावक कहलाता है। जिसने इन मद्यमांसादिकका त्याग नहीं किया है वह कभी श्रावक नहीं कहलाता। ऐसे गृहस्थको केवल गृहस्थ कहते हैं श्रावक नहीं कहते अतएव पाक्षिक श्रावकको अथवा दर्शनप्रतिमाधारी श्रावकको इन मद्य मांसादिकका त्याग अवश्यकर देना चाहिए ॥ १५७ ॥ इसीप्रकार जो गृहस्थ अपनी कल्याणमय क्रियाओंको करना चाहते हैं, पुण्यरूप क्रियाओंको करना चाहते हैं और जिन्होंने ऊपर लिखे मद्य मांसादिकका त्यागकर दिया है, मूल-गुण धारणकर लिए हैं, ऐसे गृहस्थोंको अपनी शक्तिके अनुसार सातों व्यसनोंका त्याग अवश्यकर देना चाहिए ॥ १५८ ॥ सूत्रोंमें वा शास्त्रोंमें इन आठों मूलगुणोंके अथवा सातों व्यसनोंके जो दोष बतलाए हैं जिनको अति चारोंके नामसे कहा गया है उनका भी त्याग अवश्य कर देना चाहिए। अन्यथा ऐसा कौन श्रावक है जो मद्य मांसादिकको साक्षात् सेवन करे। भावार्थ—शास्त्रोंमें आठों मूलगुणोंके भी अतिचार बतलाए हैं और सातों व्यसनोंके भी अतिचार बतलाए हैं सो पाक्षिक श्रावकोंको अथवा दर्शनप्रतिमाधारी श्रावकोंको उन समस्त अतिचारोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए। वास्तवमें देखा जाय तो अतिचारोंका त्याग कर देनेके लिए ही

अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत् ॥ १५९ ॥ दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याथ श्रद्धया । जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ॥ १६० ॥ कुपात्रा-
याप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम् । पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया ॥ १६१ ॥ शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादि पीडितेभ्योऽशुभोदयात् । दीनेभ्योऽभयदानादि

इनका त्याग कराया जाता है। जो श्रावककुलमें उत्पन्न हुआ है अथवा श्रावक कहलाता है वह इन मद्य मांसादिकका साक्षात् सेवन तो कभी करता ही नहीं फिर भी जो इनके त्याग करनेके लिए उपदेश दिया है उसका अभिप्राय यही है कि उस श्रावकके कदाचित् मद्य मांसादिकके त्यागके अतिचार लगते हों तो उनका भी वह त्याग कर दे ॥ १५९ ॥ इसीप्रकार उत्तम श्रावकोंको जघन्यपात्र वा मध्यमपात्र अथवा उत्तम पात्रोंके लिए पात्र-बुद्धिसे अथवा श्रद्धापूर्वक आहारदान, औषधदान, उपकरणदान और वसतिकादान वा अभयदान यह चारों-प्रकारका दान अवश्य देना चाहिए ॥ १६० ॥ इसीप्रकार कुपात्रोंके लिए तथा अपात्रोंके लिए भी उनकी योग्यतानुसार उचित दान देना चाहिए। भावार्थ—मद्य मांसादिकका दान देना तो सर्वथा अनुचित है। दान तो वही पदार्थ देना चाहिए जो शुद्ध निर्दोष और पवित्र हो। इसीप्रकार इन अपात्र वा कुपात्रोंको पात्र वा बडा समझ कर दान नहीं देना चाहिए किंतु यदि उनको कोई दुख हो तो करुणाबुद्धिसे उनका दुःख दूर कर देना चाहिए। यही बात आगे स्पष्ट रीतिसे लिखी है। कदाचित् यहांपर कोई यह कहे कि इन अपात्र वा कुपात्रोंको दान देना तो शास्त्रोंमें निषिद्ध बतलाया है इनको दान देनेका निषेध किया है तो उसके लिए कहते हैं कि यह ठीक है कि शास्त्रोंमें इन अपात्र वा कुपात्रोंके लिए दान देनेका निषेध किया है परन्तु इनके लिए पात्र बुद्धिसे दान देनेका निषेध किया है। करुणाबुद्धिसे दान देनेका निषेध नहीं किया है। इससे सिद्ध होता है कि इन अपात्र कुपात्रोंको करुणाबुद्धिसे दान देना चाहिए केवल इनका दुख दूर कर देना चाहिए। धर्मबुद्धिसे ये दान देनेके पात्र नहीं हैं ॥ १६१ ॥ इन पात्र कुपात्र अपात्रोंके सिवाय और भी जो जीव अपने अशुभ कर्मके उदयसे भूख वा प्यास आदिसे पीडित हों वा कोई दीन दुःखी हों उनके लिए भी करुणासागर श्रावकोंको अभयदान आदि योग्यतानुसार उचित दान देना चाहिए ॥ १६२ ॥ इसी प्रकार बुद्धिमान श्रावकोंको भगवान अरहंतदेवकी

दातव्यं करुणार्णवैः ॥ १६२ ॥ पूजामप्यर्हतां कुर्याद्वा तत्प्रतिमासु च । स्वरव्यंजनान् संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधीः ॥ १६३ ॥ सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरस्तात्पादयोः स्तुतिम् । प्राग्विधायाष्टधा पूजां विदध्यात्स त्रिशुद्धिनः ॥ १६४ ॥ सन्मानादि यथाशक्ति कर्तव्यं च सधर्मिणाम् । व्रतिनां चेतरेषां वा विशेषाद् ब्रह्मचारिणाम् ॥ १६५ ॥ नारिम्योपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे । देयं सन्मानदानादि लोकानामविरोधतः ॥ १६६ ॥ जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे सावधानता । यथा-

पूजा करनी चाहिए अथवा भगवान अरहंतदेवकी प्रतिमामें भगवानकी पूजा करनी चाहिए तथा स्वर और व्यंजनोंको स्थापन कर सिद्धयंत्र बना कर सिद्ध भगवानकी पूजा करनी चाहिए ॥१६३॥ इसीप्रकार मन वचन कायकी शुद्धतापूर्वक आचार्य उपाध्याय साधुओंकी जलचन्दनादिक आठोंद्रव्योंसे पूजा करनी चाहिए और फिर उनके समीप बैठ कर उनके चरणकमलोंकी स्तुति करनी चाहिए ॥ १६४ ॥ तदनन्तर अपनी शक्तिके अनुसार व्रती वा अव्रती धर्मात्माओंका आदर सत्कार करना चाहिए तथा ब्रह्मचारी त्यागियोंका आदरसत्कार विशेष रीतिसे करना चाहिए । भावार्थ—यहांपर आदर सत्कारका अर्थ उनकी कुशलता पूछना, उनका सन्मान करना, उनके दुःखोंको दूर करना वा आहारादिक दान देना है । सो इस प्रकारका आदर सत्कार समस्त धर्मात्माओंका करना चाहिए और जो त्यागी ब्रह्मचारी हों उनका आदर सत्कार विशेष रीतिसे करना चाहिए क्योंकि उनका धर्मसाधन वा तपश्चरण गृहस्थोंके ही आधारपर निर्भर होता है ॥ १६५ ॥ जो स्त्रियां व्रत पालन करती हैं जिन्होंने गृहस्थधर्म छोड दिया है ब्रह्मचारिणी हैं वा क्षुल्लिका हैं उनका आदरसत्कार करना भी जैनशास्त्रोंमें निषिद्ध नहीं बतलाया है । ऐसी स्त्रियोंका आदरसत्कार भी इसप्रकार करना चाहिए जिससे लौकिक दृष्टिमें कोई किसी प्रकारका विरोध न आवे । इससे यह भी अभिप्राय निकलता है कि गृहस्थ धर्ममें रहनेवाली स्त्रियां हैं और वे विशेष व्रत पालन करती हैं उनका भी यथायोग्य आदर सत्कार करना चाहिए आवश्यकतानुसार उनके दुःख दूर करने चाहिए । परंतु यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि वह आदर सत्कार इसप्रकार किया जाय जिससे लौकिक दृष्टिमें कोई विरोध न आवे ॥ १६६ ॥ भगवान अरहंतदेवकी प्रतिमा वा जिनालय बनवानेमें भी सावधानी रखनी चाहिए । जिनप्रतिमा वा जिनालय इस अच्छी रीतिसे बनवाना चाहिए जिससे कि थोडेसे

सम्यद्विधेयास्ति दूष्या नावद्यलेशतः ॥ १६७ ॥ सिद्धानामर्हतां चापि यन्त्राणि प्रतिमाः शुभाः । चैत्यालयेषु संस्थाप्य द्राक् प्रतिष्ठापयेत्सुधीः ॥ १६८ ॥ अपि तीर्थादियात्रासु विदध्यात्सोद्यतं मनः । श्रावकः स च तत्रापि संयमं न विराधयेत् ॥ १६९ ॥ नित्ये नैमित्तिके चैत्यजिनबिम्बमहोत्सवे । शैथिल्यं नैव कर्तव्यं तत्त्वज्ञै-

भी पापोंसे दूषित न होने पावें । भावार्थ–जिनप्रतिमा वा जिनालय यत्नाचारपूर्वक बनवाना चाहिए जिससे उनके बनवानेमें जीवोंको बाधा न हो और कोई किसी प्रकारका दोष उत्पन्न न हो ॥ १६७ ॥ बुद्धिमान गृहस्थोंको सिद्धपरमेष्ठीके यंत्र बनवाने चाहिए तथा अनेक शुभ लक्षणोंसे सुशोभित ऐसी अरहंत भगवानकी प्रतिमाएं बनवानी चाहिए । उन सिद्धयंत्र और जिनप्रतिमाओंको जिनालयमें स्थापन कर सबसे पहले उनकी प्रतिष्ठा करानी चाहिए । भावार्थ–नवीन प्रतिमाएं बनवा कर प्रतिष्ठा करानी चाहिए और फिर उनको जिनालयोंमें वा चैत्यालयोंमें विराजमान करनी चाहिए ॥ १६८ ॥ श्रावकोंको तीर्थयात्रा, संघयात्रा आदि करनेके लिए भी अपने मनको सदा उत्साहित रखना चाहिए । भावार्थ—ये भी सब पुण्यकार्य हैं इनको भी सदा करते रहना चाहिए परंतु इतना ध्यान रखना चाहिए कि उन तीर्थयात्रा आदि करनेमें अपने संयममें किसी प्रकारकी बाधा वा विराधना[१] नहीं होनी चाहिए ॥ १६९ ॥ प्रतिदिन होनेवाली पूजा वंदना वा अभिषेक आदिमें तथा किसी निमित्तसे होनेवाले अभिषेक पूजा वंदना आदिमें वा किसी जिनप्रतिमा वा जिनालयके महोत्सवमें पूजा प्रतिष्ठा रथोत्सव आदि पुण्य बढानेवाले प्रभावनाके कार्योंमें श्रावकोंको कभी शिथिल नहीं होना चाहिए । तथा जो तत्त्वोंके जानकार विद्वान् श्रावक हैं उनको विशेष रीतिसे ऐसे कार्योंमें उत्साहपूर्वक भाग लेना चाहिए । विद्वान् श्रावकोंको तो ऐसे पुण्यवर्द्धक कार्योंमें कभी भी शिथिलता नहीं करनी चाहिये ॥ १७० ॥ इसीप्रकार गृहस्थ श्रावकोंको इंद्रिय-

---

१ यहांपर तीर्थयात्रा करनेमें भी संयमकी विराधनाका निषेध लिखा है। इससे सिद्ध होता है जिन देशोंमें जानेसे संयमकी विराधना होती हो ऐसे देशमें कभी नहीं जाना चाहिए । इस समयकी समुद्रयात्रा वा विलायत जाना सम्यग्दर्शन और संयम दोनोंका नाश करनेवाला है इसलिये वहां जानेके लिये किसी श्रावकको उद्यत नहीं होना चाहिए ।

स्तद्विशेषतः ॥ १७० ॥ संयमो द्विविधश्चैव विधेयो गृहमेधिभिः । विनापि प्रतिमारूपं व्रतं यद्वा स्वशक्तितः ॥ १७१ ॥ तपो द्वादशधा द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदतः । कृत्स्नमन्यतमं वा तत्कार्यं चानतिवीर्यवान् ॥ १७२ ॥ उक्तं दिङ्मात्रतोप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतम् । वक्ष्ये चोपासकाध्यायं सावकाशं सविस्तरम् ॥ १७३ ॥

इतिश्रीस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्लविरचितायां श्रावकाचारापरनाम लाटीसंहितायां साधुश्रीदूदाकसंघी मोतीलाल फामनमनःसरोजारविन्दविकाशनैकमार्तण्डमण्डलायमानायां दर्शनप्रतिमाधिकारमध्ये सम्यग्दर्शनसामान्यलक्षण चोमवा वर्णनो नाम तृतीयः सर्गः ।

संयम[1] और प्राणिसंयम दोनों प्रकारके संयमोंका पालन करना चाहिये अथवा जिन्होंने प्रतिमारूपसे व्रत धारण नहीं किए हैं ऐसे पाक्षिक श्रावकोंको अपनी शक्तिके अनुसार अहिंसादिक अणुव्रतोंका पालन करना चाहिये ॥ १७१ ॥ इसीप्रकार तपश्चरणके दो भेद हैं बाह्यतप और अंतरंगतप । बाह्यतपके अनशन, अवमोदर्य, वृत्ति-परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश ये छह भेद हैं तथा अन्तरंग तपके प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह भेद हैं । इसप्रकारका बारह प्रकारका तप भी अपनी शक्तिके अनुसार गृहस्थोंको पालन करना चाहिए । जो गृहस्थ तपश्चरण पालन करनेकी अधिक शक्ति नहीं रखते उनसे यदि बारह प्रकारका तपश्चरण पालन न हो सके तो ऐसे श्रावकोंको इन बारह प्रकारके तपश्चरणमेंसे एक दो चार आदि जितने बन सकें उतने तपश्चरण पालन करने चाहिये ॥ १७२ ॥ इसप्रकार प्रकरणके अनुसार हमने यहांपर थोडासा गृहस्थोंका व्रत बतलाया है । आगे अवकाशके समय वा धीरे धीरे विस्तारके साथ श्रावकाचारका वर्णन करेंगे ॥ १७३ ॥

इस प्रकार स्याद्वादस्वरूप निर्दोष गद्यपद्यविद्यामें अत्यन्त चतुर और विद्वानोंमें शिरोमणि ऐसे कविराज राजमल्लके द्वारा बनी हुई तथा सज्जनोत्तम दूदाके सुपुत्र श्रीफामनके मनरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्यमंडलके समान सुशोभित होनेवाली और श्रावकाचार है दूसरा नाम जिसका ऐसी इस लाटी संहिता नामके ग्रंथकी चावली (आगरा) निवासी देहली प्रवासी "धर्मरत्न" लालाराम जैन शास्त्री द्वारा विरचित हिन्दी भाषा टीकामें दर्शनप्रतिमा नामके महाअधिकारमें सम्यग्दर्शनके सामान्य लक्षणका वर्णन करनेवाला यह तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

१ पांचों इन्द्रियोंको तथा मनको वश करना इन्द्रिय संयम है तथा छहों कायके जीवोंकी रक्षा करना प्राणिसंयम है ।

अथ चतुर्थ सर्गः ।

इदमिदं तव भो वनिजापते, भवतु भावितभावसुदर्शनम् । विदितफामननाममहामते, रसिकधर्मकथासु यथार्थतः ॥१॥ इत्याशीर्वादः । ननु सुदर्शनस्यैतल्लक्षणं स्यादशेषतः । किमथास्त्यपरं किञ्चल्लक्षणं तद्वदाद्य नः ॥ १ ॥ सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमस्ति सिद्ध जगत्त्रये । लक्षणं च गुणश्चाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥ २ ॥ निःशंकितं तथा नामा निःकाङ्क्षितमतः परम् । विचिकित्सावर्जं चापि यथादृष्टेरमूढता ॥ ३ ॥ उपबृंहणनामाथ सुस्थितीकरणं तथा । वात्सल्यं च यथाम्नायादमुगुणो-ष्यस्ति प्रभावना ॥ ४ ॥ शङ्का भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी । तस्या निष्क्रान्तितो जातो भावो निःशंकितोर्थतः ॥ ५ ॥ अर्थवशादत्र सूत्रार्थे शङ्का न

अथ चौथा सर्ग

हे धर्मकथाके वास्तविक रसिक हे बुद्धिमान् हे वैश्योंमें अधिपति, इत्यादि गुणोंको धारण करनेवाले हे फामन ! जिस सम्यग्दर्शनका वर्णन हम आगे करते हैं वह यह सम्यग्दर्शन तेरे भी हों ॥ १ ॥ इत्याशीर्वाद ।

शंकाकार कहता है कि क्या सम्यग्दर्शनका सम्पूर्ण लक्षण इतना ही है अथवा कुछ और भी है । यदि इसके सिवाय और भी कोई लक्षण है तो उसे आज कहिये ॥ १ ॥ तीनों लोकोंमें सम्यग्दर्शनके आठ अंग प्रसिद्ध हैं तथा लक्षण गुण अंग आदि सब शब्द एक ही अर्थको कहनेवाले हैं ॥ २ ॥ निःशंकित, निःकांक्षित, निर्वि-चिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यग्दर्शनके आठ अंग शास्त्रोंकी पर-परापूर्वक अनादिकालसे चले आ रहे हैं ॥ ३-४ ॥ शंका, भी , साध्व, भीति और भय ये सब शब्द एक ही अर्थको कहनेवाले हैं । जो आत्माके भाव इन शब्दोंके द्वारा कहे जानेवाली शंकासे रहित हैं उसीको निःशंकित अंग कहते हैं ॥ ५ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि बुद्धिमानोंको अपने किसी भी प्रयोजनसे किसी भी सूत्रके अर्थमें किसी भी पदार्थके स्वरूपमें शंका नहीं करनी चाहिये । संसारमें जो पदार्थ सूक्ष्म हैं इंद्रियगोचर नहीं हैं जो अन्तरित हैं अर्थात् जिनके मध्यमें अनेक नदी पर्वत क्षेत्र द्वीप समुद्र आदि पड गये हैं अथवा जो दूरार्थ हैं अर्थात् जो सैकडों हजारों वर्ष पहले हो चुके हैं ऐसे समस्त पदार्थोंपर गाढ विश्वास होना चाहिये । ये सब पदार्थ पहले कहे हुए आस्तिक्य गुणके गोचर होने चाहिये ॥ ६ ॥ धर्म अधर्म आकाश आदि सब सूक्ष्म पदार्थ हैं

माहात्म्यं महतां महत् । यदस्य जगतो ज्ञानमस्त्यास्तिक्यपुरस्सरम् ॥ ११ ॥ नासंभवमिदं यस्मात्स्वभावोऽतर्कगोचरः । अतिशयोऽतिवागस्ति योगिनां योगिशक्तिवत् ॥ १२ ॥ अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः । स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम् ॥ १३ ॥ यत्रानुभूयमानोऽपि सर्वैरात्मात्मनि । मिथ्याकर्मविपा-

अस्तिरूप समझना है। मिथ्यादृष्टी पुरुषके वह आस्तिक्यगुण होते नहीं इसलिये मिथ्यादृष्टीको उन पदार्थों-का ज्ञान सन्देह रहित नहीं होता तथा आस्तिक्यगुण होनेके कारण सम्यग्दृष्टीको उन पदार्थोंका ज्ञान संदेह रहित होता है ॥ ११ ॥ "आस्तिक्यगुणके कारण सम्यग्दृष्टीको समस्त संसारके पदार्थोंका ज्ञान संदेहरहित हो जाता है" यह बात असंभव नहीं है क्योंकि सम्यग्दृष्टीका स्वभाव ही ऐसा होता है । जो जिसका जैसा स्वभाव होता है उसमें किसी भी प्रकारका तर्क वितर्क नहीं हो सकता। सम्यग्दृष्टीका यह अतिशय वचनोंके अगोचर होता है। जैसे योगियोंकी योगशक्ति वचनोंके अगोचर होती है। भावार्थ—जिसप्रकार नीम कडवा होता है और ईख मीठी होती है। यह दोनोंका अलग अलग स्वभाव है इस स्वभावमें किसीका तर्क वितर्क चल नहीं सकता कि नीम कडवा ही क्यों होता है। उसका स्वभाव ही कडवा है इसीलिये वह कडवा होता है। इसीप्रकार सम्यग्दृष्टीका भी ऐसा ही स्वभाव है कि जिससे उसकी बुद्धिमें समस्त पदार्थ यथार्थ अस्तिरूप ही प्रतिभासित होते हैं। ऊपरके उदाहरणके समान सम्यग्दृष्टीके इस स्वभावमें भी किसीका तर्क वितर्क नहीं चल सकता। जिसप्रकार योगियोंकी योगशक्ति वचनोंके अगोचर होती है उसको कोई नहीं कह सकता कि वह कितना और क्या क्या काम कर सकती है उसीप्रकार सम्यग्दर्शनकी इस महिमाको इस अतिशयको भी कोई नहीं कह सकता ॥ १२ ॥ सम्यग्दृष्टीका ज्ञान आत्माके शुद्धस्वरूपको जाननेवाला ज्ञान है। वह ज्ञान शुद्ध है स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है और सिद्धोंके समान है। भावार्थ-पहले कह चुके हैं कि सम्यग्दर्शन आत्माका एक गुण है और वह प्रकाशरूप है। उस प्रकाशके कारण ही सम्यग्दृष्टीको अपने शुद्ध आत्माका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इसीको स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहते हैं। यह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष वैसा ही होता है जैसा कि सिद्धोंको अपने आत्माका अनुभव होता है। यह सब उस आस्तिक्य गुणकी ही महिमा है ॥ १३ ॥ यह अपने शुद्ध आत्माका अनुभव

बालकोंसे लेकर वृद्धोंतक समस्त आत्माओंमें होता है। क्योंकि समस्त आत्माओंका स्वभाव ही ऐसा है तथापि मिथ्यादृष्टियोंको जो उसका अनुभव नहीं होता उसका कारण केवल मिथ्यात्वकर्मका उदय है। जिस जिस जीवके मिथ्यात्व कर्मका उदय होता है उसीके उस शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं होने पाता क्योंकि मिथ्यात्वकर्म उसका बाधक होता है ॥ १४ ॥ इसमें भी इतना और समझ लेना चाहिये कि मिथ्यादृष्टी और सम्यग्दृष्टीको केवल पदार्थोंके अनुभवमें, स्वाद लेनेमें अंतर पडता है। उन आत्माओंमें कोई किसीप्रकारका वास्तविक भेद नहीं है तथा पदार्थोंकी जो सीमाएं हैं मर्यादाएं हैं उनका उल्लंघन कभी नहीं होता है। भावार्थ—आत्माएं सबकी समान होनेके कारण उस शुद्धस्वरूप अपने आत्माके अनुभव करनेकी शक्ति सब आत्माओंमें समान है। प्रत्येक आत्माकी इस शक्तिका इस सीमाका कभी उल्लंघन नहीं होता परन्तु मिथ्यात्वकर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टीको उसका अनुभव विपरीतरूप होता है। मिथ्यात्वकर्म आत्मजन्य सुखका तो अनुभव होने नहीं देता इसलिये वह मिथ्यादृष्टी इन्द्रिजन्य सुखको ही सुख मान लेता है। इसीप्रकार मिथ्यात्वकर्म अपने आत्माके शुद्धस्वरूपका अनुभव नहीं होने देता इसलिए वह कर्मोंके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले आत्माके राग द्वेषादिक विकारोंको ही अपना स्वरूप मान लेता है। इसप्रकार मिथ्यादृष्टीको मिथ्यात्व कर्मके उदयसे अपने आत्माका अनुभव विपरीत होता है और सम्यग्दृष्टीको मिथ्यात्वकर्मका अभाव होनेके कारण यथार्थ अनुभव होता है। इस भेदके सिवाय उनके आत्मामें कोई भेद नहीं है ॥ १५ ॥ इस सबके कहनेका अभिप्राय यही है कि यद्यपि जाननेवाला आत्मतत्त्व भी समान है। जैसा मिथ्यादृष्टीका है वैसा ही सम्यग्दृष्टीका है तथा जानने योग्य पदार्थ भी दोनोंके एक ही हैं भिन्न भिन्न नहीं हैं तथापि मिथ्यादृष्टीको जो पदार्थोंमें भ्रम होता है वह केवल उसकी शंकाका अपराध है। उसकी आत्मामें शंका उत्पन्न होती है उसे शंकाके कारण उस पदार्थोंमें भ्रम होता है। तथा वह शंका उसके मिथ्यात्वकर्मके उदय होनेके कारण होती है। भावार्थ—मिथ्यात्वकर्मके उदयसे शंका होती है और शंका

यो भ्रमः । शङ्कायाः सोऽस्त्यपराधो सास्तिमिथ्योपजीविनी ॥ १६ ॥ ननु शंकाकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो नृणाम् । सा शंकापि कुतो न्यायादस्ति मिथ्योपजीविनी ॥ १७ ॥ अत्रोत्तरं कुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्युतः । नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः सप्तभिः स भयैर्मनाक् ॥ १८ ॥ परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी । भीतिः पर्याय-

होनेसे पदार्थोंमें भ्रम होता है। यदि मिथ्यात्वकर्म न हो तो न तो उसको शंका उत्पन्न हो सकती है और न पदार्थोंमें भ्रम होता है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टीके यथार्थ अनुभव होता है ॥ १६ ॥ यहांपर शंकाकार फिर कहता है कि मनुष्योंको अपने आत्माका मिथ्या वा विपरीत अनुभव होता है वह शंकासे होता है यह बात तो ठीक है परन्तु वह शंका मिथ्यात्वकर्मके उदयसे ही होती है यह बात किसप्रकार सिद्ध हो सकती है ? ॥ १७ ॥ आगे इसी शंकाका समाधान करते हैं कि वह शंका मिथ्यात्वकर्मके उदयसे ही होती है इसका कारण यह है कि जिसके मिथ्यात्व कर्मका उदय है ऐसा मिथ्यादृष्टी सातों भयोंसे सदा डरता रहता है परन्तु जिसके मिथ्यात्व-कर्मका उदय नहीं है ऐसा सम्यग्दृष्टी सातों भयोंसे किंचिन्मात्रभी नहीं डरता है। डरनेकी तो बात ही क्या है सम्यग्दृष्टी उन सातों भयोंका स्पर्श भी नहीं करता है। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि शंका वा डर उत्पन्न करनेवाला मिथ्यात्वकर्म ही है ॥ १८ ॥ जिस समय यह जीव पर पदार्थोंमें अपने आत्माका अनुभव करने लगता है उसी समय इसको भय उत्पन्न होता है। परपदार्थोंमें अपने आत्माका अनुभव हुए बिना भय किसीप्रकार उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिये जो जीव आत्माकी विभाव पर्यायोंको ही अपना आत्मा समझ लेते हैं उन्हीं-को भय होता है। जो जीव केवल अपने शुद्ध आत्माका ही अनुभव करते हैं उनके भय कभी नहीं हो सकता। भावार्थ-यह शरीर तथा कर्मोंके निमित्तसे होनेवाले रागद्वेषादिक परपदार्थ हैं आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं जो मिथ्या-दृष्टी अपने मिथ्यात्वकर्मके उदयसे शरीरादिकको ही वा रागद्वेषादिकको ही अपना आत्मा मान लेते हैं उन्हींके उस शरीरादिकको बाधा होनेपर या उसका नाश होनेपर भय होता है। जो मिथ्यात्वकर्मके अभाव होनेपर केवल शुद्ध आत्माका अनुभव करते हैं उनके भय होनेका कोई कारण ही नहीं है क्योंकि शुद्ध आत्मा सदा शुद्ध ही रहता है उसमें किसीप्रकार विकार नहीं होता ॥१९॥ इसप्रकार ऊपर लिखे अनुसार जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि भय

मूढ़ानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम् ॥ १९ ॥ ततो भीत्यानुमेयोस्ति मिथ्या भावो जिनागमात्। सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतोः स्वानुभवक्षतेः ॥ २० ॥ अस्ति सिद्धं परायत्तो भीतः स्वानुभवच्युतः। स्वस्थस्य स्वाधिकारित्वान्नूनं भीतेरसम्भवात् ॥ २१ ॥ ननु सन्ति चतस्रोपि संज्ञास्तस्यास्य कस्यचित्। अर्वाक् तत्तत्स्थितिच्छेदस्थाना-

मिथ्यात्वकर्मके उदयसे ही होता है। उसके उत्पन्न होनेका और कोई कारण नहीं है तब यह बात भी अनुमानसे सिद्ध हो जाती है कि जिन जिन जीवोंके भय है उनके मिथ्यात्वकर्मका उदय अवश्य है तथा यह बात जैनशास्त्रोंमे सिद्ध है कि मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होनेवाला वह भय अपने आत्माके अनुभवके नाश करनेमें अवश्य ही कारण है। भावार्थ-जिसके भय होता है उसके अपने शुद्ध आत्माका अनुभव कभी नहीं हो सकता अथवा यों कहना चाहिए कि जिसके अपने शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं होता उसीके भय होता है ॥२०॥ अतएव इस ऊपरके कथनसे यह सिद्ध हुआ कि जो पराधीन है पर पदार्थोंको अपना आत्मा समझ रहा है और इसीलिए जो भय सहित है वह मनुष्य अपने आत्माके अनुभवसे अवश्य ही रहित है तथा जो मनुष्य अपने आत्माके अनुभवमें लीन है वह अपने ही आत्माका अधिकारी है परपदार्थका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है इसलिए उस मनुष्यको किसी भी प्रकारका भय होना नितान्त असम्भव है। भावार्थ---भयका कारण परपदार्थ है जो पुरुष परपदार्थसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखता उसको कभी भी भय उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि बिना कारणके कभी कोई कार्य उत्पन्न हो ही नहीं सकता ॥ २१ ॥

यहांपर कोई शंकाकार कहता है कि किसी किसी सम्यग्दृष्टीके आहार भय मैथुन और परिग्रह ये चारों संज्ञाएं रहती हैं तथा उन संज्ञाओंका जहांतक जिस गुणस्थानतक नाश नहीं होता है वहांतक उन संज्ञाओंका अस्तित्व मानना ही पडेगा। अतएव सभी सम्यग्दृष्टी निर्भय होते हैं यह बात कैसे बन सकती है। अर्थात् जिस सम्यग्दृष्टीके जहांतक भयसंज्ञा है वहांतक तो उसके भय मानना ही पडेगा इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। दूसरी बात यह है कि अनिष्ट पदार्थोंका सम्बन्ध होनेपर सम्यग्दृष्टीको भी प्रमाद उत्पन्न होता है और प्रमादके कारण वह भय करने लगता है यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है अर्थात् सर्पादिक अनिष्ट पदार्थोंका संयोग

दस्तित्वसम्भवात् ॥ २२ ॥ तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि । अन्यनिष्ठार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रमत्तवान् ॥ २३ ॥ सत्यं भीतोऽपि निर्भीकस्तत्स्वामित्वाद्यभावतः । रूपिद्रव्यं यथा चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ॥ २४ ॥ सन्ति संसारिजीवानां कर्माशाश्चोदयागताः । मुह्यन् रज्यन् द्विषंस्तत्र तत्फलेनोपयुज्यते ॥ २५ ॥

होनेपर उनसे बचनेका प्रयत्न वह करता ही है। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टीको भी भय होता है वह सदा निर्भय नहीं रहता ॥ २२-२३ ॥ आगे कवि इस शंकाका समाधान करते हुए शंकाकारसे कहते हैं कि भाई यह बात ठीक है कि किसी किसी सम्यग्दृष्टीको भय होता है, किंतु वह सम्यग्दृष्टी भयवान होता हुआ भी निर्भय रहता है। इसका भी कारण यह है कि यद्यपि उसके चारों संज्ञाएं हैं उन संज्ञाओंके कारण उसको भय उत्पन्न होता है परंतु उसीके साथ यह भी है कि वह सम्यग्दृष्टी अपने आत्माको उन संज्ञाओंका स्वामी नहीं समझता अथवा यों कहना चाहिए कि उन संज्ञाओंको अपनी नहीं समझता किंतु कर्मोंसे उत्पन्न होनेके कारण उन्हें पौद्गलिक वा परपदार्थरूप समझता है अथवा उन्हें कर्मजन्य उपाधि समझता हुआ परपदार्थरूप समझता है इसीलिए उन संज्ञाओंके होनेपर भी उसको भय उत्पन्न नहीं होता जैसे चक्षु रूपादिक परपदार्थोंको देखता हुआ भी नहीं देखता। भावार्थ-यद्यपि रूपादिक पदार्थोंको चक्षु देखता है तथापि वास्तवमें देखा जाय तो भावेंद्रियसे ही पदार्थ देखा जाता है। पुद्गलमय द्रव्यचक्षुसे कुछ नहीं देखा जाता। यदि द्रव्यचक्षु ही देखता तो उस शरीरसे जीव निकल जानेके बाद भी देखता परंतु जीव निकल जानेके बाद वह नहीं देखता। इससे सिद्ध होता है कि देखने की शक्ति भावेंद्रियमें अथवा आत्मामें है। उसीप्रकार सम्यग्दृष्टी मिथ्यादृष्टीके समान अपनेको संज्ञाओंका स्वामी समझ कर उसमें लीन नहीं होता किंतु उनसे अपनेको सर्वथा भिन्न समझता है और इसीलिए उन संज्ञाओंसे उत्पन्न होनेवाला भय उसको नहीं होता ॥२४॥ इस संसारमें जितने प्राणी हैं उन सबके कर्मोंकी वर्गणाएं उदयमें आती रहती हैं। उन कर्मोंके उदय होनेसे जो सुखदुःखादिक फल मिलता है उसमें यह संसारी जीव मोह करने लगता है वा राग करने लगता अथवा द्वेष करने लगता है, परंतु सम्यग्दृष्टी पुरुष इन सब कारणोंके मिलनेपर निःशंक रहता है। न तो उन कर्मोंके फलोंमें राग करता है न द्वेष करता है और न मोह करता है क्योंकि राग

एतेन हेतुना ज्ञानी निःशंको न्यायदर्शनात्। देशतोऽप्यत्र मूर्च्छाया शंकाहेतोरसम्भवात् ॥ २६ ॥ स्वात्मसंचेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते। येन कर्मापि कुर्वाणो कर्मणा नोपयुज्यते ॥ २७ ॥ तत्र मीतिरिहामुत्रलोके वा वेदनाभयं। चतुर्थी मीतिरत्राण स्यादगुप्तिस्तु पञ्चमी ॥ २८ ॥ भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युर्भीतिराकस्मिकी ततः। क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैताः भीतयः स्मृताः ॥ २९ ॥ तत्रेह लोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्रजन्मनि। इष्टार्थस्य व्ययो माभून्मा मेऽनिष्टार्थसङ्गमः ॥ ३० ॥ स्थास्यतीदं धन नो वा दैवान्माभूदरिद्रता। इत्याद्याधिश्चिता दग्धु ज्वलितेव दृगात्मनः ॥३१॥ अर्थादज्ञानिनो भीतिर्भीतिर्न ज्ञानिनः क्वचित्। यतोस्ति हेतुतः शेषा-

द्वेष मोह ये तीनों ही दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे होते हैं तथा सम्यग्दृष्टी पुरुषके दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव है इसीलिए उसके राग द्वेष मोह उत्पन्न नहीं होते अतएव यह बात न्यायसे सिद्ध हो जाती है कि सम्यग्ज्ञानीके एकदेश भी मूर्च्छा नहीं है इसलिए उसके शंका उत्पन्न होनेके कारण ही असंभव है ॥ २५-२६ ॥

आगे इसी बातका विचार करते हैं कि इस सम्यग्दृष्टीकी ज्ञानचेतना कैसी विचित्र है जिसके कारण वह सम्यग्दृष्टी कर्मोंको करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता। भावार्थ—सम्यग्दृष्टीकी आत्मा ऐसी विचित्र निर्मल है कि जिसके कारण वह कर्मोंको करता है तथापि उनसे लिप्त नहीं है। आगे उसी निर्मल ज्ञानचेतनापर विचार करते हैं ॥ २७ ॥ संसारमें सात प्रकारके भय हैं। क्रमसे उनके नाम ये हैं—इस लोकका भय, परलोकका भय, वेदनाका भय, चौथा अरक्षाका भय, पांचवां अगुप्तिका भय, छठा मृत्युका भय और सातवां आकस्मिक भय। ये सात प्रकारके भय हैं ॥ २८-२९ ॥ इनमेंसे सबसे पहले इस लोकके भयको दिखलाते हैं। मेरे इष्ट पदार्थोंका कभी नाश न हो, इसीप्रकार मेरे अनिष्ट पदार्थोंका समागम भी कभी न हो। इसप्रकार इस जन्ममें सदा विलाप करते रहना इष्टवियोग और अनिष्टसंयोगसे सदा डरते रहना इसलोकसंबंधी भय कहलाता है ॥ ३० ॥ "यह धन मेरे ठहरेगा अथवा नहीं, मेरे घर दैवयोगसे भी कभी दरिद्रता न हो" इसप्रकारकी अन्तरंगकी व्याधिरूपी चिंताएं मानों मिथ्यादृष्टीको जलानेके लिए ही उसके हृदयमें सदा जलती रहती हैं। भावार्थ—इसलोकमें होनेवाले दुःखोंसे सदा डरते रहना इस लोकका भय है ॥ ३१ ॥ इस ऊपर लिखे हुए इसलोकके भयके लक्षणसे यह बात अर्थात् सिद्ध हो जाती है कि यह ऊपर लिखा हुआ इस लोकसम्बन्धी भय अज्ञानी वा मिथ्यादृष्टीको ही

द्विशेषज्ञानयोर्महान् ॥ ३२ ॥ अज्ञानी कर्म नोकर्म भावकर्मात्मकं च यत् । मनुतेऽहं सर्वमेवैतन्मोहादद्वैतवादवत् ॥ ३३ ॥ विश्वाद्भिन्नोपि विश्वं स्वं कुर्वन्नात्मानमात्महा । भूत्वा विश्वमयो लोके भयं नोज्झति जातुचित् ॥ ३४ ॥ तात्पर्यं सर्वतोऽनित्ये कर्मणां पाकसम्भवात् । नित्यं बुध्वा शरीरादौ भ्रान्तो भीतिमुपैति सः

होता है। वह इस लोकसंबंधी भय सम्यग्ज्ञानी वा सम्यग्दृष्टीको कभी किसी कालमें भी नहीं होता है। इस-प्रकारके इस फलरूप हेतुसे वा इस कार्यरूप हेतुसे यह बात सहज सिद्ध हो जाती है कि सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीमें बहुत भारी अन्तर है। भावार्थ—मिथ्यादृष्टीकी आत्मा सदा भयभीत रहती है और सम्यग्दृष्टी की आत्मा सदा निर्भय निष्कंप वा अचल रहती है। इससे सिद्ध होता है कि उन दोनोंकी आत्माओंमें बडा-भारी अन्तर है तथा उस अन्तरका कारण मिथ्यात्व कर्मका उदय और उसका अभाव है। मिथ्यात्वकर्मके उदयसे ही मिथ्यादृष्टीका आत्मा सदा भयभीत रहता है ॥ ३२ ॥ अज्ञानी वा मिथ्यादृष्टी जीव अपने दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे अद्वैतवादके समान अपने आत्माको कर्मरूप नोकर्मरूप तथा भावकर्मरूप मानता है। भावार्थ-जैसे अद्वैतवादी इस समस्त संसारको ब्रह्ममय मानता है अर्थात् परमब्रह्मसे अभिन्न मानता है उसीप्रकार मिथ्या-दृष्टी भी कर्म नोकर्म भावकर्म आदि समस्त परपदार्थोंको आत्मासे अभिन्न मानता है ॥ ३३ ॥ अपने आत्मा-का नाश करनेवाला (अपनी आत्माको नरकादिके दुर्गतियोंमें डुबानेवाला) यह मिथ्यादृष्टी जीव यद्यपि इस समस्त संसारसे भिन्न है। तथापि वह इस समस्त संसारको अपना ही मानता चला जाता है। तथा वह समस्त संसारमय बनकर इसलोकमें कभी भी भयको नहीं छोडता है। भावार्थ—मोहनीय कर्मके उदयसे वह समस्त संसार-से मोह करने लगता है इसलिए उसका भय कभी भी नहीं छूटता है ॥ ३४ ॥ इस सब कथनका अभिप्राय यही है कि इस संसारमें जो शरीरादिक सर्वथा अनित्य हैं उनमें भी यह मिथ्यादृष्टी जीव अपने दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे नित्यबुद्धि रखकर अथात् उन सबको नित्य मान कर सदा भ्रममें पडा रहता है और उसी भ्रममें पडा हुआ कभी भी भय नहीं छोडता है ॥ ३५ ॥ परन्तु सम्यग्दृष्टी जीव अपने आत्माको सदा अकेला सम-झता है। तथा राग द्वेष मोह आदि कर्मोंके जितने विकार हैं उन सबसे अपने आत्माको भिन्न, शुद्ध और चैत-

॥ ३५ ॥ सम्यग्दृष्टिः सदेकत्वं त्वं समासादयन्नियत्। यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्धमभ्येति चिन्मयम् ॥ ३६ ॥ शरीरं सुखदुःखादि पुत्रपौत्रादिकं तथा। अनित्यं कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति यः ॥ ३७ ॥ लोकोयं मे हि चिल्लोको नूनं नित्योस्ति सोर्थतः। नापरो लौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोस्ति मे ॥ ३८ ॥ आत्मसंचेतनादेवं ज्ञानी ज्ञानैकतानतः। इह लोकभयान्मुक्तो मुक्तस्तत्कर्मबन्धनात् ॥ ३९ ॥ परलोकः परत्रात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक्। ततः कम्प इव त्रासो भीतिः परलोक-

न्यस्वरूप समझता है ॥ ३६ ॥ इसीप्रकार वह सम्यग्दृष्टी जीव दर्शनमोहनीयकर्मके अभाव हो जानेके कारण क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले जो शरीरादिक हैं, सुख दुःखादिक हैं अथवा पुत्र पौत्रादिक हैं उन सबको अनित्य समझता हुआ कर्मोंका कार्य समझता है। इसीलिए वह उन सबको अपने आत्मस्वरूप नहीं समझता, किंतु आत्मासे सर्वथा भिन्न समझता है ॥ ३७ ॥ दर्शनमोहनीयकर्मके अभाव होनेके कारण अपने शुद्ध आत्माका साक्षात् अनुभव करनेवाला वह सम्यग्दृष्टी समझता है कि मेरा लोक तो चैतन्यस्वरूप है तथा वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप मेरा लोक निश्चयसे नित्य है और वास्तवमें नित्य है उस शुद्ध आत्मासे भिन्नस्वरूप यह लोक जो बाहरसे दिखाई पडता है और संसारमें प्रसिद्ध है वह मेरा लोक नहीं है। अतएव इस लोकसम्बन्धी भय मुझे किसप्रकार हो सकता है। भावार्थ--सम्यग्दृष्टी जीव अपने शुद्ध आत्मासे ही सम्बन्ध रखता है इसलोकसे सम्बन्ध नहीं रखता। इसीलिए उस इसलोक सम्बन्धी किसीप्रकारका भय नहीं होता। ॥ ३८ ॥ इस प्रकार वह सम्यग्ज्ञानी पुरुष अपने ही आत्मज्ञानमें सदा लीन रहता है। तथा उस आत्मज्ञानका ही सदा अनुभव करता रहता है इसीलिए वह इस लोकसम्बन्धी समस्त भयोंसे सदा अलग रहता है। तथा भय रहित होनेके ही कारण उन कर्मबन्धनोंसे सदा रहित होता है। इसप्रकार इस लोकसम्बन्धी भयका निरूपण किया ॥ ३९ ॥ आगे परलोकभयका स्वरूप दिखलाते हैं। इस शरीरको छोड देनेके अनंतर दूसरे जन्ममें प्राप्त होनेवाली परभव सम्बन्धी आत्माकी पर्यायको ही परलोक कहते है। उस परलोकसे जो कम्पाके समान भय वा त्रास होता है उसको परलोकसम्बन्धी भय कहते हैं ॥ ४० ॥ स्वर्गलोकमें मेरा जन्म हो तो बहुत अच्छा है। इसीप्रकार नरकादिक दुर्गतियोंमें मेरा जन्म कभी न हो तो बहुत अच्छा हो। इस प्रकार हृदयमें सदा व्याकुलता बनाये

तोषित सा ॥ ४० ॥ भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके मास्मूम्मे जन्म दुर्गतौ । इत्याकुलितं चेतः साध्वसं पारलौकिकम् ॥ ४१ ॥ मिथ्यादृष्टेस्तदेवास्ति मिथ्याभावैककारणात् । तद्विपक्षस्य सद्दृष्टेर्नास्ति तत्र व्यलयात् ॥ ४२ ॥ बहिर्दृष्टिरनात्मज्ञो मिथ्यामात्रैकभूमिकः । स्व समासादयत्यज्ञः कर्म कर्मफलात्मकम् ॥ ४३ ॥ ततो नित्यं भयक्रान्तो वर्तते भ्रान्तिमानिव । मनुते मृगतृष्णायामम्भोभारं जनः क्षुधीः ॥ ४४ ॥ अन्तरात्मा तु निर्भीकः पदं निर्भयमाश्रितः । भीतिहेतोरिहावश्यं मिथ्याभ्रान्तेर-

रखना परलोकसम्बन्धी भय कहलाता है । भावार्थ---परलोकके दुःखोंसे सदा भयभीत बने रहना परलोकका भय है ॥ ४१ ॥ इसप्रकारका परलोकसम्बन्धी भय मिथ्यादृष्टीके ही होता है क्योंकि उस भयको उत्पन्न करानेवाले मिथ्यात्वरूप परिणाम मिथ्यादृष्टीके ही होते हैं । सम्यग्दृष्टी मिथ्यादृष्टीसे सदा प्रतिपक्षी रहता है । तथा उसके मिथ्यात्वकर्मका उदय भी नहीं है इसीलिए उसके वह परलोकसम्बन्धी भय कभी नहीं होता है । भावार्थ—भय उत्पन्न करनेवाला मिथ्यात्वकर्म है । उसका उदय मिथ्यादृष्टीके ही होता है । इसीलिए वह सदा भयभीत बना रहता है । सम्यग्दृष्टीके उस मिथ्यात्वकर्मका अभाव रहता है इसलिए उसके किसी अवस्थामें भी भय उत्पन्न नहीं होता ॥४२॥ मिथ्यादृष्टी जीव सदा केवल मिथ्यात्वरूपी भूमिमें ही रहता है इसीलिए वह अपने आत्माको नहीं पहचानता तथा अपने आत्माको न पहचाननेके कारण वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टी अपने आत्माको कर्मस्वरूप अथवा सुख-दुःखमय कर्मोंके फलस्वरूप समझ लेता है । भावार्थ---मिथ्यादृष्टी जीव मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होनेवाले राग द्वेष वा सुख दुखको ही अपने आत्माका स्वरूप समझ लेता है ॥ ४३ ॥ इसीलिए वह मिथ्याज्ञानको धारण करनेवाला मिथ्यादृष्टी जीव भ्रममें पडे हुए मनुष्यके समान सदा भयसे भयभीत बना रहता है और मृगतृष्णामें ही (दूरसे दिखती हुई सफेद रेतीली भूमिमें ही) जलका समूह मान लेता है । भावार्थ—भय करना मिथ्याज्ञान है और वह मिथ्यात्वकर्मके उदय होता है ॥ ४४ ॥ परन्तु अन्तरात्मा वा सम्यग्दृष्टी पुरुष सदा निर्भय रहता है क्योंकि वह निर्भय पदपर पहुंच चुका है । शुद्ध आत्मामें लीन हो चुका है इसीलिए भय उत्पन्न करनेवाली मिथ्याभ्रान्तिका उत्पन्न होना उसके अवश्य ही असम्भव होता है । भावार्थ—सम्यग्दृष्टीको आत्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है इसीलिए भय उत्पन्न करनेवाली मिथ्या भ्रान्ति वा भ्रमबुद्धि उसे कभी नहीं होती ॥ ४५ ॥ जिस-

सम्भवात् ॥ ४५ ॥ मिथ्याभ्रान्तिर्यदन्यत्र दर्शनं चान्यवस्तुनः । यथा रज्जौ तमोहेतोः सर्पाध्यासाद्भयस्त्री ॥ ४६ ॥ स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्योतिर्यो वेत्त्यनन्यसात् । स विभेति कुतो न्यायादन्यथाभवनादपि ॥ ४७ ॥ वेदनागन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तथा । भीतिः प्रागेव कम्पोऽस्या मोहाद्वा परिदेवनम् ॥ ४८ ॥ उल्लाघोऽहं

प्रकार अन्धकार होनेके कारण रस्सीमें भी सर्पका भ्रम हो जाता है और उसीसे वह अज्ञानी डरने लगता है। उसीप्रकार दर्शनमोहरूपी अन्धकार होनेसे ही मिथ्यादृष्टीके मिथ्या भ्रान्ति होती है और शरीरादिक पुद्गलोंमें ही आत्माका श्रद्धान कर लेता है। भावार्थ--मिथ्यादृष्टी जीव मोहरूपा अंधकारके कारण अपने आत्माको नहीं जान पाता और इसीलिए वह शरीर वा रागद्वेषको ही आत्मा मान लेता है तथा परपदार्थोंको अपना लेनेसे ही वह सदा भयभीत रहता है ॥ ४६ ॥ सम्यग्दृष्टी पुरुष स्वसंवेदनसे प्रत्यक्ष होनेवाली आत्मज्योतिको अपने आत्मासे सदा अभिन्न समझता है । अर्थात् अपने आत्माका स्वरूप स्वसंवेदनसे प्रत्यक्ष होनेवाली आत्मज्योतिमय शुद्ध स्वरूप समझता है। तथा यह भी समझता है कि उसका यह स्वरूप कभी भी बदल नहीं सकता सदा ऐसा ही रहेगा । इसलिए न्यायशास्त्रसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि ऐसे उस सम्यग्दृष्टीको कभी किसी अवस्थामें भय नहीं हो सकता। भावार्थ-वह अपने आत्माको सदा शुद्ध और अविनश्वर समझता है इसलिए वह परलोकके भयसे कभी भयभीत नहीं होता। इसप्रकार परलोकके भयका स्वरूप बतलाया ॥ ४७ ॥

अब आगे वेदनाभयका स्वरूप कहते हैं। शरीरमें वात पित्त कफ तीनों दोषोंके कुपित होनेसे जो बाधाएं होती हैं अथवा जो बाधाएं आनेवाली होती हैं उनके आनेके पहले ही मोहनीयकर्मके उदयसे जो कंपा होती है अथवा उन बाधाओंके होनेपर जो रोता चिल्लाता है उसीको वेदनाभय कहते हैं । भावार्थ–रोगोंसे डरते रहना वेदनाभय है ॥ ४८ ॥ "मुझे शीघ्र ही आराम हो जायगा फिर ऐसा रोग मुझे कभी न हो तो अच्छा" इसप्रकार बार बार चिंतवन करना अथवा उस रोगके भयसे मूर्च्छित वा बेहोश हो जाना वेदनाभय है ॥ ४९ ॥ वह वेदनाका भय निश्चयसे मिथ्यादृष्टीके ही होता है। तथा उसका भी एक समर्थ कारण दर्शनमोहरूपी दृष्टिदोष है। भावार्थ–वह भय दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे ही होता है । जिसप्रकार दृष्टिदोषसे रोगी हो जाता

भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचित् ।मूर्च्छैव वेदना भीतिश्चिंतनं वा मुहुर्मुहुः ॥४९॥ अस्ति नूनं कुदृष्टेः सा दृष्टिदोषैकहेतुतः । नीरोगस्यात्मनो ज्ञानान्न स्यात्सा ज्ञानिनां क्वचित् ॥ ५० ॥ पुद्गलाद्भिन्नचिद्धाम्नो न मे व्याधिः कुतो भयम् । व्याधिः सर्वः शरीरस्य नामूर्तस्येति चिन्तनात् ॥ ५१ ॥ स्पर्शनादीन्द्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु

है और रोगी होनेके कारण भयभीत होता है उसीप्रकार दर्शनमोहनीयके उदयसे उसे सदा भय लगा रहता है। सम्यग्दृष्टीके उस दर्शनमोहनीयका सर्वथा अभाव रहता है इसीलिये वह सदा नीरोग रहता है। और नीरोग होनेके कारण तथा आत्मज्ञान होनेके कारण उसे कभी किसीप्रकारका भय नहीं होता है ॥ ५० ॥ सम्यग्दृष्टी सदा यही चिन्तवन करता रहता है कि मेरा रहनेका स्थान ज्ञानमय वा चैतन्यस्वरूप आत्मा है। और वह आत्मा पुद्गलसे सर्वथा भिन्न है। अतएव मुझे व्याधि कभी किसीप्रकार नहीं हो सकती। तथा व्याधि न होनेके कारण मुझे कभी किसीप्रकारका भय नहीं हो सकता। इसका भी कारण यह है कि संसारमें जितनी व्याधियां हैं वे सब शरीरमें ही होती हैं अमूर्त आत्मामें वे व्याधियां कभी नहीं हो सकतीं । भावार्थ—मिथ्यादृष्टी अपने रहनेके स्थानको अपना शरीर समझता है इसीलिये शरीरमें उत्पन्न होनेवाले रोगोंसे वह डरता रहता है। परंतु सम्यग्दृष्टी अपने शुद्ध आत्माको शरीरसे सर्वथा भिन्न समझता है तथा अपने रहनेका स्थान शुद्ध आत्माको ही समझता है। अतएव वह शरीरमें उत्पन्न होनेवाले रोगोंसे कभी नहीं डर सकता ॥ ५१ ॥ स्पर्शन रसना आदि पांचों इन्द्रियोंके जो वर्तमानमें होनेवाले विषय हैं अथवा जो आगामी कालमें प्राप्त होनेवाले विषय हैं उनमें जो आदर नहीं करता वही पुरुष वेदनाभयसे सदा निर्भय रह सकता है । भावार्थ—रोगादिक होनेसे इन्द्रियसुखोंमें बाधा आती है इसलिये जो पुरुष इन्द्रियजन्य सुखोंमें तल्लीन है उसे ही वेदनाभय होता है। इन्द्रियजन्य सुखोंमें मिथ्यादृष्टी ही तल्लीन होता है इसलिये वेदनाभय भी उसे ही होता है । सम्यग्दृष्टी इन्द्रियजन्य सुखोंको हेय और पर समझता है इसलिये वह उनमें होनेवाली बाधाओंसे कभी नहीं डर सकता। इसीलिये उसको वेदनाभय नहीं होता ॥ ५२ ॥इन्द्रियजन्य विषय अनेक व्याधियोंके स्थान हैं क्योंकि वे अनेक बाधाओंके कारण हैं तथा जो जो बाधाओंके कारण हैं वे सब रोगरूप ही हैं । अतएव जो इन्द्रिय-

भाविषु । नादरो यस्य सोस्त्यर्थान्निर्भीको वेदनाभयात् ॥ ५२ ॥ व्याधिस्थानेषु तेष्वुच्चैर्नासिद्धो नादरो मनाक् । बाधाहेतोः स्वतस्तेषामामयस्याविशेषतः ॥ ५३ ॥
अत्राणं क्षणिकैकान्ते पक्षे चित्तक्षणादिवत् । नाशात्प्रागंशनाशस्य त्रातुमक्षमतात्मनः ॥५४॥ भीतिः प्रागंशनाशात्स्यादंशिनाशभ्रमोन्वयात् । मिथ्यामात्रैकहेतुत्वान्नूनं

जन्य विषय हैं वे ही सब रोगरूप हैं तथा उन इंन्द्रियजन्य विषयोंमें मिथ्यादृष्टी पुरुष किंचिन्मात्र भी अनादर नहीं कर सकता। क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्मके उदय होनेके कारण वह उनमें सदा तल्लीन रहता है । अतएव मिथ्यादृष्टी वेदनाभयसे कभी रहित नहीं होता। इससे यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि सम्यग्दृष्टी पुरुष मोहनीय-कर्मसे रहित होनेके कारण इन्द्रियजन्य विषयोंको हेय समझता है इसीलिये वह उनमें कभी आदर नहीं करता और अतएव वह सदा निर्भय रहता है इसप्रकार वेदनाभयका निरूपण किया ॥ ५३ ॥

अब आगे अत्राणभयका निरूपण करते हैं। त्राण शब्दका अर्थ रक्षा करना है और अत्राण शब्दका अर्थ रक्षा न होना है। जो पुरुष जीवादिक समस्त पदार्थोंको क्षणिक मानते हैं जिसप्रकार मनके विकल्प क्षण क्षणमें नष्ट होते रहते हैं उसी प्रकार जो जीवादिक समस्त पदार्थोंको क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले मानते हैं तथा साथमें उनकी संतति भी मानते हैं। ऐसे माननेवाले बौद्ध हैं। बौद्ध कहते हैं कि आत्मा तो क्षण क्षणमें नष्ट होती रहती है परंतु उसकी संतान दर संतान बराबर चलती रहती है । परंतु यह सिद्धांत वास्तवमें सर्वथा विरुद्ध है। तथा वास्तवमें विरुद्ध होनेके ही कारण जैनधर्मसे विरुद्ध है। जैनधर्म पर्यायार्थिक नयसे जीवादिक समस्त पदार्थोंकी पर्यायोंको क्षण क्षणमें बदलनेवाली मानता है परंतु द्रव्यार्थिकनयसे वह सभी पदार्थोंको सदा नित्य मानता है। मिथ्यादृष्टी अपने दर्शनमोहनीयके उदयसे इस नय भेदको नहीं समझता किन्तु पर्यायको ही द्रव्य समझ लेता है। तथा पर्यायोंका क्षण क्षणमें बदलना अनिवार्य है वह रुक नहीं सकता। मनुष्यपर्यायमें जो आयु क्षण क्षणमें नष्ट होती जाती है। उसको वह मिथ्यादृष्टी रोक नहीं सकता उसकी रक्षा नहीं कर सकता और इसीलिए उसे उसके सर्वथा नाश होनेका भय सदा लगा रहता है । उसीको अत्राणभय कहते हैं। भावार्थ—यह जीव जबतक संसारमें परिभ्रमण करता है तब तक नवीन नवीन पर्यायोंको धारण करता रहता

मिथ्यादृशोस्ति सः ॥ ५५ ॥ शरणं पर्ययस्यास्तंगतस्यापि सदन्वयम् । तमनिच्छन्निवाज्ञः स त्रस्तोस्त्यत्राणसाध्वसात् ॥ ५६ ॥ सद्दृष्टिस्तु विदंशः स्वैः क्षणे नष्टे

है । मिथ्यादृष्टी जीव उन पर्यायोंको ही आत्मा समझ लेता है तथा पर्यायोंके नाशसे अपने आत्माका नाश समझ लेता है । पर्यायोंके नाशको वह रोक नहीं सकता इसलिए वह सदा यह समझता रहता है कि मेरी रक्षा किसी प्रकार भी हो नहीं सकती । अंतमें जाकर मुझे नष्ट होना ही पडेगा । बस इसी व्याकुलताको इसी डरको अत्राण भय कहते हैं ॥ ५४ ॥ मिथ्यादृष्टी समझता है कि अंशके नाश होनेसे अंशीका भी नाश हो जाता है अर्थात् जब क्षण क्षणमें आत्माकी पर्यायोंका नाश होता है तो कभी न कभी समस्त आत्माका नाश भी अवश्य हो जायगा क्योंकि जब संतानका बराबर नाश होता जाता है तो किसी न किसी दिन संतानीका नाश भी अवश्य हो जायगा । ऐसा भय केवल मिथ्यादृष्टीको ही होता है क्योंकि ऐसी विपरीत बुद्धि मिथ्यात्वकर्मके उदयसे ही होती है और मिथ्यात्वकर्मका उदय मिथ्यादृष्टीके ही होता है । सम्यग्दृष्टीके उस मिथ्यात्वका सर्वथा अभाव रहता है । इसलिए न तो उसके ऐसी विपरीत बुद्धि ही होती है और न उसे अत्राणभय ही होता है । आत्म स्वरूपको जान लेनेके कारण तथा आत्मजन्य सुखमें तल्लीन होनेके कारण वह सम्यग्दृष्टी सदा निर्भय रहता है ॥ ५५ ॥ संसारमें जितने पदार्थ हैं वे सब गुणपर्ययविशिष्ट हैं । ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है जो गुणपर्यायोंसे रहित हो । इसप्रकार जो द्रव्य पर्यायविशिष्ट नहीं होगा जिसकी पर्याय सदा नहीं बदलेगी उस पदार्थकी सत्ता ही नहीं रह सकती । इस हिसाबसे पर्यायोंके नाश होनेसे ही आत्माकी सत्ता सदा स्थिर बनी रहेगी तथा आत्माकी सत्ताका स्थिर रहना ही इस जीवके लिए शरण है, परंतु आत्माके स्वरूपको न जाननेवाला अज्ञानी मिथ्यादृष्टी इसप्रकारकी आत्माकी सत्ताको नहीं मानता इसीलिए वह अत्राणके भयसे सदा भयभीत रहता है ॥५६॥ परंतु सम्यग्दृष्टी पुरुष क्षण क्षणमें अपनी आत्माकी पर्यायोंका नाश मानता हुआ भी आत्माकी सत्ताको सदा नित्य मानता है इसीलिए वह त्राणके भयसे सदा निर्भय रहता है । भावार्थ--दर्शनमोहनीय कर्मके अभाव हो जानेके कारण सम्यग्दृष्टीका ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है इसलिए वह द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक दोनों

नयोंके स्वरूपको अच्छीतरह समझता है अतएव वह पर्यायार्थिकनयसे आत्माकी पर्यायोंका नाश मानता हुआ भी द्रव्यार्थिक नयसे आत्माके स्वरूपको सदा नित्य मानता है इसीलिए वह सदा निर्भय रहता है ॥ ५७ ॥ सम्यग्दृष्टी पुरुषको द्रव्यसे क्षेत्रसे कालसे वा भावसे अंशमात्र भी अत्राणका भय नहीं होता । अतएव उस महात्माको कभी किसी प्रकारका भय नहीं हो सकता । (इस लाटीसंहितामें "कुतस्तद्भोर्महात्मनः" ऐसा पाठ है उसके अनुसार हमने ऊपर अर्थ लिख दिया है, परंतु पंचाध्यायीमें "कुतस्तद्भिमहात्मनः" ऐसा पाठ है और इसका अर्थ यह लिखा है "इस आत्माका अथवा इस संसारमें किसी भी पदार्थका द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे अंशमात्र भी अरक्षण (नाश) नहीं होता है तो फिर महान् पदार्थ आत्मा महात्माका नाश कैसे हो सकता है।" यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो पंचाध्यायीका पाठ ही शुद्ध जान पडता है, क्योंकि उसके अर्थमें कोई दोष नहीं है । लाटी संहिताके पाठमें पुनरुक्त दोष आता है । जब एक बार यह कह चुके कि सम्यग्दृष्टीको द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अंशमात्रसे भी अत्राण नहीं होता अर्थात् अत्राणका भय नहीं होता तो फिर "अतएव उस महात्माको भय कहांसे हो सकता है अर्थात् भय नहीं होता" यह कहना व्यर्थसा जान पडता है । यदि अत्राणका अर्थ अरक्षा वा नाश लेते हैं तो फिर पदार्थोंका सम्बन्ध अपने आप आ जाता है क्योंकि नाश वा उत्पाद पदार्थोंका ही होता है भयसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं । ऊपरके श्लोकोंसे भी यही बात सिद्ध करते चले आ रहे हैं कि आत्माका नाश नहीं होता ऐसा मान लेनेसे भय नहीं होता । ऐसी अवस्थामें आत्माका नाश नहीं होता यह सिद्ध करना परमावश्यक आ पडता है जैसा कि पंचाध्यायीमें लिखा है । इससे सिद्ध होता है कि पंचाध्यायीका पाठ ठीक है ।)

आगे अगुप्तिभयका स्वरूप दिखलाते हैं । दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे एकान्तवादकी ओर झुक गई है बुद्धि जिसकी उसी पुरुषके अगुप्तिका भय रहता है । जिसके दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव है ऐसे सम्यग्दृष्टी पुरुषकी

दृग्मोहस्योदयाद्बुद्धिर्यस्यैकान्तादिवादिनः । तस्यैवागुप्तिभीतिः स्यान्नूनं नान्यस्य जातुचित् ॥ ५९ ॥ असज्जन्म सतो नाशं मन्यमानस्य देहिनः । कोऽवकाशस्ततो मुक्तिमिच्छातोऽगुप्तिसाध्वसात् ॥ ६० ॥ सम्यग्दृष्टिस्तु स्वं रूपं गुप्तं वै वस्तुनो विदन् । निर्भयोऽगुप्तितो भीतेर्भीतिहेतोरसम्भवात् ॥ ६१ ॥ मृत्युः प्राणात्ययः प्राणाः कायवाग्निन्द्रियं मनः । निश्वासोच्छ्वासमायुश्च दशैते वाक्यविस्तरात् ॥ ६२ ॥ तद्भीतिर्जीवित भूयान्माभून्मे मरणं क्वचित् । कदा लेमे न वा दैवादित्याधिः

बुद्धि न तो एकान्तवादकी ओर झुकती है और न उसके अगुप्तिभय होता है । भावार्थ—आत्माके नाश होनेके डरको अगुप्तिभय कहते हैं । वह अगुप्तिभय उसीके हो सकता है जो सत् पदार्थका सर्वथा नाश मानता है । जो सम्यग्ज्ञानी पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको समझता है और द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक दोनों नयोंके अनुसार पदार्थोंके स्वरूपको ग्रहण करता है । पर्यायार्थिक नयके अनुसार द्रव्योंकी पर्यायोंका नाश मानता हुआ भी जो द्रव्यार्थिक नयसे आत्माको सदा नित्य मानता है उसके अगुप्तिभय कभी नहीं हो सकता ॥ ५९ ॥ जो पुरुष असत् पदार्थोंकी उत्पत्ति मानता है अथवा विना ही कारण सामग्रीके असत्से किसी भी कार्यकी उत्पत्ति मानता है तथा जो सत्तारूप पदार्थोंका सर्वथा नाश मानता है वह पुरुष यदि अगुप्तिके भयसे छूटना चाहे तो किसप्रकार छूट सकता है । अर्थात् कभी नहीं छूट सकता ॥ ६० ॥ सम्यग्दृष्टी पुरुष अपने आत्माके स्वरूपको सदा सुरक्षित ही समझता है और अगुप्तिके भयके कारणोंको सर्वथा असम्भव मानता है इसीलिए वह अगुप्तिके भयसे सर्वथा निर्भय रहता है ॥ ६१ ॥ इसप्रकार अगुप्तिके भयका निरूपण किया । आगे मृत्युके भयको कहते हैं ।

प्राणोंका नाश होना मृत्यु है । मनोबल, वचनबल, कायबल ये तीनबल, स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इंद्रिय घ्राण इंद्रिय चक्षु इंद्रिय और कर्ण इंद्रिय ये पांच इंद्रियां आयु और श्वासोच्छ्वास ये दश प्राण कहलाते हैं । संक्षेपसे कहे जायं तो इंद्रिय बल आयु श्वासोछ्वास ये चार प्राण कहलाते हैं परंतु इनको यदि भेद प्रभेद सहित बढाकर कहा जाय तो ऊपर लिखे दश प्राण हो जाते हैं ॥६२॥ "मेरा जीवन सदा बना रहे, मेरा मरण कभी न हो अथवा दैवयोगसे मैं कभी मर न जाऊं" इसप्रकार अपने शरीरके नाश होनेके डरसे जो मनमें पीडा बनी रहती है उसको मृत्युभय कहते हैं ॥ ६३ ॥ जो तत्वोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेकी कभी इच्छा नहीं करते ऐसे मिथ्या-

जीविनी । नार्थान्मृत्युरतस्तद्भीः कुतः स्यादिति पश्यनः ॥६५॥ अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम् । तद्यथा विद्युदादीनां पातात्यातोऽसुधारिणाम् ॥ ६६ ॥ भीतिर्भूयाद्यथा सौस्थ्यं माभूद्वैास्थ्यं कदापि मे । इत्येवं मानसी चिंतापर्याकुलितचेतसाम् ॥ ६७ ॥ अर्थादाकस्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्वशालिनः । कुतो मोदोऽस्ति-स्वे तनुज्यये ॥ ६३ ॥ नूनं तद्भीः कुदृष्टीनां नित्यं तत्त्वमनिच्छताम् । अन्तस्तत्त्वैकवृत्तानां तद्भीतिर्ज्ञानिनां कुतः ॥ ६४ ॥ जीवस्य चेतना प्राणा नूनं स्वात्मोप-

दृष्टियोंके वह मृत्युका भय सदा बना रहता है। परंतु जिन्होंन अपने मनकी प्रवृत्ति अपने आत्माके स्वरूपमें ही लगा रक्खी है ऐसे सम्यग्ज्ञानी पुरुषोंके वह मृत्युका भय कभी नहीं हो सकता । भावार्थ—अपने आत्माके स्वरूपको जाने बिना मृत्युका भय कभी नहीं छूट सकता। दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टी पुरुष आत्माके यथार्थ स्वरूपको पहचान नहीं सकता इसलिए उसको मृत्युका भय सदा बना रहता है। सम्यग्दृष्टीके दर्शनमोहनीयका अभाव होनेसे आत्माका प्रत्यक्ष अनुभव होता रहता है इसलिए उसको मृत्युका भय कभी उत्पन्न नहीं होता ६४ ॥ सम्यग्दृष्टी समझता है कि यदि वास्तवमें देखा जाय तो आत्माके एक चेतना ही प्राण है तथा वह चेतनाप्राण आत्माका उपजीवी गुण है। अथवा यों कहना चाहिए कि चैतन्यस्वरूप ही आत्मा है। अतएव यह बात अर्थात् सिद्ध हो जाती है कि आत्माकी मृत्यु कभी हो ही नहीं सकती। इसलिए सम्यग्दृष्टीके मृत्युका भय भी कभी नहीं हो सकता। इसप्रकार मृत्युभयका निरूपण किया ॥ ६५ ॥

आगे आकस्मिकभयको कहते हैं। जो भय अकस्मात् आ जाता है उसको आकस्मिक भय कहते हैं। जैसे बहुतसे मनुष्य बिजली पडनेसे अकस्मात् मर जाते हैं ॥ ६६ ॥ मैं सदा नीरोग वा सुखी बना रहूं मुझे कभी किसीप्रकारका दुःख न हो इसप्रकारकी आकुलतासे (व्याकुलतासे) भरी हुई मनकी चिन्ताको ही आकस्मिकभय कहते हैं। अथवा इसप्रकारकी मनकी चिन्ता उत्पन्न होनेसे वह आकस्मिकभय सदा उत्पन्न होता रहता है ॥६७॥ इसप्रकारकी चिन्ता दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे होती है। इससे सिद्ध होता है कि जो पुरुष शुद्ध आत्मस्वरूप निर्भय स्थानसे रहित है जिसको अपने निर्भयस्वरूप शुद्ध आत्माका ज्ञान नहीं है और इसीलिए जो सदा भयभीत रहता है ऐसे मिथ्यादृष्टीको ही आकस्मिकभय होता है। तथा इसप्रकारके आकस्मिक भयसे भयभीत रहने-

तद्भीतेर्निर्भीकैकपदच्युतेः ॥ ६८ ॥ निर्भीकैकपदो जीवः स्यादनन्तोप्यनादिमान्। नास्त्याकस्मिकं तत्र कुतस्तद्भीस्तमिच्छतः ॥ ६९ ॥ कांक्षा- भोगाभिलाषः स्यात्कृते सुकृत्यक्रियासु वा। कर्मणि तत्फले स्वात्म्यमन्यदृष्टिप्रशंसनम ॥ ७० ॥ ह्रषीका रुचितेषूच्चैरुद्वेगो विषयेषु यः। स स्याद्भोगाभिलाषस्य लिंग स्वेष्टार्थ-रञ्जनात् ॥ ७१ ॥ तथथा न रतिः पक्षे विपक्षे वारतिं विना ॥ ७२ ॥ शीतद्वेषी यथा कश्चिदुष्णस्पर्शं समीहते। नेच्छेदनुष्णसस्पर्शमुष्णस्पर्शाभिलाषुकः

वाले मिथ्यादृष्टीको मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥ ६८ ॥ यह जीव सदा निर्भय स्थानमें रहनेवाला है तथा अनादि और अनंत है। ऐसे निर्भय स्थानकी—आत्माके शुद्ध स्वरूपकी इच्छा करनेवाले सम्यग्दृष्टीके वह आकस्मिकभय किसप्रकार उत्पन्न हो सकता है। भावार्थ—जो निर्भय मोक्षस्थानको प्राप्त होना चाहता है वा शुद्ध आत्माके स्वरूपमें लीन होना चाहता है ऐसे सम्यग्दृष्टीके वह आकस्मिकभय कभी नहीं हो सकता ॥ ६९ ॥ इसप्रकार निःशंकित अंगका स्वरूप कहा। अब आगे निःकांक्षित अंगका लक्षण कहते हैं।

किसी पुण्यकार्यके करनेपर इस लोकके लिये अथवा परलोकके लिये भोगोंकी इच्छा करना अथवा कर्म और कर्मोंके फलोंमें अपनापन मानना अथवा मिथ्यादृष्टियोंकी प्रशंसा करना आकांक्षा कहलाती है। भावार्थ—भोगोंकी अभिलाषा करना ही आकांक्षा वा कांक्षा कहलाती है ॥ ७० ॥ जो इंद्रियोंके विषय इंद्रियोंको रुचिकर नहीं लगते उनमें अरुचि उत्पन्न करना दुःख मानना भोगोंकी आकांक्षाओंका चिन्ह है। क्योंकि जब इष्ट पदार्थोंमें राग उत्पन्न होता है तभी अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेष होता है। जबतक इष्ट पदार्थोंमें राग नहीं होगा तब तक अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेष कभी हो ही नहीं सकता। इससे सिद्ध होता है कि जिसके इंद्रियोंके अनिष्ट पदार्थोंमें अरुचि है उसके इंद्रियोंके इष्ट विषयोंमें अवश्य ही राग विद्यमान है। अथवा यों कहना चाहिए कि उसके इंद्रियोंके विषयोंकी लालसा अवश्य लगी हुई है। बस इसी लालसाको आकांक्षा कहते हैं ॥ ७१ ॥ यह निश्चित सिद्धांत है कि विपक्षमें अरुचि हुए बिना अपने पक्षमें रुचि कभी नहीं होती अथवा विपक्षमें रुचि हुए बिना अपने पक्षमें अरुचि कभी नहीं होती। भावार्थ—रुचि अरुचि अथवा राग द्वेष दोनों सापेक्ष हैं अथवा दोनों अविनाभावी हैं। जहां एक होता है वहां दूसरा अवश्य होता है यदि एक पक्षमें राग है तो दूसरे पक्षमें द्वेष अवश्य होता

॥ ७३ ॥ यस्यास्ति कांक्षिनो भावो नूनं मिथ्यादृगस्ति सः । यस्य नास्ति स सद्दृष्टिः युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ७४ ॥ आस्तामिष्टार्थसंयोगोऽमुत्रभोगाभिलाषतः । स्वार्थसार्थैकससिद्धिर्न स्यान्नामैहिकापि सा ॥ ७५ ॥ निस्सारं प्रस्फुरत्येष मिथ्याकर्मैकपाकतः । जन्तोरुन्मत्तवच्चापि वार्द्धेर्वीतोत्तरंगवत् ॥ ७६ ॥ ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते । भोगाकांक्षां विना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत् ॥ ७७ ॥ नासिद्धबन्धमात्रत्वं क्रियायाः फलमद्वयम् । शुभमात्रं शुभायाः

है । यदि एक पक्षमें द्वेष है तो दूसरेमें राग अवश्य होता है । इसीप्रकार इंद्रियोंके अनिष्ट विषयोंमें अरुचि होनेसे इष्ट विषयोंमें लालसा वा आकांक्षा अवश्य होती है इसीको कांक्षा कहते हैं ॥ ७२ ॥ जैसे जो कोई पुरुष शीतस्पर्शसे द्वेष करता है वह उष्णस्पर्शको अवश्य चाहता है तथा जो उष्णस्पर्शको चाहता है वह शीतस्पर्शसे अवश्य द्वेष करता है । इससे भी सिद्ध होता है कि राग द्वेष दोनों साथ रहनेवाले हैं जहां एक होता है वहां दूसरा अवश्य होता है ॥७३॥ यह निश्चित है कि जिसके इसप्रकारकी भोगोंकी आकांक्षा होती है वह अवश्य ही मिथ्यादृष्टी होता है और जिसके वह भोगोंकी आकांक्षा नहीं है वह अवश्य ही सम्यग्दृष्टी है यह बात युक्ति आगम और अपने आत्माके अनुभवसे सिद्ध होती है ॥ ७४ ॥ "परलोकके लिए भोगोंकी आकांक्षा करनेसे इष्ट पदार्थोंके संयोगकी प्राप्ति अवश्य होगी" ऐसी भावना मिथ्यादृष्टीके सदा लगी रहती है । तथा इसके साथ साथ वह यह भी समझता है कि अपने समस्त इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि इसी लोकमें होती है । इस लोकके सिवाय न तो और कोई लोक है और न वहां किसी प्रकारकी इष्ट सिद्धि होती है ॥ ७५ ॥ जिसप्रकार वायुके बढनेसे समुद्रमें लहरें आया करती हैं अथवा जिसप्रकार उन्मत्त पुरुष अनेक निस्सार कल्पनाएं किया करता है । उसीप्रकार मिथ्यादृष्टी पुरुषके केवल दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे ऐसी ही ऐसी ऊपर लिखे अनुसार निस्सार भावनाएं प्रगट हुआ करती हैं । भावार्थ—मिथ्यादृष्टी परलोकको तो मानता नहीं है जो कुछ माननता है वह इसी लोकमें मानता है । इसलिए वह इसी लोकमें अपने इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि चाहता है ॥ ७६ ॥

यहांपर शंकाकार कहता है कि किसी कार्यकी इच्छा किए बिना मंद पुरुष भी (अज्ञानी मन्दबुद्धि वा मूर्ख) कभी किसीप्रकारकी प्रवृत्ति नहीं करता है । फिर भला ज्ञानी पुरुष किसीप्रकारके भोगोंकी इच्छा किए

स्यादशुभायाश्चाशुभावहम् ॥ ७८ ॥ नचाशक्यं क्रियाप्येषा स्यादबन्धफला क्वचित् । दर्शनातिशयाद्धेतोः सरागेपि विरागवत् ॥ ७९ ॥ सरागे वीतरागे वा नूनमौदयिकी क्रिया । अस्ति बन्धफलावश्यं मोहस्यान्यतमोदयात् ॥ ८० ॥ नच वाच्यं स्यात्सद्दृष्टिः कश्चित्प्रज्ञापराधतः । अपि बन्धफलां कुर्यात्तामबन्ध-

विना व्रतादिकोंका आचरण किसप्रकार कर सकता है ? ॥ ७७ ॥ दूसरी बात यह है कि संसारमें जितनी भी क्रियाएं की जाती हैं उन सबका एकमात्र फल कर्मोंका बंध होना है । यह बात अच्छीतरह सिद्ध है इसको सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं । हां इतना अंतर अवश्य है कि जो शुभ क्रियाएं हैं उनका फल शुभ कर्मोंका बंध होना है और जो अशुभ क्रियाएं हैं उनका फल अशुभ कर्मोंका बंध होना है । परन्तु संसारमें जितनी भी क्रियाएं होती हैं उनसे कर्मोंका बंध अवश्य होता है ॥ ७८ ॥ शंकाकार अभी बराबर इसी बातको सिद्ध कर रहा है । वह कहता है कि कदाचित् यह कहो कि जिसप्रकार वीतरागी पुरुषके किसी भी क्रियासे बंध नहीं होता है उसीप्रकार सम्यग्दर्शनके अतिशयसे इस सरागी पुरुषके भी इस क्रियासे किसी भी कर्मका बंध नहीं होगा ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह बात प्रमाणसे सिद्ध है कि क्षीणकषाय नामके बारहवें गुणस्थानसे पहले पहले सभी क्रियाओंसे कर्मोंका बंध अवश्य और निश्चयसे होता है क्योंकि बारहवें गुणस्थानसे पहले पहले बंधके कारणोंकी संभावना अवश्य रहती ही है ॥ ७९-८० ॥ दूसरी बात यह है कि बारहवें गुणस्थानसे पहले पहले चाहे सरागी हो और चाहे वीतरागी हो दोनोंके ही जो क्रियाएं होती हैं वे सब औदयिकी होती हैं अर्थात् कर्मोंके उदय होनेसे ही होती हैं बिना कर्मोंके उदयके नहीं होती तथा जो क्रियाएं औदयिकी होती हैं उनसे कर्मोंका बंध अवश्य होता है । इस हिसाबसे बारहवें गुणस्थानसे पहले पहले सरागी वीतरागी दोनोंकी ही होनेवाली क्रियाओंसे कर्मोंका बंध अवश्य होता है और इसका भी कारण यह है कि बारहवें गुणस्थानसे पहले पहले मोहनीयकर्मके अट्ठाईस भेदोंमेंसे किसीका उदय अवश्य रहता है । भावार्थ—स्थितिबंध और अनुभागबंधके लिए मोहनीयकर्मका उदय कारण है वह दशवें गुणस्थान तक है ही, इसलिए बारहवें गुणस्थानसे पहले पहले सबप्रकारकी क्रियाओंसे बंध अवश्य होता है ॥ ८१ ॥ कदाचित् यह कहो कि कोई सम्यग्दृष्टी पुरुष अपनी बुद्धिके दोषसे किसी भी क्रियाको कर्मोंका बंध

फलां विदन् ॥ ८१ ॥ यतः प्रज्ञाविनाभूतमस्ति सम्यग्विशेषणम्। तस्याश्चाभावतो नूनं कुतस्त्यां दिव्यता दृशः ॥ ८२ ॥ नैवं यतः सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छतः क्रिया । शुभायाश्चाशुभायाश्च को विशेषो विशेषभाक् ॥ ८३ ॥ नन्वनिष्टार्थसंयोगरूपा सानिच्छनः क्रिया । विशिष्टेष्टार्थसंयोगरूपा सानिच्छतः कथम् ॥ ८४ ॥

न करनेवाली समझता है परंतु उससे ऐसी ही क्रिया हो जाती है जिससे कर्मोंका बंध हो जाय। भावार्थ—कर्म-बंध करनेवाली क्रियाको वह जानबूझ कर नहीं करता किंतु अनजानमें वा बुद्धिके दोषसे उससे हो जाती है। सो भी ठीक नहीं है क्योंकि उसके ज्ञानके साथ जो सम्यक् विशेषण लगा हुआ है वह उस ज्ञानका अविनाभावी है। उसके ज्ञानसे कभी अलग नहीं हो सकता। परंतु जब वह बुद्धिके दोषसे कर्मबंध करनेवाली क्रियाएं करता है तो इससे सिद्ध होता है कि उसके सम्यग्ज्ञानका अभाव हो चुका है और जब उसके सम्यग्ज्ञानका अभाव ही हो चुका है अथवा उसके ज्ञानमेंसे सम्यक् विशेषणका अभाव हो चुका है तब फिर उसके सम्यग्दर्शनकी दिव्यता ही क्या बाकी रहती है। भावार्थ—उसके ज्ञानमें दोष उत्पन्न हो जानेके कारण उसके सम्यग्दर्शनमें कोई ऐसी उत्कृष्टता नहीं रहती जिससे कि उसकी क्रियासे किसी भी कर्मका बंध न हो। इससे सिद्ध होता है कि सम्य-ग्दृष्टीकी क्रियाओंसे कर्मोंका बंध अवश्य होता है ॥ ८१-८३ ॥

परंतु कविराज कहते हैं कि शंकाकारकी यह शंका करना ठीक नहीं है क्योंकि पहले यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी है कि बिना इच्छाके भी क्रिया होती है। जब बिना इच्छाके भी क्रिया होती है तो फिर शुभ और अशुभ क्रियाओंमें विशेषता ही क्या बाकी रहती है। भावार्थ—कर्मोंका बंध दो प्रकारका है एक शुभ कर्मोंका बंध और दूसरा अशुभ कर्मोंका बंध। शुभ कर्मोंका बंध शुभ क्रियाओंसे होता है और अशुभ कर्मोंका बंध अशुभ क्रियाओंसे होता है परंतु जो क्रियाएं बिना इच्छाके की जाती हैं वे न तो शुभरूप होती हैं और न अशुभरूप होती हैं क्योंकि जो क्रियाएं शुभ परिणामोंसे की जाती हैं वे शुभ होती हैं और जो अशुभ परिणामोंसे की जाती हैं वे अशुभ होती हैं, परंतु जहांपर क्रिया करनेकी इच्छा ही नहीं होती वहांपर न तो शुभ परिणाम होते हैं और न अशुभ परिणाम होते हैं, किंतु परिणामोंमें शुद्धता ही रहता है, इसीलिए उस क्रियासे किसी भी प्रकारके कर्मका बंध नहीं होता है ॥ ८४ ॥

तत्क्रिया व्रतरूपा स्यादर्थान्नानिच्छतः स्फुटम्। तस्याः स्वतंत्रसिद्धत्वात्सिद्धं कर्तृत्वमर्थसात् ॥ ८५ ॥ नैवं यतोऽस्त्यनिष्टार्थः सर्वः कर्मोदयात्मकः। तस्मान्नाकांक्षते ज्ञानी यावत्कर्म च तत्फलम् ॥ ८६ ॥ यत्पुनः कश्चिदिष्टार्थोऽनिष्टार्थः कश्चिदर्थसात्। तत्सर्वं दृष्टिदोषत्वात्पीतशंखावलोकवत् ॥ ८७ ॥ दृग्मोहस्यात्क्षये दृष्टिः साक्षा-

यहांपर शंकाकार फिर भी शंका करता है कि जो क्रियाएं अनिष्ट पदार्थोंके संयोगरूप होती हैं वे तो विना इच्छाके हो सकती हैं परन्तु जो क्रियाएं विशेष विशेष इष्ट पदार्थोंके संयोगरूप होती हैं वे बिना इच्छाओंके किसप्रकार उत्पन्न हो सकती हैं?॥८५॥ सम्यग्दृष्टीकी वे क्रियाएं व्रतरूप होती हैं। इसलिए वे बिना इच्छाओंके किसीप्रकार उत्पन्न नहीं हो सकती। व्रत पालन करनेरूप क्रियाएं इच्छापूर्वक की जाती हैं व्रत करनेवाला स्वतंत्र हो कर उन क्रियाओंको करता है। इससे स्वयं सिद्ध हो जाता है कि वह व्रत पालन करनेवाला उन व्रत करनेरूप क्रियाओंका कर्त्ता है। सब तरहसे शंकाकारका अभिप्राय यही है कि श्रेष्ठ क्रियाएं बिना इच्छाके कभी नहीं होतीं ॥ ८६ ॥ इसके उत्तरमें कविराज कहते हैं कि शंकाकारकी यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि संसारमें जो कुछ कर्मोंके उदयसे होता है वह सब सम्यग्दृष्टीके लिए अनिष्ट ही है। सम्यग्दृष्टी उन सबको अनिष्ट ही समझता है। इसलिए जितने भी कर्म हैं और जितने भी कर्मोंके फल हैं उन सबकी इच्छा सम्यग्ज्ञानी पुरुष कभी नहीं करता है। भावार्थ···सम्यग्दृष्टीके लिए व्रतरूप क्रिया भी अनिष्ट है इसलिए वह क्रिया भी विना इच्छाके ही होती है ॥ ८७ ॥ संसारमें अपने प्रयोजनके वशसे जो कोई पदार्थ इष्ट माना जाता है अथवा जो कोई पदार्थ अनिष्ट माना जाता है वह सब दृष्टि वा दर्शनके दोषसे माना जाता है। जैसे कि दृष्टिके दोषसे सफेद शंख भी पीला दिखाई पडता है। भावार्थ-जिसप्रकार दृष्टिदोषसे नेत्रोंमें विकार होनेसे सफेद शंख भी पीला दिखाई पडता है उसीप्रकार कर्मोंके उदयसे प्राप्त हुए पदार्थोंमें जो इष्ट अथवा अनिष्ट कल्पना होती है वह सब दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे होती है। परन्तु जब दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव हो जाता है तब कारणके बिना इष्ट अनिष्ट कल्पना हो ही नहीं सकती। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टीकी क्रियाओंमें इष्ट अनिष्ट कोई भी कल्पना नहीं है इसी लिए उन क्रियाओंसे किसी भी कर्मका बंध नहीं होता है ॥८८॥ सम्यग्दृष्टीके दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव हो

दृभूतार्थद्रर्शिनी । तस्यानिष्टेस्त्यनिष्टार्थबुद्धिः कर्मफलात्मके ॥ ८८ ॥ नचासिद्धमनिष्टत्वं कर्मणस्तत्फलस्य च । सर्वतो दुःखहेतुत्वाद् युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ८९ ॥ अनिष्टार्थफलत्वात्तस्य दनिष्टार्था व्रतक्रिया । दुष्टकार्यनुरूपस्य हेतोर्दुष्टोपदेशवत् ॥ ९० ॥ अथसिद्धं स्वतन्त्रत्वं क्रियायाः कर्मणः फलात् । ऋते कर्मोदयाद्धेतोस्तस्या-श्चासम्भवो मत ॥ ९१ ॥ यावदक्षीणमोहस्य क्षीणमोहस्य चात्मनः । यावत्यस्ति क्रिया नाम तावत्यौदयिकी स्मृता ॥ ९२ ॥ पौरुषं न यथाकामं पुंसः कर्मोदितं

जाता है इसलिए उसकी दृष्टि दर्शन वा श्रद्धान आत्माके शुद्धस्वरूपको साक्षात् अनुभव करनेवाला हो जाता है इसीलिए कर्मके फलस्वरूप समस्त अनिष्ट पदार्थोंमें उसकी बुद्धि अनिष्टस्वरूप ही हो जाती है। भावार्थ-पहले कह चुके हैं कि सम्यग्दृष्टी पुरुष कर्मोंके जितने फल हैं कर्मोंके उदयसे होनेवाले जितने कार्य हैं उन सबको अनिष्ट मानता है और जिन जिनको वह अनिष्ट मानता है उन सबको वह अनिष्ट समझता है। इसलिए वह कर्मके उदयसे होनेवाले व्रतादिक कार्योंको इच्छापूर्वक नहीं करता ॥ ८९ ॥ संसारमें जितने कर्म हैं और जितने उन कर्मोंके फल हैं वे सब अनिष्ट हैं यह बात असिद्ध नहीं है किन्तु अच्छीतरह सिद्ध है। क्योंकि यह बात युक्ति आगम और अनुभव सब तरहसे सिद्ध है कि संसारमें जितने कर्म हैं और जितने कर्मोंके फल हैं वे सब दुःखोंके कारण हैं। तथा जो जो दुःखोंके कारण होते हैं वे सब अनिष्ट होते हैं। इसलिए कर्म और कर्मोंके फल सब अनिष्ट हैं इसमें किसीप्रकारका सन्देह नहीं है ॥ ९० ॥ जिसप्रकार दुष्ट पुरुषका उपदेश दुष्ट कार्योंको ही उत्पन्न करानेवाला होता है उसीप्रकार व्रतरूप क्रिया भी अनिष्ट फल ही उत्पन्न करती है इसलिए वह भी अनिष्ट ही है इसमें किसीप्रकारका सन्देह नहीं है। भावार्थ-व्रतोंसे शुभ कर्मोंका बंध होता है और उससे स्वर्गादिक इंद्रिय जन्य सुख मिलते हैं परन्तु सम्यग्दृष्टी इन सबको अनिष्ट समझता है। इससे सिद्ध होता है कि उसकी व्रतरूप क्रियाएं भी सब अनिष्ट हैं ॥ ९१ ॥ पहले यह जो शंका की गई थी कि व्रतरूप क्रिया स्वतंत्र होती है और इसीलिए उसका कर्त्ता सम्यग्दृष्टी है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि व्रतरूप क्रिया कर्मके उदयसे होती है। इसलिए वह कर्मका फल है। व्रतरूप क्रियाएं सब कर्मके उदयसे होती हैं। बिना कर्मोंके उदयके व्रतरूप क्रियाओंका होना असम्भव है ॥ ९२ ॥ जिस मनुष्यका मोहनीयकर्म नष्ट हो गया है अथवा जिसका

प्रति । न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुषः ॥ ९३ ॥ सिद्धो निःकांक्षितो ज्ञानी कुर्वाणोप्युदितां क्रियाम् । निष्कामतः कृतं कर्म न रागाय विरागिणाम् ॥ ९४ ॥ नाशङ्क्य चास्ति निःकांक्षः सामान्योपि जनः क्वचित् । हेतोः कुतश्चिदन्यत्र दर्शनातिशयादपि ॥ ९५ ॥ यतो निःकांक्षिता नास्ति न्यायात्सद्दर्शनं विना । नानिच्छा-स्याक्षजे सौख्ये तदत्यक्षमनिच्छतः ॥ ९६ ॥ तदत्यक्षसुखं मोहान्मिथ्यादृष्टिः स नेप्यति । दृग्मोहस्य तथा पाकशक्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥ ९७ ॥ उक्तो निःकांक्षितो

मोहनीयकर्म नष्ट नहीं हुआ है ऐसे दोनों मनुष्योंके जितनी भी क्रियाएं होती हैं वे सब कर्मके उदयसे ही होती हैं ॥९३॥ इस मनुष्यका पुरुषार्थ कर्मोदयके लिए इच्छानुसार नहीं होता और न पुरुषार्थकी अपेक्षासे ही होता है किंतु वह पुरुषार्थ कर्मोंके उदयके अनुसार होता है। भावार्थ–संसारमें जितना भी पुरुषार्थ है सब कर्मोंके उदयके अनुसार होता है। इसलिए क्रियाएं भी सब औदयिकी ही होती हैं ॥ ९४ ॥ इसप्रकार यह अच्छीतरह सिद्ध हो जाता है कि सम्यग्ज्ञानी पुरुष कर्मके उदयसे होनेवाली क्रियाओंको करता हुआ आकांक्षा रहित ही होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि बिना इच्छाके किया हुआ विरागियोंका कर्म (क्रिया) रागके लिए नहीं होता अर्थात् उससे राग द्वेष वा कर्मबंध नहीं हो सकता ॥९५॥ कदाचित् कोई यह कहे कि सम्यग्दर्शनके अतिशयरूप कारणको छोडकर और जगह भी सामान्य मनुष्य आकांक्षा रहित होता है? अर्थात् बिना सम्यग्दर्शनके भी कोई मनुष्य आकांक्षा रहित होता है ऐसी शंका भी कभी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि यह नियम है कि बिना सम्यग्दर्शनके निष्कांक्षता कभी हो ही नहीं सकती इसका भी कारण यह है कि जो पुरुष अतीन्द्रिय सुखकी इच्छा नहीं करता वह इंद्रियजन्य सुखोंमें अनिच्छा भी नहीं कर सकता। भावार्थ–जिसको आत्मजन्य सुखका अनुभव होगा वही इंद्रियजन्य सुखोंकी अनिच्छा करेगा। तथा वह आत्मजन्य सुख दर्शनमोहनीयके अभाव होनेसे होता है। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टीके ही इंद्रियजन्य सुखोंमें आकांक्षा नहीं होती ॥ ९६-९७ ॥ मिथ्यादृष्टी पुरुष अपने मोहनीय कर्मके उदयसे उस अतीन्द्रिय सुखकी कभी इच्छा भी नहीं कर सकता। क्योंकि उसके आत्माकी शक्ति ही वैसी ही है जिससे कि उसके दर्शनमोहनीय कर्मका परिपाक सदा उसीप्रकारका होता रहता है। भावार्थ–दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे उसके आत्मजन्य सुखका अनुभव नहीं होता इसीलिए

भावो गुणो सदर्शनस्य वै। अस्तु का नः क्षतिः प्राक् चेत्परीक्षाक्षमता मता ॥९८॥ अथ निर्विचिकित्साख्यो गुणः संलक्ष्यते स यः। सदर्शनगुणस्योच्चैर्गुणो युक्तिवशादपि ॥ ९९ ॥ आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्धया स्वात्मप्रशंसनात्। परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सा स्मृता ॥ १०० ॥ निष्क्रान्तो विचिकित्सायाः प्रोक्तो निर्विचिकित्सकः। गुणः सदर्शनस्योच्चैर्वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥ १०१ ॥ दुर्दैवाद्दुःखिते पुंसि तीव्रासाताघृणास्पदे। यन्नासूयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः ॥१०२॥ नैतत्तन्मनस्यज्ञानमस्त्यहं सम्पदां पदम्। नास्यवस्मत्समो दीनो वराको विपदां पदम् ॥ १०३ ॥ प्रत्युत ज्ञानमेवेतत्तत्र कर्मविपाकजाः। प्राणिनः सदृशाः सर्वे त्रसस्थावरयोनयः ॥ १०४ ॥ यथा द्वावर्भकौ जातौ शूद्रिकायास्तथोदरात्। शूद्रावभ्रान्ततस्तौ द्वौ कृतं भेदभ्रमात्मना ॥ १०५ ॥ जले जंवालवज्जीवे यावत्कर्माशुचिस्फु-

वह इंद्रिद्रियजन्य सुखोंकी सदा आकांक्षा करता रहता है ॥ ९८ ॥ इसप्रकार ऊपर जो निःकांक्षित गुण बतलाया है वह सम्यग्दृष्टीका ही गुण है ऐसा कहनेमें हमारी कोई हानि नहीं है क्योंकि यह पहलेसे ही परीक्षा सिद्ध हो चुकी है। भावार्थ---यह बात सबतरहसे सिद्ध हो चुकी है कि यह निःकांक्षित गुण सम्यग्दृष्टीका ही है ॥ ९९ ॥

अब आगे निर्विचिकित्सा नामके गुणको कहते हैं। यह बात भी आगम और अनुभवसे तो सिद्ध है ही किंतु युक्तिसे भी सिद्ध होती है कि यह निर्विचिकित्सा गुण सम्यग्दृष्टीका ही एक उत्तम गुण है ॥१००॥ अपने आत्मामें अपने आत्माके अधिक गुण समझ कर अपनी प्रशंसा करते रहना और दूसरेमें थोडे गुण समझ कर निंदा करना वा हीनता सिद्ध करनेकी बुद्धि करना विचिकित्सानामका दोष है ॥ १०१ ॥ आत्माके जो परिणाम इस ऊपर लिखे हुए विचिकित्सा दोषसे रहित हैं उसीको निर्विचिकित्सा गुण कहते हैं। यह श्रेष्ठ गुण सम्यग्दर्शनका ही है अथवा सम्यग्दृष्टीका ही है, सम्यग्दृष्टीके सिवाय और किसीमें यह गुण नहीं होता। आगे इसी गुणका लक्षण कहते हैं ॥ १०२ ॥ जो मनुष्य अपने तीव्र अशुभकर्मके उदयसे अत्यंत दुःखी हो रहा है। तथा जो अत्यंत तीव्र दुःखोंका और अनेक प्रकारकी घृणाओंका स्थान बन रहा है ऐसे पुरुषको देख कर भी जिसके हृदयमें कभी अदयारूप भाव नहीं होता उसे ही निर्विचिकित्सा गुण कहते हैं ॥ १०३ ॥ मैं अनेक प्रकारकी संपदाओंका स्थान हूं और यह विचारा दीन अनेक प्रकारकी विपत्तियोंका स्थान है इसलिए वह दीन भला मेरे समान किस प्रकार हो सकता है। इसप्रकारका अज्ञान मनमें कभी उत्पन्न नहीं होना चाहिये किंतु इसके विपरीत ऐसा

टम्। अहं ते चाविशेषाद्वा नूनं कर्ममलीमसाः ॥१०६॥ अस्ति सद्दर्शनस्यासौ गुणो निर्विचिकित्सकः। यतोऽवश्यं स तत्रास्ति तस्मादन्यत्र न क्वचित् ॥१०७॥

ज्ञान उत्पन्न होना चाहिए कि कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होनेवाले सभी त्रस स्थावर जीव समान हैं ॥ १०३-१०४ ॥ जिसप्रकार किसी शूद्र जातिकी स्त्रीके उदरसे दो पुत्र एक साथ उत्पन्न हुए । यदि वास्तवमें देखा जाय तो वे दोनों ही शूद्र हैं इसमें किसीप्रकारका सन्देह नहीं तथापि भ्रमको धारण करनेवाला आत्मा उन दोनोंमें भेद समझने लगता है। भावार्थ—ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि किसी शूद्रीके पेटसे दो बालक उत्पन्न हुए थे। उनमेंसे एकका पालनपोषण ब्राह्मणके घर हुआ था और दूसरेका पालनपोषण शूद्रके ही घर हुआ था । जिसका पालनपोषण ब्राह्मणके यहां हुआ था वह अपनेको ब्राह्मण समझता था, मद्यमांसादिकके सेवनसे बचता था तथा जो शूद्रके घर पला था वह अपनेको शूद्र ही समझता था और मद्य मांसादिकका सेवन निरर्गल रीतिसे करता था। अन्य लोग भी उन्हें ऐसा ही समझते थे। परन्तु इसप्रकार भिन्न-भिन्न समझनेवाले उन सबका भ्रम था। वास्तवमें तो वे दोनों ही शूद्र थे। इसीप्रकार अज्ञानी जीव भिन्न भिन्न कर्मोंके उदयसे होनेवाले भिन्न-भिन्न जीवोंमें भेद समझने लगते हैं। शुभ कर्मके उदयसे अपनेको श्रेष्ठ समझने लगते हैं और अशुभ कर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवालोंको हीन समझने लगते हैं परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो सभी आत्माएं समान हैं॥१०५॥ जिसप्रकार काईके सम्बन्धसे जलकी शुद्धता नष्ट हो जाती है उसीप्रकार इस जीवमें जबतक कर्मके सम्बन्धसे अशुद्धता हो रही है तबतक उन कर्मोंके सम्बन्धसे मलिन हुए इस आत्माके सामान्य रीतिसे अहंबुद्धि हो रही है। भावार्थ-दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे ही यह जीव मलिन हो रहा है और इसीलिए यह जीव कर्मोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले विकारोंको भी अपना स्वरूप समझ लेता है ॥ १०६ ॥ परन्तु जिस पुरुषके दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव हो गया है ऐसे सम्यग्दृष्टी पुरुषका ही यह निर्विचिकित्सा गुण है क्योंकि यह निर्विचिकित्सा गुण सम्यग्दृष्टीके ही होता है मिथ्यादृष्टीके कभी नहीं होता ॥ १०७ ॥ मिथ्यादृष्टी पुरुष अपने मोहनीय कर्मके उदयसे अत्यन्त भिन्नता धारण करनेवाले जड और चैतन्य पदार्थोंको भी एकरूप समझने लगता है और इसीलिए वह कर्मकी जितनी

कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः स कुतो गुणः । सद्विशेषेऽपि संमोहाद् द्वयोरैक्योपलब्धितः ॥ १०८ ॥ इत्युक्तो युक्तिपूर्वोऽसौ गुणः सद्दर्शनस्य यः । नाविवक्षोपि दोषाय विवक्षो न गुणाप्तये ॥१०९॥ अस्ति चामूढदृष्टिः सा सम्यग्दर्शनशालिनी । ययालकृतवपुष्ये तत् भाति सद्दर्शन नरि[1] ॥ ११० ॥ अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः स्व-

पर्यायें हैं, कर्मोंके उदयसे होनेवाले जितने विकार हैं उन सबमें राग करने लगता है। ऐसे मिथ्यादृष्टीके भला वह निर्विचिकित्सा गुण किसप्रकार हो सकता है अर्थात् कभी नहीं हो सकता। भावार्थ—यह निर्विचिकित्सा गुण सम्यग्दृष्टीके ही होता है मिथ्यादृष्टीके नहीं होता ॥ १०८ ॥ इसप्रकार सम्यग्दर्शनके निर्विचिकित्सा गुणका स्वरूप युक्तिपूर्वक बतलाया। यदि यह गुण न कहा जाय तो कोई दोष नहीं आता और यदि कहा जाय तो कोई विशेष गुण प्रगट नहीं होता। भावार्थ–यह निर्विचिकित्सा गुण सामान्य गुण है। इसके कहने न कहनेसे कोई गुण वा दोष नहीं होता क्योंकि गुण और दोष विशेष गुणसे होता है। विशेष गुणके कथन न करनेसे दोष होता है और कथन करनेसे उस विशेष गुणकी वृद्धि होती है परन्तु यह निर्विचिकित्सा गुण सम्यग्दृष्टीका सामान्य गुण है यह सम्यग्दृष्टीमें होता अवश्य है इसीलिए आठ अंगोंमें इसको अंग माना है। अन्तर केवल इतना ही है कि यह सामान्य गुण है। बाकी सब विशेष गुण हैं इसप्रकार निर्विचिकित्सा अंगका स्वरूप बतलाया ॥ १०९ ॥

अब आगे अमूढदृष्टिका स्वरूप बतलाते हैं। यह अमूढदृष्टी गुण भी सम्यग्दर्शनसे ही सुशोभित होता है अर्थात् सम्यग्दृष्टीके ही होता है। अथवा यों कहना चाहिये कि जो मनुष्य इस अमूढदृष्टी गुणसे सुशोभित है उसीके सम्यग्दर्शन शोभायमान होता है अथवा यों कहना चाहिए कि जो सम्यग्दर्शन इस अमूढदृष्टी गुणसे

---

१ हमने यह पाठ पंचाध्यायीसे शुद्ध किया है लाटी संहितामें यह पाठ "ययालंकृतमात्मं सद्भाति सद्दर्शनं नरि"। ऐसा पाठ है। इस लाटी-संहिताके पाठसे यह पंचाध्यायीका पाठ बहुत सुन्दर और यथेष्ट मालूम होता है। लाटीसंहिताके पाठमें ऊपरकी पंक्ति और नीचेकी पंक्तिका एकसा अर्थ हो जाता है परन्तु पंचाध्यायीके पाठमें नीचेकी पंक्तिमें बड़ी विलक्षणता दिखलाई है। पंचाध्यायीके पाठमें एकप्रकारसे अमूढदृष्टी अंगको सम्यग्दर्शनका मुख्य और नितान्त अविनाभावी लक्षण दिखलाया है जो कि आगेके वर्णनसे भी यथेष्ट सिद्ध होता है। इसलिए पंचाध्यायीका पाठ ही उत्तम और ठीक है।

लक्षणात्। नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोस्त्यमूढदृक् ॥ १११ ॥ अस्त्यसद्धेतुदृष्टान्तैर्मिथ्यार्थः साधितोऽपरैः। नाप्यलं तत्र मोहाय दृग्मोहस्योदयक्षतेः ॥ ११२ ॥ सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः। नाल्पश्रुतः समुह्येत किं पुनश्चेद्बहुश्रुतः ॥११३॥ अर्थाभासेपि तत्रोच्चैः सम्यग्दृष्टेर्न मूढता। स्थूलानन्तरि-

शोभायमान है वही सम्यग्दर्शन मनुष्योंमें शोभा पाता है ॥ ११० ॥ अतत्त्वोंमें वा मिथ्यातत्त्वोंमें तत्त्वोंका श्रद्धान कर लेना मिथ्यातत्त्वोंमें ही यथार्थ तत्त्वोंका श्रद्धान कर लेना मूढदृष्टी है। मूढदृष्टी शब्दका यह अर्थ इस शब्दसे ही निकलता है। मूढ शब्दका अर्थ मिथ्या वा विपरीत है। दृष्टी शब्दका अर्थ श्रद्धान विश्वास वा रुचि है। मूढ अर्थात् विपरीत तत्त्वोंका दृष्टी अर्थात् श्रद्धान करना मूढदृष्टी दोष है। जिस जीवके ऐसी मूढदृष्टी नहीं है वह संसारमें प्रसिद्ध अमूढदृष्टी अंग कहलाता है ॥ १११ ॥

वेदान्ती, मीमांसक, भाट्ट, प्रभाकर, सांख्य, नैयायिक, बौद्ध आदि अन्य मतवालोंने मिथ्या हेतु और मिथ्या दृष्टान्तोंके द्वारा पदार्थोंका स्वरूप विपरीत ही सिद्ध किया है परन्तु जिस पुरुषके दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका अभाव हो गया है ऐसे सम्यग्दृष्टी पुरुषको वह पदार्थोंका विपरीत स्वरूप रंचमात्र भी मोहित नहीं कर सकता। भावार्थ—दर्शनमोहनीय कर्म आत्मामें अंधेरा उत्पन्न कर देता है इसलिए जिसके दर्शनमोहनीय कर्मका उदय होता है वह अपने अज्ञानरूपी अंधेरेके कारण विपरीत पदार्थोंमें भी रुचि करने लगता है। परंतु दर्शनमोहनीय कर्मके अभावसे जिसके आत्माका प्रकाश प्रगट हो चुका है वह पुरुष उन विपरीत पदार्थोंमें कभी मोहित नहीं हो सकता ॥ ११२ ॥ मिथ्यादृष्टी पुरुष अपने दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जो धर्म अधर्म परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थोंके स्वरूपको मेरुपर्वत क्षीरसागर आदि अंतरित पदार्थोंको तथा राम रावणादिक अत्यंत दूरवर्ती पदार्थोंके स्वरूपको विपरीत दिखलाते हैं उनमें थोडेसे शास्त्रोंका जानकार भी मोहित नहीं होता है फिर भला अनेक शास्त्रोंका जानकार उसमें मोहित कैसे हो सकता है? अर्थात् कभी नहीं हो सकता। यथार्थ शास्त्रोंका जानकार पुरुष उन पदार्थोंके विपरीत स्वरूपको कभी नहीं मान सकता ॥ ११३ ॥ जहां कहीं अर्थका आभास भी होता है पदार्थोंके स्वरूपमें कुछ भी विपरीतता होती है वहां भी सम्यग्दृष्टी अपना विश्वास नहीं करता तो

तोपात्तमिथ्यार्थेऽस्यं कुतो भ्रमः ॥ ११४ ॥ तद्यथा लौकिकी रूढिरस्ति नाना विकल्पसात् । निसारैराश्रिता पुंभिरयानिष्टफलप्रदा ॥ ११५ ॥ अफला कुफला हेतु-
शून्या योगापहारिणी । दुस्त्याज्या लौकिकी रूढि कैश्चिद्दुष्कर्मपाकतः ॥ ११६ ॥ अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह । अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवविमूढता
॥ ११७ ॥ कुदेवाराधनं कुर्याद्दैहिकश्रेयसे कुधीः । मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढता ॥ ११८ ॥ अस्ति श्रद्धानमेकेषा लोकरूढिवशादिह । धनधान्यप्रदा नूनं
सम्यगाराधितम्बिका ॥ ११९ ॥ अपरेपि यथाकामं देवानिच्छन्ति दुर्धियः । सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञापराधतः ॥ १२० ॥ नोक्तस्तेषां समुद्देशः प्रसङ्गादपि

फिर जो सूक्ष्म अंतरित और दूरार्थ पदार्थ समस्त आगमोंमें प्रसिद्ध हैं उनमें उस सम्यग्दृष्टीको भ्रम किसप्रकार हो सकता है ? अर्थात् कभी नहीं होता ॥ ११४ ॥ सम्यग्दृष्टी समझता है कि लौकिक रूढि अनेक विकल्पोंसे होती है और उसे निःसार पुरुष ही किया करते हैं। ऐसी लौकिक रूढियोंसे सदा अनिष्ट फल ही उत्पन्न हुआ करते हैं ॥ ११५ ॥ यह लौकिकी रूढि निष्फल है अथवा बुरा फल देनेवाली है । हेतुवादसे रहित है, योगका नाश करनेवाली है और अशुभ कर्मोंके उदयसे कितने ही पुरुष इसे छोड नहीं सकते । भावार्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टी ही इन लौकिकी रूढियोंको मिथ्या धर्मोंको मानता है। सम्यग्दृष्टी इनको सदा हेय समझता है और इनमें कभी विश्वास नहीं करता ॥ ११६ ॥ मूढताएं तीन हैं देवमूढता, धर्ममूढता और गुरु-मूढता । इनमेंसे अदेव या कुदेवमें देवबुद्धि रखना देवमूढता है, अधर्ममें धर्मबुद्धि रखना धर्ममूढता है और अगुरुमें गुरुबुद्धि रखना गुरुमूढता है ॥ ११७ ॥ मिथ्यादृष्टी पुरुष अपने लौकिक कल्याणके लिए (इंद्रियजन्य सुखोंके लिए) कुदेवोंकी आराधना करता है, परंतु यह उसका लोकोपचार मिथ्या है। इसप्रकारके मिथ्या लोको-पचारको करना लोकमूढता है । ऐसी लोकमूढतासे इस जीवको सदा दुःख ही प्राप्त हुआ करता है ॥ ११८ ॥ इस लोकमूढताके वश होकर कितने ही जीव ऐसा श्रद्धान कर लेते हैं कि यदि चंडी मुंडी अंबिका आदि देवियोंकी आराधना अच्छी तरहसे की जायगी तो धन धान्य संपदाओंकी प्राप्ति अवश्य होगी ॥११९॥ अन्य कितने ही अज्ञानी मिथ्यादृष्टी अपनी इच्छानुसार देवोंको मान लेते हैं और उनकी पूजा किया करते हैं । ऐसे लोक अपने मिथ्याज्ञानके कारण सदोष देवोंको भी निर्दोष मान लेते हैं ॥ १२० ॥ यद्यपि इस प्रकरणमें उन

सङ्गतः । लब्धवर्णो न कुर्याद्वै निस्सारं ग्रंथविस्तरम् ॥ १२१ ॥ अधर्मस्तु कुदेवाना यावानाराधनोद्यमः । तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टा वाक्कायचेतसाम् ॥ १२२ ॥ कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः । सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुर्यतः ॥ १२३ ॥ अत्रोद्देशोपि न श्रेयान्सर्वतोऽतीवविस्तरात् । आदेयो विधिरत्रोक्तो नादेयोऽनुक्तएव सः ॥ १२४ ॥ दोषो रागादिचिद्भावः स्यादावरण च कर्म तत् । तयोरभावोस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते ॥ १२५ ॥ अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं

मिथ्या देवोंका वर्णन करना अनुचित नहीं है तथापि ग्रंथका विस्तार हो जानेके डरसे हमने उनका वर्णन नहीं किया है, क्योंकि कुदेवोंका वर्णन करना एक प्रकारसे निष्प्रयोजन है । ऐसा कौन मनुष्य है जो बहुतसे अक्षर पद वाक्य आदि मिल जानेपर भी निस्सार ग्रंथको बढाता रहे ? अर्थात् कोई नहीं है ॥ १२१ ॥ कुदेवोंके आराधन करनेका जितना भी उद्यम है अथवा उन कुदेवोंके द्वारा कहे हुए धर्ममें मन बचन कायका जितना भी व्यापार है वह सब अधर्म है ॥ १२२ ॥ जिसका आचरण निंद्य है, जिसके माया मिथ्या निदान तीनों शल्य लगी हुई हैं और जो परिग्रहसहित हैं उनको कुगुरु कहते हैं । तथा जो सम्यग्दर्शनसे सुशोभित हैं और व्रतोंसे (महाव्रतोंसे) विभूषित हैं उनको सद्गुरु वा श्रेष्ठ गुरु कहते हैं ॥ १२३ ॥ कुगुरु और कुधर्मके स्वरूपको विस्तारके साथ वर्णन करनेसे भी कोई विशेष लाभ नहीं है, क्योंकि यदि इनका वर्णन विस्तारके साथ किया जायगा तो ग्रंथ भी बहुत बढ जायगा । इसलिए इस ग्रंथमें जो विधि बतलाई है जिसका स्वरूप वर्णन किया है वह तो ग्रहण करने योग्य है और जो विधि नहीं बतलाई है जिसका वर्णन नहीं किया है उसे त्याग करने योग्य समझना चाहिए ॥ १२४ ॥

आगे देवका स्वरूप बतलाते हैं । आत्मामें उत्पन्न होनेवाले राग द्वेष आदि विकारोंको तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय अंतराय आदि कर्मोंको दोष कहते हैं । इन रागादिक विकारोंका और ज्ञानावरणादि कर्मोंका जिनके पूर्णरीतिसे अभाव हो गया है उन्हींको देव कहते हैं । भावार्थ—जिनके रागद्वेषादिक अठारह दोषोंका सर्वथा अभाव है और जो ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मोंके नाश होनेसे सर्वज्ञ अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं अर्थात् जो सर्वज्ञ और वीतराग हैं वे ही देव कहलाते हैं ॥ १२५ ॥ उन सर्वज्ञ वीतराग देवके क्षायिकज्ञान केवल-

क्षायिकं दर्शनं सुखम्। वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम् ॥ १२६ ॥ एको देवः स सामान्याद् द्विधाऽवस्थाविशेषतः। संख्यधा नामसंदर्भाद्गुणेभ्यः स्याद-
नन्तधा ॥ १२७ ॥ एको देवः स द्रव्यार्थात्सिद्धः शुद्धोपलब्धितः। अर्हन्निति च सिद्धश्च पर्यायार्थाद्द्विधामतः ॥ १२८ ॥ दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः।
ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः ॥ १२९ ॥ मूर्त्तिमद्देहनिर्मुक्तो लोको लोकाग्रसंस्थितः। ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतो निष्कर्मासिद्ध संज्ञकः ॥ १३० ॥ अर्ह-

ज्ञान वा अनंतज्ञान होता है, क्षायिक दर्शन वा अनंतदर्शन होता है, क्षायिकसुख वा अनंतसुख होता है और क्षायिकवीर्य वा अनन्तवीर्य होता है। इसप्रकार उनके जगतप्रसिद्ध चार अनन्तचतुष्टय होते हैं ॥ १२६ ॥ वह देव सामान्य रीतिसे एक ही प्रकार है तथा अवस्थाकी विशेषतासे अवस्थाके भेदसे दो प्रकार है। अनेक प्रकारके कथनकी अपेक्षासे संख्यात प्रकार वा अनेक प्रकार है और गुणोंकी अपेक्षासे अनन्त प्रकार है। भावार्थ-अपेक्षा-भेदसे उस देवके कितने ही भेद हो सकते हैं ॥ १२७ ॥ द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे वा आत्माके शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति होनेसे वह देव एक ही प्रकार कहा जाता है तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे अरहंत और सिद्धके भेदसे दो प्रकारका माना जाता है। भावार्थ—कर्मोंके नाश होनेसे जो आत्मामें शुद्धता प्राप्त होती है वही देवका लक्षण है। उस शुद्धताकी अपेक्षासे देव एक प्रकार है। तथापि पर्यायकी अपेक्षामे उसके दो भेद हो जाते हैं। जिनके चारों घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं उनको अरहंत कहते हैं और जिनके आठों कर्म नष्ट हो जाते हैं उनको सिद्ध कहते हैं ॥ १२८ ॥ जो दिव्य औदारिक शरीरमें विराजमान हैं, जिनके चारों घातिया कर्म नष्ट हो गये हैं, जो अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनंतसुख और अनन्तवीर्य इन चारों अनंतचतुष्टयोंसे सुशोभित हैं और जो मोक्ष-मार्गको प्रकाशित करनेके लिये धर्मोपदेश देनेवाले हैं ऐसे समवशरणमें विराजमान केवली भगवानको अरहंत-देव कहते हैं ॥ १२९ ॥ जो मूर्तिमान् शरीरसे रहित हो चुका है तथा आठों कर्मोंसे मुक्त हो चुका है जो लोक-शिखरपर विराजमान है, ज्ञानादिक आठ गुणोंसे सुशोभित है और कर्ममलकलंकसे रहित है अथवा सब तरह-की क्रियाओंसे रहित है ऐसे शुद्ध आत्माको सिद्ध कहते हैं ॥ १३० ॥ भगवान अरहंतदेव जगत्पूज्य हैं इसलिए उनको अर्हन् कहते हैं। उन्होंने कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट कर दिया है जीत लिया है इसलिए उनको जिन

न्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मारिशातनात्। महादेवोऽधिदेवत्वाच्छंकरोमिसुखावहात् ॥ १३१ ॥ विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृतत्वात्कथंचन। ब्रह्मा ब्रह्मस्वरूपत्वाद्धरिः दुःखापनोदनात् ॥ १३२ ॥ इत्याद्यनेकनामापि नानेकोस्ति स्वलक्षणात्। यतोऽनन्तगुणात्मैकद्रव्यं स्यात्सिद्धसाधनात् ॥ १३३ ॥ चतुर्विंशतिरित्यादियावदन्तमनन्तता। तद्वद्देवत्वं न दोषाय देवत्वैकविधत्वतः ॥ १३४ ॥ प्रदीपानामनेकत्वं न प्रदीपत्वहानये। यतोऽत्रैकविधत्वं स्यान्नस्यान्नानाप्रकारतः ॥ १३५ ॥ नचाशङ्क्य

कहते हैं। समस्त देवोंके अधिदेव वा देवाधिदेव हैं इसलिए उनको महादेव कहते हैं और अनंत सुखको धारण करनेवाले हैं वे समस्त जीवोंको सुख देनेवाले हैं इसलिए उनको शंकर कहते हैं ॥ १३१ ॥ अपने निर्मल ज्ञानके द्वारा वे भगवान समस्त पदार्थोंको जानते हैं अर्थात् समस्त पदार्थोंमें व्याप्त हैं इसलिए कथंचित् व्याप्त होनेके कारण विष्णु कहलाते हैं। अपने परमब्रह्मस्वरूप आत्माको जानते हैं इसलिए उनको ब्रह्मा कहते हैं। समस्त जीवोंके दुःख दूर करनेवाले हैं, अपने धर्मोपदेशके द्वारा अनेक जीवोंको नरकादिकके दुःखोंसे बचानेवाले हैं इसलिए उनको हरि कहते हैं ॥१३२॥ इसप्रकार उन अरहन्त भगवानके यद्यपि अनेक नाम हैं तथापि अपने देवपनेके लक्षणसे वे एक ही हैं अनेक नहीं हैं। क्योंकि यह शुद्ध आत्मारूप एक द्रव्य अनन्त गुणोंका समुदाय है ऐसा संसारमें प्रसिद्ध है। भावार्थ—अरहंत भगवानमें अनंत गुण हैं इसलिए एक होनेपर भी उन गुणोंकी अपेक्षासे उनके अनेक नाम कहे जा सकते हैं ॥ १३३ ॥ इनके सिवाय चौबीस तीर्थंकर देव कहलाते हैं अथवा अनादिकालसे आज तक अनन्तानन्त चौबीसी हो गई वे सब देव कहलाते हैं अथवा अनंतानंत सिद्धदेव कहलाते हैं। यद्यपि देवपनेकी अपेक्षासे देव एक ही प्रकारके कहलाते हैं तथापि उनकी बहुतसी संख्या माननेमें कोई किसी प्रकारका दोष नहीं आता है। अनेक देव माननेसे किसीमें भी देवपना नष्ट नहीं होना है ॥ १३४ ॥ जैसे दीपक अनेक होनेपर भी किसी भी दीपकमें दीपकपना नष्ट नहीं होता उसीप्रकार देवोंकी संख्या अनेक होनेपर भी उन सबका स्वरूप एक ही प्रकारका होता है। उनकी संख्या अनेक होनेपर भी उनके स्वरूपमें अनेकप्रकारता नहीं होती। भावार्थ—देवका जो लक्षण बतलाया है वह सबमें पाया जाता है जैसे दीपकका लक्षण सब दीपकोंमें पाया जाता है। इसलिए देवोंकी संख्या अनेक होनेपर भी उनके स्वरूपमें कोई किसी प्रकारका भेद नहीं होता

यथासंख्यं नामतोप्यस्त्वनेकधा । न्यायादेकगुणं चैकं प्रत्येकं नाम चैककम् ॥ १३६ ॥ नामतः सर्वतो मुख्यं संख्या तस्यैव सम्भवात् । अधिकस्य ततो वाचा व्यवहारस्य दर्शनात् ॥ १३७ ॥ वृद्धैः प्रोक्तमतः सूत्रे तत्त्वं वागतिवर्ति यत् । द्वादशाङ्गाङ्गबाह्यं च श्रुतं स्थूलार्थगोचरम् ॥ १३८ ॥ कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः । अत्यक्षं सुखमामोत्थं वीर्यं चेति चतुष्टयम् ॥ १३९ ॥ सम्यक्त्वं चैव सूक्ष्मत्वमव्याबाधगुणः स्वतः । अस्त्यगुरुलघुत्वं च सिद्धे चाष्टगुणाः स्मृताः

है ॥ १३५ ॥ उस देवके अनुक्रमसे अनेक वा अनंत नाम होते हैं ऐसी आशंका भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह बात न्यायसे सिद्ध है कि एक नाम एक गुणकी अपेक्षासे होता है । भावार्थ—जब गुणोंमें कोई अनुक्रम नहीं है तब उनके अनन्त नामोंमें भी कोई अनुक्रम सिद्ध नहीं हो सकता ॥ १३६ ॥ दूसरी बात यह है कि नामोंकी सबसे अधिक संख्या गुणोंकी अपेक्षासे ही हो सकती है । परन्तु यह सब कथन नयोंकी अपेक्षासे ही हो सकता है । इसलिए जैसा जैसा अधिक अधिक व्यवहार होता जाय जितने अधिक नाम बढते जाय वे सब उन उन नयोंकी अपेक्षासे और गुणोंकी अपेक्षासे समझ लेने चाहिए ॥ १३७ ॥ इस आत्मामें अनंत गुण हैं और उन अनन्त गुणोंकी अपेक्षासे उसके अनन्त नाम होते हैं इसीलिए वृद्ध पुरुषोंने बडे बडे आचार्योंने शास्त्रोंमें इस आत्मद्रव्यका स्वरूप बचनके अगोचर बतलाया है । जो द्वादशांगरूप श्रुतज्ञान है अथवा अंगबाह्यरूप श्रुतज्ञान है वह सब स्थूल पदार्थोंको ही जानता है अथवा पदार्थोंके स्थूल स्वरूपको ही जानता है उसके समस्त स्वरूपको नहीं जान सकता । वास्तवमें देखा जाय तो पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप बचनातीत है । बचनगोचर नहीं है । इसीप्रकार भगवान अरहंतदेवका स्वरूप भी बचनातीत है ॥ १३८ ॥

आगे सिद्धोंके गुण बतलाते हैं । सिद्ध भगवानके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं इसलिए उनके क्षायिकज्ञान (केवलज्ञान वा अनन्तज्ञान) क्षायिकदर्शन (अनंतदर्शन) अतीन्द्रिय अनंतसुख और केवल आत्मासे उत्पन्न हुआ अनंतवीर्य ये चार तो अनंतचतुष्टय होते हैं । तथा इनके साथ साथ सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अव्याबाधगुण और अगुरुलघु गुण ये चार गुण और होते हैं । इसप्रकार सिद्धोंके आठ गुण होते हैं और ये आठों गुण स्वाभाविक गुण कहलाते हैं ॥ १३९-१४० ॥ इसप्रकार ऊपर लिखे हुए गुणोंको आदि लेकर जो अनंत गुणोंसे सुशोभित हैं

॥ १४० ॥ इत्याद्यनन्तधर्माढ्यः कर्माष्टकविवर्जितः । मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्देवः सेव्यो नचेतरः ॥ १४१ ॥ अर्थाद्गुरुः स एवास्ति श्रेयोमार्गोपदेशकः । भगवांस्तु यतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः ॥१४२॥ तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपा तद्रूपधारिणः । गुरवःस्युर्गुरोर्न्यायान्न्यायोऽवस्थाविशेषभाक् ॥१४३॥ अस्त्यवस्थाविशेषोऽत्र युक्तिस्वानुभवागमात् । शेषसंसारिजीवेभ्यस्तेषामेवातिशायनात् ॥ १४४ ॥ भाविनैगमनयायत्तो भूष्णुस्तद्वानिवेष्यते । अवश्यं भावतो व्याप्तेः सद्भावात्सिद्धसाधनात्

तथा जो आठों कर्मोंसे रहित है और जो अठारह दोषोंसे रहित है वही देव पूज्य है पूजा करने योग्य है। जिसमें ये ऊपर लिखे गुण न हों वह कभी भी देव नहीं कहला सकता ऐसे अदेवकी पूजा कभी नहीं करनी चाहिए ॥ १४१ ॥ इस ऊपर लिखे कथनसे यह अच्छीतरह सिद्ध हो जाता है कि वे भगवान अरहंतदेव ही सच्चे गुरु हैं, वे ही इस जीवका कल्याण करनेवाले मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले हैं तथा वे ही भगवान् मोक्षमार्गमें साक्षात् प्राप्त करानेवाले नेता वा नायक हैं ॥ १४२ ॥ उस अरहंत अवस्था प्राप्त होनेके पहले जो छद्मस्थ (छठे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थानतक अल्पज्ञ) अवस्था है जो कि भगवान अरहंतदेवके समान ही अवस्था वा भेषको (नग्न अवस्थाको) धारण करनेवाले हैं उनको भी गुरु कहते हैं क्योंकि गुरुका लक्षण उनमें भी संघटित होता है। इनके सिवाय जो और अवस्थाको धारण करनेवाले हैं वे कभी किसीप्रकार गुरु नहीं हो सकते ॥१४३॥ ऊपर लिखे हुए लक्षणको धारण करनेवाले गुरुओंमें बाकीके संसारी जीवोंसे बहुत भेद है। यह बात युक्ति आगम और अपने अनुभवसे सिद्ध होती है। क्योंकि बाकीके संसारी जीवोंसे उनमें अत्यन्त अतिशय पाया जाता है ॥१४४॥ भावी नैगमनयकी अपेक्षासे जो आगामी कालमें होनेवाला है वह हुएके समान ही समझा जाता है। इसी न्यायसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि जो भाव अरहंतदेवमें हैं वे ही भाव उन गुरुओंमें हैं। क्योंकि वे ही गुरु आगे चलकर अरहंत होनेवाले हैं तथा जो होनेवाले हैं वे हुएके समान समझे जाते हैं इसप्रकार वे गुरु अरहंतके ही समान समझे जाते हैं। अथवा यों समझ लेना चाहिए कि जो भावोंकी शुद्धता अरहंतदेवमें है वही भावोंकी एकदेश शुद्धता उन गुरुओंमें है इसप्रकार शुद्ध भावोंकी व्याप्ति दोनोंमें समान है। इसलिए भी वे दोनों समान हैं ॥ १४५ ॥ छद्मस्थ अवस्थाको धारण करनेवाले उन गुरुओंके भी मिथ्यात्वकर्मका (दर्शनमोहनीय कर्मका) उप-

।: १४५ ॥ अस्ति सद्दर्शनं तेषु मिथ्याकर्मोपशान्ततः । चारित्रं देशतः सम्यक् चारित्रावरणक्षतेः ॥ १४६ ॥ ततः सिद्धं निसर्गाद्वै शुद्धत्वं हेतुदर्शनात् । मोहकर्मोदयाभावात् तत्कार्यस्याप्यसम्भवात् ॥ १४७ ॥ तच्छुद्धत्वं सुविख्यातनिर्जराहेतुरंजसा । निदानं संवरस्यापि क्रमान्निर्वाणमागपि ॥ १४८ ॥ यद्वा स्वयं तदेवार्थान्निर्जरादित्रयं यतः । शुद्धभावाविनाभावि द्रव्यनामापि तत्त्रयम् ॥ १४९ ॥ निर्जरादिनिदान यः शुद्धो भावश्चिदात्मकः । परमार्हः सएवास्ति तद्वानात्मा परं

शम हो गया है (वा क्षय वा क्षयोपशम हो गया है) इसलिए सम्यग्दर्शन गुण उनके भी प्रगट हो चुका है। तथा अनन्तानुबन्धि, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण आदि चारित्रमोहनीय कर्मोंका भी अभाव हो चुका है इसलिए उनके एकदेश सम्यक्चारित्र भी प्रगट हो चुका है। भावार्थ—अरहंत भगवानके मोहनीयकर्मका सर्वथा नाश हो चुका है और उन गुरुओंके उस मोहनीय कर्मका एकदेश अभाव हुआ है बस यही दोनोंमे अन्तर है। सामान्य रीतिसे मोहनीय कर्मका अभाव दोनोंमें समान है। इसलिए दोनोंमें समानता है ॥ १४६ ॥ इसलिए यह बात हेतुपूर्वक अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी कि उन गुरुओंमें भी स्वाभाविक शुद्धता पाई जाती है। क्योंकि उन गुरुओंके भी मोहनीय कर्मके उदयका अभाव है तथा मोहनीयकर्मके उदयका अभाव होनेसे उनमें उस मोहनीयकर्मका कार्य होना भी असम्भव है।

भावार्थ—भावोंमें वा परिणामोंमें मलिनता वा अशुद्धता उत्पन्न करनेवाला मोहनीय कर्म है। जब उन गुरुओंके मोहनीयकर्मका उदय ही नहीं है तो फिर उससे उत्पन्न होनेवाली अशुद्धता ही कैसे हो सकती है। इससे सिद्ध होता है कि गुरुओंके परिणामोंमें भी शुद्धता है ॥१४७॥ संसारमें यह बात प्रसिद्ध है कि वह गुरुओंमें होनेवाली आत्माकी शुद्धता कर्मोंको शीघ्र नष्ट कर देनेमें कारण है, आते हुए कर्मोंको रोकनेमें कारण है और अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करा देनेमें कारण है ॥१४८॥ अथवा यों कहना चाहिए कि वह गुरुओंमें होनवाली शुद्धता ही स्वयं संवररूप है वही निर्जरारूप है और वही मोक्षरूप है। इसका भी कारण यह है कि शुद्ध भावोंके सदा साथ रहनेवाला जो शुद्ध आत्मद्रव्य है वही संवर है वही निर्जरा है और वही मोक्ष है ॥१४९॥ तथा संवर निर्जरा और मोक्षका कारण ऐसा जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्माका शुद्धभाव है वही शुद्धभाव इस संसारमें परमपूज्य है और इसीलिए उस शुद्ध भावसे

गुरुः ॥ १५० ॥ न्यायादेवं गुरुत्वहेतुः स्यात्केवलं दोषसंक्षयः । निर्दोषो जगतः साक्षी नेता मार्गस्य नेतरः ॥ १५१ ॥ नालं छद्मस्थनाम्नैषा गुरुत्वक्षतये मुनेः । रागाद्यशुद्धभावानां हेतुर्मोहैककर्म तत् ॥ १५२ ॥ नन्वावृतिद्वयं कर्म वीर्यविध्वंसि कर्म तत् । अस्ति तत्राप्यवश्यं वै कुतः शुद्धत्वमत्र चेत् ॥ १५३ ॥ सत्यं किन्तु

सुशोभित होनेवाला आत्मा ही परम गुरु वा सर्वोत्कृष्ट गुरु कहा जाता है ॥१५०॥ इसप्रकार न्यायशास्त्रसे यह बात अच्छी तरहसे सिद्ध हो जाती है कि गुरुपनेका कारण केवल दोषोंका नाश हो जाना है । जो राग द्वेषादिक दोषोंसे रहित है वही जगतका साक्षी अर्थात् जगतको जाननेवाला सर्वज्ञ है और वही मोक्ष प्राप्त करानेवाला मोक्षमार्गका नेता कहा जाता है। जो दोषोंसे रहित नहीं है वह न तो सर्वज्ञ हो सकता है और न मोक्षमार्गका नेता वा मोक्षमार्गको प्राप्त करानेवाला हो सकता है ॥ १५१ ॥ गुरुओंमें (आचार्य उपाध्याय और साधुओंमें) रहनेवाली जो अल्पज्ञता है (केवलज्ञानका अभाव है) वह गुरुपनेको नष्ट नहीं कर सकती। क्योंकि गुरुपनेको नष्ट करनेवाले रागद्वेषादिक अशुद्ध भाव हैं। जो कि मोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं । भावार्थ—गुरुपनेका कारण चारित्र वा आत्माकी शुद्धता है। उसको घात करनेवाला मोहनीय कर्म है। इसलिए गुरुपनेको घात करनेवाला भी मोहनीय कर्म है। गुरुपनेको घात करनेवाली अल्पज्ञता नहीं है ॥ १५२ ॥

यहांपर शंकाकार शंका करता है कि गुरुओंमें (आचार्य उपाध्याय और साधुओंमें) ज्ञानावरण कर्म दर्शनावरण कर्म और वीर्यको घात करनेवाला वीर्यान्तराय कर्म ये तीनों कर्म विद्यमान हैं फिर भला उनमें शुद्धता किसप्रकार आ सकती है ? भावार्थ—घातिया कर्मोंके नाश होनेसे शुद्धता आती है। गुरुओंमें यद्यपि मोहनीय कर्म उपशम हो गया है तथापि ज्ञानावरणादिक तीनों कर्म विद्यमान हैं इसलिए उनके शुद्धता नहीं हो सकती। यही शंकाकारका अभिप्राय है ॥ १५३ ॥ किन्तु कविराज उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह बात ठीक है कि छद्मस्थ गुरुओंमें ज्ञानावरणादिक ऊपर लिखे हुए तीनों कर्म विद्यमान हैं परन्तु उनमें इतनी विशेषता है कि ऊपर लिखे हुए ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंका बन्ध, सत्त्व, उदय और क्षय मोहनीयकर्मके साथ ही होता है ॥१५४॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मोंका बंध सत्त्व आदिक मोहनीय-

विशेषोस्ति प्रोक्तकर्मत्रयस्य च। मोहकर्माविनाभूतं बन्धसत्त्वोदयक्षयम्॥ १५४॥ तथया बध्यमानेस्मिन् तद्बन्धो मोहबन्धसात्। तत्सत्वे सत्वमेतस्य पाके पाकः क्षये क्षयः॥ १५५॥ नोह्य छद्मस्थावस्थायामर्वागेवास्तु तत्क्षयः। अंशान्मोहक्षयस्याशात्सर्वतः सर्वतः क्षयः॥ १५६॥ नासिद्धं निर्जरा तत्त्वं सद्दृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम्। आद्यमोहोदयाभावात्तच्चासंख्यगुणा क्रमात्॥ १५७॥ ततः कर्मत्रयं प्रोक्तमस्ति यद्यपि सांप्रतम्। रागद्वेषविमोहानामभावाद्गुरुता मता॥ १५८॥ अथा-

कर्मके आधीन है। जब मोहनीयकर्मका बंध होता है तभी उस मोहनीय कर्मके आधीन रहनेवाले ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मोंका यथायोग्य बंध होता है। मोहनीयकर्मका सत्व रहनेपर ऊपर लिखे ज्ञानावरणादिक कर्मोंका सत्व रहता है। मोहनीयके उदय होनेपर इन तीनों ज्ञानावरणादिक कर्मोंका उदय होता है और मोहनीयके नाश होनेपर ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मोंका नाश हो जाता है॥१५५॥ कदाचित् यहांपर कोई यह कहे कि छद्मस्थावस्थामें ज्ञानावरणादिक कर्मोंसे मोहनीयकर्मका नाश पहले ही हो जाता है सो भी ठीक नहीं है अर्थात् ऊपर लिखी शंका करना भी ठीक नहीं है क्योंकि यह नियम है कि जब मोहनीयकर्मका अंशरूपसे नाश होता है तब ऊपर लिखे हुए ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मोंका भी अंशरूपसे ही नाश होता है तथा जब मोहनीयकर्मका सर्वथा नाश होता है तब ऊपर कहे हुए ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मोंका भी सर्वथा नाश हो जाता है॥ १५६॥ इसके साथ-साथ सम्यग्दृष्टीके समस्त कर्मोंकी निर्जरा होना असिद्ध भी नहीं है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टीके बराबर कर्मोंकी निर्जरा होती ही रहती है और होते होते समस्त कर्मोंकी निर्जरा हो जाती हैं। क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका अभाव होनेसे उसके प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा होती रहती है॥१५७॥ इसलिए यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी कि यद्यपि छद्मस्थ गुरुओंके ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय ये तीनों कर्म विद्यमान हैं तथापि उनके मोहनीयकर्मका अभाव होनेसे राग द्वेष और मोह तीनोंका अभाव है इसलिए उनमें गुरुपना माना ही जाता है। भावार्थ-राग द्वेष मोहके अभाव होनेसे ही वे गुरु हैं। ज्ञानवरणादिक कर्म वा उनसे होनेवाली अल्पज्ञता उनके गुरुपनेमें बाधक नहीं है॥ १५८॥

आगे गुरुओंके भेद कहते हैं। जिस प्रकार अग्नि यद्यपि एक ही प्रकारकी होती है तथापि कारणके भेदसे

स्त्येकः स सामान्यात्सद्विशेषात्त्रिधामतः । एकोप्यग्निर्यथा तार्ण्यः पार्ण्योदार्व्यस्त्रिधोच्यते ॥ १५९ ॥ आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधागतिः । स्युर्विशिष्ट-पदारूढास्त्रयोपि मुनिकुञ्जराः ॥ १६० ॥ एको हेतुः क्रियाप्येका विधश्चैको बहिः समः । तपो द्वादशधा चैकं व्रतं चैकं च पञ्चधा ॥ १६१ ॥ त्रयोदशविधं चैकं चारित्रं समतैकधा । मूलोत्तरगुणाश्चैको संयमोप्येकधा मतः ॥ १६२ ॥ परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम् । आहारादिविधिश्चैकश्चर्यास्थानासनादयः ॥ १६३ ॥ मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टिः ज्ञानं चारित्रमात्मनः । रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहिस्थितम् ॥ १६४ ॥ ध्याता ध्यानं च ध्येयश्च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात् ।

उसके तीन भेद हो जाते हैं। जो घास फूंस जलाकर अग्नि की जाती है वह तृणकी अग्नि अथवा घासफूसकी अग्नि कहलाती है। जो पत्ते जलाकर अग्नि की जाती है वह पत्तेकी अग्नि कहलाती है और जो लकडी जलाकर अग्नि की जाती है वह लकडीकी अग्नि कहलाती है इसीप्रकार यद्यपि सामान्य रीतिसे वे गुरु एक ही प्रकार हैं तथापि विशेष कथनकी अपेक्षा वे तीनों प्रकारके कहलाते हैं ॥ १५९ ॥ उन गुरुओंके आचार्य उपाध्याय और साधु ये तीन भेद हैं। ये तीनों प्रकारके मुनि उत्तम मुनि हैं और अपने अपने विशेष पदोंपर आरूढ हैं। भावार्थ—विशेष विशेष पदोंके भेदसे ही इन मुनियोंके तीन भेद हुए हैं ॥ १६० ॥ आचार्य उपाध्याय साधु तीनों ही अतन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण इन तीनों कषायोंके अभाव होनेसे तथा परिग्रहमात्रका त्याग कर देनेमात्रसे मुनि हुए हैं। इसलिए कहना चाहिए कि तीनोंका कारण भी एक ही है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि तीनों ही मोक्षकी प्राप्तिके लिए हुए हैं इसप्रकार भी तीनोंका हेतु एक है। तथा व्रताचरणरूप क्रिया भी तीनोंकी एक है और निर्ग्रंथरूप अवस्था भी तीनोंकी समान है। बाहरसे दिखनेवालीं ये तीनों ही बातें उन तीनों मुनियोंकी समान हैं। इसीप्रकार बारह प्रकारका तपश्चरण भी तीनोंका समान है। पांच प्रकारका महाव्रत भी तीनोंका समान है। तेरह प्रकारका चारित्र भी तीनोंका समान है। समताभाव भी तीनोंके एकसे हैं। अट्ठाईस मूलगुण चौरासी लाख उत्तरगुण भी तीनोंके एक हैं। संयम भी तीनोंका एक है। बाईस परीषहोंका जीतना और अनेक उपसर्गोंका सहन करना भी समान है। आहारकी विधि भी सबकी एक है। चर्याकी विधि, स्थान, आसन आदि भी तीनोंके समान हैं। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय

चतुर्विधाराधनापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता ॥ १६५ ॥ किंवात्र बहुनोक्तेन तद्विशेषोऽवशिष्यते । विशेषाच्छेषनिःशेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक् ॥ १६६ ॥ आचार्यो-ऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते । पञ्चाचारं परेभ्यः स आचारयति संयमी ॥ १६७ ॥ अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः । तत्समादेशदानेन प्राय-

मोक्षका मार्ग है और आत्माका स्वाभाविकगुण है तथा जिसके अन्तरंग और बहिरंग दो भेद हैं ऐसा दोनों प्रकारका रत्नत्रय उन आचार्य उपाध्याय साधु इन तीनों मुनियोंका समान है इसीप्रकार ध्याता, ध्यान ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, दर्शन ज्ञान चारित्र तप इन चारों प्रकारकी आराधनाओंका आराधन करना और क्रोधादिक कषायोंका जीतना आदि सब कुछ उन तीनों प्रकारके मुनियोंका समान है ॥ १६१-१६५ ॥ इस विषयमें और अधिक क्या कहा जाय थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिए कि ये तीनों मुनि सब तरहसे समान हैं केवल अपने अपने पदोंके अनुसार जो विशेषता है वही विशेषता रह जाती है उस विशेषताको छोड कर बाकीकी समस्त क्रियाएं वा सब बातें तीनोंकी समान हैं। यह बात न्यायसे सिद्ध हो जाती है ॥ १६६ ॥

आगे तीनोंका अलग अलग स्वरूप कहते हैं और उनमें भी सबसे पहले आचार्यका स्वरूप कहते हैं। आचार्य यह संज्ञा अनादिकालसे चली आ रही है। क्योंकि पांचों परमेष्ठियोंकी सत्ता और स्वरूप अनादिकाल-से चला आ रहा है। अथवा जो आचार्यपदपर नियुक्त है उसको रूढिसे भी आचार्य कहते हैं अथवा जो संयमी दर्शनाचार ज्ञानाचार चारित्राचार तप आचार और वीर्य आचार इन पांचों आचारोंको अन्य मुनियोंसे पालन करावें। अन्य मुनियोंको दीक्षा शिक्षा प्रायश्चित्तादिक देकर पांचों आचारोंको पालन करावें उनको आचार्य कहते हैं। इसप्रकार यह आचार्य संज्ञा योगसे भी (धातु प्रत्यय प्रत्ययान्तसे निकलनेवाले अर्थसे) सिद्ध हो जाती है। भावार्थ—जो दीक्षा देवें और समस्त मुनिसंघके नायक बन कर उन मुनियोंसे पांचों आचारोंका पालन करावें उनको आचार्य कहते हैं ॥ १६७ ॥ अथवा जिस किसी मुनिका व्रत भंग हो जाता है वह मुनि फिरसे उस व्रतको धारण करना चाहता है तो आचार्य उन मुनियोंको आदेश वा आज्ञा देते हुए उनको प्रायश्चित्त देते हैं। भावार्थ—जिसप्रकार अन्य मुनियोंसे पांचों आचारोंका पालन कराना आचार्यका कर्तव्य है उसीप्रकार आदेश देना

श्चित्तं प्रयच्छति ॥ १६८ ॥ आदेशस्योपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेदभाक् । आदत्ते गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः ॥ १६९ ॥ न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणां व्रतधारिणाम् । दीक्षाचार्येण दीक्षेव दीयमानास्ति तत्क्रिया ॥ १७० ॥ छेदोपस्थापनं चात्र क्रियतेऽन्येन तेन वा ॥ स निषिद्धो यथाम्नायादव्रतिनां मनागपि । हिंस-

और व्रत भंग होनेपर प्रायश्चित्त देना भी आचार्यका कर्तव्य है ॥ १६८ ॥ आदेश और उपदेशमें बहुत बडा भेद है, उपदेशसे आदेशमें बहुत कुछ विशेषता है । आचार्यका दिया हुआ जो आदेश है वह तो अवश्य ग्रहण करना पडता है परन्तु उपदेशमें अवश्य ग्रहण करनेका नियम नहीं है । भावार्थ–उपदेशमें यह नियम नहीं है कि शिष्य उसे अवश्य ग्रहण करें ग्रहण करना और न करना शिष्योंकी इच्छापर निर्भर है किन्तु आदेशमें यह बात नहीं है । आदेशमें तो जो आदेश दिया गया है वह अवश्य ग्रहण करना पडता है । आचार्यको आदेश देनेका अधिकार है । वे जो आदेश करते हैं वह मानना ही पडता है ॥ १६९ ॥ जो व्रत धारण करनेवाले गृहस्थ हैं उनको भी आदेश देनेका निषेध नहीं है । जिसप्रकार दीक्षाचार्य दीक्षा देता है उसीप्रकार व्रती गृहस्थको भी आदेश देनेका अधिकार है । भावार्थ–चतुर्विध संघके नायक जो आचार्य हैं वे तो मुनि अर्जिका श्रावक श्राविका सबपर आदेश करनेके अधिकारी हैं किन्तु जिसप्रकार संघके समस्त मुनियोंको धर्मपालन कराना आचार्यका काम है उसीप्रकार समस्त गृहस्थोंसे धर्म पालन कराना गृहस्थाचार्यका काम है[1] । गृहस्थाचार्य सब गृहस्थोंके द्वारा माना हुआ एक व्रती गृहस्थ होता है । जो श्रावकोंको मूलगुण वा उत्तरगुणोंकी दीक्षा दिया करता है यज्ञोपवीतादिक संस्कार कराया करता है । श्रावकोंके व्रतोंमें दोष लगनेपर उन्हें प्रायश्चित्त देता है और धर्मवृद्धिके वा चारित्र-शुद्धिके जो जो साधन हैं उन सबके लिए आदेश दिया करता है । इसप्रकारके गृहस्थाचार्यके लिये आचार्यके समान केवल श्रावक श्राविकाओंके लिये आदेश देनेका अधिकार है ॥ १७० ॥ जिसप्रकार आचार्यको छेदोपस्थापना देनेका प्रायश्चित्त देनेका अधिकार होता है उसीप्रकार उस गृहस्थाचार्यको भी श्रावकोंके लिये प्रायश्चित्त देने-

१ वर्तमान कालमें यह गृहस्थाचार्यका मार्ग बन्द हो गया है इसलिये अधार्मिक उच्छृंखल लोग भी मनमाना उपदेश देते हैं अधार्मिक प्रवृत्ति करते हैं और नीचसे नीच अनर्थोंको प्रचलित करना चाहते हैं ।

करचोपदेशोपि नोपयुज्योत्र कारणात् ॥ १७१ ॥ मुनिव्रतधराणा वा गृहस्थव्रतधारिणाम् । आदेशश्चोपदेशो वा न कर्तव्यो वधाश्रितः ॥ १७२ ॥ नचाशंक्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्व्रतधारिभिः । मूर्त्तिमच्छक्तिसर्वस्वं हस्तरेखेवदर्शितम् ॥ १७३ ॥ नून प्रोक्तोपदेशोपि न रागाय विरागिणाम् । रागिणामेव रागाय ततोऽवश्यं स

का अधिकार होता है परन्तु जो अव्रती गृहस्थ है उसको आदेश देनेका वा प्रायश्चित्त आदि देनेका किंचित् मात्र भी अधिकार नहीं है तथा जो हिंसक है उसको किसी भी कारणसे उपदेश देनेका भी अधिकार नहीं है । भावार्थ— आदेश देनेका अधिकार तो आचार्य और गृहस्थाचार्यको है अन्य किसी श्रावकको नहीं है तथा जिसने हिंसामात्र का भी त्याग नहीं किया है ऐसे अव्रती पुरुषको उपदेश देनेका भी अधिकार नहीं है ॥१७१॥ जिनको आदेश वा उपदेश देनेका अधिकार है ऐसे मुनिव्रत धारण करनेवाले संघनायक आचार्यको अथवा गृहस्थके व्रतोंको धारण करनेवाले गृहस्थाचार्योंको भी मुनियोंके लिए अथवा गृहस्थोंके लिए ऐसा आदेश अथवा उपदेश नहीं देना चाहिए जो जीवोंका बध करनेवाला हो जीवोंकी हिंसा करनेवाला हो ॥ १७२ ॥ यहांपर कदाचित् कोई यह कहे कि मुनिराज व्रत धारण करनेवाले हैं और उन्होंने पुद्गल पदार्थोंकी समस्त शक्तियोंको हाथकी रेखाके समान जान लिया है अतएव उनके लिए हिंसा करनेवाला आदेश अथवा उपदेश देनेका निषेध करना व्यर्थ है सो यह शंका करना भी व्यर्थ है । क्योंकि यह नियम है कि जो वीतराग है उनके लिए चाहे जैसा हिंसाका उपदेश दिया जाय उससे उनके हृदयमें कभी राग उत्पन्न नहीं हो सकता । जिनके हृदयमें राग द्वेष है उनके ही हृदयमें हिंसाके उपदेशसे राग उत्पन्न होता है । इससे यह सिद्ध होता है कि हिंसाके उपदेश वा आदेशका निषेध रागियोंके लिए ही है । भावार्थ—उपदेश वा आदेश आत्माको उन्नत बनाने अथवा शुद्ध करनेके लिए दिया जाता है । मुनिराज राग द्वेष छोडकर निवृत्तिमार्गमें लग चुके हैं अतएव उनके लिए विशुद्ध मार्गका उपदेश वा आदेश देना ही ठीक है । यदि उनके लिए जिनपूजन आदि शुभ प्रवृत्तियोंसे भरा हुआ सावद्य उपदेश दिया जायगा तो उससे उनका आत्मा शुद्ध परिणामोंके बदले शुभ परिणाम धारण करने लगेगा । इसलिए उनको ऐसे उपदेशसे कोई लाभ नहीं हो सकता । गृहस्थोंके शुद्ध परिणाम होते नहीं उनके शुभ अशुभ परिणाम होते हैं । अतएव गृहस्थोंके लिए

वर्जितः ॥ १७४ ॥ न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः । नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि ॥ १७५ ॥ यद्वादेशोपदेशौस्तो तौ द्वौ निरवद्यकर्मणि ।

ऐसा आदेश वा उपदेश देना चाहिए जिससे उनकी अशुभ प्रवृत्तियां बंद हो जायं और वे जिनपूजन आदि शुभ प्रवृत्तियोंमें लग जायं । यद्यपि जिनपूजनादिकमें अल्प सावद्य होता है तथापि उन कार्योंसे महा पुण्यकी प्राप्ति होती है जो परंपरासे मोक्षमार्गका कारण है । इसलिए गृहस्थोंको ऐसा उपदेश ही लाभकारी होता है ॥ १७३-१७४ ॥ गृहस्थोंके लिए सत्पात्रोंको दान देना और भगवान अरहंतदेवकी पूजा करना आदि शुभ कार्योंका आदेश अथवा उपदेश निषिद्ध नहीं है । भावार्थ—यद्यपि दान देने और जिनपूजन करनेमें आरंभजनित हिंसा होती है तथा रागरूप परिणाम होते हैं तथापि इन कार्योंसे महापुण्य की प्राप्ति होती है तथा अशुभ प्रवृत्तियोंका नाश हो जाता है जिससे वह नरकादिक दुर्गतियोंसे बच कर मोक्षकी साधनभूत शुभ गतियोंमें प्राप्त होता है । इसीलिए गृहस्थोंके लिए ऐसे उपदेश देनेका निषेध नहीं है ॥ १७५ ॥ अथवा उत्सर्गमार्ग यही है कि आदेश अथवा उपदेश सर्वथा निरवद्य (हिंसासे सर्वथा रहित) कार्योंका ही दिया जाय । तथा सावद्य कर्मोंका आदेश तो कभी नहीं देना चाहिए । भावार्थ—आदेश निरवद्य कार्योंका ही दिया जाता है । सावद्य कार्योंका कभी नहीं दिया जाता । जो गृहस्थ पूर्ण पापोंका त्याग नहीं कर सकता उसके लिए एकदेश पापोंके त्याग करनेका आदेश दिया जाता है । शेष बचे हुए पापोंके ग्रहण करनेका आदेश नहीं दिया जाता, किंतु जितना त्याग कर सकता है उतनेके त्याग करनेका उपदेश वा आदेश दिया जाता है । आदेश वा उपदेश देनेकी परिपाटीका यही नियम है ॥ १७६ ॥ कोई कोई ऐसा कहते हैं कि आचार्य असंयमी पुरुषोंके साथ भी संबंध रखता है । उनके साथ संभाषण करता है और उनसे वात्सल्य वा प्रेम भी रखता है । परंतु कविराज कहते हैं कि यह बात नहीं है किंतु जो आचार्य असंयमी पुरुषोंके साथ किसी तरहका भी संबंध रखता है वह आचार्य नहीं कहा जा सकता । आचार्यपदकी तो बात ही अलग है उसे जैनमतको माननेवाला भी नहीं कह सकते हैं । भावार्थ—आचार्यका संबंध केवल धर्मात्माओंसे वा मुनियोंसे होता है । बातचीत वा धर्मप्रेम भी केवल उन्हींके साथ होता है । दशलक्षण

यत्र सावद्यलेशोपि तत्रादेशो न जातुचित् ॥ १७६ ॥ सहासंयमिभिर्लोकैः संसर्गं भाषणं रतिम् । कुर्यादाचार्य इत्येकेनासौ सूरिर्नचार्हतः ॥ १७७ ॥ संघसम्पो-

धर्मोंमें जो सत्य धर्म है उसके लक्षणमें भी यही कहा जाता है कि सत्यधर्मको धारण करनेवाला साधु साधु पुरुषोंमें ही हित और मितरूप बचन बोलता है। ऐसा पुरुष असाधुओंके साथ बातचीत नहीं करता। आचार्य मुनियोंके संघके साथ भी केवल धार्मिक सम्बन्ध रखते हैं। रागद्वेषका अंश वहां भी नहीं होता अतएव आचार्य असंयमियोंके साथ भी सम्बन्ध रखते हैं यह बात सर्वथा असत्य और अयुक्त है ॥ १७७ ॥ किसी किसीके मतमें यह कहा जाता है कि आचार्य महाराज समस्त संघके पालनपोषण करनेवाले हैं, कविराज कहते हैं कि ऐसे लोगोंका यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि शास्त्रोंमें यही लिखा है कि धर्मका आदेश देना तथा धर्मका उपदेश देना इन दो कार्योंके सिवाय और कोई किसी प्रकारका उपकार आचार्य नहीं किया करते हैं। भावार्थ—आचार्योंका कर्तव्य मुनियोंका पालनपोषण करना बतलाना मुनि और आचार्य दोनोंका स्वरूप बिगाडना है। पहिली बात तो यह है कि मुनिराज ही किसीसे अपना पालनपोषण नहीं चाहते हैं और जो मुनि अपना पालनपोषण चाहते हैं वे मुनि नहीं हैं। मुनियोंको तो अपने पालन वा पोषणका कभी विचार ही नहीं होता है। मुनियोंका कर्तव्य तो तप करना है। तथा तपका साधन शरीर है। उस शरीरकी परिस्थिति ठीक रखनेके लिए वे आहारमात्र लेते हैं। आहार लेनेके लिए वे नगरमें जाते हैं वहांपर नवधा भक्तिपूर्वक बत्तीस अन्तराय और छ्यालीस दोषोंको टाल कर जो आहार मिल जाता है तो ले लेते हैं यदि इस विधिसे आहार नहीं मिला तो वे सीधे अपने स्थानको चले आते हैं, आहार न मिलनेसे उनको किंचित्मात्र भी खेद नहीं होता है। यद्यपि मुनियोंकी वृत्ति भिक्षावृत्ति कही जाती है तथापि वह याचनारूप नहीं है। क्योंकि उनके आहारमें रागांश सर्वथा नहीं है। यह शरीर बिना आहारके अधिक दिनतक तपश्चरण करनेमें सहायक नहीं हो सकता, इसलिए आहारके लिए उन्हें जाना पडता है। जिस पुरुषको किसी वस्तुकी आवश्यकता होती है वही मनुष्य याचना करता है। मुनियोंको किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि उन्होंने अपने आत्माके सिवाय अन्य किसी भी पदार्थकी आवश्यकता नहीं

समझी है इसीलिए उन्होंने राज्य सम्पत्तिका त्याग कर निरीहवृत्ति धारण की है। जो श्रावक मुनियोंको आहार देता है वह भी अपने आत्माके हितके लिए देता है। "आहार देकर मुनियोंको पालनपोषण करना चाहिये" यह समझ कर मुनियोंको आहार नहीं देता। इससे सिद्ध होता है कि मुनियोंको स्वयं अपने पालन पोषणकी इच्छा नहीं और न किसी वस्तुकी आवश्यकता है फिर भला आचार्य उनका पालनपोषण क्या करेंगे। वहांपर मुनि और आचार्य दोनोंके ही इच्छामात्रका अभाव है फिर भला पालनपोषणका सम्बन्ध कैसा ? दूसरी बात यह है कि आचार्य मुनियोंके साथ केवल धार्मिक सम्बन्ध रखते हैं। मुनियोंको दीक्षा देना, उन्हें अपने अपने व्रतोंमें तपमें सावधान रखना, धर्मसे च्युत होनेपर प्रायश्चित्त देना और फिर उन्हें धर्ममें लगाना, मुनियोंके धर्मका उपदेश देना, आदेश देना, तपश्चरणमें उन्हें सदा दृढ बनाए रखना, मरणके सन्मुख हुए मुनियोंको समाधिमरण धारण कराना आदि धर्मकार्य ही आचार्योंके कर्तव्य हैं। इसीलिए आचार्योंको वीतराग शासक कहते हैं। आचार्य संघके शासक हैं तथापि वे प्रमादी वा रागी नहीं हैं अन्य मुनियोंके समान वे भी अपने शुद्ध अन्तःकरण से अपने आत्मामें ही सदा लीन रहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि आचार्य संघके पालक पोषक नहीं हैं, उनको संघका पालक पोषक कहना सर्वथा मिथ्या है ॥ १७८ ॥ अथवा इतना कहनेसे ही समझ लेना चाहिये कि जो कोई आचार्य जबतक मोहसे अथवा प्रमादसे लौकिक क्रियाओंको करता है तबतक वह आचार्य ही नहीं कहा जा सकता। तथा आचार्यपद तो बहुत ऊंचा है लौकिक क्रियाओंको करनेवाला पुरुष अंतरंगव्रतसे च्युत समझा जाता है। भावार्थ—इस श्लोकसे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि आचार्यका केवल धार्मिक क्रियाओंका सम्बन्ध है मुनियोंके धार्मिक कार्योंके लिये ही वह शासक है। लौकिक क्रियाओंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। १७९॥ ऊपर जो कुछ कथन किया गया है उससे यह अच्छीतरह सिद्ध हो जाता है कि जो व्रत तप शील संयम आदि गुणोंको धारण करनेवाला है वही गणका स्वामी आचार्य कहलाता है। वही साक्षात् गुरु है, वही गुरु नमस्कार

यो ऽप्यस्ति चान्तर्व्रताच्युतः ॥१७९॥ इत्युक्तव्रततपःशीलसंयमादिधरो गणी । नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी ॥१८०॥ उपाध्यायः स साध्वीयान् वादी स्याद्वादकोविदः । वाग्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः ॥ १८१ ॥ कविः प्रत्यग्रसूत्राणां शब्दार्थैः सिद्धसाधनात् । गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्त्मनाम् ॥ १८२ ॥ उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासोस्ति कारणम् । यदध्येति स्वय चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरुः ॥१८३॥ शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः । कुर्याद्धर्मोपदेशं स नादेशं सूरिवत्क्वचित् ॥ १८४ ॥ तेषामेवाश्रम लिंगं सूरीणां संयमं तपः । आश्रयेत् शुद्धचारित्र पञ्चाचार स शुद्धधी. ॥१८५॥ मूलोत्तरगुणानेव यथोक्ता

योग्य है । जिसमें व्रत तप शील संयम आदि गुण नहीं पाये जाते वह गुरु वा गणका स्वामी कभी आचार्य नहीं हो सकता । न वह गुरु ही हो सकता है और न गणका नायक ही बन सकता है । इसप्रकार आचार्यका स्वरूप बतलाया ॥ १८० ॥

आगे उपाध्यायका स्वरूप बतलाते हैं । जिनमें प्रत्येक प्रश्नके समाधान करनेकी शक्ति है, जो वाद विवाद करनेमें पारंगत हैं, स्याद्वादविद्याके जाननेमें अत्यन्त निपुण हैं, जो बोलनेमें अत्यन्त चतुर हैं, जो बचनरूपी परमब्रह्मके जाननेमें सर्वज्ञसमान हैं, जो सिद्धान्तशास्त्रोंके पारगामी हैं, जो नवीन नवीन सूत्रोंके बनानेमें कवि हैं तथा शब्द अर्थोंके द्वारा उनको सिद्ध करनेमें अत्यन्त चतुर हैं, जो अर्थकी मधुरता लानेमें अत्यन्त चतुर हैं और वक्ताओंके मार्गमें अग्रेसर हैं, समस्त वक्ताओंको यथेष्ट मार्ग दिखानेवाले हैं ऐसे उत्तम मुनियोंको उपाध्याय कहते हैं ॥ १८१ १८२ ॥ उपाध्यायपदके प्राप्त होनेमें शास्त्रोंका अभ्यास करना ही कारण है । जो स्वयं शास्त्रोंका अध्ययन करें तथा अन्य अनेक शिष्योंको अध्ययन करावें उनको गुरु वा उपाध्याय कहते हैं ॥१८३॥ पठन पाठन करनेके सिवाय बाकीकी व्रत तप संयम आदि पालन करनेकी क्रियाएं सब मुनियोंके समान साधारण हैं । वह उपाध्याय सदा धर्मका उपदेश दिया करता है परन्तु आचार्यके समान वह आदेश कभी नहीं करता ॥ १८४ ॥ वह शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाला उपाध्याय उन्हीं आचार्योंके संघमें रहता है, उन्हीं आचार्योंके समान संयम, तप, शुद्ध चारित्र, और दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्य इन पांचों आचारोंका पालन करता है ॥१८५॥ वे उपाध्याय आचार्योंके समान अथवा उत्तम मुनियोंके समान चिरकालतक मूलगुणोंका पालन करते हैं

नाचरेच्चिरम्। परिषहोपसर्गाणां विजयी स भवेद्ध्रुवम् ॥ १८६ ॥ अत्रातिविस्तरेणालं नूनमन्तर्बहिर्मुनेः। शुद्धवेषधरो धीरो निर्ग्रन्थः स गणाग्रणीः ॥१८७॥ उपाध्यायः समाख्यातो विख्यातोस्ति स्वलक्षणैः। अधुना साध्यते साधोर्लक्षणं सिद्धमागमात् ॥१८८॥ मार्गं मोक्षस्य चारित्रं सद्दृग्ज्ञप्तिपुरस्सरम्। साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः ॥१८९॥ नोचे वाचंयमी किंचिद्धस्तपादादिसंज्ञया। न किंचिद्दर्शयेत्स्वस्थो मनसापि न चिन्तयेत् ॥ १९० ॥ आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिक्यानुवानश्च परम्। स्तिमितान्तर्बहिर्जल्पो निस्तरंगाब्धिवन्मुनिः ॥ १९१ ॥ नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत्स मनागपि। स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुनः ॥ १९२ ॥

शास्त्रोंमें कहे अनुसार उत्तरगुणोंका पालन करते हैं, निश्चयसे बाईस परिषहोंको जीतते हैं और अनेक उपसर्गोंको सहन करते हैं ॥१८६॥ उपाध्यायके स्वरूपमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है, थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिए कि वे उपाध्याय अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकारसे उत्तम मुनियोंके समान शुद्ध अवस्थाको धारण करते हैं, अत्यन्त धीरवीर होते हैं, निर्ग्रंथ अवस्थाको धारण करनेवाले होते हैं और अनेक गुणोंके स्वामी होते हैं ॥१८७॥

इसप्रकार अपने लक्षणोंसे प्रसिद्ध जो उपाध्यायका स्वरूप है उसका वर्णन किया। अब आगे आगमसे सिद्ध जो साधुका लक्षण है उसे बतलाते हैं ॥ १८८ ॥

जो चारित्र मोक्षका साक्षात् मार्ग है तथा जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानपूर्वक होता है, ऐसे चारित्रको जो अपने आत्माको सिद्ध करनेके लिये सिद्ध करते हैं उनको साधु कहते हैं। यह साधु शब्दका अर्थ शब्दसे निकलनेवाला यथार्थ अर्थ है ॥ १८९ ॥ अपने आत्मामें लीन रहनेवाले और इसीलिए मौनव्रत धारण करनेवाले ये साधु न तो बचनसे कुछ कहते हैं, न हाथ पैर आदिके इशारेसे कुछ दिखलाते ही हैं और न मनसे कुछ चिंतवन करते हैं ॥ १९० ॥ वे केवल शुद्ध आत्मामें आस्तिक्य बुद्धि रखते हुए (एकाग्रचित्तसे शुद्ध आत्माका ध्यान करते हुए) रहते हैं। उनकी अन्तरंग वृत्तियां (मनकी प्रवृत्तियां) तथा काय बचनकी बाह्य प्रवृत्तियां सब शांत होती हैं और जिसप्रकार तरंगोंसे रहित समुद्र अत्यन्त शान्त होता है उसीप्रकार वे मुनिराज भी अत्यन्त शान्त होते हैं ॥ १९१ ॥ वे मुनिराज न तो किसी प्रकारका उपदेश देते हैं और न किसी प्रकारका आदेश ही देते हैं। वे मुनिराज स्वर्ग तथा मोक्षके मार्गका भी उपदेश वा आदेश नहीं देते फिर भला वे उसके विपक्ष संसारके

वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभः । दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः ॥ १९३ ॥ निर्ग्रन्थोन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको यमी । कर्मनिर्जरकः श्रेष्ठया तपस्वी स तपःशुचिः ॥ ॥ १९४ ॥ परिषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्मथः । एषणाशुद्धिसंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः ॥ १९५ ॥ इत्याद्यनेकधाऽनेकैः साधुः साधुगुणैः

मार्गका वा पापरूप क्रियाओंका उपदेश वा आदेश तो किस प्रकार दे सकते हैं? ॥ १९२ ॥ वे मुनिराज वैराग्य-की परम सीमाको प्राप्त हो जाते हैं, बडे प्रभावशाली होते हैं, दिगम्बर अवस्थाको धारण करनेवाले होते हैं, जिस-प्रकार तुरन्तका उत्पन्न हुआ बालक निर्विकार होता है उसीप्रकार वे मुनिराज भी निर्विकार अवस्थाको धारण करते हैं, अत्यन्त दयालु होते हैं, सब तरहके परिग्रहोंसे रहित होते हैं, मोहनीय कर्मकी अतरंग और बहिरंग गांठोंको खोल कर अलग अलग कर देनेवाले (माया मिथ्या निदान इन तीनों शल्योंसे रहित) होते हैं, सदा-काल यम नियमोंको पालन करनेवाले होते हैं, क्षपकश्रेणी वा उपशमश्रेणीके द्वारा कर्मोंकी निर्जरा करते रहते हैं, तपश्चरणसे सदा पवित्र रहते हैं, इसीलिए वे तपस्वी कहलाते हैं, अनेक परिषह और अनेक उपसर्ग भी उन्हें अपने वश नहीं कर सकते, वे परिषह और उपसर्गोंसे सदा अजेय बने रहते हैं, कामदेवको जीतनेवाले होते हैं, आहारकी शुद्धिसे सदा शुद्ध और पवित्र होते हैं और त्याग करनेमें सदा तत्पर रहते हैं ॥ १९३-१९५ ॥ इसप्रकार साधुओंके अनेक प्रकारके अनेक गुणोंसे जो सुशोभित होते हैं उनको साधु कहते हैं। अपने आत्माका कल्याण करनेके लिए ऐसे ही साधुओंको नमस्कार करना चाहिये। जिसमें ये ऊपर लिखे गुण न हों वह चाहे विद्वानोंमें भी श्रेष्ठ हो तथापि वह न तो साधु कहलाता है और न उसको नमस्कार करनेसे कोई लाभ होता है ॥ १९६ ॥

इस प्रकार जो आचार्य उपाध्याय साधुरूप मुनित्रयी है जो कि महापुरुषोंमें सबसे श्रेष्ठ है उसका स्वरूप दिखलाया। यद्यपि मूलगुण वा उत्तरगुणरूप सामान्य गुणोंकी अपेक्षा तीनों समान हैं तथापि इनमें कार्यकी अपेक्षासे तरतमरूपसे विशेषता है । भावार्थ-तीनोंके कार्य अलग हैं इसीलिये तीनोंके पद अलग अलग हैं। आचार्योंको आदेश और उपदेश दोनोंके देनेका अधिकार है इसलिये वे सबसे बडे हैं। उपाध्यायको आदेश देने

श्रितः । नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान् ॥ १९६ ॥ एवं मुनित्रयी ख्याता महती महतामपि । तद्विशुद्धिविशेषोस्ति क्रमात्तरतमात्मकः ॥ १९७ ॥ तत्राचार्यः प्रसिद्धोस्ति दीक्षादेशाद्गणाग्रणीः । न्यायाद्वा देशतोध्यक्षात् सिद्धः स्वात्मन्यतत्परः ॥ १९८ ॥ अर्थान्नातत्परोप्येष दृग्मोहानुदयात्सतः । अस्ति तेना-विनाभूतशुद्धात्मानुभवः स्फुटम् ॥ १९९ ॥ अप्यस्ति देशतस्तत्र चारित्रावरणक्षतिः । वाक्यार्थात् केवल न स्यात्क्षतिर्वापि तदक्षतिः ॥ २०० ॥ तथापि न बहि-

का अधिकार नहीं है किन्तु उपदेश देनेका अधिकार है इसलिये उनका पद आचार्यकी अपेक्षा कुछ कम है। मुनिराजोंको न आदेश देनेका अधिकार है और न देनेका अधिकार है इसलिये उनका पद उपाध्यायसे भी कुछ कम है इसप्रकार आचार्य उपाध्याय साधुओंमें कार्य वा पदकी अपेक्षासे तरतमरूपसे विशेषता है ॥१९७॥ इन आचार्य उपाध्याय साधुओंमें जो दीक्षा देनेसे प्रसिद्ध हैं आदेश देनेसे प्रसिद्ध हैं और जो चतुर्विध संघके वा गणके नायक वा नेता हैं उनको आचार्य कहते हैं। वे आचार्य अपने आत्मामें तल्लीन रहते हैं यह बात युक्तिसे और एकदेश प्रत्यक्षरूप अनुभवसे सिद्ध है ॥१९८॥ आचार्यके दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका अभाव है इसलिये यह बात अर्थात् सिद्ध हो जाती है कि वे आचार्य अपने आत्माको छोड कर अन्य शरीरादिकमें वा भौतिक पदार्थोंमें कभी लीन नहीं हो सकते। इसका भी कारण यह है कि जब आचार्यके दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका अभाव है और दर्शनमोहनीयकर्मके उदयके अभावके साथ साथ शुद्ध आत्माका अनुभव नियमसे होता है और प्रत्यक्ष होता है। इसलिये उन आचार्यके शुद्ध आत्माका अनुभव विद्यमान है अतएव वे उसीमें तल्लीन रहते हैं, अन्य पदार्थोंमें नहीं। भावार्थ-परपदार्थोंमें तल्लीन करानेवाला दर्शनमोहनीयकर्म है। आचार्यके उसका सर्वथा अभाव है इसलिये वे परपदार्थोंमें कभी राग द्वेष मोह नहीं करते। किन्तु दर्शनमोहनीयकर्मके अभावके साथ प्रगट होनेवाले अपने शुद्ध आत्मामें ही सदा लीन रहते हैं ॥ १९९ ॥ दूसरी बात यह भी है कि उन आचार्यके दर्शन-मोहनीयकर्मके उदयका तो अभाव है ही किंतु उसके साथमें उनके एकदेश चरित्रमोहनीयकर्मका भी अभाव हो चुका है। इसलिये उनके सम्यग्दर्शनके साथ साथ सम्यक्चरित्र भी विद्यमान है। यह सदा ध्यान रखना चाहिये कि चारित्रके क्षय होनेमें अथवा उस चारित्रके अक्षय रीतिसे बने रहनेमें केवल बाह्य पदार्थ कारण नहीं

वंस्तु स्याच्चद्धेतुरहेतुतः । अस्त्युपादानहेतोश्च तत्क्षतिर्वा तदक्षतिः ॥ २०१ ॥ संति संज्वलनस्योच्चैः स्पर्द्धकाः देशघातिनः । तद्विपाकोत्थमन्दो वा मन्दो हेतुः क्रमाद्द्वयोः ॥ २०२ ॥ संक्लेशस्तत्क्षतिर्नून विशुद्धिस्तु तदक्षतिः । सोपि तरतमस्थांशैः साप्यनेकैरनेकधा ॥ २०३ ॥ अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह ।

है । भावार्थ—केवल बाह्य पदार्थोंके कारणसे न तो चारित्रका नाश ही होता है और न चारित्र अक्षुण्ण रीतिसे (पूर्ण रीतिसे) बना ही रहता है ॥२००॥ किंतु चारित्रका नाश होना अथवा पूर्ण रीतिसे बना रहना अपने अपने उपादान कारणोंसे होता है । अपने अपने उपादान कारणोंके मिलनसे ही चारित्रकी वृद्धि वा लाभ होता है और अपने उपादान कारण मिलनेसे ही चारित्रका नाश होता है । चारित्रका लाभ होनेमें अथवा उसके नाश होनेमें बाह्य पदार्थ किंचित् मात्र भी कारण नहीं है इससे भी सिद्ध होता है कि चारित्रकी प्राप्तिमें अथवा चारित्रके नाश होनेमें बाह्य पदार्थ कारण नहीं है ॥ २०१ ॥ आचार्यपरमेष्ठीके अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण इन तीनों कषायोंका अभाव है उनके केवल देशघाती संज्वल कषायके स्पर्द्धक विद्यमान हैं । उन संज्वल कषायके स्पर्द्धकोंका यदि तीव्र उदय होता है तब तो चारित्रकी हानि हो जाती है और जब उन्हीं संज्वलन कषायके स्पर्द्धकोंका मन्द उदय होता है तब चारित्रकी वृद्धि हो जाती है । इससे सिद्ध होता है कि चारित्रकी हानिमें संज्वलन कषायका तीव्र उदय होना कारण है और चारित्रकी वृद्धिमें उसी संज्वलन कषायका मन्द उदय कारण है । इसका भी कारण यह है कि संज्वलन कषायके तीव्र उदय होनेसे संक्लेश परिणाम होते हैं तथा संक्लेश परिणामोंसे चारित्रकी हानि होती है । इसीप्रकार संज्वलन कषायोंके मन्द उदय होनेसे परिणामोंकी विशुद्धि बढती है और परिणामोंकी विशुद्धि होनेसे चारित्रकी वृद्धि होती है । संज्वलन कषायोंकी तीव्रतासे संक्लेशता बढ जाती है और मन्दतासे विशुद्धि बढती जाती है । चारित्रको हानि पहुंचानेवाले संक्लेश परिणाम भी अनेक प्रकार के हैं और चारित्रकी विशुद्धि बढानेवाले विशुद्ध परिणाम भी अनेक प्रकारके हैं । भावार्थ—उन संक्लेशरूप परिणामोंमें तथा विशुद्ध परिणामोंमें तरतमताके भेदसे ही अनेक भेद होते हैं । इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि चारित्रकी हानि वृद्धिमें संज्वलन कषायकी तीव्रता और मन्दता ही कारण है

तथाप्येनावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः ॥२०४॥ तत्रावश्यं विशुद्ध्यंशस्तेषां मन्दोदयादिह । संक्लेशांशोऽथवा तीव्रोदयान्नायं विधिः स्मृतः ॥२०५॥ किन्तु देवाद्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोथ वा क्वचित् । तद्विशुद्धेर्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशादयं पुनः ॥२०६॥ तेषां तीव्रोदयात्तावदेतावानत्र बाधकः । सर्वतश्चेत्प्रकोपी च नाप-

है ॥ २०२-२०३ ॥ अथवा चारित्रकी हानि वृद्धिमें कुछ भी कारण हो परन्तु यह निश्चित है कि किसी भी कारणसे आचार्यके चारित्रमें शिथिलता नहीं आती है। कदाचित् संज्वलनकषायके उदयकी तीव्रता होनेसे उनके चारित्रमें कुछ कमी भी हो जाय तो भी यह कभी सिद्ध नहीं हो सकता कि वे आचार्य अपने आत्मामें तल्लीन नहीं रहते हैं। भावार्थ—यह निश्चित है कि आचार्य सदा अपने आत्मामें लीन रहते हैं। यह आत्मतल्लीनता उनकी कभी दूर नहीं होती ॥ २०४ ॥ संज्वलन कषायके मन्द होनेसे आचार्यके विशुद्धिके अंश बढ जाते हैं तथा उसी संज्वलन कषायके तीव्र उदय होनेसे संक्लेशके अंश बढ जाते हैं। उनके परिणामोंमें चाहे संक्लेशके अंश बढें और चाहे विशुद्धिके अंश बढें परन्तु यह नियम है कि संक्लेश वा विशुद्धिके घटने बढनेसे आत्माकी तल्लीनतामें कोई किसीप्रकारका अंतर नहीं होता है। संज्वलन कषायके तीव्र उदयसे होनेवाले संक्लेश परिणाम भी उसके शुद्ध आत्माके अनुभवमें बाधक नहीं होते हैं ॥ २०५ ॥ यदि दैवयोगसे चाहे तो आचार्यके विशुद्ध अंश बढ जायं और चाहे संक्लेशके अंश बढ जायं परन्तु उनका फल केवल इतना ही होता है कि विशुद्धिके अंश बढनेसे चारित्रकी विशुद्धता आ जाती है और संक्लेशके अंश बढनेसे चारित्रमें संक्लेशता वा कमी आ जाती है। इन दोनोंके होनेसे शुद्ध आत्माके अनुभवमें किसीप्रकारकी हीनाधिकता नहीं आती है ॥ २०६ ॥ ॥ यदि आचार्यके संज्वलन कषायकी तीव्रता हो और वह तीव्रता पूर्णरूपसे हो तो वह कुछ प्रकोप वा प्रमाद उत्पन्न करती है। बस वह संज्वलन कषायकी तीव्रता इतनी ही बाधा कर सकती है। इससे अधिक वा भिन्न और कुछ अपराध नहीं कर सकती। भावार्थ—आचार्यके संज्वलन कषायकी तीव्रता होनेपर भी शुद्ध आत्माके अनुभवमें किसीप्रकारकी बाधा नहीं होती है ॥ २०७ ॥ इसप्रकार ऊपर लिखे कथनसे यह बात अच्छी तरहसे सिद्ध हो जाती है कि संज्वलनकषायके तीव्र उदय होनेसे अथवा कुछ अंशोंमें चारित्रकी क्षति वा कमी

राधोस्त्यतोपरः ॥ २०७ ॥ तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः । कर्तुं न शक्यते यस्मादत्रास्त्यन्यः प्रयोजकः ॥ २०८ ॥ हेतुः शुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्व-कर्मणः । प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तस्य व्यत्ययात् ॥ २०९ ॥ दृग्मोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत् । न भवेद्विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः ॥ २१० ॥

होनेपर भी आचार्यके शुद्ध आत्माके अनुभवमें किसीप्रकारकी कमी वा हानि नहीं होती है । उससे आचार्यके शुद्ध आत्मामें लीन होनेका नाश नहीं होता है क्योंकि शुद्ध आत्माके अनुभवके नाश होनेका कारण कुछ और ही है जो आगे बतलाया है ॥२०८॥ शुद्ध आत्माके अनुभव वा ज्ञान होनेमें मिथ्यात्वकर्मका उपशम कारण है। उसके विपरीत मिथ्यात्वकर्मका उदय है । वही मिथ्यात्वकर्मका उदय शुद्ध आत्माके अनुभवके नाश होनेमें कारण है ॥ २०९ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि दर्शनमोहनीयकर्मके उपशम होनेसे इस आत्माके आत्मा की शुद्धताका अनुभव होता है। उस शुद्ध आत्माके अनुभव होनेमें चारित्रमोहनीयकर्मका उदय किसीप्रकार-का विघ्न नहीं कर सकता। भावार्थ—यह बात पहले अच्छीतरह सिद्ध कर चुके हैं कि सम्यग्दर्शनके होनेपर शुद्ध आत्माका अनुभव नियमसे होता है तथा सम्यग्दर्शनके होनेमें दर्शनमोहनीयकर्मका अभाव ही कारण है। इससे सिद्ध होता है कि दर्शनमोहनीयकर्मका अभाव होनेपर शुद्ध आत्माका अनुभव नियमसे होता है । उस शुद्ध आत्माके अनुभवमें चारित्रमोहनीयकर्मका उदय किसीप्रकारकी विघ्नबाधा नहीं कर सकता । इसका भी कारण यह है कि चारित्रमोहनीयकर्मका उदय चारित्रके होनेमें बाधक है, चारित्र नहीं होने देता। शुद्ध आत्माके अनुभवमें वह कुछ नहीं कर सकता। इस नियमके अनुसार यदि आचार्यके संज्वलनकषायका तीव्र उदय भी हो जाय तो भी उससे आचार्यके शुद्ध आत्माके अनुभवमें कोई बाधा नहीं आ सकती । हां संज्वलन-कषायके तीव्र उदयसे उनके चारित्रमें कुछ प्रमादका अंश अवश्य आ सकता है ॥ २१० ॥ वह चारित्रमोहनीय-कर्मका उदय कुछ भी न कर सकता हो सो भी नहीं है क्योंकि यद्यपि वह दर्शनमोहनीयकर्मके कार्यको नहीं कर सकता तथापि अपने कार्यको तो कर सकता है।

भावार्थ—चारित्रमोहनीयकर्मका उदय चारित्रको नष्ट करता है और दर्शनमोहनीयका कार्य शुद्ध आत्माके

नचाकिञ्चित्करश्चैवं चारित्रावरणोदयः । दृग्मोहस्य क्षतेनालमलं स्वस्य कृते च यः ॥२११॥ कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः । नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्याय्या-दितरदृष्टिवत् ॥ २१२ ॥ यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कस्यचिद्दैवयोगतः । इतरत्राक्षतापेऽपि दृश्यध्यक्षान्न तत्क्षतिः ॥ २१३ ॥ कषायाणमनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि । नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ॥ २१४ ॥ ततस्तेषामनुद्रेकः स्यादुद्रेकोऽथवा स्वतः । नात्मदृष्टेः क्षतिर्नूनं दृग्मोहस्योदयादृते ॥ २१५ ॥ अथ

सर्ग ४

अनुभवको रोकना है । चारित्रमोहनीयकर्म शुद्ध आत्माके अनुभवको नहीं रोक सकता तथापि वह चारित्रको तो रोकता ही है ॥२११॥ आत्माके चारित्र गुणका घात करना ही चारित्रमोहनीयकर्मका कार्य है । आत्माके दर्शन (सम्यग्दर्शन गुणका घात करना चारित्रमोहनीयका कार्य नहीं है । इसका भी कारण यह है कि आत्माका चारित्र गुण जुदा है और सम्यग्दर्शन गुण जुदा है इसीलिये सम्यग्दर्शनका घातक दर्शनमोहनीयकर्म है और चारित्र गुणका घातक चारित्रमोहनीयकर्म है । जिसप्रकार किसी मनुष्यके दर्शनमें (देखनेमें) दूसरे मनुष्यकी दृष्टि बाधक नहीं हो सकती उसीप्रकार सम्यग्दर्शनगुणमें चारित्रमोहनीय बाधा नहीं पहुंचा सकता । चारित्रमोहनीयकर्मका कार्य केवल चारित्र गुणको घात करना है ॥ २१२ ॥ जैसे दैवयोगसे किसीके नेत्र सबतरहके रोगोंसे रहित हैं तथा अन्य किसी मनुष्यके नेत्र किसी रोगसे पीडित हैं ऐसी अवस्थामें अन्य मनुष्यके नेत्रोंकी पीडासे पहले मनुष्यके नीरोग नेत्रोंमें कोई किसीप्रकारकी बाधा नहीं होती है उसीप्रकार चारित्रको घात करनेवाले चारित्र-मोहनीयकर्मके उदयसे दर्शनमोहनीयके अभाव होनेसे उत्पन्न होनेवाले शुद्ध आत्माके अनुभवमें कोई किसी-प्रकारकी बाधा नहीं आती है ॥२१३॥ इस आत्माके जबतक कषायोंका अभाव रहता है उदय नहीं रहता तब-तक आत्माका चारित्र गुण प्रगट रहता है और जब कषायोंका उदय हो जाता है कषायोंका अभाव नहीं होता तब आत्माके चारित्रगुणका नाश हो जाता है ॥ २१४ ॥ इससे सिद्ध होता है कि कषायोंका चाहे तो उदय हो और चाहे अभाव हो, जबतक दर्शनमोहनीयकर्मका उदय नहीं होता तबतक उन कषायोंके उदय अथवा अभाव होनेसे शुद्ध आत्माके अनुभवमें किसीप्रकारकी कमी नहीं होती है । भावार्थ–शुद्ध आत्माके अनुभवका बाधक दर्शनमोहनीयकर्मका उदय है । चारित्रमोहनीय अथवा कषायोंका उदय शुद्धात्मानुभवका बाधक नहीं है ॥२१५॥

सूरिरुपाध्यायः द्वावेतौ हेतुतः समौ । साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धा शुद्धोपयोगिनौ ॥ २१६ ॥ नापि कश्चिद्विशेषोस्ति द्वयोस्तरतमो मिथः । नैताभ्यामन्तरुत्कर्षः साधोरप्यतिशायनात् ॥ २१७ ॥ लेशतोस्ति विशेषश्चेन्मिथस्तेषां वहिः कृतः । का क्षतिर्मूलहेतोः स्यादन्तःशुद्धिसमन्वितः ॥ २१८ ॥ नास्त्यत्र नियतः कश्चिद्युक्तिस्वानु-

आचार्य और उपाध्याय दोनों ही कारणकी अपेक्षासे समान हैं। जो मूलगुण वा उत्तरगुण आदि आचार्यपदके कारण हैं वे ही सब उपाध्यायपदके कारण हैं। ये दोनों ही साधु हैं तथा साधुओंके समान ही शुद्ध आत्माका अनुभव करनेवाले हैं। दोनों ही शुद्ध हैं और दोनों ही शुद्ध उपयोगको धारण करनेवाले हैं ॥२१६॥ आचार्य और उपाध्यायमें भी कोई तरतमरूपसे विशेष भेद नहीं है तथा साधुमें भी इन दोनोंसे कोई विशेष अतिशय वा भेद नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि साधुमें कोई अंतरंग विशेष अतिशय हो और वह अतिशय आचार्य वा उपाध्यायमें न हो किंतु आचार्य उपाध्याय साधु तीनों ही समान हैं। इन तीनोंमें कोई किसीप्रकारका अंतर नहीं है ॥ २१७ ॥ यदि आचार्य उपाध्याय साधु इन तीनोंमें कुछ अन्तर है कुछ विशेषता है तो वह केवल बाह्य क्रियाकी अपेक्षासे है जैसा कि पहले इसी सर्गके १९७ वें श्लोकमें कह चुके हैं। अंतरंगकी शुद्धता तीनोंकी समान है। इसलिए बाह्य क्रियाकी अपेक्षासे इन तीनोंमें भेद होनेपर अंतरंग शुद्धि तीनोंकी समान होनेसे ये तीनों ही समान समझे जाते हैं इसमें कोई किसी प्रकारकी हानि नहीं है, क्योंकि मूलकारण जो अंतरंगकी शुद्धता है वह तीनोंमें समान है ॥ २१८ ॥ आचार्य उपाध्याय और साधुओंमें संज्वलनकषायका तीव्र मध्यम वा मंद उदय कुछ नियमित नहीं है। न तो यही नियम है कि आचार्यके इसका मंद उदय हो अथवा उपाध्यायके हो वा साधुके हो। न इन तीनोंमेंसे किसीके भी मध्यम उदयका नियम है और न तीनों ही के तीव्र उदयका नियम है। इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके तीव्र उदय हो सकता है, मध्यम उदय हो सकता है और तीनों ही के मंद उदय हो सकता है। यह बात युक्ति आगम और अनुभव सब तरहसे सिद्ध होती है ॥२१९॥ इन आचार्य उपाध्याय और साधुओंमेंसे प्रत्येकके अनेक अनेक भेद हो जाते हैं और वे भेद जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट भावोंकी अपेक्षासे होते हैं। भावार्थ—कितने ही आचार्योंके अनेकप्रकारके जघन्य भाव होते हैं। कितने आचार्योंके उत्कृष्ट प्रकारके अनेक भाव होते हैं और

भवागमात् । मन्दादिरुदयस्तेषा सूर्युपाध्यायसाधुषु ॥ २१९ ॥ प्रत्येकं बहवः सन्ति सूर्युपाध्यायसाधवः । जघन्यमध्यमोत्कृष्टभवैश्चैकैकशः पृथक् ॥ २२० ॥ कश्चित्सूरिः कदाचिद्वै विशुद्धिं परमां गतः । मध्यमां वा जघन्यां वा स्वोचितां पुनराश्रयेत् ॥२२१॥ हेतुस्तत्रोदिता नानाभावांशैः स्पर्द्धकाः क्षणम । धर्मादेशोपदेशादिहेतुर्नात्र बहिः क्वचित् ॥ २२२ ॥ परिपाट्यानया योज्याः पाठकाः साधवश्च ये । न विशेषो यतस्तेषां नियतः शेषो विशेषभाक् ॥२२३॥ ननु धर्मोपदेशादि कर्म

कितने हीके अनेकप्रकारके मध्यम भाव होते हैं। जिसप्रकार आचार्योंके अनेक भेद होते हैं उसीप्रकार उपाध्याय और साधुओंके भी अनेक भेद समझ लेने चाहिए ॥२२१॥ कोई आचार्य कभी तो सबसे उत्तम विशुद्धिको धारण करते हैं, वे ही आचार्य कभी मध्यम विशुद्धिको धारण करते हैं और फिर वे ही आचार्य किसी कालमें जघन्य विशुद्धिको धारण करते हैं । इसप्रकार अपनी अपनी योग्यताके अनुसार परिणामोंको धारण करते हैं ॥ २२२ ॥ ऊपर लिखे अनुसार आचार्योंके परिणामोंकी विशुद्धि कभी उत्कृष्ट हो जाती है कभी मध्यम हो जाती है और कभी जघन्य हो जाती है इसका कारण यह है कि उन आचार्योंके प्रत्येक समयमें संज्वलन कषायके स्पर्द्धक उदयमें आते रहते हैं उन संज्वलन कषायके स्पर्द्धकोंके उदय होनेसे उनके परिणामोंमें तरतमता होती रहती है। उन स्पर्द्धकोंके तीव्र उदय होनेसे विशुद्धि घट जाती है और मंद उदय होनेसे विशुद्धि बढ जाती है। इसप्रकार विशुद्धिकी हानि वृद्धिमें संज्वलन कषायके स्पर्द्धकोंका उदय कारण है। धर्मका आदेश अथवा उपदेशरूप बाह्य क्रिया आचार्योंकी विशुद्धिकी हानि वृद्धिमें किंचित् भी कारण नहीं है। भावार्थ—आचार्य जो आदेश देते हैं अथवा उपदेश देते हैं वह उनकी विशुद्धकी हानिमें कारण नहीं है । क्योंकि आदेश वा उपदेश देनेमें आचार्यके प्रमाद नहीं होता है। जो लोग यह समझते हैं कि आचार्य मुनिसंघके शासक हैं इसलिए शासन करनेमें उनके थोडी बहुत शिथिलता अवश्य आती होगी परन्तु यह समझना कोरा भ्रम है। आचार्योंका शासन कषायसहित नहीं है। निष्कषाय शासन है और निष्कषाय मुनियोंके लिए है इसलिए उसमें कभी किसी प्रकारका दोष उत्पन्न नहीं हो सकता ॥ २२२ ॥ जिसप्रकार ऊपर लिखी व्यवस्था आचार्यके लिए कही गई है उसीप्रकार उपाध्याय और साधुओंके लिए भी समझनी चाहिये क्योंकि उपाध्याय और साधुओंमें भी आचार्यों-

तत्कारणं वहिः । हेतोरभ्यन्तरस्यापि बाह्यं हेतुर्वहिः क्वचित् ॥ २२४ ॥ नैवमर्थाद्यतः सर्वं वस्त्वकिंचित्करं वहिः । तत्पदं फलवन्मोहादिच्छतोऽप्यान्तरं परम् ॥ २२५ ॥ किं पुनर्गणिनस्तस्य सर्वतोनिच्छतो वहिः । धर्मादेशोपदेशादिस्त्वपदं तत्फलं च यत् ॥२२६॥ नास्यासिद्धं निरीहत्वं धर्मादेशादिकर्मणि । न्यायादक्षार्थ-

से कुछ विशेषता नहीं है । पदस्थके अनुसार होनेवाली बाह्य क्रियाओंको छोड कर शेष सबतरहसे आचार्य उपाध्याय और साधु तीनों ही समान हैं ॥ २२३ ॥ कदाचित् यहांपर कोई यह कहे कि आचार्य धर्मका आदेश देते हैं इससे भी उपाध्याय साधुओंसे आचार्यमें अन्तर पडता है अर्थात् आचार्योंका यह विशेष कार्य है इसलिए इनसे आचार्योंसे विशेषता सिद्ध होती है क्योंकि कहीं कहींपर बाह्य क्रियाएं अथवा बाह्य हेतु भी अभ्यन्तर शुद्धि वा अशुद्धिका कारण बन जाता है । अतएव इन बाह्य क्रियाओंसे आचार्यमें विशेषता माननी ही चाहिये । कविराज कहते हैं कि यह शंका करना ठीक नहीं है क्योंकि संसारमें जितनी भी बाह्य क्रियाएं हैं वे सब अकिंचित्कर हैं । बाह्य क्रियाएं आत्माकी शुद्धिमें कुछ बाधा नहीं कर सकतीं । हां यदि कोई मुनि अपने मोहनीयकर्मके उदयसे बाह्य आचार्य आदि पदकी इच्छा करे तो उसके लिये वह बाह्यपद अवश्य ही फल देता है अर्थात् मोहनीयकर्मके उदयसे होनेवाली वह इच्छा उसके आत्माकी शुद्धिकी विघातक है इसलिए उसका फल केवल संसारपरिभ्रमण है ॥ २२४-२२५ ॥ आचार्यपदको धारण करनेवाले आचार्य धर्मका आदेश देना, धर्मका उपदेश देना, आचार्यपदपर बने रहना और उसके फलस्वरूप अधिकार और गुरुपनेकी किंचित्मात्र भी इच्छा नहीं करते हैं । इन ऊपर लिखी हुई बाह्य क्रियाओंकी उनके किंचित्मात्र भी इच्छा नहीं होती है इसलिए ऐसे आचार्योंकी तो बात ही क्या है । भावार्थ—बाह्य उपदेश वा आदेश आदिकी किंचित्मात्र भी इच्छा न करनेवाले आचार्यके उन बाह्य क्रियाओंसे उनके आत्माकी विशुद्धिमें किंचित्मात्र भी अन्तर नहीं पडता है क्योंकि वे जो कुछ करते हैं उसमें लेशमात्र भी कषाय नहीं है । निष्कषाय होकर केवल धार्मिक बुद्धिसे ही करते हैं ॥२२६॥ यहांपर कदाचित् कोई यह कहे कि जब आचार्य मुनियोंपर आदेश आदि देकर पूर्णरीतिसे शासन करते हैं तब यह कैसे कह सकते हैं कि उनके इच्छा नहीं है क्योंकि विना इच्छाके शासन कभी हो ही नहीं सकता । इसका उत्तर देते

कांक्षाया ईहा नान्यत्र जातुचित् ॥ २२७ ॥ ननुनेहां विनाकर्म, कर्मनेहां विना क्वचित् । तस्मान्नानीहितंकर्म स्यादक्षार्थस्तु वा नवा ॥ २२८ ॥ नैवं हेतोरति-

हुए कविराज कहते हैं कि यह बात अच्छीतरह सिद्ध हो चुकी है कि धर्मका आदेश आदि कार्य करते हुए भी आचार्य सर्वथा इच्छा रहित हैं क्योंकि जो इंद्रियोंके विषयोंमें इच्छा वा लालसा की जाती है उसीको इच्छा कहते हैं जहां केवल धर्मवृद्धिकी आकांक्षा है चारित्रशुद्धिकी आकांक्षा है उसे इच्छा कभी नहीं कह सकते । भावार्थ—जिसप्रकार जो सांसारिक वासनाओंकी इच्छा की जाती है उसको निदान कहते हैं परन्तु मोक्षकी जो इच्छा की जाती है उसे निदान नहीं कहते उसीप्रकार जो इच्छाएं सांसारिक वासनाओंके लिये की जाती हैं उन्हींको इच्छाएं कहते हैं किन्तु जो मनकी प्रवृत्ति धार्मिक कार्योंमें लगाई जाती है उसको इच्छा नहीं कहते । इसका भी कारण है कि जहां कुछ चाह होती है वहीं इच्छा होती है । आचार्य जो आदेश वा उपदेश देते हैं उससे वे कुछ चाहते नहीं वे शासन करते हुए भी सदा निस्पृह और आत्मध्यानमें लीन रहते हैं ॥ २२७ ॥

यहांपर कोई शंकाकार शंका करता है कि यह नियम है कि बिना क्रियाके किसीप्रकारकी इच्छा नहीं होती और बिना इच्छाके किसीप्रकारकी क्रिया नहीं होती । इस नियमके अनुसार बिना इच्छाके किसी प्रकारकी क्रिया नहीं हो सकती । जिसके लिए वह इच्छा की जाती है वह चाहे इंद्रियसम्बन्धी विषय हो और चाहे इंद्रियसम्बन्धी न हो । भावार्थ—जब यह नियम है कि बिना इच्छाके कोई क्रिया हो ही नहीं सकती तब आचार्य जो धर्मका आदेश वा उपदेशरूप क्रिया करते हैं वह भी बिना इच्छाके नहीं हो सकती । इसलिए कहना चाहिये कि आचार्य भी इच्छा सहित हैं इच्छा रहित नहीं हैं । कविराज कहते हैं कि शंकाकारकी यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि "बिना इच्छाके क्रिया होती ही नहीं है" इस लक्षणकी क्षीणकषायवालोंमें अतिव्याप्ति है । क्षीणकषाय नामके बारहवें गुणस्थानमें क्रिया तो होती है परन्तु कषायोंके अभाव होनेसे इच्छाका सर्वथा अभाव है । यदि बारहवें गुणस्थानमें भी क्रिया होनेमात्रसे इच्छा मानी जायगी तो फिर कर्मोंका बन्ध सदा ही होता रहेगा तथा यदि कर्मोंका बंध सदा होता रहेगा तो फिर मोक्ष प्राप्त होना ही असम्भव हो जायगा । भावार्थ—'बिना इच्छाके

व्याप्तेरारादात्तीणमोहिषु । बन्धस्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेरसम्भवः ॥ २२९ ॥ ततोऽस्त्यन्तःकृतो भेदः शुद्धेनांशांशतस्त्रिषु । निर्विशेषात्समस्त्वेष पक्षो माभूद्बहिः कृतः ॥ २३० ॥ किञ्चास्ति यौगिकी रूढिः प्रसिद्धा परमागमे । विना साधुपदं न स्यात्केवलोपत्तिरञ्जसा ॥ २३१ ॥ तत्राकूतमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थदर्शिनः ।

क्रिया होती ही नहीं है' यह नियम ठीक नहीं है क्योंकि बारहवें गुणस्थानमें क्रिया तो होती है परन्तु इच्छा नहीं होती। इसका भी कारण यह है कि इच्छा लोभकी पर्याय है और लोभकषाय दशवें गुणस्थानके अन्तमें नष्ट हो जाता है। यदि कषायोंका सर्वथा अभाव होनेपर भी बारहवें गुणस्थानमें इच्छा मान ली जायगी तो फिर कर्मोंका बन्ध होना कभी बन्द ही नहीं हो सकेगा क्योंकि यह नियम है कि कर्मोंका बन्ध कषायोंसे होता है। कारणके होनेपर तो कार्य होता ही है परन्तु कारणके अभावमें कार्य कभी नहीं होता, यदि कारणके अभावमें भी कार्य होने लगे तो प्रत्येक कार्य प्रत्येक समयमें होना चाहिए। यदि कषायोंके अभावमें भी कर्मोंका बन्ध होगा तो फिर बारहवें तेरहवें चौदहवें गुणस्थानमें वा मुक्त अवस्थामें भी कर्मोंका बन्ध होना चाहिए और यदि वहां भी कर्मोंका बन्ध माना जायगा तो फिर किसी भी जीवको मोक्ष कभी भी नहीं हो सकेगी। यह जीव सदा संसारमें परिभ्रमण करता हुआ दुःखी ही बना रहेगा परन्तु ऐसा होता नहीं है इसलिए शंकाकारने जो यह कहा था कि बिना इच्छाके क्रिया होती ही नहीं है सर्वथा निर्मूल है ॥२२८-२२९॥ इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि आचार्य उपाध्याय और साधुमें परिणामोंकी विशुद्धिके अनेक अंशोंकी अपेक्षासे अन्तरंगमें भेद है परन्तु सामान्यरीतिसे इन तीनोंमें कोई भेद नहीं है। सामान्यरीतिसे तीनों ही समान हैं। अतएव "बाह्य क्रियाओंकी अपेक्षासे ही इन तीनोंमें भेद है" ऐसा मानना सर्वथा निर्मूल है ॥ २३० ॥ इसके सिवाय एक बात यह भी है कि यौगिक रीतिसे अथवा रूढिसे शास्त्रोंमें यह बात भी प्रसिद्ध है कि साधुपदको धारण किए बिना केवलज्ञानकी उत्पत्ति ही नहीं होती है परन्तु वहींपर श्रीसर्वज्ञदेवने यह भी अच्छीतरहसे बतला दिया है कि श्रेणी चढनेवालोंको साधुपद क्षणमात्रमें अपनेआप प्राप्त हो जाता है। भावार्थ—यदि कोई आचार्य अथवा उपाध्याय ध्यान करते करते श्रेणी चढने लगें तो उस समय उनका वह पद साधुपद ही कहलाता है क्योंकि उस समय उनके आदेश

क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामविरूढस्य तत्पदम् ॥ २३२ ॥ यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि । कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥ २३३ ॥ तनः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह । नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोस्ति तत्र यत् ॥ २३४ ॥ न पुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापना वरम् । प्रागादाय क्षणं पश्चात्सूरिः साधुपदं श्रयेत् ॥ २३५ ॥ उक्तं दिग्मात्रमत्रापि प्रसङ्गाद्गुरुलक्षणम् । शेष विशेषतो ज्ञेयं तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥ २३६ ॥ धर्मो नीचपदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम् ।

उपदेश आदि बाह्य क्रियाओंका सर्वथा अभाव है। ध्यानमें ये क्रियाएं अपनेआप छूट जाती हैं इसलिए वह साधुपद भी अपनेआप प्राप्त हो जाता है ॥२३२-३२॥ इसका भी कारण यह है कि वे आचार्य वा उपाध्याय श्रेणी चढनेके समय समस्त चिन्ताओंको दूर कर किसी एक पदार्थको चिंतवन करनेरूप ध्यानको धारण करते हैं। इसलिए आचार्य वा उपाध्यायको वह साधुपद बिना कुछ त्याग वा ग्रहण किए अनायास ही सिद्ध हो जाता है। वहांपर (श्रेणी चढते समय) बाह्य उपयोग नहीं होता है। भावार्थ—उत्कृष्ट ध्यान धारण करना साधुओंका काम है जब आचार्य वा उपाध्याय ध्यान धारण करते हैं तब वे अपनेआप साधु हो जाते हैं क्योंकि ध्यान धारण करते समय उनके कोई बाह्य उपयोग तो काम कर ही नहीं सकता। उस समय तो केवल ध्यान ही है जो साधुओंका काम है अतएव कहना चाहिए कि वे स्वयं साधु हैं ॥ २३३-२३४ ॥ यह बात भी नहीं है कि आचाय पहले छेदोपस्थापनानामके उत्तम चारित्रको धारण करते हैं और फिर साधुपदको प्राप्त होते हैं। भावार्थ—कदाचित् कोई यह कहे कि आचार्य अथवा उपाध्याय जो बहुत दिनतक आदेश वा उपदेश देते रहते हैं, शासन करते रहते हैं, उसके बदले वे पहले प्रायश्चित्त लेते हैं और फिर साधुपद प्राप्त करते हैं सो बात नहीं है क्योंकि पहले भी यह बात अच्छीतरह बतला चुके हैं कि आचार्यकी आदेश वा उपदेशादिक क्रियाएं उनके चारित्रका विशुद्धिमें बाधक नहीं हैं। जब उनके चारित्रकी विशुद्धिमें कोई किसीप्रकारकी बाधा ही नहीं आती है तब फिर प्रायश्चित्त किस बातका किया जाय। आचार्योंकी चारित्रशुद्धि तो साधुओंके ही समान है तथा मूलगुण उत्तरगुणपालन आदि क्रियाएं भी सब साधुओंके समान हैं केवल आदेशादिक बाह्य क्रियाओंसे भेद है जिससे उनके साधुपदमें कोइ अंतर नहीं आता है ॥ २३५ ॥ इसप्रकार प्रसंग पाकर यहांपर थोडासा गुरुलक्षण बतलाया। इसके

तत्राजवंजवो नीचैः पदमुच्चैस्तदाश्रयः ॥ २३७ ॥ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रं धर्मो रत्नत्रयात्मकः । तत्र सद्दर्शनं मुख्यं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥ २३८ ॥ ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा । सदक् पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित् ॥ २३९ ॥ रूढितोऽपि पुरोवाचा क्रिया धर्मः शुभावहा । तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥२४०॥ सा द्विधा स च सागारानागाराणां विशेषतः । यतः क्रियाविशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषतः ॥२४१॥ तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकुत्सापरिग्रहात् । देशतो विरतिः

सिवाय इनका जो विशेष लक्षण है विशेष स्वरूप है वह सब जैनशास्त्रोंसे जान लेना चाहिए ॥ २३६ ॥

आगे धर्मका स्वरूप बतलाते हैं। जो धर्मात्मा पुरुषोंको नीचे स्थानसे उठकर ऊंचे स्थानमें धारण कर दे उसको धर्म कहते हैं। अनेक दुःखोंसे भरा हुआ संसार नीच स्थान है और उसका नाश होना अथवा अनन्त सुखस्वरूप मोक्षपदका प्राप्त हो जाना ऊंचा स्थान कहलाता है अतएव यह सिद्ध हुआ कि जो संसारके दुःखोंसे छुडाकर मोक्षमें पहुंचा दे उसको धर्म कहते हैं ॥ २३७ ॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप जो रत्नत्रय है उसीको धर्म कहते हैं। इन तीनोंमें भी सम्यग्दर्शन मुख्य है और वह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रका मूल कारण है। भावार्थ—बिना सम्यग्दर्शनके ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है और चारित्र मिथ्याचारित्र कहलाता है। जब सम्यग्दर्शन होता है तब उसीके साथ साथ पहला ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है तथा उसके बाद जो चारित्र होता है वह सम्यक्चारित्र कहलाता है इसीलिए कहा गया है कि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका मूलकारण सम्यग्दर्शन ही है ॥२३८॥ इससे यह भी सिद्ध होता है कि वह सम्यक्चारित्ररूप धर्म चाहे तो एकदेशरूप गृहस्थोंका धर्म हो और चाहे पूर्णरूप मुनियोंका धर्म हो, यदि वह सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है तब तो वह धर्म कहलाता है यदि वह सम्यग्दर्शन पूर्वक न हो तो वह धर्म नहीं किन्तु अधर्म कहलाता है ॥ २३९ ॥ वचन और शरीरकी जो शुभ क्रियाएं हैं उनको रूढिसे धर्म कहते हैं परन्तु उन क्रियाओंके साथ मनकी प्रवृत्ति भी अनुकूल अर्थात् शुभरूप ही होनी चाहिए। भावार्थ—मन वचन कायसे होनेवाली शुभ क्रियाओंको ही धर्म कहते हैं ॥ २४० ॥ गृहस्थ और मुनियोंके आश्रयसे होनेवाली वे क्रियाएं भी दोप्रकारकी हैं। भावार्थ—गृहस्थोंकी क्रियाएं भिन्न हैं और मुनियोंकी क्रियाएं भिन्न हैं इसप्रकार वे क्रियाएं दोप्रकारकी हैं तथा क्रियाओंमें भेद होनेसे उस

प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥ २४२ ॥ यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः । नात्राप्यन्यतरेणोना नातिरिक्ता कदाचन ॥२४३॥ सर्वैरेव समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम् । न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशक्षयादपि ॥२४४ ॥ उक्त च । वद समिदिंदियरोधो लोचो आवसयमचेलमण्हाणं । खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥ २४५ ॥ ऐते मूलगुणाः प्रोक्ताः यतीना जैनशासने । लक्षाणां चतुरशीतिर्गुणाश्चोत्तरसंज्ञकाः ॥ २४६ ॥ ततः सागारधर्मोवाऽनगारो वा यथोदितः । प्राणि-

धर्ममें भी भेद हो जाता है । भावार्थ—जब क्रियाएं दोप्रकार हैं तो वह धर्म भी दोप्रकार है । एक गृहस्थोंका धर्म दूसरा मुनियोंका धर्म ॥ २४१ ॥ उसमें भी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और समस्त परिग्रहका एकदेश त्याग करना गृहस्थोंका अणुव्रत कहा जाता है । भावार्थ—गृहस्थोंके अणुव्रत पांच हैं । हिंसारूप पापका एकदेश त्याग करना अहिंसाणुव्रत है, असत्यका एकदेश त्याग करना सत्याणुव्रत है, चोरीका एकदेश त्याग करना अचौर्याणुव्रत है, अब्रह्म वा कुशीलका एकदेश त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है और समस्त परिग्रहोंका एकदेश त्याग करना वा उनका परिमाण नियत कर लेना परिग्रहपरिमाण अणुव्रत है ॥ ४२ ॥ जिसप्रकार वृक्षका मूल वा जड वृक्षके टिकनेमें कारण है उसीप्रकार मुनिव्रतोंको दृढताके साथ पालन करनेके लिये मुनियोंके अट्ठाईस मूलगुण हैं । इन अट्ठाईस मूलगुणोंमेंसे मुनियोंके न तो कभी कम होते हैं और न अधिक होते हैं ॥ २४३ ॥ वह मुनियोंका मुनिव्रत तभी सिद्ध होता है जब कि उनके वे मूलगुण संपूर्ण हों तथा पूर्णरीतिसे पालन किये जाते हों । उन मूलगुणोंको थोडे वा बहुत अलग अलग रीतिसे पालन करनेसे मुनिव्रत कभी नहीं कहा जा सकता । यदि उन मूलगुणोंको अलग अलग पालन किया जायगा तो उन मूलगुणोंमें जितने अंशोंमें कमी होगी उतने ही अंशोंमें उस मुनिव्रतमें भी कमी समझी जायगी ॥२४४॥ शास्त्रकारोंने वे अट्ठाइस मूलगुण इसप्रकार लिखे हैं—

वद समिदिंदियरोधो लो चो आवसयमचेलमण्हाणं । खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ।

अर्थ—पांच महाव्रत, पांच समिति, पांचों इन्द्रियोंका निरोध, छहों आवश्यकोंका पालन करना, केशलोंच करना, वस्त्र धारण नहीं करना, दंतधावन नहीं करना, खडे होकर आहार लेना और दिनमें एक बार आहार लेना ये मुनियोंके अट्ठाईस मूलगुण हैं ॥ २४५ ॥ इसप्रकार ऊपर लिखे अनुसार मुनियोंके अट्ठाईस मूलगुण

संरक्षणं मूलमुभयत्राविशेषतः ॥ २४७ ॥ उक्तमस्ति क्रियारूपं व्यासाद्व्रतकदम्बकम् । सर्वसावद्ययोगस्य तदेकस्य निवृत्तये ॥२४८॥ अर्थाज्जैनोपदेशोयमस्त्यादेशः स एव च । सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते ॥ २४९ ॥ सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वर्तिपदार्थतः । प्राणोच्छेदो हि सावद्यं सैव हिंसा प्रकीर्तिता ॥ २५० ॥ योग-

जैनशास्त्रोंमें बतलाये हैं तथा इन्हीं मुनियोंके उत्तरगुण चौरासी लाख वर्णन किये हैं ॥ २४६ ॥ इस समस्त कथनका अभिप्राय यही है कि ऊपर जो गृहस्थोंका धर्म बतलाया है अथवा जो मुनियोंका धर्म बतलाया है उन दोनोंका मूल प्राणीमात्रका रक्षा करना है। प्राणियोंकी रक्षा करनेमें दोनों ही धर्मोंमें भिन्नता नहीं है। अर्थात् दोनों ही धर्म प्राणियोंकी रक्षा करनेमें तत्पर हैं। गृहस्थधर्ममें प्राणियोंकी एकदेश रक्षा होती है और मुनिधर्ममें पूर्णरीतिसे समस्त प्राणियोंकी रक्षा होती है ॥ २४७ ॥

इन व्रतोंके सिवाय और भी जो विस्तारके साथ क्रियारूप व्रतोंका समुदाय बतलाया है वह सब एक पापरूप परिणामोंकी निवृत्तिकेलिये ही समझना चाहिये । भावार्थ–पापरूप परिणामोंका त्याग कर देना ही व्रत है ॥२४८॥ इसप्रकार सिद्ध होता है कि समस्त पापरूप योगोंके त्याग कर देनेको ही व्रत कहते हैं, यही जैनधर्मका उपदेश है और यही जैनधर्मका आदेश है ॥ २४९ ॥ अब आगे प्रत्येक शब्दका अर्थ करते हुए सर्व सावद्ययोगका अर्थ बतलाते हैं। सर्व शब्दका अर्थ अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकारका व्यापार है। सावद्य शब्दका अर्थ प्राणोंका नाश करना है। प्राणोंके नाश करनेको ही हिंसा कहते हैं। योग शब्दका अर्थ उपयोग लगाना है। यहांपर प्रकरणके अनुसार उस हिंसामें उपयोग लगाना योग कहलाता है । वह उपयोग दोप्रकार है। एक बुद्धिपूर्वक जानबूझ कर लगाया हुआ उपयोग और दूसरा अबुद्धिपूर्वक बिना जाने लगा हुआ उपयोग। इसी अबुद्धिपूर्वक उपयोगको सूक्ष्म उपयोग कहते हैं। इसप्रकार योगके दो भेद हैं। भावार्थ–अंतरंग और बहिरंग प्राणोंका नाश करनेके लिए अपना उपयोग लगाना सर्वसावद्य योग है । इसका भी अर्थ है हिंसा करनेकीओर अपने परिणामोंको लगाना। इसमें भी इतना और समझ लेना चाहिए कि भावप्राणोंका नाश करना अंतरंग सावद्य है और द्रव्यप्राणोंका नाश करना बाह्य सावद्य है। बुद्धिपूर्वक वा जानबूझ कर हिंसा करनेके लिए अपना उपयोग

स्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते । सूक्ष्मश्चाबुद्धिपूर्वो यः स स्मृतो योग इत्यपि ॥ २५१ ॥ तस्याभावो निवृत्तिः स्याद्व्रतं चार्थादिति स्मृतिः । अंशात्साप्यंशतस्त-
त्सा सर्वतः सर्वतोपि तत् ॥ २५२ ॥ सर्वतः सिद्धमेवैतद् व्रतं बाह्य दयागिषु । व्रतमन्तः कषायाणां त्यागः सैवात्मनि क्रिया ॥ २५३ ॥ लोकासंख्यातमात्रास्ते
यावद्रागादयः स्फुटम् । हिंसायास्तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल ॥ २५४ ॥ आत्मेतरांगिणामङ्गरक्षणं यन्मतं स्मृतौ । तत्परं स्वात्मरक्षायाः कृतेनातः परत्रतत्

लगाना स्थूल सावद्ययोग है तथा अशुभ कर्मोंके उदयसे बिना जाने हिंसा करनेके लिए अपना उपयोग लगाना सूक्ष्म सावद्ययोग है, इसप्रकार स्थूल और सूक्ष्म दोनोंप्रकारके उपयोगोंसे अंतरंग और बहिरंग दोनोंप्रकारकी हिंसाका त्याग कर देना व्रत है ॥ २५०-२५१ ॥ उसी समस्त सावद्ययोगके त्याग कर देनेको सर्वसावद्ययोग-निवृत्ति कहते हैं और उस सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिको ही व्रत कहते हैं। यदि वह सर्वसावद्ययोगकी निवृत्ति एक-देशरूप होती है तो वे व्रत भी एकदेशव्रत कहलाते हैं । यदि वह सर्वसावद्ययोगकी निवृत्ति पूर्णरूपसे होती है तो वे व्रत भी पूर्णव्रत वा महाव्रत कहलाते हैं ॥ २५२ ॥ यह बात अच्छीतरह सिद्ध हो चुकी है कि प्राणियोंकी दया करना बाह्यव्रत है तथा कषायोंका त्याग करना अंतरंगव्रत है । इसी अंतरंगव्रतको अपनी आत्मापर दया करना कहते हैं। भावार्थ-कषायोंका त्याग करनेसे ही यह आत्मा सुखी होता है इसलिए आत्माको सुखी बनाना या आत्मापर दया करना कषायोंका त्याग करना ही है ॥ २५३ ॥ राग द्वेष आदि वैभाविक परिणामोंकी संख्या असंख्यात लोकप्रमाण है । इस आत्मामें जब तक वे वैभाविक परिणाम रहते हैं तबतक आत्माके ज्ञानादिक गुणोंका घात होता रहता है तथा ज्ञानादिक गुणोंका घात होनेसे आत्माकी हिंसा होती रहती है ॥ २५४ ॥ इससे सिद्ध होता है कि रागादिक भाव ही हिंसा है । इन्हींको अधर्म अथवा व्रतोंका नाश होना कहते हैं तथा उन रागादिक परिणामोंका त्याग कर देना ही अहिंसा, धर्म अथवा व्रत है । भावार्थ—रागादिक परिणामोंका प्रगट होना ही हिंसा है और उनका त्याग कर देना ही अहिंसा है ॥ २५५ ॥ धर्मशास्त्रोंमें जो आत्मासे भिन्न अन्य प्राणियोंके शरीरकी रक्षा बतलाई है वह केवल अपने आत्माकी रक्षाके लिए है । इसके सिवाय उसका और कोई प्रयोजन नहीं है। भावार्थ—अन्य प्राणियोंकी रक्षा करनेसे शुभ परिणाम होते हैं तथा वे शुभ परि-

॥ २५५ ॥ सत्सु रागादिभावेषु बन्धः स्यात्कर्मणा बलात् । तत्पाकादात्मनो दुःखं तत्सिद्धः स्वात्मनो वधः ॥ २५६ ॥ ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयादृते । चारित्रापरनामैतद्व्रतं निश्चयतः परम् ॥ २५८ ॥ रूढेः शुभोपयोगोऽपि ख्यातश्चारित्रसंज्ञया । स्वार्थक्रियामकुर्वाणः सार्थनामा न निश्चयात् ॥२५९॥ किन्तु बन्धस्य

णाम अशुभ बंधके रोकनेके कारण हैं और परंपरासे शुद्ध परिणामोंके कारण हैं और अशुभ बंधके रुक जानेसे वा शुद्ध परिणामोंके प्राप्त हो जानेसे आत्माका कल्याण होता है । इससे सिद्ध होता है कि आत्माका कल्याण करनेके लिए ही अन्य प्राणियोंकी रक्षा की जाती है ॥२५६॥ इसीप्रकार रागादिक परिणामोंके होनेपर कर्मोंका बंध अवश्य होता है तथा उन कर्मोंके उदय होनेसे आत्माको दुःख होता है। इसप्रकार सिद्ध होता है कि रागादिक भावोंसे ही आत्माका घात होता है। भावार्थ—रागादिक भावोंका त्याग करना ही व्रत है और यही आत्माका कल्याण करनेवाला है ॥ २५७ ॥ इसलिए कहना चाहिए कि मोहनीयकर्मके उदयका अभाव होनेपर आत्माके शुद्ध उपयोग प्रगट होता है उसीको चारित्र कहते हैं तथा उसीको निश्चयनयसे उत्कृष्ट व्रत कहते हैं ॥ २५८ ॥ रूढिसे शुभोपयोगको भी चारित्र कहते हैं परन्तु निश्चय नयसे देखा जाय तो वह शुभोपयोगरूप चारित्र अपनी क्रिया (कर्मोंकी निर्जरा करनेरूप क्रिया) करनेमें समर्थ नहीं है। इसीलिए उसको यथार्थ चारित्र नहीं कहते हैं। वह शुभोपयोगरूप चारित्र कर्मबन्धका कारण है अतएव वह चारित्र नहीं है किन्तु चारित्रका शत्रु है अथवा चारित्रके शत्रुके समान है। ऐसा वह शुभोपयोगरूप चारित्र श्रेष्ठ नहीं कहा जाता सकता किन्तु श्रेष्ठ चारित्र शुद्धोपयोग ही कहलाता है। यह शुभोपयोगरूप चारित्र न तो आत्माका उपकार ही कर सकता है और न अपकार ही कर सकता है। भावार्थ—शुभोपयोगसे शुभ कर्मोंका बंध होता है तथा शुभ कर्मोंके उदयसे सांसारिक सुख प्राप्त होते हैं। इसप्रकार यद्यपि शुभोपयोगसे इंद्रियजन्य सुख प्राप्त होते हैं तथापि आत्माका वास्तविक अतीन्द्रिय सुख उससे नष्ट ही होता है। जबतक कर्मोंका बन्ध होता रहता है तबतक अतीन्द्रिय सुख प्राप्त नहीं होता, वह अतीन्द्रियसुख शुद्धोपयोगसे ही प्राप्त होता है इसलिए कहना चाहिए कि शुभोपयोग कर्मबन्धका कारण है और इसीलिए उसे यथार्थ चारित्र नहीं कहते हैं। यह सब निश्चयनयसे कहा गया है यदि व्यवहार

हेतुः स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत्। नासौ वर वरं यः स नापकारोपकारकृत्॥ २६०॥ विरुद्धकार्यकारित्वं नास्यासिद्धं विचारसात्। बन्धस्यैकान्ततो हेतोः शुद्धादन्यत्र सम्भवात्॥ २६१॥ नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जराहेतुरंशतः। अस्ति नावन्धहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहात्॥ २६२॥ कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत्। धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात्सैव चारित्रसंज्ञिकः॥२६३॥ उक्तं च। चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्तिणिद्दिट्ठो। मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥२६४॥

दृष्टिसे देखा जाय तो शुभोपयोग अच्छा ही है और परम्परासे आत्माका कल्याण करनेवाला है॥ २५९-२६०॥ विचार करनेसे यह बात अच्छीतरह सिद्ध हो जाती है कि यह शुभोपयोगरूप चारित्र विरुद्ध कार्य करनेवाला है क्योंकि यह निश्चित है कि शुद्धोपयोगके सिवाय बाकीके सब उपयोग कर्मबन्धके सर्वथा कारण हैं। भावार्थ-शुद्धोपयोगसे तो कर्मका बन्ध नहीं होता, बाकी सबप्रकारके उपयोगोंसे कर्मोंका बन्ध होता है। शुभोपयोग भी शुद्धोपयोगसे भिन्न है इसलिए वह भी कर्मबन्ध ही करनेवाला है अतएव वह चारित्र नहीं है किन्तु चारित्रके विरुद्ध कार्य करनेवाला है॥ २६१॥ अपनी बुद्धिके दोषसे ऐसी कल्पना भी नहीं करनी चाहिए कि शुभोपयोगसे अंशमात्र भी कर्मोंकी निर्जरा होती है, शुभोपयोग अथवा अशुभोपयोग दोनों ही कर्मोंकी निर्जराके कारण तो सर्वथा नहीं है किन्तु ये दोनों संवरके भी कारण नहीं हैं। भावार्थ-शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों ही कर्मबंधके ही कारण हैं, संवर वा निर्जराके कारण नहीं है॥ २६२॥ कर्मोंको ग्रहण करनेवाली क्रियाओंका रुक जाना ही स्वरूपाचरणचारित्र है, वही स्वरूपाचरणचारित्र धर्म है, वही शुद्धोपयोग है और उसीको यथार्थ चारित्र कहते हैं॥ २६३॥ यह बात अन्य ग्रन्थोंमें भी लिखी है। यथा-

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्तिणिद्दिट्ठो। मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।

अर्थ-निश्चयसे चारित्र ही धर्म है तथा धर्म उसे कहते हैं जो आत्माके अत्यन्त उपशम वा शांत परिणाम हो जाते हैं तथा शांत परिणाम उन्हींको कहते हैं जहांपर मोह और क्रोधसे रहित आत्माके परिणाम प्रगट होते हैं। भावार्थ-दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय दोनोंके अभाव होनेपर जो आत्माके शुद्ध परिणाम प्रगट होते हैं उन्हींको शान्तभाव वा धर्म कहते हैं और वही धर्म चारित्र कहलाता है। ऐसे चारित्रसे ही कर्मोंका संवर वा निर्जरा होती है॥ २६४॥

नूनं सदर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः । समस्तैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्रमात्रया ॥ २६५ ॥ सत्यं सदर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः । त्रयाणामविनाभावाद् रत्नत्रयम-

यहांपर शंकाकार शंका करता है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही मिलकर मोक्ष-मार्ग होते हैं तथा ये तीनों ही मिलकर मोक्षके मार्ग होते हैं अलग अलग मोक्षके मार्ग नहीं होते फिर भला चारित्रको ही धर्म बतलानेकी क्या आवश्यकता है ? चारित्रको ही संवर और निर्जराका कारण क्यों बतलाया है ? इस शंकाके उत्तरमें कविराज कहते हैं कि यह कहना ठीक है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों ही मोक्षके मार्ग हैं किन्तु हमने जो चारित्रको ही धर्म बतलाया है तथा चारित्रको ही निर्जराका कारण बतलाया है उसका कारण यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों ही सम्यक्चारित्रमें अन्तर्भूत हैं क्योंकि ये तीनों ही अविनाभावी हैं तथा अविनाभावी होनेसे ही रत्नत्रय अखंण्डित कहे जाते हैं। भावार्थ—इन तीनों-का क्रम यह है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यग्ज्ञान धारण करना चाहिए और सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्-चारित्र धारण करना चाहिए। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों ही साथ साथ प्रगट होते हैं तथापि सम्य-ग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञान धारण करना चाहिए इसका अभिप्राय सम्यग्ज्ञानको बढाना है। इसीप्रकार सम्यग्दर्शन-के साथ ही स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हो जाता है तथापि जो यह लिखा है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बाद सम्यक्चारित्रको धारण करना चाहिए इसका अभिप्राय क्रियारूप वा महाव्रतादिरूप सम्यक्चारित्रका धारण करना है। यही सिद्धांत है। इस सिद्धांतके अनुसार यह बात अपनेआप सिद्ध हो जाती है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों ही सम्यक्चारित्रके अन्तर्भूत हैं तथा यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि ये तीनों ही अवि-नाभावी हैं क्योंकि सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरणचारित्र होता ही है तथा सम्यक्चारित्रके होनेपर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होते ही हैं। इसप्रकार विचार करनेसे यह बात अपनेआप सिद्ध हो जाती है कि ये तीनों अविनाभावी हैं और तीनों ही अखण्डित हैं। अर्थात् अलग अलग नहीं है किन्तु तीनों ही एक रूप रहते हैं। इसलिए वे मोक्षके कारण हैं ॥ २६५ २६६ ॥

इसका खुलासा पंचाध्यायीमें इसप्रकार लिखा है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही उत्तरोत्तर चिंतनीय हैं तीनोंमेंसे पहले पहलेके होनेपर आगे आगेके भजनीय हैं परंतु उत्तर उत्तरके होनेपर पहले पहलेका होना अवश्यंभावी है। अर्थात् सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यग्ज्ञान भजनीय है, सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र भजनीय है। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों साथ साथ ही होते हैं क्योंकि जिस समय आत्मामें दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम क्षय अथवा क्षयोपशम होनेपर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उसी समय मति-अज्ञान श्रुतअज्ञानकी निवृत्तिपूर्वक आत्मामें सुमतिज्ञान और सुश्रुतज्ञान प्रगट हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन यद्यपि ज्ञानको उत्पन्न नहीं करता है क्योंकि ज्ञानको उत्पन्न करनेवाला तो ज्ञानचरणकर्मका क्षयोपशम है परंतु ज्ञानमें सम्यक्पना सम्यग्दर्शनके होनेपर ही आता है इसलिये दोनों ही अविनाभावी हैं। अविनाभावी होनेपर भी ऊपर जो यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शन होनेपर सम्यग्ज्ञान भजनीय है उसका आशय यह है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर उत्तरोत्तर सम्यग्ज्ञानका क्षयोपशम भजनीय है इसीलिये सम्यग्दर्शनकी पूर्ति सातवें गुणस्थानमें नियमसे हो जाती है परंतु ज्ञानकी पूर्ति तेरहवें गुणस्थानके प्रारंभमें होती है। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर ज्ञान भजनीय है इसीप्रकार सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र भजनीय है। सम्यग्ज्ञानके होनेपर यह नियम नहीं है कि चारित्र हो ही हो क्योंकि चौथे गुणस्थानमें सम्यग्ज्ञान तो हो जाता है किन्तु सम्यक्चारित्र वहां नहीं है। वह पांचवें गुणस्थानमें शुरू होता है। हां इतना अवश्य है कि जिसप्रकार सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञान अविनाभावी है उसीप्रकार सम्यग्दर्शनके साथ स्वरूपाचरणचारित्र भी अविनाभावी है। चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनके साथ ही स्वरूपाचरणचारित्र भी आत्मामें प्रगट हो जाता है। इसका कारण यही है कि सम्यग्दर्शनको घात करनेवालीं सात प्रकृतियां हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व। इन सातोंमें अंतके तीन भेद तो दर्शनमोहनीयके और आदिके चार भेद (अनन्तानुबन्धी) चारित्रमोहनीयके हैं। अनन्तानुबन्धी-

कषाय यद्यपि चारित्रमोहनीयका भेद है तथापि उसमें दोप्रकारकी शक्ति है। वह सम्यग्दर्शनका भी घात करती है और सम्यक्चारित्रका भी घात करती है। अनन्तानुबन्धीकषायका उदय दूसरे गुणस्थानतक रहता है इसीलिए चौथे गुणस्थानमें निराबाध सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट रहता है परन्तु जब प्रथमोपशम-सम्यक्त्वमें एक समयसे लेकर छह आवली काल बाकी रह जाता है उस समय अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभमेंसे किसी एकका उदय होनेपर सम्यक्त्वका नाश हो जाता है और द्वितीय गुणस्थान हो जाता है। सम्यग्दर्शनके साथ ही स्वरूपाचरणचारित्र भी नष्ट हो जाता है क्योंकि उसका साक्षात् घातक अनन्तानुबन्धी है।

उपर्युक्त कथनसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि जब स्वरूपाचरणचारित्र और सम्यग्ज्ञान दोनों ही सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाले हैं तो तीनों ही अविनाभावी हैं इसीलिए ग्रन्थकारने तीनोंको अविनाभावी बतलाते हुए तीनोंको अखण्डित कहा है परन्तु सम्यग्दर्शनका अविनाभावी स्वरूपाचरणचारित्र ही है, क्रियारूप चारित्र नहीं है क्योंकि क्रियारूप चारित्र पांचवें गुणस्थानसे प्रारम्भ होता है। इसीसे पहले यह कहा गया है कि सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र भजनीय है अर्थात् सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र हो भी, अथवा नहीं भी हो, नियम नहीं है। यहांपर एक शंका उपस्थित होती है वह यह है कि जिसप्रकार सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञानका अविनाभाव होनेपर भी उत्तरोत्तर वृद्धिकी अपेक्षासे ज्ञान भजनीय है उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र भजनीय नहीं होना चाहिए क्योंकि सम्यक्चारित्रकी पूर्ति बारहवें गुणस्थानमें ही हो जाती है और सम्यग्ज्ञानकी पूर्ति तेरहवें गुणस्थानके प्रारंभमें होती है। इसका भी कारण यही है कि चारित्रगुणको घात करनेवाली चारित्रमोहनीयकषाय दशवें गुणस्थानके अंतमें सर्वथा नष्ट हो जाती है और केवलज्ञानको घात करनेवाला ज्ञानावरणकर्म बारहवें गुणस्थानके अंतमें नष्ट होता है। इस कथनसे तो यह बात सिद्ध होती है कि सम्यक्चारित्रके होनेपर सम्यग्ज्ञान भजनीय है और ऊपर कहा गया है कि ज्ञानके होनेपर चारित्र भजनीय है परंतु इस शंकाका समाधान इसप्रकार है कि यद्यपि स्थूलदृष्टिसे यह शंका ठीक प्रतीत होती है परंतु सूक्ष्म-

दृष्टिसे विचार करनेपर वही कथन सिद्ध होता है जो ऊपर कहा जा चुका है अर्थात् सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र ही भजनीय रहता है। इसका खुलासा इसप्रकार है कि यद्यपि चारित्रमोहनीयकर्मके नष्ट होनेपर बारहवें गुणस्थानमें यथाख्यातचारित्र प्रगट हो जाता है तथापि एकदृष्टिसे उसे अभी पूर्णचारित्र नहीं कहा जा सकता। यदि कहा जाय कि चारित्रमोहनीय उसका घातक था, जब घातक कर्म ही नष्ट हो गया तो फिर क्यों नहीं पूर्णचारित्र कहा जाता है अथवा जब कि तब भी पूर्णचारित्र नहीं कहा जाता है तो कहना चाहिए कि और भी कोई कर्म चारित्रका घातक होगा जो कि चारित्रकी पूर्णतामें बाधक है। तर्कणा ठीक है परन्तु विपक्षमें दूसरी तर्कणाएं भी उठाई जा सकती हैं कि यदि चारित्रमोहनीयके नष्ट होनेपर चारित्र पूर्ण हो जाता है तो तेरहवें गुणस्थानमें ही मोक्ष क्यों नहीं हो जाती है क्योंकि सम्यग्दर्शनकी पूर्ति सातवें गुणस्थानमें हो चुकी और चारित्रकी पूर्ति बारहवेंमें हो जाती है तथा ज्ञानकी पूर्ति तेरहवें गुणस्थानमें हो जाती है और जहांपर रत्नत्रयकी पूर्णता है वहांपर ही मोक्षका होना आवश्यक है अन्यथा रत्नत्रयमें समर्थकारणता ही नहीं आ सकती है। तीनोंकी पूर्तिके उत्तर क्षणमें ही मोक्षकी प्राप्तिका होना अवश्यम्भावी है सो होती नहीं किन्तु मोक्षकी प्राप्ति चौदहवें गुणस्थानमें होती है। इससे सिद्ध होता है कि अभीतक चारित्रकी पूर्णतामें कुछ त्रुटि अवश्य है और चारित्र ही मोक्षकी प्राप्तिमें साक्षात् कारण कहा गया है। वह त्रुटि भी आनुषंगिक है। वह इसप्रकार है—जिसप्रकार आत्माका चारित्रगुण है उसीप्रकार योग भी आत्माका गुण है। चारित्रगुण निर्जराका हेतु है परन्तु योगगुण मन वचन कायरूप अशुद्धावस्थामें कर्मको ग्रहण करनेका हेतु है। दशवें गुणस्थानतक चारित्र योगके साथ ही अपूर्ण बना रहा है। दशवेंके अन्तमें यद्यपि चारित्रमोहनीयके दूर हो जानेसे वह पूर्ण हो चुका है तथापि उसको अशुद्ध करनेमें कारणीभूत उसका साथी योग अभीतक अपना कार्य कर रहा है इसलिए चारित्रके निर्दोष होनेपर भी योगके साहचर्यसे उसे भी आनुषंगिक दोषी बनना पडता है। यद्यपि कर्मको ग्रहण करनेवाला योग चारित्रमें कुछ मलिनता नहीं कर सकता है तथापि चारित्र और योग दोनों ही आत्मासे अभिन्न हैं। अभिन्नतामें जिसप्रकार

खण्डितम् ॥ २६६ ॥ किञ्च सदर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः । सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥ २६७ ॥ अर्थोयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानचारित्रमत्र यत्

योगसे आत्मा अशुद्ध समझा जाता है उसीप्रकार चारित्र भी समझा जाता है । जब योगशक्ति वैभाविक अवस्थासे मुक्त होकर शुद्धावस्थामें आ जाती है तभी चारित्र भी आनुषंगिक दोषसे मुक्त हो जाता है इसीलिए शास्त्रकारोंने यथाख्यातचारित्रकी पूर्णता चौदहवें गुणस्थानमें बतलाई है । वहींपर परमावगाढसम्यक्त्व भी बतलाया है इसीलिए चौदहवें गुणस्थानमें ही रत्नत्रयकी पूर्णता होती है और वहींपर मोक्षकी प्राप्ति होती है। इससे रत्नत्रयमें समर्थकारणता भी सिद्ध हो जाती है। इतने सब कथनका सारांश यही है कि सम्यग्ज्ञानके होनेपर भी सम्यक्चारित्र भजनीय है। सम्यक्चारित्रके होनेपर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भजनीय नहीं है किन्तु अवश्यम्भावी हैं क्योंकि बिना पहले दोनोंके हुए सम्यक्चारित्र हो ही नहीं सकता है इसीलिए ग्रन्थकारने सम्यक्त्व और ज्ञानको चारित्रके अन्तर्गत बतलाया है । जिसप्रकार चारित्रमें दोनों गर्भित हैं उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानमें सम्यग्दर्शन भी गर्भित है ।

यह बात भी ध्यानमें रखना चाहिए कि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके प्रगट होनेमें सम्यग्दर्शन कारण है और वह कारणता भी नवीन जन्म धारण करनेवाले सम्यग्विशेषणकी अपेक्षासे है । भावार्थ—सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके उत्पन्न होनेमें सम्यग्दर्शन कारण नहीं है किंतु सम्यग्दर्शनके होनेपर ज्ञान और चारित्र सम्यक् हो जाते हैं। बिना सम्यग्दर्शनके वे मिथ्या गिने जाते हैं और सम्यग्दर्शनके होनेपर वे सम्यक् कहे जाते हैं इसीलिए सम्यग्दर्शन तीनोंमें प्रधान समझा जाता है ॥ २६७ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि ज्ञान और चारित्र दोनों ही सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यक् विशेषणको धारण करते हैं अथवा यों कहना चाहिए कि उनमें जो नवीन सम्यक्पना आता है वह सम्यग्दर्शनके होनेसे ही आता है । भावार्थ—जब सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र दोनोंका ही कारण सम्यग्दर्शन है तब यों कहना चाहिए कि सम्यग्दर्शनकारण और सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र दोनों ही उसके कार्य हैं तथा यह नियम है कि कार्यसे कारणका अनुमान हो जाता है इसलिए सम्यक्चारित्रके

भूतपूर्वं भवेत्सम्यक् सूते वा भूतपूर्वकम् ॥ २६८ ॥ शुद्धोपलब्धिशक्तिर्यालब्धिज्ञानातिशायिनी । सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धोभावोथवापि च ॥२६९॥ यत्पुनर्द्रव्य-चारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृक् । न तद्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥ २७० ॥ तेषामन्यतमोद्देशो नालं दोषाय जातुचित् । मोक्षमार्गैकसाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥२७१॥ बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्य. समासाप्रश्नकोविदैः । रागांशैबध एव स्यान्नारागाशैः कदाचन ॥२७२॥ उक्त च । येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं

कहनेसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनोंकी सत्ता अपनेआप सिद्ध हो जाती है अर्थात् ये दोनों ही सम्यक्-चारित्रके अन्तर्भूत सिद्ध हो जाते हैं। अतएव पहले जो यह कहा गया था कि "जब तीनों ही मोक्षमार्ग हैं तो केवल चारित्रको ही धर्म क्यों बतलाया है" यह शंका अपनेआप निर्मूल सिद्ध हो जाती है ॥ २६८ ॥ आगे इस सम्यग्दर्शनकी महिमा दिखाते हुए कहते हैं कि जिससे आत्माकी शुद्धोपलब्धि प्रगट होती है ऐसी जो अति-शय ज्ञानको प्रगट करनेवाली लब्धि (मतिज्ञानावरणकर्मका विशेष क्षयोपशम) है वह सम्यग्दर्शनके होनेपर ही होती है अथवा आत्माका शुद्ध भाव अथवा शुद्धानुभूति भी सम्यग्दर्शनके होनेपर ही होती है। भावार्थ—शुद्ध आत्माका अनुभव सम्यग्दर्शनके होनेसे ही होता है ॥ २६९ ॥ इसीप्रकार और भी जो द्रव्यचारित्र है अथवा श्रुतज्ञान है वह यदि सम्यग्दर्शनरहित है तो न तो वह सम्यग्ज्ञान है और न वह सम्यक्चारित्र है। यदि विना सम्यग्दर्शनके ज्ञान चारित्र है तो केवल कर्मोंका बन्ध करनेवाला है। भावार्थ—बिना सम्यग्दर्शनके ग्यारह अंगोंका ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहलाता है और जितना क्रियारूप चारित्र है वह सब मिथ्याचारित्र कहलाता है॥२७०॥ इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही अविनाभावी हैं। इन तीनोंमेंसे किसी एकका कथन करनेसे भी कहीं किसीप्रकारका कोई दोष नहीं आ सकता। थोडेमें यों समझ लेना चाहिए कि मोक्षमार्ग एक साध्य है और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही उसके साधन हैं॥२७१॥ जो प्रश्न वा शंका करनेमें अत्यन्त चतुर हैं ऐसे विद्वान् लोगोंको संक्षेपसे बन्ध और मोक्षका भी स्वरूप जान लेना चाहिए और वह अत्यन्त संक्षेपसे यह है कि रागरूप परिणामोंके अंशसे कर्मोंका बन्ध होता है तथा बिना रागरूप परिणामोंके बन्ध कभी नहीं होता। भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षके कारण हैं

नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धन भवति ॥२७३॥ येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२७४॥ येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बधनं भवति ॥ २७५ ॥ उक्तो धर्मस्वरूपोपि प्रसङ्गात्सङ्गतोंशतः। कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥ २७६ ॥ देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्त्वार्थदर्शिनी। ख्याताप्यमूढदृष्टिः स्यादन्यथा मूढदृष्टिता ॥ २७६ ॥ सम्यक्त्वस्य गुणोप्येष नालं दोषाय

और रागरूप परिणाम कर्मोंके बंधके कारण हैं ॥ २७२ ॥ सो ही पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें लिखा है—"यह आत्मा जितने अंशोंमें सम्यग्दर्शनसे सुशोभित रहता है उतने अंशोंसे उसके कर्मोंका बन्ध कभी नहीं होता तथा जितने अंशोंमें उसके राग होता है उतने अंशोंमें उसके कर्मोंका बंध अवश्य होता है ॥२७३॥ इसीप्रकार जितने अंशोंमें सम्यग्ज्ञानसे सुशोभित रहता है उतने अंशोंमें उसके कर्मोंका बंध कभी नहीं होता तथा जितने अंशोंमें उसके राग रहता है उतने अंशोंमें उसके कर्मोंका बंध अवश्य होता है ॥ २७४ ॥ तथा यह आत्मा जितने अंशोंमें सम्यक्-चारित्रसे सुशोभित रहता है उतने अंशोंमें उसके कर्मोंका बंध कभी नहीं होता और जितने अंशोंमें उसके राग होता है उतने अंशोंमें उसके कर्मोंका बंध अवश्य होता है"॥२७५॥इसप्रकार प्रकरण पाकर अत्यंत संक्षेपसे धर्मका स्वरूप बतलाया। अब ये कविराज उसका विस्तारपूर्वक स्वरूप समयानुसार कहेंगे ॥ २७६ ॥ इसप्रकार देव, गुरु और धर्ममें यथार्थ विश्वास करना अमूढदृष्टि अंग कहलाता है यदि इसके विपरीत श्रद्धान किया जाय कुदेवमें देवका श्रद्धान करना, कुगुरुको गुरु मानना वा कुधर्मको धर्म मानना अथवा अरहंतदेव, निर्ग्रंथगुरु और अहिंसामय धर्मको न मानना मूढदृष्टि नामका दोष कहलाता है ॥ २७७ ॥ यह अमूढदृष्टि अंग सम्यग्दर्शनका गुण है। इस अमूढदृष्टी गुणसे सम्यग्दर्शनमें कोई किसीप्रकारका दोष नहीं आता है किंतु इससे सम्यग्दर्शनकी दृढता बढती है। सम्यग्दृष्टी पुरुष नियमसे इस अमूढदृष्टी अंगका पालन करता है। मिथ्यादृष्टी इस अंगका पालन कभी नहीं करता किंतु वह इससे विपरीत ही चलता है। भावार्थ—इसका खुलासा पंचाध्यायीमें इसप्रकार है—सम्यग्दृष्टीके लिए यह अमूढदृष्टी अंग अवश्य पालनीय है। यदि सम्यग्दृष्टीकी बुद्धि देव गुरु धर्मके सिवाय कुदेव कुगुरु और कुधर्मकी प्रशंसा अथवा उनकी किंचिन्मान्यताकी ओर है, तो उसे मिथ्यादृष्टी ही समझना चाहिए,

अथवा देव गुरु धर्ममें उसकी पूर्ण श्रद्धा नहीं है तो भी उसे मिथ्यादृष्टी ही समझना चाहिए। इसलिए अमूढदृष्टी अंग सम्यग्दृष्टीका प्रधान गुण समझना चाहिए। शब्दान्तरमें यों कहना चाहिए कि सम्यग्दृष्टी नियमसे अमूढदृष्टी होता है। यदि वह मूढदृष्टी है तो वह सम्यग्दृष्टी नहीं है किंतु नियमसे मिथ्यादृष्टी है क्योंकि सम्यग्दृष्टी कुदेव कुगुरु कुधर्म और मिथ्याशास्त्रोंको न तो विनय करता है और न उन्हें प्रणाम ही करता है। विना मिथ्यात्वके उसकी बुद्धि कुदेवादिककी ओर कभी अनुगामी नहीं हो सकती। इसके सिवाय जो लोग सच्चे देव शास्त्र गुरुकी यथार्थ विनय नहीं करते हैं, जिनकी उनमें पूर्ण श्रद्धा नहीं है उन्हें भी मिथ्यादृष्टी ही समझना चाहिए। विना मिथ्यात्वकर्मके उदय हुए ऐसी कुमति नहीं हो सकती॥

यद्यपि सम्यग्दर्शनगुण अत्यन्त सूक्ष्म है उसका विवेचन भी नहीं किया जा सकता है। जिस आत्मामें वह गुण प्रगट होता है उसीको शुद्ध आत्माके अनुभवका अपूर्व स्वाद आता है। वह उस आत्मीक अपूर्व स्वादका विवेचन बाह्यदृष्टिसे उसीप्रकार नहीं कर सकता है जिसप्रकार कि घीका स्वाद लेनेवालेसे उसका स्वाद पूछनेपर वह उसका स्वाद ठीक ठीक प्रगट नहीं कर सकता। जिसप्रकार घीका स्वाद चखनेसे ही उसकी यथार्थ प्रतीति होती है उसीप्रकार उस अलौकिक दिव्य सम्यक्त्वगुणकी प्रगटतामें होनेवाले आत्मीकरसका वह स्वयं पान करता है परंतु दूसरेसे नहीं कह सकता। तथापि जो देव शास्त्र गुरुमें पूर्ण श्रद्धा रखनेरूप व्यवहार सम्यक्त्व बतलाया है उस बाह्य सम्यक्त्वमें भी जिनकी बुद्धि विपरीत है उनके मिथ्यात्वकर्मका तीव्र उदय समझना चाहिये। व्यवहारसम्यक्त्वीकी भी सच्चे देव शास्त्र गुरुमें अटल भक्ति रहती है, उनमें उसकी बुद्धि किंचिन्मात्र भी शंकित नहीं होती है।

यह बात भी नहीं है कि किसी पदार्थमें सम्यग्दृष्टीको शंका ही उत्पन्न नहीं होती है। सम्यग्दृष्टी सर्वज्ञ नहीं है। अन्य पुरुष जैसे छद्मस्थ हैं वैसे ही वह भी छद्मस्थ है। छद्मस्थतामें अनेक शंकाओंका होना स्वाभाविक बात है इसलिए सम्यग्दृष्टी भी बहुतसी बातोंमें शंकित रहता है परंतु शंकाएं दोप्रकारकी होती हैं। एक तो

जदितः । सम्यग्दृष्टिर्यतोवश्यं यथा स्यान्न तथेतरः ॥ २७८ ॥ उपबृंहणमत्रास्ति गुणः सम्यग्दृगात्मनः । लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं बृंहणादिह ॥ २७९ ॥ आत्म-

जिस पदार्थमें शंका होती है उस पदार्थमें श्रद्धारूप बुद्धि अवश्य रहती है परंतु ज्ञानकी मंदतासे पदार्थका स्वरूप बुद्धिमें न आनेसे शंका होती है। सम्यग्दृष्टीको इसीप्रकारकी शंका होती है । वह सर्वज्ञकथित पदार्थव्यवस्थाको तो सर्वथा सत्य समझता है परंतु बुद्धिकृत दोषसे उसके समझनेमें असमर्थ है । दूसरी शंका कुमतिज्ञानके कारण होती है, कुमतिज्ञानी अपनी बुद्धिको दोष नहीं देता है किंतु सर्वज्ञकथित आगमको ही दोषी ठहराता है। वह जिस पदार्थमें शंका करता है उस पदार्थपर श्रद्धारूप बुद्धि नहीं रखता है।

ऐसे ही पुरुष आजकल कालदोषसे अधिकतर होते चले जाते हैं। जो अपनेको बुद्धिमान समझते हुए आचार्योंको अपनेसे विशेष ज्ञानवान नहीं समझते हैं। ऐसे ही पुरुष जिनदर्शन जिनपूजन आदि नित्य क्रियाओंको रूढि कह कर छोड ही नहीं देते हैं किंतु दूसरोंको भी ऐसा अहितकर उपदेश देते हैं। ऐसे लोगोंको यह भी कहना है कि विचारस्वातन्त्र्यको मत रोको, जो कोई जैसा भी विचार (चाहे वह जिनधर्मके सर्वथा विपरीत ही हो) प्रगट करना चाहे उस प्रगट करने दो। इन्हीं बातोंका परिणाम आजकल धर्मशैथल्य और धर्मविरुद्ध प्रवृत्तियोंका आंदोलन है। ये संपूर्ण बातें धर्माचार्य वा गृहस्थाचार्यके अभाव होनेसे हुई हैं। धार्मिक अंकुश अब नहीं रहा है इसलिये जिसके मनमें जो बात समाती है उसके प्रगट करनेमें वह जरा भी संकोच नहीं करता है। यही कारण है कि दिनपर दिन धर्ममें शिथिलता ही आ रही है॥ २७८ ॥ इसप्रकार अमूढदृष्टी अंगका स्वरूप कहा।

अब आगे उपबृंहण अथवा उपगूहनअंगका स्वरूप कहते हैं। यह उपबृंहण भी सम्यग्दृष्टीका एक गुण है, जो आत्माकी शक्तियोंको अवश्य ही बढावे उसको उपबृंहण कहते हैं यही उपबृंहणगुणका लक्षण है ॥२८०॥ जो आत्माकी शक्तिमें दुर्बलता न आने दे किंतु आत्माकी शक्तिको बढाता रहे उसको उपबृंहण कहते हैं। इसका भी अभिप्राय यह है कि जिस गुणके होनेसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका कभी स्खलन

शक्तेरदौर्बल्यकरणं चोपबृंहणम्। अर्थाद्दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावास्खलनं हि तत् ॥ २८० ॥ जानन्नप्येष निःशेषात्पौरुषं नात्मदर्शने। तथापि यत्नवानत्र पौरुषं प्रेरयन्नि ॥ २८१ ॥ यद्वा शुद्धोपलब्धार्थमभ्यसेदपि तद्वहिः। सत्क्रियां कांचिदप्यर्थात्तत्साध्यानुपयोगिनाम् ॥ २८२ ॥ नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोपि प्रमादवान्। निष्प्रमादतयात्मानमाददानः समादरात् ॥ २८३ ॥ रसेन्द्रं सेवमानोपि काम्यपथ्यं न वाचरेत्। आत्मनोनुल्लाघतामुज्झन्नोज्झन्नल्लाघतामपि ॥ २८४ ॥ यद्वा सिद्धं

न हो रत्नत्रयमें कभी किसीप्रकारकी कमी न आवे उसको ही उपबृंहणगुण कहते हैं ॥ २८० ॥ उपबृंहणगुण-को धारण करनेवाला पुरुष यद्यपि पुरुषार्थपूर्वक इस संसारसंबधी समस्त बातोंको जानता है तथापि उन संसारसंबधी बातोंको या पदार्थोंको प्राप्त करनेके लिये वह पुरुषार्थपूर्वक कभी प्रयत्न नहीं करता। भावार्थ—वह जानता है परंतु उनकी प्राप्तिके लिये कुछ भी प्रयत्न नहीं करता ॥ २८१ ॥ अथवा यों कहना चाहिये कि वह सम्यग्दृष्टी पुरुष अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको प्राप्त करनेके लिये जो जो क्रियाएं आत्माके शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिमें कारण है ऐसी कितनी ही बाहरसे दिखनेवाली श्रेष्ठ क्रियाओंको करता है ॥२८२॥ आत्माके शुद्ध स्वरूप-को प्राप्त करनेके लिये यह सम्यग्दृष्टी लेशमात्र भी प्रमाद नहीं करता है तथा प्रमादरहित होनेके कारण वह उप-बृंहणगुणको धारण करनेवाला सम्यग्दृष्टी बडे आदरके साथ आत्माके शुद्ध स्वरूपको ग्रहण करता है ॥२८३॥ जिसप्रकार कोई पुरुष रसायनका सेवन करता है परंतु उसकेलिये जैसा चाहिये वैसा पथ्य नहीं करता तो वह उस रसायनसे जिसप्रकार अपने रोगका नाश करता है उसीप्रकार पथ्यके न करनेसे नीरोगताका भी नाश करता है। भावार्थ—जिसप्रकार रोगको दूर करनेके लिये औषधिके साथ साथ पथ्यकी आवश्यकता होती है उसीप्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुषको मोक्षमार्गमें सहायक होनेवाली बाह्यक्रियाओंकी भी अत्यंत आवश्यकता है। सम्यग्दृष्टीके क्षण क्षणमें गुणश्रेणी निर्जरा होती रहती है अर्थात् उसके क्षणक्षणमें असंख्यातगुणी निर्जरा होती रहती है और वह उत्तरोत्तर श्रेणी क्रमसे बढती रहती है इसलिये कहना चाहिये कि सम्यग्दृष्टीके विना ही किसी प्रयत्नके अपनेआप उपबृंहणगुण सिद्ध हो जाता है ॥२८५॥ यह नियम है कि उपबृंहणगुणको धारण करने वाले सम्यग्दृष्टीके समस्त कर्मोंकी निर्जरा अवश्य होती है क्योंकि उसके प्रत्येक समयमें असंख्यात असंख्यात-

विनायासात्स्वतस्तत्रोपबृंहणम् । ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणी निर्जरायाः सुसम्भवात् ॥ २८५ ॥ अवश्यं भाविनी तत्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणाम् । प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥ २८६ ॥ न्यायादायातमेतद्वै यावतांशेन तत्त्विनः । वृद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धिर्वृद्धिः पुनः पुनः ॥ २८७ ॥ यथा यथा विशुद्धिः स्याद्वृद्धिरन्तः प्रकाशिनी । तथा तथा ह्यक्षीकानामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥२८८॥ ततो भूम्नि क्रियाकाण्डे नात्मशक्तिं स लोपयेत् । किन्तु संवर्द्धयन्नूनं यत्नादपि च दृष्टिमान् ॥२८९॥ उपबृंहणनामापि गुणः सद्दर्शनस्य यः । गणितो गणनामध्ये गुणाना नागुणाय च ॥ २९० ॥ सुस्थितीकरणं नाम गुणः सद्दर्शनस्य यः । धर्माच्च्युतस्य धर्मे

गुणी कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है। भावार्थ—जब सम्यग्दृष्टी के प्रति समयमें असंख्यात असंख्यात गुणी कर्मोंकी निर्जरा होती है तो किसी न किसी दिन उसके समस्त कर्मोंका नाश अवश्य हो जायगा ॥ २८५ ॥ जब यह नियम है कि सम्यग्दृष्टीकी प्रति समयमें असंख्यात असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है तो फिर यह बात न्यायसे अपनेआप सिद्ध हो जाती है कि जितने जितने अंशोंमें कर्मोंकी निर्जरा होती जाती है उतने ही उतने अंशोंमें शुद्धोपयोगकी वृद्धि होती जाती है तथा वह वृद्धि प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर बढती हुई बढती जाती है ॥ २८७ ॥ तथा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको प्रकाशित करनेवाली आत्माकी विशुद्धि जैसी जैसी बढती जाती है वैसे ही वैसे उसे इंद्रियोंके विषयोंसे उपेक्षा होती जाती है ॥ २८८ ॥ इंद्रियोंके विषयोंसे उपेक्षा होनेसे सम्यग्दृष्टी पुरुष बडे भारी क्रियाकाण्डमें भी (अनेकप्रकारके उपवास आदि तपश्चरणमें भी) अपनी शक्तिको नहीं छिपाता है किन्तु वह तपश्चरणके करनेमें प्रयत्नपूर्वक अपनी शक्तिको बढाता जाता है ॥ २८९ ॥ इसप्रकार यह सम्यग्दृष्टीका उपबृंहणगुण भी गुणोंकी गणनामें ही गिना गया है। इससे सम्यग्दर्शनमें कोई दोष प्रगट नहीं होता। इसप्रकार उपबृंहणगुणका स्वरूप बतलाया ॥ २९० ॥

स्थितिकरणनामका गुण भी सम्यग्दर्शनका एक अंग है। जिसने धर्मको छोड दिया है अथवा जो धर्मको छोडना चाहता है उसको फिर उसी धर्ममें स्थापित करना स्थितिकरण अंग है। जो पुरुष अधर्मको छोडना चाहता है अथवा जिसने अधर्म छोड दिया है उसको फिर उसी अधर्ममें स्थापन करना स्थितिकरण नहीं है किंतु धर्ममें स्थापित करना ही स्थितिकरण है ॥२९१॥ धर्मके लिए अधर्मसेवन करनेको वृद्ध पुरुष प्रमाण नहीं

तन्नाधर्मे धर्मिणः क्षतेः ॥ २९१ ॥ न प्रमाणीकृत वृद्धैर्धर्माया धर्मसेवनम् । भाविधर्माशया केचिन्मन्दाः सावद्यवादिनः ॥ २९२ ॥ परंपरेति पक्षस्य नावकाशोऽत्र लेशतः । मूर्खादन्यत्र को मोहात्शीतार्थी वह्निमाविशेत् ॥ २९३ ॥ नैतद्धर्मस्य प्रागूरूपं प्रागधर्मस्य सेवनम् । व्यतिरेपक्षधर्मत्वाद्धेतोर्वा व्यभिचारतः ॥ २९४ ॥ प्रति-

मानते हैं। संसारमें कितने ही अज्ञानी पुरुष ऐसे हैं जो आगामी कालमें धर्मकी आशा करते हुए अधर्मके सेवन करनेका उपदेश देते हैं। भावार्थ–धर्मके लिए अधर्मका सेवन कभी नहीं करना चाहिए। कोई कोई लोग ऐसा कहते हैं कि किसी अधार्मिक कार्यके करनेसे यदि आगे धर्म सधता हो तो वह अधार्मिक कार्य कर लेना चाहिए परंतु यह उनकी भूल है। अधर्मका सेवन करना तो सबतरहसे पाप ही है ॥२९२॥ कोई कोई कहते हैं कि अधर्मके सेवन करनेसे परंपरा धर्म होता है परंतु इस पक्षके लिए यहांपर लेशमात्र भी अवकाश नहीं है क्योंकि मूर्ख कोछोडकर अन्य ऐसा कौन पुरुष है जो अपने मोह वा अज्ञानके कारण शीतलताकी इच्छा करता हुआ वह्निमें प्रवेश करे ? भावार्थ–कार्य कारणके अनुसार होता है। शीतलताको चाहनेवाला शीतल पदार्थोंको ही सेवन करता है उष्ण पदार्थोंका सेवन नहीं करता, यदि वह उष्ण पदार्थोंका सेवन करता है तो उससे उष्णता ही बढती है शीतलता नहीं बढती, इसीप्रकार धर्मको चाहनेवाला धर्मका ही सेवन करता है क्योंकि धर्मकी प्राप्ति धर्मके सेवन करनेसे ही होती है अधर्मके सेवन करनेसे धर्मकी प्राप्ति कभी नहीं होती। जो लोग अधर्मके सेवन करनेसे धर्मकी प्राप्ति बतलाते हैं वे बबूलके वृक्षसे आम खाना चाहते हैं परन्तु यह उनकी भूल है, जिसप्रकार बबूलसे आम नहीं होते उसीप्रकार अधर्मसे कभी धर्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥२९३॥ अधर्मका सेवन करना धर्मका पूर्वरूप भी नहीं है क्योंकि अधर्मका सेवन करना अधर्मकी प्राप्तिमें भी कारण है इसलिए व्यभिचारी है। भावार्थ–वेदको माननेवाले मीमांसक आदि यज्ञमें अनेकप्रकारकी हिंसा करके भी धर्म मानते हैं और उसी यज्ञसे स्वर्गकी प्राप्ति मानते हैं परन्तु मीमांसकोंका यह सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है क्योंकि जहां जहां हिंसा है वहां वहां पाप है। यज्ञमें जो जीव मारे जाते हैं वे संकल्पपूर्वक मारे जाते हैं इसलिए यज्ञ करनेमें त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसा होती है जो कि साक्षात् नरकका कारण है। इससे सिद्ध होता है कि अधर्मसे पापकी ही वृद्धि होती है, अधर्मसे धर्मकी

सूक्ष्मक्षणं यावद्धेतोः कर्मोदयात्स्वतः । धर्मो वा स्यादधर्मो वाऽप्येष सर्वत्र निश्चयः ॥ २९५ ॥ तत्स्थितीकरणं द्वेधा साक्षात्स्वपरभेदतः । स्वात्मनः स्वात्मतत्वेर्यात् पर-
तत्त्वे परस्य तत् ॥ २९६ ॥ तत्र मोहोदयोद्रेकाच्च्युतस्यात्मस्थितेश्चितः । भूयः संस्थापनं स्वस्य स्थितीकरणमात्मनि ॥ २९७ ॥ अयं भावः, क्वचिद्दृष्टादर्शनात्स

प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥ २९४ ॥ यह सर्वत्र नियम है कि जबतक इस जीवके समय समयमें कर्मोंका उदय होता रहता है तबतक धर्म और अधर्म दोनों ही हो सकते हैं। भावार्थ—कर्मोंके उदयके अभावमें तो शुद्ध आत्माके स्वरूपकी प्राप्ति होती ही है परन्तु जब कर्मोंका उदय होता है तब उसकी प्राप्ति होती भी है और नहीं भी होती है इसलिए उसकी प्राप्तिके लिए अधर्मका सेवन कभी नहीं करना चाहिए क्योंकि अधर्मके सेवनसे पापकर्मोंका बन्ध होता ही है ॥ २९५ ॥ उस स्थितिकरणके दो भेद हैं। एक अपने आत्माका साक्षात् स्थितिकरण करना और दूसरा अन्य पुरुषोंका स्थितिकरण करना। यदि अपना आत्मा अपने धर्मसे पतित हो गया हो अथवा पतित होनेके सन्मुख हो तो उसे अपने आत्मामें ही स्थिर कर देना उसे अपने आत्मस्वरूपसे च्युत न होने देना स्वस्थितिकरण कहलाता है तथा जो दूसरा पुरुष अपने आत्माके स्वभावको छोडता हो वा छोड चुका हो तो उसको भी उसके स्वभावमें स्थिर करना, उसको रत्नत्रयरूप धर्ममें लगाना परस्थितिकरण है। इसप्रकार स्थितिकरणके दो भेद हैं ॥ २९६ ॥ इन दोनोंमेंसे मोहनीयकर्मके तीव्र उदयसे जब यह आत्मा अपने आत्माकी परिस्थितिसे च्युत हो जाता है या च्युत होने लगता है उस समय अपने आत्माको अपने आत्मामें स्थिर करना स्वस्थितिकरण कहलाता है ॥ २९७ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि यह सम्यग्दृष्टी पुरुष अपने कर्मोदयकी तीव्रतासे सम्यग्दर्शनसे गिर जाता है तथा दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम होनेसे सम्यग्दर्शनको पा कर फिर उन्नत हो जाता है। भावार्थ—जब दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम हो जाता है तब तो इसके परिणामोंकी शुद्धता बढ जाती है और जब दर्शनमोहनीय कर्मका उदय हो आता है तब यह जीव अपनी शुद्धतासे छूट जाता है ॥२९८॥ अथवा कभी कभी ऐसा भी होता है कि अपनी कारणसामग्रीके बने रहनेसे (दर्शनमोहनीयके उदय न होनेसे) यह जीव अपने सम्यग्दर्शनसे नहीं छूटता है तथापि अन्य कारणसामग्रीके मिलनेसे

पतत्यधः । व्रजत्यूर्ध्वं पुनर्दैवात्सम्यगारुह्य दर्शनम् ॥ २९८ ॥ अथ क्वचिद्यथाहेतोर्दर्शनादपतन्नपि । भावशुद्धिमधोधोंशैर्गच्छत्यूर्ध्वं स रोहति ॥ २९९ ॥ क्वचिद्बहिः शुभाचारं स्वीकृतं चापि मुञ्चति । न मुञ्चति कदाचिद्वै मुक्त्वा वा पुनराचरेत् ॥ ३०० ॥ यद्वा बहिःक्रियाचारे यथावस्थं स्थितेपि च । कदाचिद्धीयमानोऽन्तर्भावैर्भूत्वा च वर्तते ॥ ३०१ ॥ नासम्भवमिदं यस्माच्चारित्रावरणोदयः । अस्ति तरतमखांशैः गच्छन्निम्नोन्नतामिह ॥ ३०२ ॥ अत्राभिप्रेतमेवैतत् स्वस्थितीकरणं

(सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्वके उदय होनेसे) अपने भावोंकी शुद्धता कम करता जाता है अथवा (सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्वके अनुदय होनेसे) कभी कभी कारणसामग्रीके मिलेनेसे अपनी शुद्धताको बढाता जाता है। भावार्थ—दर्शनमोहनीयकर्मके अनुदय होनेपर भी अन्य कारणसामग्रीके मिलनेसे आत्माके परिणामोंकी शुद्धता कभी घट जाती है और कभी बढ जाती है ॥ २९९ ॥ अथवा कभी कभी बाह्यरूपसे धारण किये हुए अणुव्रत महाव्रत आदि शुभ आचरणोंको छोड देता है अथवा कभी नहीं भी छोडता है तथा कभी कभी छोड करके भी फिर दुवारा धारण कर लेता है ॥३००॥ अथवा कभी कभी धारण किये हुए अणुव्रत महाव्रत आदि वाह्य क्रियाचरणोंको ज्योंका त्यों पालन करता है तथापि अपने अन्तरंग भावोंकी अपेक्षा नीचेको उतरता जाता है। भावार्थ—यद्यपि उसके वाह्य आचरणमें कुछ अन्तर नहीं आता है तथापि अन्तरंग परिणामोंमें मलिनता आ जाती है ॥३०१॥ इसप्रकार अंतरंग परिणामोंकी शुद्धिका घटना वा बढना असंभव नहीं है क्योंकि चारित्रमोहनीयकर्मका उदय अपने न्यूनाधिक निषेकोंके द्वारा हुआ करता है। भावार्थ—चारित्रमोहनीय कर्मकी वर्गणा कभी अधिक और कभी कम उदयमें आती हैं। जब वे वर्गणाएं अधिक उदयमें आती हैं तब परिणामोंकी संक्लेशता बढ जाती या आत्माके परिणामोंकी शुद्धता घट जाती है और जब वे वर्गणाएं कम उदयमें आती हैं तब परिणामोंकी शुद्धता बढ जाती है। इसप्रकार चारित्रमोहनीयके हीनाधिक उदय होनेसे परिणामोंकी विशुद्धि बढती घटती रहती है। ॥३०२॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि यह स्वस्थितिकरण अपनेआप होता रहता है तथा उसमें आत्माकी स्थिरताका न होना ही कारण है। भावार्थ—कर्मोंके तीव्र उदयसे आत्माकी स्थिरता नष्ट हो जाती है और उन्हीं कर्मोंके मंद उदय होनेसे अथवा उनके उदयका अभाव होनेसे आत्माकी शुद्धि बढ जाती है और शुद्धि

स्वतः । न्यायात्कुतश्चिदत्रापि हेतुस्तत्रानवस्थितिः ॥ ३०३ ॥ सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात् । भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः ॥ ३०४ ॥ धर्मा-
देशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहः परे । नात्मवृत्तं विहायाशु तत्परः पररक्षणे ॥ ३०५ ॥ उक्तं च । आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ पर हिदं च कादव्वं । आदहिदपर-

बढ जानेसे आत्मा अपने आत्मामें स्थिर हो जाता है । इसप्रकार यह स्वस्थितिकरण अपनेआप होता रहता है ॥३०३॥ दूसरे पुरुषोंका श्रेष्ठ वा बिना किसी बदलेकी इच्छाके उपकार करना परस्थितिकरण है । जो मनुष्य अपने आत्मस्वरूपसे भ्रष्ट हो चुके हैं उनको फिर आत्मस्वरूपमें स्थापन करना परस्थितिकरण कहलाता है ।३०४। धर्मका उपदेश अथवा आदेश देकर दूसरे पुरुषोंका उपकार करना चाहिये । अपने चारित्रको छोडकर दूसरेके सम्यक्त्व वा चारित्रकी रक्षा करनमें कभी तत्पर नहीं होना चाहिये । भावार्थ–अपने सम्यक्त्व वा चारित्रकी रक्षा करना सबसे पहला कर्तव्य है । अपने सम्यक्त्व वा चारित्रकी रक्षा करते हुए दूसरेके सम्यक्त्व वा चारित्रकी करनी चाहिये । यदि अपना सम्यक्त्व वा चारित्र छोड कर दूसरके सम्यक्त्व वा चारित्रकी रक्षा होती हो तो ऐसी अवस्थामें अपना सम्यक्त्व वा चारित्र कभी नहीं छोडना चाहिये चाहे उसके सम्यक्त्व वा चारित्रकी रक्षा हो वा न हो ॥३०५॥ लिखा भी है–सबसे पहले अपने आत्माका हित करना चाहिये । यदि अपने आत्माका हित करते हुए जो दूसरेका हित हो सकता हो तो उसके आत्माका हित भी करना चाहिये, अपने आत्माका हित और दूसरेके आत्माका हित इन दोनोंमें अपने आत्माका हित करना ही सर्वोत्तम है इसलिए सबसे पहले उसे ही करना चाहिये । भावार्थ–इन दो श्लोकोंसे यह बात अच्छीतरह सिद्ध हो जाती है कि अपने आत्माका हित करना मनुष्यका सबसे पहला कर्तव्य है । यह निश्चित है कि जबतक यह आत्मा अपने आत्माका कल्याण नहीं कर लेता है तब-तक वह दूसरेकी आत्माका कल्याण नहीं कर सकता । तीर्थंकर परमदेव जब सर्वज्ञ और वीतराग हो जाते हैं अरहंतपद प्राप्त कर लेते हैं तभी वे धर्मोपदेश दे कर अनंत जीवोंका उपकार करते हैं । आचार्य जो मुनियोंका पूर्ण हित करते हैं उन्हें मोक्षमार्गमें लगाते हैं वे भी अपना पूर्ण तपश्चरण करते हुए ही मुनियोंका उपकार करते हैं । जिस समय वे इससे उच्च अवस्थास्वरूप मोक्षपदको प्राप्त करना चाहते हैं उस समय वे उस आचार्यपदका

भी त्याग कर स्वयं साधुपदमें आ जाते हैं, जैसा कि पहले लिख चुके हैं इसलिये यह कथन सर्वथा ठीक है कि अपने आत्माका हित करना ही सबसे उत्तम है। यह ध्यान रखना चाहिये कि अपने आत्माका हित करना स्वार्थमें शामिल नहीं है क्योंकि इन्द्रियोंके विषयोंकी प्राप्तिके लिये जो प्रयत्न किया जाता है वही स्वार्थ कहलाता है। जहां जहां प्रमाद है वहीं वहीं स्वार्थ है परंतु अपने आत्माका हित करनेवाला सर्वथा प्रमादरहित होता है क्योंकि जो प्रमादी होता है वह अपने आत्माका हित कर ही नहीं सकता इसलिए आत्माका हित करनेवाला कभी स्वार्थी नहीं हो सकता। श्री ऋषभदेवने दीक्षा ली थी उस समय उनके साथ हजारों राजाओंने दीक्षा ली थी परंतु तपश्चरणकी विधिको जाननेके कारण वे राजा जब भ्रष्ट होने लगे तब भी श्रीऋषभदेवने तबतक उपदेश दे कर उनका उपकार नहीं किया जबतक कि उन्होंने अपने आत्माका पूर्ण हित नहीं कर लिया। इससे सिद्ध होता है, कि धर्मोपदेश देनेका वही अधिकारी है जिसने अपने आत्माका हित कर लिया है। जिसने अपने आत्माका हित नहीं किया है उसको धर्मोपदेश देनेका वा परोपकार करनेका कोई अधिकार नहीं है।

यद्यपि परोपकार करना पुण्य है परंतु जो लोग परोपकार करते हुए स्वयं भ्रष्ट हो जाते हैं अथवा आत्महितको जो स्वार्थ बतलाते हैं वे आत्महितका स्वरूप ही नहीं समझते हैं। आचार्योंने परोपकारको भी स्वोपकार ही बतलाया है। यहांपर कदाचित् कोई यह कहे कि परोपकारमें भ्रष्ट होना ही पडता है जैसे विष्णुकुमार मुनिने मुनियोंकी रक्षाके लिये अपने पदको छोड दिया था परंतु उनका यह कहना ठीक नहीं हैं क्योंकि यद्यपि विष्णुकुमारने विशेष हानि देखकर ऐसा किया था तथापि उन्होंने उसी समय प्रायश्चित्त ले कर अपने आत्मपदका ग्रहण कर लिया था। वर्तमानमें जो लोग परोपकार करते हैं वे आत्मकल्याणको छोड कर करते हैं। वे जो कुछ देशोद्धार आदि परोपकार करते हैं वे सम्यग्दर्शन वा सम्यक्चारित्रसे भ्रष्ट हो कर उस कार्यको करते हैंइस लिए उनका वह कार्य आत्मकल्याणसे रहित होनेके कारण हेय वा त्याज्य समझा जाता है ॥ ३०६ ॥ इसप्रकार

हिदादो आदहिदं सुट्ठुकादव्वं ॥ ३०६ ॥ उक्तं दिग्मात्रतोप्यत्र सुस्थितीकरणं गुणः । निर्जरायां गुणश्रेणौ प्रसिद्धः सुदृगात्मनः ॥ ३०७ ॥ वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्विम्बवेश्मसु । संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत् ॥ ३०८ ॥ अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु सुदृष्टिमान् । सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये ॥३०९॥ यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मंत्रासिकोशकम् । तावद्दृष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः ॥ ३१० ॥ तद्द्विधाऽय च वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचरात् । प्रधानं स्वा-

यहांपर संक्षेपसे स्थितिकरण अंगका स्वरूप बतलाया। यह गुण सम्यग्दृष्टीके उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा करनेके लिए प्रसिद्ध है। भावार्थ—स्थितिकरण अंगके कारण ही सम्यग्दृष्टीके प्रति समय असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है ॥ ३०७ ॥

अब आगे वात्सल्य अंगका स्वरूप कहते हैं। जिसप्रकार सेवक पुरुष अपनेको सेवक समझ कर स्वामीका कार्य करता है उसीप्रकार सिद्ध परमेष्ठी, भगवान अरहन्तदेवकी प्रतिमा, जिनमन्दिर, मुनि, आर्जिका, श्रावक, श्राविकारूप चारोंप्रकारका संघ और शास्त्रोंकी सेवा करना तथा अपनेको इन सबका सेवक समझ कर सेवा करना वात्सल्य अंग कहलाता है ॥ ३०८ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि जो सिद्ध परमेष्ठी वा अरहन्तदेवकी प्रतिमा संघ, शास्त्र आदि पूज्य बतलाये हैं यदि उनमेंसे किसी एकपर भी कोई किसीप्रकारका उपसर्ग आवे तो उसके दूर करनेके लिए सम्यग्दृष्टी पुरुषको सदा तत्पर रहना चाहिये ॥ ३०९ ॥ अथवा जबतक अपने आत्मामें सामर्थ्य है, जबतक मंत्रकी शक्ति है, जबतक तलवारका जोर है और जबतक अपने खजानेका (द्रव्य वा धनका) जोर है तबतक सम्यग्दृष्टी पुरुष उनपर आई हुई विपत्तिको न तो देख सकता है और न सुन सकता है। अभिप्राय यह है कि उनपर आई हुई किसी भी बाधाको वह सहन नहीं कर सकता। भावार्थ—अपने परमपूज्य देव, देवालय, मुनि, आर्जिका, शास्त्र वा और भी किसी धर्मायतनपर किसीप्रकारकी बाधा आवे तो उस बाधाको जिसप्रकार हो सके उसीप्रकारसे दूर कर देना चाहिये, अपनी सामर्थ्यसे, मंत्रशक्तिसे, द्रव्यबलसे, आज्ञासे, सेनाके बलसे, जिसतरहसे बने उसीतरहसे दूर कर देना चाहिए। यही सम्यग्दृष्टीका वात्सल्यगुण है ॥ ३१० ॥ वह वात्सल्यगुण दो प्रकारका है। एक स्ववात्सल्य और दूसरा परवात्सल्य। अपने आत्मामें प्रेम कर आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें

त्मसम्बन्धिगुणो यावत्परात्मनि ॥ ३११ ॥ परीषहोपसर्गाद्यैः पीडितस्यापि कस्यचित् । न शैथिल्यं शुभाचारे ज्ञाने ध्याने तदादिमम् ॥ ३१२ ॥ इतरत्प्रागिहाख्यातं गुणो दृष्टिमतः स्फुटम् । शुद्धध्यानबलादेव सतो बाधापकर्षणम् ॥ ३१३ ॥ प्रभावनाङ्गसंज्ञोस्ति गुणः सद्दर्शनस्य वै । उत्कर्षकरणं नाम लक्षणादपि लक्षितम् ॥ ३१४ ॥ अर्थात्तद्धर्मणः पद्धे नावद्यस्य मनागपि । धर्मपक्षक्षतेर्यस्मादधर्मोत्कर्षरोषणात् ॥ ३१५ ॥ पूर्ववत्सोपि द्वैविध्यः स्वान्यात्ममेदतः पुनः । तत्राद्यो वरमा-

आनेवालीं बाधाओंको दूर करना स्ववात्सल्य है तथा दूसरे धर्मात्माओंमें प्रेम कर उनके तपश्चरणमें आनेवाली बाधाओंको दूर करना परवात्सल्य है। इन दोनोंमें स्ववात्सल्य मुख्य है और परवात्सल्य गौण है ॥ ३११ ॥ अनेकप्रकारकी परीषह और उपसर्गोंसे पीडित होनेपर भी अपने श्रेष्ठ आचरणोंमें, ज्ञानमें, ध्यानमें, शिथिलता नहीं आने देना स्ववात्सल्य कहलाता है। भावार्थ—उपसर्गादिकके आनेपर भी अपने ज्ञान ध्यानमें लीन बने रहना, अपने आत्मस्वरूपकी सेवा करते रहना स्ववात्सल्य है ॥ ३१२ ॥ परवात्सल्यगुणका स्वरूप जो पहले (श्लोक-३०८ में) बतलाया है वही है। यह वात्सल्यगुण निश्चयसे सम्यग्दृष्टीका ही गुण है क्योंकि शुद्धज्ञानके द्वारा ही सर्वप्रकारकी बाधाएं दूर की जा सकती हैं। भावार्थ—यह पहले बता चुके हैं कि सम्यग्दृष्टीका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान वा शुद्ध ज्ञान है क्योंकि सम्यग्दृष्टीके शुद्ध ज्ञानमें ही शुद्धात्माकी अनुभूति होती है तथा जिस समय इस जीवको शुद्ध आत्माकी अनुभूति होती है उस समय कितनी ही विघ्नबाधाएं क्यों न आवें वे उस शुद्ध आत्माकी अनुभूतिमें बाधक नहीं हो सकतीं। यह शुद्ध आत्माकी अनुभूतिका ही प्रभाव है तथा शुद्ध आत्माकी अनुभूति सम्यग्दृष्टीके ही होती है इसलिए यह गुण भी सम्यग्दृष्टीका ही गुण कहा जाता है ॥ ३१३ ॥ इसप्रकार वात्सल्य अंगका लक्षण कहा।

अब आगे प्रभावना अंगका स्वरूप कहते हैं। यह प्रभावनागुण भी सम्यग्दर्शनका प्रधान गुण है। आत्माके स्वरूपकी उन्नति करना अथवा भगवान अरहंतदेवके कहे हुए धर्मकी उत्कृष्टता प्रगट करना प्रभावना अंग है। प्रभावना अंगका लक्षण आचार्योंने यही बतलाया है ॥ ३१४ ॥ जो धर्मरहित पापरूप कार्य हैं उनकी उन्नति किंचित्मात्र भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह नियम है कि यदि अधार्मिक कार्योंकी उन्नति की जायगी, अधा-

देयः स्यादादेयोऽपरोप्यतः ॥ ३१६ ॥ उत्कर्षो यद्बलाधिक्यादधिकीकरणं वृषे । असत्सु प्रत्यनीकेषु नालं दोषायतत्क्वचित् ॥ ३१७ ॥ मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः । जीवः शुद्धतमः कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभावना ॥ ३१८ ॥ नायं स्यात्पौरुषायत्तः किन्तु नूनं स्वभावतः । ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणौ यतः शुद्धिर्ययोत्तरा ॥ ३१९ ॥ बाह्यप्रभावनाङ्गोस्ति विद्यामन्त्रासिभिर्वरैः । तपोदानादिभिर्जैनधर्मोत्कर्षो विधीयताम् ॥ ३२० परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनाम् । चम-

र्मिक कार्योंमें सहायता दी जायगी तो उससे धर्मका नाश अवश्य होगा ॥ ३१५ ॥ पहलेके समान यह प्रभावना अंग भी दोप्रकार है। एक स्वप्रभावना और दूसरी परप्रभावना। इन दोनोंमें पहली स्वप्रभावना सर्वोत्तम है और आदेय है, ग्रहण करने योग्य है। इसके अनन्तर दूसरी परप्रभावना भी उत्तम और ग्रहण करने योग्य है ॥३१६॥ किसी भी प्रकारके विघ्न न होनेपर बलपूर्वक (प्रयत्नपूर्वक) धर्मकी वृद्धि करना उन्नति करना धर्मका उत्कर्ष वा प्रभावनाअंग कहलाता है। यह प्रभावनाअंग सम्यग्दर्शनमें किसीप्रकारका दोष उत्पन्न नहीं कर सकता किंतु उसकी विशुद्धिको बढाता ही रहता है ॥ ३१७ ॥ मोहनीयकर्मरूपी शत्रुके नाश हो जानेपर यह जीव शुद्ध हो जाता है, फिर यह मोहनीयकर्मरूपी शत्रु जैसे जैसे अधिक अधिकरूपसे नष्ट होता जाता है वैसे ही वैसे इस जीवकी शुद्धता और बढती जाती है। कोई जीव उस शुद्धतासे और अधिक शुद्ध हो जाता है, फिर वही जीव उससे भी अधिक शुद्ध हो जाता है और फिर वही जीव समस्त मोहनीयकर्मके नाश होनेसे सबसे अधिक शुद्ध हो जाता है। इसको आत्माकी प्रभावना वा स्वप्रभावना कहते हैं ॥ ३१८ ॥ इसप्रकार आत्माकी उन्नति करनेमें पुरुषार्थ कारण नहीं है किंतु इसप्रकारकी उन्नति स्वभावसे ही होती है। इसका भी कारण यह है कि सम्यग्दृष्टी पुरुषके प्रतिसमय असख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है तथा जैसे जैसे कर्मोंकी निर्जरा अधिक अधिक होती रहती है वैसे ही वैसे आत्माकी शुद्धि बढती जाती है, इसप्रकार इस शुद्धिकी उत्कर्षता अपनेआप होती है किसी पुरुषार्थसे नहीं होती ॥ ३१९ ॥ विद्याके बलसे, मंत्रके बलसे, तप करके, दान दे करके अथवा और भी उत्तम उत्तम धार्मिक कार्योंके द्वारा जैनधर्मकी उत्कृष्टता प्रगट करनी चाहिए। इसको बाह्यप्रभावना अंग कहते हैं ॥ ३२० ॥ जो लोग मिथ्यात्वको बढानेमें लगे हुए हैं ऐसे मिथ्यादृष्टियोंकी हीनता प्रगट करनेके लिए

त्कारकरं किंचित्तद्विधेयं महात्मभिः ॥ ३२१ ॥ उक्तः प्रभावनांगोपि गुणः सदर्शनस्य वै । येन सम्पूर्णतां याति दर्शनस्य गुणाष्टकम् ॥ ३२२ ॥

इतिश्रीस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्लविरचितायां श्रावकाचारापरनामलाटीसंहितायां साधुश्रीदूदात्मजफामनमनःसरोजारविन्दविकाशनैकमार्तण्डमण्डलायमानायामष्टांगसम्यग्दर्शन-वर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः ।

महात्माओंको कुछ चमत्कार करनेवाले कार्य भी करने चाहिए । भावार्थ—यह नियम है कि दूसरेका खंडन किये बिना अपना मंडन नहीं होता है, इसीप्रकार दूसरोंकी हीनता दिखलाये बिना अपनी उत्कर्षता हो नहीं सकती अतएव अपनी उत्कर्षता दिखलानेके लिए मिथ्यादृष्टियोंकी हीनता अवश्य दिखलानी चाहिए ॥ ३२१ ॥ इसप्रकार यह प्रभावनाअंग भी सम्यग्दर्शनका गुण बतलाया । इस प्रभावनाअंगके साथ साथ सम्यग्दर्शनके आठों गुण पूर्ण हो जाते हैं । भावार्थ—सम्यग्दर्शनके सात अंग पहले कह चुके हैं, यह प्रभावनाअंग आठवां अंग है ॥ ३२२ ॥

इसप्रकार स्याद्वादस्वरूप निर्दोष गद्यपद्यविद्यामें अत्यन्त चतुर और विद्वानोंमें शिरोमणि ऐसे कविराज राजमल्लके द्वारा बनी हुई तथा सज्जनोत्तम दूदाके सुपुत्र श्रीफामनके मनरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेकेलिये सूर्यमंडलके समान सुशोभित होनेवाली और श्रावकाचार है दूसरा नाम जिसका ऐसी इस लाटीसंहिता नामके ग्रंथकी चावली (आगरा) निवासी देहलीप्रवासी "धर्मरत्न" लालाराम जैन शास्त्री द्वारा विरचित हिन्दी भाषा टीकामें सम्यग्दर्शनके आठों अंगोंका वर्णन करनेवाला यह चौथा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमः सर्गः ।

अष्टाङ्गदर्शनं सम्यग्भूयाद्वः श्रेयसे दृढम् । साधु दूदात्मजोदामवर्मारामैकफामन ॥ १ ॥ इत्याशीर्वादः ।

शुद्धदर्शनिकोद्दान्तो भावैः सातिशयः क्षमी । ऋजुर्जितेन्द्रियो धीरो व्रतमादातुमर्हति ॥ १ ॥ शरीरभोगेभ्यो विरक्तो दोषदर्शनात् । अक्षातीतसुखेषी यः

पांचवां सर्ग

हे श्रेष्ठ दूदाके सुपुत्र ! हे उत्कृष्ट धर्मके सुंदर बाग ऐसे हे फामन ! यह आठों अंगोंसे सुशोभित तथा सर्वोत्तम और अत्यंत दृढ सम्यग्दर्शन तुम्हारा कल्याण करनेवाला हो । इति आशीर्वाद ।

जिसका सम्यग्दर्शन शुद्ध है, जो अनेकप्रकारके तपश्चरणादिके क्लेश सहन करनेमें समर्थ है, जिसके परिणामोंकी शुद्धता अत्यंत विलक्षण और सबसे अधिक है, जो क्षमाको धारण करनेवाला है, जिसका मन वचन काय सरल है, जो इन्द्रियोंको अपने वशमें करनेवाला है और जो अत्यंत धीर वीर है वही पुरुष व्रतोंको धारण कर सकता है । भावार्थ–व्रत धारण करना सबसे कठिन् कार्य है इसकेलिए सबसे पहले सम्यग्दर्शनकी आवश्यकता है । यदि सम्यग्दर्शन न हो तो धारण किए हुए व्रत भी मिथ्याव्रत कहलाते हैं इसलिये व्रत धारण करनेके पहले सम्यग्दर्शनकी अत्यंत आवश्यकता है । सम्यग्दर्शन होनेके बाद भी व्रतोंको वही धारण कर सकता है जिसमें क्लेश सहन करनेकी शक्ति हो, जिसमें क्लेश सहन करनेकी शक्ति नहीं है उससे व्रत कभी नहीं धारण किए जा सकते । तदनंतर परिणामोंकी शुद्धता होनी चाहिए, विना परिणामोंकी शुद्धताके व्रत कभी भी धारण नहीं किए जा सकते । इसीप्रकार व्रतीको क्षमावान् होना चाहिए, मन वचन काय तीनों सरल होने चाहिए, यदि मन वचन काय सरल नहीं होंगे, हृदयमें छलकपट होगा वा माया मिथ्या निदान तीनों शल्य होंगे तो भी व्रत धारण करना व्यर्थ होगा इसलिए व्रतीके मन वचन काय तीनों सरल होने चाहिए, इसीप्रकार व्रत धारण करनेवालेको जितेन्द्रिय होना चाहिए । जो अपनी इन्द्रियोंको भी अपने वशमें नहीं कर सकेगा वह व्रतों-

स स्यान्नून व्रतार्हतः ॥ २ ॥ न स्यादणुव्रतार्हो यो मिथ्यान्धतमसा ततः । लोलुपो लोलचक्षुश्च वाचालो निर्दयः कुधीः ॥ ३ ॥ मूढोमूढो सच प्रायो (?) जाग्र-

को किसप्रकार धारण कर सकेगा इसलिए व्रतीको जितेन्द्रिय होना अत्यावश्यक है, इसीप्रकार व्रतीको धीर-वीर होना चाहिए, जो धीरवीर नहीं होता वह अपने व्रतोंसे विचलित हो सकता है अतएव व्रतोंको दृढता-पूर्वक धारण करनेके लिए धीरवीर होना भी अत्यावश्यक है। अभिप्राय यह है कि इस श्लोकमें जितने गुण बतलाए हैं वे सब होंगे तब उसमें व्रत धारण करनेकी योग्यता प्राप्त होगी ॥ १ ॥ जो मनुष्य शरीर, संसार और इन्द्रियोंके भोगोंको सदा नश्वर और असार समझता है और इसीलिए जो शरीर संसार और भोगोंसे सदा विरक्त रहता है, इसके साथ जो आत्मजन्य अतीन्द्रिय सुखकी सदा इच्छा करता रहता है वही मनुष्य निश्चय-से व्रत धारण करनेके योग्य होता है। भावार्थ—व्रत धारण करनेके लिए जो पहले श्लोकमें गुण बतलाए हैं वे तो होने ही चाहिए परंतु उनके साथ शरीर संसार और भोगोंसे विरक्तता होंनी चाहिए तथा अतीन्द्रिय सुख-की इच्छा होनी चाहिये, जिसके अतीन्द्रिय सुखकी इच्छा नहीं होगी वह शरीरादिकसे विरक्त ही क्यों होगा और शरीरादिकसे विरक्त न होगा तो वह इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग नहीं कर सकेगा तथा बिना इन्द्रियोंके विषयोंके त्याग किये व्रत धारण नहीं हो सकते क्योंकि नियमपूर्वक इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग करना ही व्रत है इसलिए जो पुरुष शरीरादिकसे विरक्त हो चुके हैं और अतीन्द्रिय सुखकी इच्छा करते हैं वे ही व्रतों-को धारण कर सकते हैं ॥ २ ॥ जो पुरुष मिथ्यात्वरूपी घोर अंधकारसे व्याप्त हो रहा है, जो अत्यंत चंचल है, जिसके नेत्र सदा चंचल रहते हैं, जो बहुत बोलनेवाला है, जो निर्दयी है, जिसकी बुद्धि विपरीत है, जो अत्यंत मूर्ख है अथवा अत्यंत मूर्खके समान है, जिसका मूर्च्छारूप परिग्रह अत्यंत प्रज्वलित हो रहा है अर्थात् जिसकी तृष्णा वा परिग्रह बढानेकी लालसा बहुत बढी हुई है, जो अत्यंत अविनयी है, जो अधिक सेवा करने से भी प्रसन्न नहीं होता अर्थात् जिसका हृदय अत्यंत कठोर है, जो निर्विवेकी है, सबसे ईर्ष्या द्वेष करनेवाला है, सबकी निंदा करनेवाला है तथा जो बिना किसी अपने प्रयोजनके भी दूसरेकी निंदा करता रहता है, जो देव

न्मूर्च्छापरिग्रहः । दुर्विनीतो दुराराध्यो निर्विवेकी समत्सरः ॥ ४ ॥ निन्दकश्च विनास्वार्थं देवशास्त्रेष्वसूयकः । उद्धतोऽवर्णवादी च वावदूकोप्यकारणे ॥ ५ ॥ आततायी क्षणादन्यो भोगाकांक्षी व्रतच्छलात् । सुखाशयो धनाशश्च बहुमानी च कोपतः ॥ ६ ॥ मायावी लोभपात्रश्च हास्याद्युद्रेकलक्षितः । क्षणादुष्णः क्षणाच्छीतः क्षणाद्वीरुः क्षणाद्भटः ॥ ७ ॥ इत्याद्यनेकदोषाणामास्पदः स्वपदस्थितः । इच्छन्नपि व्रतादीश्च नाधिकारी स निश्चयात् ॥ ८ ॥ न निषिद्धोऽथवा सोऽपि निर्दम्भश्चेद्व्रतोन्मुखः । मृदुमतिर्भोगाकांक्षी स्यांच्चिकित्स्यो न वञ्चकः ॥ ९ ॥ अर्थात्कालादिसंलब्धो लब्धसद्दर्शनान्वितः । देशतः सर्वतश्चापि व्रती तत्त्वविदिष्यते ॥ १० ॥

शास्त्रोंसे भी ईर्ष्या द्वेष करता है, जो अत्यंत उद्धत है, जो अत्यंत निंदनीय है, जो व्यर्थ ही बकवाद करता रहता है तथा बिना कारणके बकवाद करता रहता है, जो अनेकप्रकारके अत्याचार करनेवाला है, जिसका स्वभाव क्षणक्षणमें बदलता रहता है, जिसे भोगोपभोगोंकी तीव्र लालसा है, जो व्रतोंका बहाना बना कर अनेकप्रकारके भोगोपभोग सेवन करता है, जो सदा इंद्रियसंबंधी सुख चाहता रहता है, जिसको धनकी तीव्र लालसा है, जो बहुत ही अभिमानी है, बहुत ही क्रोधी है, बहुत ही मायाचारी है और बहुत ही लोभी है, जिसके हास्य, शोक, भय, जुगुप्सा, रति, अरति आदि कषाएं तीव्र हैं, जो क्षणभरमें शांत हो जाता है और क्षणभरमें क्रोधसे उबल पडता है, जो क्षणभरमें भयभीत हो जाता है और क्षणभरमें ही बहुत बडा शूरवीर बन जाता है, इसप्रकार जिसमें अनेक दोष भरे हुए हैं और जो अपने आत्माके स्वरूपमें लीन नहीं है ऐसा पुरुष यदि व्रतोंके धारण करनेकी इच्छा भी करे तो भी निश्चयसे व्रत धारण करनेका अधिकारी नहीं होता अतएव ऐसा पुरुष अणुव्रत धारण करनेके योग्य भी नहीं हो सकता ॥ ३-८ ॥ अथवा यों समझना चाहिए कि जो कोई पुरुष छल-कपटरहित है और व्रत धारण करना चाहता है उसके लिए व्रत धारण करनेका निषेध नहीं है क्योंकि जिसकी बुद्धि कोमल है अर्थात् जो दयालु है और भोगोंकी आकांक्षा रखता है ऐसा वैद्य ठग नहीं हो सकता। भावार्थ—जिसप्रकार दयालु वैद्य ठग नहीं कहा जाता उसीप्रकार छल कपट रहित पुरुष व्रत धारण करनेके अयोग्य नहीं गिना जाता ॥ ९ ॥ इस सबका अभिप्राय यह है कि काललब्धि आदि समस्त सामग्रीके मिलनेपर जब सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है तब एकदेश पापोंका त्याग करनेवाला अथवा पूर्णरूपसे पापोंका त्याग करनेवाला व्रती

विनाप्यनेहसो लब्धेः कुर्वन्नपि व्रतक्रियाम्। हठादात्मबलाद्वापि व्रतंमन्योऽस्तु का क्षतिः ॥ ११ ॥ किञ्चात्मनो यथाशक्ति तथेच्छन्वा प्रतिक्रियाम्। कस्कोपि प्राणि-रक्षार्थं कुर्वन्नायैर्न वारितः ॥ १२ ॥ द्रव्यमात्रक्रियारूढो भावरिक्तो यदृच्छतः। स्वल्पभोगं फल तस्यास्तन्माहात्म्याद्विहरनुते ॥ १३ ॥ निर्देशोयं यथोक्तायाः क्रियायाः

(अणुव्रती वा महाव्रती) आत्मतत्त्वका जानकार गिना जाता है। भावार्थ—पहले कह चुके हैं कि बिना सम्यग्द-र्शनके शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं होता है इसलिए सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेपर जब यह जीव पापोंका त्याग करता है तभी यह जीव वास्तविक अपने शुद्ध आत्माका अनुभवी माना जाता है ॥१०॥ जिस किसी मनुष्यको काललब्धि प्राप्त नहीं हुई है तथा काललब्धिके बिना जिसको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं है ऐसा मिथ्यादृष्टी पुरुष भी यदि हठपूर्वक अथवा केवल अपने बलसे व्रत पालन करे, तो भी उसमें कोई हानि नहीं है अंतर केवल इतना ही है कि बिना सम्यग्दर्शनके वह व्रती नहीं कहला सकता किंतु 'व्रतमन्य' (बिना व्रतोंके भी अपनेको व्रती माननेवाला) माना जाता है ॥११॥ अथवा यह साधारण नियम समझना चाहिए यदि कोई भी पुरुष प्राणि-योंकी रक्षा करनेके लिये अपनी शक्तिके अनुसार व्रतोंको पालन करे अथवा व्रत पालन करनेकी इच्छा करे तो आर्य व्रती पुरुष उसका निषेध कभी नहीं करते हैं। भावार्थ—प्राणियोंकी रक्षा करना सबको इष्ट है इसलिए यदि प्राणियोंकी रक्षा करनेके लिए चाहे मिथ्यादृष्टी व्रतोंका पालन करे और चाहे सम्यग्दृष्टी व्रतोंका पालन करे व्रतोंके पालन करनेसे तो दोनोंको ही लाभ होता है क्योंकि जितने अंशोंमें प्राणियोंकी रक्षा होती है उतने ही अंशोंमें उसको पुण्यबंध होता है ॥ १२ ॥

जिस पुरुषके परिणाम शुद्ध नहीं हैं अथवा जो पुरुष अपने व्रतोंके पालन करनेमें अपने भाव वा परिणाम नहीं लगाता तथापि जो अपनी इच्छानुसार व्रतोंकी वाह्य क्रियाओंको पूर्ण रीतिसे पालन करता है उसको भी उन व्रतोंके पालन करनेसे थोडेसे भोगोपभोगोंकी सामग्री प्राप्त हो ही जाती है। भावार्थ—बिना अन्तरंग परि-णामोंके बाह्यरूपसे व्रत पालन करनेका फल भी मिल ही जाता है ॥ १३ ॥ इसमें भी इतना विशेष है कि जो व्रतरूप क्रियाओंको शास्त्रानुसार पालन करते हैं, उन्हींको उनके पालन करनेका फल मिलता है। जो पुरुष किसी

प्रतिपालनात्। छद्मनाऽथ प्रमादाद्वा नायं तस्याश्च साधकाः ॥ १४ ॥ अभव्यो भव्यमात्रो वा मिथ्यादृष्टिरपि क्वचित्। देशतः सर्वतो वापि गृह्णाति च व्रतक्रियाम् ॥ १५ ॥ हेतुश्चारित्र मोहस्य कर्मणो रसलाघवात्। शुक्ललेश्यावलात्कश्चिदार्हत व्रतमाचरेत् ॥ १६ ॥ यथास्वं व्रतमादाय यथोक्तं प्रतिपालयेत्। सानुरागः क्रिया-मात्रमतिचारविवर्जितम् ॥ १७ ॥ एकादशांगपाठोपि तस्य स्यात् द्रव्यरूपतः। आत्मानुभूतिशून्यत्वाद्भावनः संविदुज्झितः ॥ १८ ॥ न वाच्यं पाठमात्रत्वमस्ति तस्येह

छल कपटसे अथवा प्रमादसे व्रतरूप क्रियाओंको पालन करते हैं उनको उन व्रतोंके पालन करनेका कोई किसी-प्रकारका फल प्राप्त नहीं होता ॥ १४ ॥

भव्य जीव वा अभव्य जीव अथवा कभी कभी मिथ्यादृष्टी भी एकदेश वा सर्वदेश व्रतोंको (अणुव्रतों-को वा महाव्रतोंको) धारण कर लेते हैं ॥ १५ ॥ व्रतोंके धारण करनेके लिए चारित्रमोहनीयकर्मका मन्दोदय कारण है। चारित्रमोहनीयकर्मके मन्द उदय होनेपर तथा शुक्ललेश्याके बलसे यह जीव भगवान अरहन्तदेवके कहेहुए व्रतोंको धारण कर सकता है। भावार्थ—चारित्रमोहनीयकर्म व्रतरूप परिणामोंको रोकता है। जब उसका उपशम हो जाता है और साथमें ही शुक्ललेश्या हो जाती है उस समय इस जीवके अणुव्रत वा महाव्रतों-के धारण करनेके परिणाम होते हैं ॥ १६ ॥ अपनी शक्तिके अनुसार अणुव्रत वा महाव्रतोंको धारण कर उनको शास्त्रानुसार पालन करना चाहिये तथा बडे प्रेमसे अतिचार रहित पालन करना चाहिये और पूर्ण क्रिया वा विधिके साथ पालन करना चाहिये ॥ १७ ॥ कोई मुनि मिथ्यादृष्टी भी होते हैं। वे यद्यपि ग्यारह अंगके पाठी होते हैं और महाव्रतादिक क्रियाओंको बाह्यरूपसे पूर्णरूपसे पालन करते हैं तथापि उन्हें अपने शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं होता इसलिए वे अपने परिणामोंके द्वारा सम्यग्ज्ञानसे रहित ही होते हैं। भावार्थ—ऐसे मिथ्यादृष्टी मुनि यद्यपि महाव्रतोंको पूर्णरीतिसे पालते हैं और ग्यारह अंगतक पढ जाते हैं तथापि उन्हें शुद्धात्मानुभूतिरूप सम्यग्दर्शनके न होनेसे उनका वह ग्यारह अंगका ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है ॥१८॥ यहांपर कदाचित् कोई यह शंका करे कि ऐसे मिथ्यादृष्टी मुनिके जो ग्यारह अंगका ज्ञान होता है वह केवल पाठमात्र होता है उसके अर्थों-का ज्ञान उसको नहीं होता परन्तु यह शंका करना भी ठीक नहीं है क्योंकि शास्त्रोंमें यह कथन आता है कि ऐसे

नार्थतः । यतस्तस्योपदेशाद्वै ज्ञानं विन्दन्ति केचन ॥ १९ ॥ ततः पाठोस्ति तेषूच्चैः पाठस्याप्यस्ति ज्ञातृता । ज्ञातृतायां च श्रद्धानं प्रतीतीरोचनं क्रिया ॥ २० ॥
अर्थात्तत्र यथार्थत्वमित्याशंक्यं न कोविदैः । जीवाजीवास्तिकायानां यथार्थत्वं न सम्भवात् ॥ २१ ॥ किन्तु कश्चिद्विशेषोस्ति प्रत्यक्षज्ञानगोचरः । येन तज्ज्ञानमात्रेपि

मिथ्यादृष्टी मुनियोंके उपदेशसे अन्य कितने ही भव्य जीवोंको सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान प्रगट हो जाता है अर्थात् उनके उपदेशको सुन कर कितने ही भव्य जीव अपने आत्मस्वरूपको पहचानने लगते हैं उन्हें अपने शुद्ध आत्माका अनुभव हो जाता है और वे रत्नत्रय प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।१९। इससे सिद्ध होता है कि ऐसे मिथ्यादृष्टी मुनियोंके ग्यारह अंगोंका ज्ञान पाठमात्र भी होता है और उस पाठके सब अर्थोंका ज्ञान भी होता है। उस ज्ञानमें श्रद्धान होता है, प्रतीति होती है, रुचि होती है और पूर्ण क्रिया होती है ॥२०॥ इतना सब होने-पर भी विद्वानोंको उस ज्ञानमे वा श्रद्धानमें अथवा क्रियामें यथार्थपनेकी शंका नहीं करनी चाहिये। भावार्थ-ऐसे ऊपर लिखे मिथ्यादृष्टीमुनियोंका वह ज्ञान श्रद्धान वा आचरण यथार्थ होता है ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि ऐसे मिथ्यादृष्टी मुनियोंके जीव अजीव आदि पदार्थोंके ज्ञान वा श्रद्धानके यथार्थ होनेकी संभावना भी नहीं होती है। भावार्थ-ऐसे मिथ्यादृष्टी मुनियोंका ज्ञान श्रद्धान वा आचरण आदि सब मिथ्या ही होता है यथार्थ वा सम्यक् नहीं होता ॥ २१ ॥

ग्यारह अंगोंको जाननेवाले ऐसे मिथ्यादृष्टी मुनियोंके ज्ञानमें प्रत्यक्षज्ञानके द्वारा जाननेयोग्य कोई ऐसी विशेषता होती है जिससे इतना ज्ञान होनेपर भी वह ज्ञान वास्तवमें मिथ्याज्ञान कहलाता है। भावार्थ--पहले यह बतला चुके हैं कि सम्यग्दर्शन वा स्वात्मानुभूतिमें ही कोई ऐसी विलक्षण विशेषता है जिससे ज्ञानमें सम्यक्पना आ जाता है तथा विना उसके ज्ञान चाहे जितना बढ जाय तो भी उसमें सम्यक्पना नहीं आता। ग्यारह अंगोंको जानने-वाले मुनियोंके भी वह स्वात्मानुभूति नहीं होती इसलिए उनका इतना बडा ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहा जाता है। वह स्वात्मानुभूति प्रत्यक्षज्ञानके ही द्वारा जानी जाती है अतएव वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है यह बात भी प्रत्यक्षज्ञान-से ही जानी जाती है ॥ २२ ॥ इसमें इतना और समझ लेना चाहिए कि यद्यपि ऐसा मिथ्यादृष्टी मुनि जीवा-

तस्याज्ञानं हि वस्तुतः ॥ २२ ॥ तत्रोल्लेखोस्ति विख्यातः पारंपर्यादक्षमोपि यः । न स्याच्छुद्धानुभूतिः सा तत्र मिथ्यादृशि स्फुटम् ॥२३॥ अस्तु सूत्रानुसारेण स्वसं-
विदविरोधिना । परिक्षायाः सहत्वेन हेतोर्बलवतापि च ॥ २४ ॥ दृश्यते पाठमात्रत्वाद् ज्ञानस्यानुभवस्य च । विशेषोध्यक्षको यस्माद्दृष्टान्तादपि संमतः ॥ २५ ॥
यथा चिकित्सकः कश्चित्परांगगतवेदनाम् । परोपदेशवाक्याद्वा जानन्नानुभवत्यपि ॥ २६ ॥ तथा सूत्रार्थवाक्यार्थात् जानन्नप्यात्मलक्षणाः । नास्वादयतिमिथ्यात्वकर्मणो-
रसपाकतः ॥ २७ ॥ सिद्धमेतावताप्येतन्मिथ्यादृष्टेः क्रियावतः । एकादशांगपाठेपि ज्ञानेप्यज्ञानमेवतत् ॥ २८ ॥ नचाशंक्यं क्रियामात्रे नानुरागोऽस्य लेशतः ।

दिक पदार्थोंकी परीक्षा कर सकता है तो भी उसके शुद्ध आत्माकी अनुभूति कभी नहीं होती। भावार्थ–जब मिथ्यादृष्टी मुनि ग्यारह अंगोंका जानकार है तो इसमें सन्देह नहीं कि वह जीवाजीवादिक समस्त पदार्थोंको परीक्षा अच्छीतरह कर सकता है तथापि सम्यग्दर्शनके विना उस आत्माके यथार्थ स्वरूपका स्वाद वा अनुभव नहीं आता इसीलिए वह उस अनुभवसे वा सम्यग्ज्ञानसे वंचित रहता है ॥२३॥ अथवा स्वानुभूतिका अविरोधी जो एकादशांग सूत्रपाठ है वह बना रहो परन्तु परीक्षाकी योग्यतासे और बलवान हेतुसे यह देखा जाता है कि पाठमात्र ज्ञानमें और अनुभवमें प्रत्यक्ष विशेषता वा भेद है तथा दृष्टान्तसे भी यही बात सिद्ध होती है जैसा कि आगे दिखलाते हैं ॥ २४-२५ ॥ जिसप्रकार कोई वैद्य दूसरेके उपदेशके वाक्योंसे दूसरेके शरीरमें होनेवाले रोगोंके दुःखोंको जानता है परंतु वह उन दुःखोंका अनुभव नहीं करता, उसीप्रकार मिथ्यादृष्टी पुरुष शास्त्रोंमें कहे हुए वाक्योंके अनुसार आत्माके स्वरूपको जानता है तथापि मिथ्यात्वकर्मके उदयसे उसका आस्वादन वा अनुभव नहीं कर सकता ॥२६-२७॥ इससे सिद्ध होता है कि अणुव्रत वा महाव्ररूप क्रियाओंको पालन करनेवाले इस मिथ्यादृष्टीका ज्ञान यद्यपि ग्यारह अंगतकका ज्ञान है तथापि शुद्ध आत्माके अनुभवके विना वह ज्ञान अज्ञान ही कहलाता है ॥२८॥ यहांपर कदाचित् कोई यह शंका करे कि मिथ्यादृष्टिके व्रतोंके पालन करनेरूप क्रियाओंमें लेशमात्र भी अनुराग नहीं होता होगा ? सो भी ठीक नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टीके व्रतोंमें अनुराग होना हेतुपूर्वक सिद्ध हो जाता है तथा व्रतोंमें अनुराग होनेका हेतु उसके आत्मामें विशुद्धिका होना है भावार्थ–मिथ्यादृष्टी पुरुषके आत्मामें भी विशुद्धि होती है और विशुद्धि होनेसे उसके व्रतोंमें अनुराग होता है।

रागस्य हेतुसिद्धत्वाद्विशुद्धेस्तत्र सम्भवात् ॥ २९ ॥ सूत्राद्विशुद्धस्थानानि सन्ति मिथ्यादृशि क्वचित् । हेतोश्चारित्रमोहस्य रसपाकस्य लाघवात् ॥ ३० ॥ ततो विशुद्धिसंसिद्धेरन्यथानुपपत्तितः । मिथ्यादृष्टेरवश्यं स्यात्सद्व्रतेष्वनुरागिता ॥ ३१ ॥ ततः क्रियानुरागेण क्रियामात्राच्छुभास्रवात् । सद्व्रतस्य प्रभावात्स्यादस्यग्रैवेयकं

अतएव मिथ्यादृष्टीके व्रतोंमें अनुराग नहीं होता होगा यह शंका करना सर्वथा निर्मूल है ॥ २९ ॥ मिथ्यादृष्टी पुरुषके भी आत्माकी विशुद्धि होती है इसका कारण यह है कि कभी कभी मिथ्यादृष्टीके भी चारित्रमोहनीय-कर्मका उदय मंद होता है तथा चारित्रमोहनीयकर्मके मंद उदय होनेसे उस मिथ्यादृष्टीके भी कितने ही विशुद्धिके स्थान हो जाते हैं ऐसा शास्त्रोंमें स्पष्ट उल्लेख मिलता है ॥३०॥ यह नियम है कि आत्माकी विशुद्धि मोहनीयकर्म-के मंद उदयसे होती है। मोहनीयकर्मके मंद उदय हुए बिना आत्माकी विशुद्धि कभी नहीं होती। मिथ्यादृष्टीके चारित्रमोहनीयकर्मका मंद उदय होता है इसलिए उसके आत्मामें विशुद्धि होना अनिवार्य है क्योंकि जहां जहां चारित्रमोहनीयकर्मका मंद उदय होता है वहां वहां विशुद्धि अवश्य होती है और जहां जहां आत्माकी विशुद्धि होती है वहां वहां व्रतोंमें अनुराग अवश्य होता है। इसप्रकार मिथ्यादृष्टी पुरुषके भी चारित्रमोहनीयकर्मका मंद उदय होता है, मोहनीयकर्मके मंद उदय होनेसे आत्माकी विशुद्धि होती है और आत्माकी विशुद्धि होनेसे उसके व्रतोंमें अनुराग होता है ॥३१॥ इसप्रकार मिथ्यादृष्टी पुरुषके व्रतरूप क्रियाओंके पालन करनेमें अनुराग हो जाता है। व्रतोंमें अनुराग होनेसे वह क्रियारूप व्रतोंको पालन करता है तथा व्रतरूप क्रियाओंको पालन करनेसे शुभ-कर्मोंका आस्रव होता है इसप्रकार श्रेष्ठ व्रतोंके पालन करनेसे उस मिथ्यादृष्टी पुरुषको भी नव ग्रैवेयकतकके सुख प्राप्त होते हैं। भावार्थ–यदि मिथ्यादृष्टी पुरुष भी अनुरागपूर्वक महाव्रत धारण करता है तो वह उन महा-व्रतोंके प्रभावसे नव ग्रैवेयकतक उत्पन्न होता है और वहांपर इकत्तीस सागरतक सुखोंका अनुभव करता रहता है ॥ ३२ ॥ इतना सब होनेपर भी मिथ्यादृष्टीमें कोई ऐसी विशेषता होती है जिसको भगवान अरहंत-देव ही देखते हैं अथवा वह विशेषता शास्त्रोंसे जानी जाती है। उस विशेषताके कारण ही महाव्रत आदि व्रतों-की पूर्ण क्रियाओंको पालन करता हुआ भी वह चारित्ररहित कहलाता है। भावार्थ–पहले कह चुके हैं कि

सुखम् ॥ ३२ ॥ किन्तु कश्चिद्विशेषोस्ति जिनदृष्टो यथागमात् । क्रियावानपि येनायमचारित्री प्रमाणितः ॥ ३३ ॥ सम्यग्दृष्टेस्तु तत्सर्वं यथाणुव्रतपञ्चकम् । महाव्रतं तपश्चापि श्रेयसे चामृताय च ॥ ३४ ॥ अस्ति वा द्वादशाङ्गादिपाठस्तज्ज्ञानमित्यपि । सम्यग्ज्ञानं तदेवैकं मोक्षाय च दृगात्मनः ॥ ३५ ॥ एवं सेम्यक् परिज्ञाय श्रद्धाय

विना सम्यग्दर्शनके ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है और चारित्र मिथ्याचारित्र कहलाता है क्योंकि दर्शनमोहनीय-कर्मका उदय सबको विपरीत स्वादवाला बना देता है इसीलिए मिथ्यादृष्टी पुरुष पूर्ण महाव्रत पालन करता हुआ भी मिथ्याचारित्रवाला अथवा सम्यक्चारित्रसे रहित कहलाता है ॥ ३३ ॥ किंतु सम्यग्दृष्टी पुरुषके उस दर्शनमोहनीयकर्मका अभाव हो जाता है इसलिए उसके पांचों अणुव्रत पांचों महाव्रत और बारह प्रकारका तप आदि सब आत्माका कल्याण करनेवाला होता है और परंपरासे मोक्ष प्राप्त करनेवाला होता है । भावार्थ—सम्यग्दृष्टी पुरुषके व्रत तप आदि सब कर्मकी निर्जरा और मोक्षके कारण होते हैं परंतु दर्शनमोहनीयकर्म-का उदय होनेसे मिथ्यादृष्टीके व्रत सब कर्मबंध करनेवाले होते हैं ॥ ३४ ॥ अथवा यों कहना चाहिये कि सम्य-ग्दृष्टी पुरुषके जो द्वादशांगका पाठ है अथवा उसका ज्ञान है वह सब सम्यग्ज्ञान कहलाता है और वह सम्यग्ज्ञान अकेला ही मोक्षका कारण होता है । भावार्थ—यद्यपि अकेले सम्यग्ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती तथापि उस सम्यग्ज्ञानके साथ सम्यग्दर्शन है और स्वरूपाचरणचारित्र है । इन तीनोंसे तथा इन तीनोंके साथ साथ होने-वाले क्रियारूप चारित्रसे उस सम्यग्ज्ञानीके असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है तथा अनुक्रमसे ज्ञान और चारित्रकी पूर्णता होनेपर मोक्ष प्राप्त होती है, इसप्रकार वह अकेला सम्यग्ज्ञान मोक्षका कारण होता है ॥ ३५ ॥ इसप्रकार उत्तम श्रावकोंको अच्छीतरह समझ कर और उसपर पूर्ण यथार्थ श्रद्धान रख कर इस लोक और परलोककी विभूतियोंको प्राप्त करनेके लिये व्रतोंका संग्रह अवश्य करना चाहिये । भावार्थ—अणुव्रत महाव्रत आदि व्रतोंका पालन अवश्य करना चाहिये । व्रतोंके पालन करनेसे ही इस लोकसम्बन्धी और परलोकसम्बन्धी सुख प्राप्त होते हैं ॥ ३६ ॥ इसलिए सम्यग्दृष्टीको वा मिथ्यादृष्टीको, भव्य जीवको अथवा अभव्य जीवको सब-को अपनी शक्तिके अनुसार उत्तम व्रत अवश्य पालन करने चाहिये । भावार्थ—सम्यग्दृष्टी भव्य जीव व्रतोंको

श्रावकोत्तमैः । सम्पदर्थमिहामुत्र कर्तव्यो व्रतसंग्रहः ॥ ३६ ॥ सम्यग्दृशाऽथ मिथ्यात्वशालिनाप्यथशक्तितः । अभव्येनापि भव्येन कर्तव्यं व्रतमुत्तमम् ॥ ३७ ॥ यतः पुण्यक्रिया साध्वी क्वापि नास्तीह निष्फला । यथापात्रं यथायोग्यं स्वर्गभोगादिसत्फला ॥ ३८ ॥ पारंपर्येण केषांचिदपवर्गाय सत्क्रिया । पञ्चानुत्तरविमाने मुदे ग्रैवेयकादिषु ॥ ३९ ॥ केषांचित्कल्पवासादिश्रेयसे सागरावधि । भावनादित्रयेषूच्चैः सुधापानाय जायते ॥ ४० ॥ मानुषाणां च केषांचित्तीर्थंकरपदाप्तये ।

पालन करनेसे स्वर्गादिकोंके अनुपम सुख भोग कर मोक्ष प्राप्त करता है, भव्य मिथ्यादृष्टी जीव व्रतोंको पालन करनेसे सातिशय पुण्य प्राप्त करता है जिसके प्रभावसे दर्शनमोहनीयकर्मको शान्त करता हुआ सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। यदि व्रत पालन करनेवाला अभव्य मिथ्यादृटी हो तो भी वह नव ग्रैवेयकतक स्वर्गोंके सुख प्राप्त करता है। इससे सिद्ध होता है कि व्रत पालन करनेसे सबप्रकारसे सुख प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥ इसका भी कारण यह है कि पुण्य प्राप्त करनेवाली व्रतरूप श्रेष्ठ किया कभी निष्फल नहीं होती। व्रत पालन करनेवाला जैसा पात्र हो (सम्यग्दृष्टी हो वा मिथ्यादृष्टी हो) और जैसी योग्यता रखता हो (अणुवत पालन करता हो वा महाव्रत पालन करता हो) उसीके अनुसार उसे स्वर्गादिकके भोगोपभोगरूप उत्तम फल प्राप्त होते हैं। भावार्थ— व्रत पालन करनेसे स्वर्गादिकके सुख अवश्य प्राप्त होते हैं ॥ ३८ ॥ इन्हीं महाव्रतादिक व्रतरूप क्रियाओंके पालन करनेसे कितने ही जीवोंको परम्परासे मोक्ष प्राप्त हो जाती है अथवा नव ग्रैवयकोंके सुख वा विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सर्वार्थसिद्धि आदि पंच अनुत्तर विमानोंके सुख प्राप्त होते हैं ॥ ३९ ॥ अथवा कितने ही जीवोंको सोलह स्वर्गोंके सुख प्राप्त होते हैं। वहांपर वे सागरोंपर्यन्त इन्द्रियजन्य सुखोंका अनुभव करते रहते हैं और अमृतपान किया करते हैं तथा कितने ही जीव उन व्रतोंके प्रभावसे भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क देवोंमें उत्पन्न होकर अपनी आयुपर्यंत अमृत पान किया करते हैं ॥ ४० ॥ उत्तम व्रत पालन करनेवाले सम्यग्दृष्टी पुरुषोंको मनुष्यपर्यायमें भी तीर्थंकर पद प्राप्त होता है, चक्रवर्ती पद प्राप्त होता है अथवा अर्द्धचक्रवर्ती पद प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥ अथवा व्रत पालन करनेसे उत्तम भोगभूमिमें कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए उत्तमोत्तम सुख प्राप्त होते हैं। ऐसे ऐसे महाफलोंका प्राप्त होना वा अनुक्रमसे समस्त फलोंका प्राप्त होना आदि सब व्रत पालन करनेरूप

चक्रित्वार्यार्द्धचक्रित्वपदसंप्राप्तिहेतवे ॥ ४१ ॥ उत्तमभोगभूयूच्चैः सुखं कल्पतरूद्भवम् । एतत्सर्वमहं मन्ये श्रेयसः फलितं महत् ॥ ४२ ॥ सत्कुले जन्म दीर्घायुर्वपुर्गाढं-
निरामयम् । गृहेसम्पदपर्यंता पुण्यस्यैतत्फलं विदुः ॥ ४३ ॥ साध्वी भार्या कुलोत्पन्ना भर्तुश्छन्दानुगामिनी । सूनवः पितुराज्ञायाः मनागचलिताशयाः ॥ ४४ ॥
सधर्मभ्रातृवर्गाश्च सानुकूलाः सुसंहताः । स्निग्धाश्चानुचरा यावदेतत्पुण्यफलं जगुः ॥ ४५ ॥ जैनधर्मे प्रतीतिश्च संयमे शुभभावना । ज्ञानशक्तिश्च सूत्रार्थे गुरवश्चो-
पदेशकाः ॥ ४६ ॥ सधर्मिणः सहायाश्च स्पष्टाक्षरं वाकूपाटवम् । सौष्ठवं चक्षुरादीनां मनीषा प्रतिभान्विता ॥ ४७ ॥ सुयशः सर्वलोकेस्मिन् शरदिन्दुसमप्रभम् ।

श्रेष्ठ क्रियाओंका ही फल है ऐसा ग्रंथकार मानते हैं । भावार्थ—संसारमें जितने उत्तम उत्तम पद हैं वा उत्तम उत्तम सुख हैं वे सब व्रत पालन करनेसे ही प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥ श्रेष्ठ कुलमें जन्म होना, बडी आयुका प्राप्त होना, नीरोग और बलवान शरीर प्राप्त होना और घरमें अपार लक्ष्मीका प्राप्त होना आदि सब व्रत करनेसे प्राप्त हुए पुण्यका ही फल समझना चाहिए । भावार्थ—यह सब सुखकी सामग्री व्रतोंके पालन करनेसे ही होती है ॥ ४३ ॥ उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई, पतिके आज्ञानुसार चलनेवाली और अच्छे स्वभाववाली स्त्रीका प्राप्त होना पुण्यका ही फल समझना चाहिए । पिताकी आज्ञासे जिनका मन किंचित्मात्र भी चलायमान न हो अर्थात् जो पिताकी आज्ञाको पूर्ण रीतिसे पालन करते हों ऐसे पुत्रोंका प्राप्त होना भी पुण्यका फल कहा जाता है । अपने धर्मको अच्छी तरहसे पालन करनेवाले, अपने अनुकूल रहनेवाले और सब मिलकर इकट्ठे रहनेवाले ऐसे भाई बंधुओंका प्राप्त होना भी पुण्यका फल कहा जाता है तथा अपनेपर सदा प्रेम और भक्ति करनेवाले सेवकोंका प्राप्त होना भी पुण्यका फल कहा जाता है । इसप्रकार सुख देनेवाली सब कुटुंबकी सामग्रीका प्राप्त होना व्रत पालन करनेरूप पुण्यका फल कहा जाता है ॥ ४४-४५ ॥ जैनधर्ममें श्रद्धान होना, संयम धारण करनेके लिए शुभ भावनाओंका होना, सूत्रोंका वा समस्त जैनशास्त्रोंका अर्थ समझनेयोग्य वा दूसरोंको प्रतिपादन करनेयोग्य अपने ज्ञानकी शक्तिका प्राप्त होना, रत्नत्रयका उपदेश देनेवाले गुरुका सहवास प्राप्त होना, धर्मात्मा पुरुषोंका साथ होना अथवा धर्मात्मा पुरुषोंकी सहायता प्राप्त होना, स्पष्ट अक्षरोंका उच्चारण होना, वचनोंके कहनेकी चतुरता प्राप्त होना, नेत्र, नाक, कान आदि इंद्रियोंकी सुंदरता प्राप्त होना,

शासनं स्यादनुल्लंघ्यं पुण्यभाजां न संशयः ॥ ४८ ॥ विजयः स्यादरिध्वंसात्प्रतापस्तच्छिरोनतिः । दण्डाकर्षोऽप्यरिभ्यश्च सर्वं सत्पुण्यपाकतः ॥ ४९ ॥ चक्रित्वं सत्पुण्यं वा नहि पुण्यादृते क्वचित् । अकस्मादबलालाभो धनलाभोप्यचिन्तनात् ॥ ५० ॥ ऐश्वर्यं च महत्त्वं च सौहार्दं सर्वमान्यता । पुंण्यं विना न कस्यापि विद्याविज्ञानकौशलम् ॥ ५१ ॥ अथ किं बहुनोक्तेन त्रैलोक्येपि च यत्सुखम् । पुण्यायत्त हि तत्सर्वं किंचित्पुण्यं विना नहि ॥ ५२ ॥ तत्प्रसीदाधुना प्राज्ञ ! मद्वचः शृणु फामन । सर्वामयविनाशाय पिब पुण्यरसायनम् ॥ ५३ ॥ प्रोवाच फामनो नाम्ना श्रावकः सर्वशास्त्रवित् । पुण्यहेतौ परिज्ञाते तत्कर्तुमपि चोत्सहेत् ॥ ५४ ॥ शृणु

प्रतिभाशाली (अनेक प्रकारके तर्क वितर्क करनेवाली तीक्ष्ण) बुद्धिका प्राप्त होना, शरदऋतुके चंद्रमाके समान अत्यंत निर्मल और समस्त लोकमें व्याप्त होनेवाला सुयशका मिलना और जिसका कोई भी उल्लंघन न कर सके ऐसे शासनका (हुकूमत वा राज्यपदका) प्राप्त होना आदि सब पुण्यवान् पुरुषोंको ही प्राप्त होता है और निःसंदेह होता है। भावार्थ—ऐसे निर्मल परिणाम और सुखकी सामग्री सब अणुव्रत वा महाव्रतादिक पुण्य कार्योंके करनेसे ही प्राप्त होती है ॥ ४६-४८ ॥ बडे बडे महायुद्धोंमें समस्त शत्रुओंको नाश कर विजय प्राप्त करना, वे सब शत्रुराजा अपना मस्तक झुकाकर नमस्कार करने लगें ऐसा प्रताप प्राप्त होना और समस्त शत्रुराजाओंसे दंड वसूल करना अर्थात् समस्त शत्रुराजाओंको अपने आधीन कर उनसे कर और दंड लेना आदि सब श्रेष्ठ पुण्यके फलसे ही प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥ पुण्यकर्मके उदयके विना न तो कभी चक्रवर्तीपद प्राप्त होता है और न कभी श्रेष्ठ राजा होता है । अकस्मात् स्त्रीका प्राप्त हो जाना, बिना ही इच्छाके धनकी प्राप्ति हो जाना, ऐश्वर्य वा विभूतियोंका प्राप्त होना, बडप्पन प्राप्त होना, सबके साथ मित्रता प्राप्त होना, समस्त लोकमें माननीय उत्तम पद प्राप्त होना, श्रेष्ठ विद्या, विज्ञान और कुशलता प्राप्त होना आदि समस्त सुखकी सामग्री बिना पुण्यके किसीको भी प्राप्त नहीं होती है ॥ ५०-५१ ॥ बहुत कहनेसे क्या ? थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिए कि तीनों लोकोंमें जितना भी सुख है वह सब पुण्यकर्मके उदयसे ही प्राप्त होता है। बिना पुण्यके किंचित्मात्र भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता ॥ ५२ ॥ इसलिए हे बुद्धिमान् और विद्वान् फामन ! तू अब प्रसन्न हो और मेरी बात सुन । तू अब संसारसंबंधी समस्त रोगोंको (संसारके दुःखोंको) दूर करनेके लिए पुण्यरूपी रसायन पी

श्रावक ! पुण्यस्य कारणं वच्मि साम्प्रतम्। देशतो विरतिर्नाम्नाणुव्रतं सर्वतो महत् ॥ ५५ ॥ ननु विरतिशब्दोपि साकांक्षो व्रतवाचकः । केभ्यश्च कियन्मात्रम्यः कतिभ्यः सा वदाद्य नः ॥ ५६ ॥ हिंसायाः विरतिः प्रोक्ता तथा चानृत्यभाषणात् । चौर्याद्विरतिःख्याता स्यादब्रह्मपरिग्रहात् ॥ ५७ ॥ एभ्यो देशतो विरतिर्गृहियोग्य-मणुव्रतम । सर्वतो विरतिर्नाम मुनियोग्यं महाव्रतम् ॥ ५८ ॥ ननु हिंसात्वं किं नाम का नाम विरतिस्ततः । किं देशत्वं यथाम्नायाद्ब्रूहि मे वदतां वर ॥ ५९ ॥

भावार्थ–जिसप्रकार रसरूप औषधियोंसे समस्त रोग दूर हो जाते हैं उसीप्रकार व्रतोंके पालन करनेरूप पुण्यसे संसारके समस्त दुःख दूर हो जाते हैं ॥ ५३ ॥

कविराजकी यह बात सुनकर समस्त शास्त्रोंका जाननेवाला फामन नामका श्रावक कहने लगा कि पुण्यके कारणोंको जान लेनेपर हो तो कोई भी श्रावक उसके करनेके लिए तैयार हो सकता है। भावार्थ–पुण्यके कारण कौन कौन हैं सो बताना चाहिए ॥ ५४ ॥ इसके उत्तरमें कविराज कहने लगे कि हे श्रावकोत्तम फामन ! सुन। मैं अब आगे पुण्यके कारणोंको बतलाता हूं । (पांचों पापोंका) एकदेश त्याग करना अणुव्रत है और (उन्हीं पांचों पापोंका) पूर्णरीतिसे त्याग करना महाव्रत है ॥ ५५ ॥

कविराजका यह उपदेश सुनकर फामन कहने लगा कि व्रतोंको कहनेवाला यह विरति शब्द सापेक्ष है। सो पहले तो यह बताना चाहिये कि किनका त्याग करना चाहिये, कितना त्याग करना चाहिये और कितनेका त्याग करना चाहिये। यह सब आज बतलाना चाहिये ॥ ५६ ॥ कविराज कहने लगे कि हिंसाका त्याग करना चाहिये, झूठ बोलनेका त्याग करना चाहिये, चोरीका त्याग करना चाहिये, अब्रह्म वा कुशीलका त्याग करना चाहिये और परिग्रहका त्याग करना चाहिये ॥ ५७ ॥ इन पांचों पापोंका एकदेश त्याग करना सो गृहस्थोंके धारण करने योग्य अणुव्रत कहलाता है तथा इन्हीं पांचों पापोंको पूर्णरीतिसे त्याग करना सो मुनियोंके धारण करने योग्य महाव्रत कहलाता है ॥ ५८ ॥

कविराजका यह उपदेश सुनकर फामन फिर पूछने लगा कि हिंसा किसको कहते हैं, विरति शब्दका क्या अर्थ है और एकदेश किसको कहते हैं। हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! आचार्य परम्परासे चला आया इनका लक्षण मुझे

हिंसा प्रमत्तयोगाद्वै यत्प्राणव्यपरोपणम्। लक्षणाल्लक्षितेना सूत्रे लक्षशः पूर्वसूरिभिः ॥६०॥ प्राणाः पंचेंद्रियाणीह वाग्मनोङ्गबलत्रयम्। निःश्वासोच्छ्वाससंज्ञः स्यादायुरेकं दशेति च ॥ ६१ ॥ उक्तं च। पंचवि इंदिय पाणा मणवचकायेण तिण्णिबल पाणा। आणपाणप्पाणा आउगपाणेण हुंति दह पाणा ॥ एकाक्षे तत्र चत्वारो द्वींद्रियेषु षडेव ते। त्र्यक्षे सप्त चतुराक्षे विद्यन्तेष्टौ यथागमात् ॥ ६२ ॥ नवासंज्ञिनि पञ्चाक्षे प्राणाः संज्ञिनि ते दश। मत्त्वेति किल स्वस्थैः कर्तव्यं प्राणरक्षणम्

बतलाइये ॥ ५९ ॥ इस प्रश्नके उत्तरमें कविराज कहने लगे कि प्रमादके योगसे प्राणोंका व्यपरोपण करना कषायके निमित्तसे प्राणोंका वियोग करना हिंसा है। पहलेके आचार्योंने शास्त्रोंमें इस हिंसाका स्वरूप अनेकप्रकार बतलाया है ॥ ६० ॥ स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रियां, मनोबल, बचनबल और कायबल ये तीन बल श्वासोच्छ्वास और आयु ये दश प्राण कहलाते हैं ॥ ६१ ॥ सो ही लिखा है—

पंचवि इंदिय पाणा मणबचकायेण तिण्णिबल पाणा। आणपाणप्पाणा आउगपाणेण हुंति दह पाणा ॥

अर्थ—पांचों इंद्रियां प्राण हैं, मन, बचन, काय ये तीनों बल प्राण हैं, श्वासोच्छ्वास प्राण है और आयु प्राण है। इसप्रकार दश प्राण हैं ॥ १ ॥

इन प्राणोंमेंसे वृक्षादिक वा पृथ्वीकायादिक एकेन्द्रिय जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रियप्राण, दूसरा कायबलप्राण, तीसरा श्वासोच्छ्वासप्राण और चौथा आयुप्राण इसप्रकार चार प्राण होते हैं। लट, शंख आदि दो इंद्रिय जीवोंके छह प्राण होते हैं। स्पर्शन रसना दो इंद्रियप्राण, कायबल बचनबल दो बलप्राण, आयु और श्वासोच्छ्वास ये छह प्राण होते हैं। चींटी चींटा खटमल आदि ते इंद्रिय जीवोंके सात प्राण होते हैं। स्पर्शन रसना घ्राण ये तीन इंद्रियां, कायबल बचनबल ये दो बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। भौंरा, मक्खी आदि चौ इंद्रिय जीवोंके आठ प्राण होते हैं। स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु ये चार इंद्रियां, कायबल बचनबल, आयु और श्वासोच्छ्वास। पानीके सर्प आदि असैनी पंचेंद्रिय जीवोंके नौ प्राण होते हैं। स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु कर्ण ये पांचों इंद्रियां, कायबल, बचनबल, आयु और श्वसोच्छ्वास। मनुष्य, स्त्री, गाय, भैंस, कबूतर, चिडिया आदि सैनी पंचेन्द्रिय जीवोंके मन भी होता है इसलिये उनके दशों प्राण होते हैं। इसप्रकार इन जीवोंके प्राण होते हैं। यह सब समझ कर गृहस्थ लोगोंको प्राणोंकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ६२-६३ ॥ यहांपर प्राण शब्दसे एकेन्द्रिय वा दो इन्द्रिय आदि जीव समझने चाहिये।

॥ ६३ ॥ अत्रैकाक्षादिजीवाः स्युः प्राणशब्दोपलक्षणात् । प्राणादिमत्त्वं जीवस्य नेतरस्य कदाचन ॥ ६४ ॥ प्रसङ्गादत्र दिङ्मात्रं वाच्यं प्राणिनि कायकम् । तत्स्वरूपं परिज्ञाय तद्रक्षा कर्तुमर्हति ॥ ६५ ॥ सन्ति जीवसमासास्ते संक्षेपाच्च चतुर्दश । व्यासादसंख्यमेदाश्च सन्त्यनन्ताश्च भावतः ॥ ६६ ॥ तत्र जीवो महीकायः सूक्ष्मः स्थूलश्च स द्विधा । पर्याप्तापर्याप्तकाभ्या मेदाभ्यां स द्विधाथवा ॥ ६७ ॥ प्रत्येकं तस्य मेदाः स्युश्चत्वारोपि च तद्यथा । शुद्ध भू भूमिजीवश्च भूकायो भूमिकायिकः ॥ ६८ ॥ शुद्धा प्राणोज्झिता भूर्मियथा स्याद्दग्धमृत्तिका । भूजीवोऽवैत्र भूमौ यो द्रागेष्यति गत्यन्तरात् ॥ ६९ ॥ भूरेव यस्य कायोस्ति यद्वानन्यगति-

इसका भी कारण यह है कि संसारमें प्राणधारी जीव ही हैं, जीवोंके ही प्राण होते हैं। जीवोंके सिवाय अन्य किसी पदार्थके भी प्राण नहीं होते ॥ ६४ ॥ यहांपर अहिंसा वा जीवोंकी रक्षाका प्रकरण है इसलिये प्रसंग पा कर संक्षेपसे जीवोंके भेद बतलाते हैं क्योंकि जीवोंके भेदोंको और उनके स्वरूपको जान कर ही श्रावकलोग उन जीवोंकी रक्षा कर सकते हैं ॥ ६५ ॥ यदि जीवोंके अत्यन्त संक्षेपसे भेद किये जांय ती चौदह होते हैं। यदि समस्त जीवोंके विस्तारके साथ भेद किये जांय तो असंख्यात भेद होते हैं तथा यदि भावोंकी अपेक्षासे उन जीवोंके भेद किये जांय तो अनन्त भेद हो जाते हैं ॥ ६६ ॥ आगे चौदह जीवसमासोंको वा जीवोंके चौदह भेदोंको बतलाते हैं। जीवोंके मूल भेद दो हैं त्रस और स्थावर। उनमेंसे स्थावर जीव पांचप्रकारके हैं पृथ्वीकायिक जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और बनस्पतिकायिक। आगे सबसे पहले इन्हीं स्थावर जीवोंके भेद बतलाते हैं। पृथ्वीकायिक जीवोंके दो भेद हैं स्थूल और सूक्ष्म तथा इन दोनोंके भी दो दो भेद हैं एक पर्याप्तक और दूसरे अपर्याप्तक।

भावार्थ–पर्याप्तक स्थूल पृथ्वीकायिक, अपर्याप्तक स्थूल पथ्वीकायिक पर्याप्तक सूक्ष्म पृथ्वीकायिक और अपर्याप्तक सूक्ष्म पृथ्वीकायिक इसप्रकार पृथ्वीकायिकके चार भेद होते हैं।६७। इन चार भेदोंमेंसे भी प्रत्येकके चार चार भेद होते हैं। शुद्धपृथ्वी, पृथ्वीजीव, पृथ्वीकाय और पृथ्वीकायिक।६८। जो पृथ्वी प्राणरहित है उसको शुद्ध पृथ्वी कहते हैं जैसे जली हुई मिट्टी। जो जीव किसी दूसरी गतिसे पृथ्वीमें आनेवाला है अर्थात् जिसने अन्य गति छोड दी है दूसरी गतिका शरीर छोड दिया है और पृथ्वीकायिकमें उत्पन्न होनेवाला है जो पृथ्वीकायिकमें उत्पन्न होनेकेलिये

भुवः । भूशरीरस्तदात्वेस्य सभूकाय इत्युच्यते ॥ ७० ॥ भूकायिकस्तु भूमिस्थोऽन्यगतौ गन्तुमुत्सुकः । स समुद्घातावस्थायां भूकायिक इति स्मृतः ॥ ७१ ॥ एवमग्निजलादीनां भेदाश्चत्वार एव ते । प्रत्येकं चापि ज्ञातव्याः सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् ॥ ७२ ॥ सूक्ष्मकर्मोदयाज्जाताः सूक्ष्मा जीवा इतीरिताः । सन्त्यघातिशरीरास्ते वज्रा-

विग्रहगतिमें आ रहा है ऐसे जीवको पृथ्वीजीव कहते हैं ॥ ६९ ॥ पृथ्वी ही जिसका शरीर है अथवा जो पृथ्वीकायमें विद्यमान है, पृथ्वीकायके सिवाय जिसकी और कोई गति नहीं है अथवा पृथ्वीरूप शरीरको जो धारण कर रहा है उसको पृथ्वीकाय कहते हैं ॥७०॥ तथा जो जीव अभी पृथ्वीकायमें विद्यमान है परन्तु पृथ्वीकायकी गतिको छोडकर अन्य गतिमें जानेके लिए तैयार है तथा अन्य गतिमें जानेके लिए समुद्घात कर रहा है उसको पृथ्वीकायिक कहते हैं* ॥७१॥ इसीप्रकार जल अग्नि वायु और वनस्पतिके भी चार चार भेद समझने चाहिए अर्थात् जल, जलजीव, जलकाय और जलकायिक ये चार जलके भेद हैं। अग्नि, अग्निजीव, अग्निकाय और अग्निकायिक ये चार अग्निके भेद हैं। वायु, वायुजीव, वायुकायिक, वायुकाय ये चार वायुके भेद हैं। वनस्पति, वनस्पतिजीव, वनस्पतिकाय और वनस्पतिकायिक ये चार वनस्पतिके भेद हैं। इन सब भेदोंका स्वरूप भगवान सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके अनुसार जान लेना चाहिए ॥ ७२ ॥

इनमेंसे जो जीव सूक्ष्मनामकर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं उनको सूक्ष्म जीव कहते हैं। इन सूक्ष्म जीवोंका वज्र अग्नि, जल आदि किसी भी पदार्थसे कभी भी घात नहीं होता है। भावार्थ—सूक्ष्म जीव इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनका घात भी किसीसे नहीं हो सकता है। न वे वज्रसे कूटे जा सकते हैं, न अग्निसे जलते हैं और न जलमें डूबते हैं। सो ही लिखा है—

---

* ये पृथ्वीकायादिकके लक्षण गोमट्टसारके लक्षणोंसे कुछ भिन्नता रखते हैं। गोमट्टसारमें लिखा है।

पुढवी पुढवीकाओ पुढवीकाइय य पुढवि जीवोय । साहारणोपमुक्को सरीर गहिदो भवंतरि दो ॥

अर्थात्—पृथ्वी पृथ्वीकाय पृथ्वीकायिक और पृथ्वीजीव ये चार भेद हैं। साधारण पृथ्वीको पृथ्वी कहते हैं। जिसको पृथ्वीकायिक जीव छोड़ जाते हैं ऐसी जली हुई मिट्टी आदिको पृथ्वीकाय कहते हैं। जिन जीवोंने पृथ्वी को ही शरीर बना रक्खा है उनको पृथ्वीकायिक कहते हैं। जो जीव पृथ्वीकायिकमें उत्पन्न होनेवाले हैं उनको पृथ्वीजीव कहते हैं। ऐसा गोमट्टसारमें लिखा है।

नलजलादिभिः ॥ ७३ ॥ उक्तं च। णहि जेसिं पडिखलणं पुढवीतारहि अग्गिवारहिं। ते हुंति सुहुमकाया इयरे पुण थूलकाया य ॥ २ ॥ स्थूलकर्मोदयाज्जाताः स्थूला जीवाः स्वलक्षणात्। सन्ति घातिशरीरास्ते वज्रानलजलादिभिः ॥ ७४ ॥ उक्तं च। घादिसरीरा थूला अघादिसरीरा हवे सुहमा। किञ्च स्थूलशरीरास्ते

णहि जेसिं पडिखलणं पुढवीतारहि अग्गिवारहिं। ते हुंति सुहुमकाया इयरे पुण थूलकायाय ॥

अर्थ–पृथ्वी तारे अग्नि जल आदि किसी भी पदार्थसे जिनका परिस्खलन नहीं होता अर्थात् जो न तो पृथ्वीसे रुकते हैं न तारोंसे टक्कर खाते हैं न अग्निमें जलते हैं और न जलसे बहते हैं उनको सूक्ष्म जीव कहते हैं तथा जो जीव पृथ्वीसे रुक जाते हैं, तारोंसे टकराते हैं, अग्निसे जल जाते हैं और पानीमें बह जाते हैं उनको स्थूलकाय वा स्थूल शरीरको धारण करनेवाले जीव कहते हैं ॥ २ ॥

जो जीव स्थूलनामके नामकर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं उनको स्थूल जीव कहते हैं क्योंकि स्थूलका जो लक्षण है वह उनमें अच्छीतरह संघटित होता है तथा वज्र अग्नि जल आदिसे उन जीवोंका शरीर घाता जाता है। भावार्थ–स्थूल जीव वज्रकी चोटसे मर जाते हैं, अग्निमें जल जाते हैं और जलसेबह जाते हैं इसप्रकार स्थूल जीवोंका शरीर कारण मिलनेपर घाता जाता है। जिनका शरीर कारण मिलनेसे रुक जाय या दूसरोंको रोक दे उन्हींको स्थूल कहते हैं। स्थूल जीवोंका यही लक्षण है ॥ ७४ ॥ सो ही लिखा है—

घादि सरीरा थूला अघादि सरीरा हवे सुहमा।

अर्थात्–स्थूल जीव उनको कहते हैं जिनका शरीर घाता जाय और सूक्ष्म जीव उनको कहते हैं जिनका शरीर किसीसे भी न घाता जाय। इसप्रकार स्थूल और सूक्ष्म दोनोंप्रकारके जीवोंका लक्षण बतलाया। इसमें भी इतना भेद है कि जो स्थूल शरीरको धारण करनेवाले जीव हैं वे सब जगह नहीं हैं किन्तु कहीं कहींपर किसी न किसीके आश्रय रहते हैं तथा जो सूक्ष्म जीव हैं वे इन तीनों लोकोंमें सब जगह इसप्रकार भरे हुए हैं जैसे घडे में घी भरा रहता है। भावार्थ–जिसप्रकार घडेमें घी भर देनेसे उस घडेमें कोई जगह खाली नहीं रहती, उस घडे- २२८
में कोई ऐसा स्थान खाली नहीं रहता जिसमें घी न हो उसीप्रकार सूक्ष्म जीव तीनों लोकोंमें सब जगह भरे हुए

क्वचिच्च क्वचिदाश्रिताः । सूक्ष्मकायास्तु सर्वत्र त्रैलोक्ये घृतवद्घटे ॥ ७५ ॥ उक्तं च । आधारधरा पढमा सव्वत्थ णिरंतरा सुहमा ॥ प्रत्येकं ते द्विधा प्रोक्ताः केव-

हैं। तीनों लोकोंमें कोई ऐसी जगह खाली नहीं है जहांपर सूक्ष्म जीव न भरे हों परन्तु स्थूल जीव सब जगह नहीं है वे कहीं कहीं पर हैं और किसी न किसीके आधारपर रहते हैं। स्थूल जीव निराधार नहीं रहते, सूक्ष्म जीव निराधार रहते हैं। सूक्ष्म जीवोंको आधारकी आवश्कता नहीं है क्योंकि वे अत्यन्त सूक्ष्म हैं और तीनों लोकोंमें सब जगह भरे हुए है ॥ ७५ ॥ सो ही लिखा है।

आधारधरा पढमा सव्वत्थ णिरन्तरा सुहमा।

अर्थात् स्थूल जीव किसीके आधारपर रहते हैं और सूक्ष्म जीव इन तीनों लोकोंमें सब जगह और सदैव भरे रहते हैं।

अब आगे इनके पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक भेद बतलाते हैं। केवल ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले भगवान् अरहन्तदेवने उन स्थूल और सूक्ष्म दोनोंप्रकारके जीवोंमेंसे प्रत्येक जीवके दो दो भेद बतलाये हैं। एक पर्याप्तक और दूसरे अपर्याप्तक। भावार्थ—स्थूल जीवोंके भी पर्याप्तक और अपर्याप्तक दो भेद हैं तथा सूक्ष्म जीवोंके भी पर्याप्तक अपर्याप्तक दो भेद हैं। आगे पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनोंका लक्षण कहते हैं ॥७६॥ जो जीव दैवयोगसे वा आयु पूर्ण हो जानेसे किसी भी एक गतिको छोड कर दूसरी किसी भी गतिमें आकर उत्पन्न होता है तब वह जीव वहांपर शरीर धारण करनेका प्रयत्न करता है तथा पर्याप्तकनामा नामकर्मके उदयसे और सबतरहकी विघ्नबाधाओंके अभाव होनेसे वह जीव शरीर बननेके लिये प्राप्त हुई पुद्गलवर्गणाओंमें शरीर बननेकी शक्ति उत्पन्न करता है। जब उसकी वह शरीर बननेकी शक्ति पूर्ण हो जाती है तबसे वह पर्याप्तक कहलाता है और अपनी आयुपर्यंत पर्याप्तक ही रहता है। भावार्थ—पर्याप्ति शब्दका अर्थ पूर्णता है, शरीरकी पूर्णताको ही पर्याप्ति कहते हैं, जिस जीवके वह पर्याप्ति पूर्ण हो गई हो उसको पर्याप्तक कहते हैं। पर्याप्ति छह हैं। आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन। जब यह जीव एक गतिसे दूसरी गतिमें आकर

उत्पन्न होता है तब वहांपर उसे शरीर बननेकी सामग्री पहले ही से तैयार मिलती है, जैसे यदि कोई जीव मनुष्यगतिमें आ कर उत्पन्न हुआ है तो उसे माताके उदरमें माताका रज और पिताका वीर्य इन दोनोंका मिला हुआ पिण्ड तैयार मिलता है, उसीमें यह जीव आ कर उत्पन्न होता है। वहांपर उत्पन्न होते ही उसकी छहों पर्याप्ति प्रारम्भ हो जाती हैं। वे छहों पर्याप्ति अन्तर्मुहूर्तमें समाप्त हो जाती हैं तथा उनकी समाप्ति क्रमसे होती है। प्रत्येक पर्याप्तिके समाप्त होनेमें एक छोटा अन्तर्मुहूर्त लगता है सबसे पहले आहारपर्याप्ति समाप्त होती है। वह जीव विग्रहगतिसे आ कर जो उस पिण्डमें आ जाता है वही उसका आहार है क्योंकि यह जीव विग्रहगतिको छोड कर कभी अनाहारक नहीं रहता, इसप्रकार जो वह जीव आहार ग्रहण कर लेता है इसीको आहारपर्याप्ति कहते हैं। इसके बाद वह जीव उस रजोवीर्यके पिडमें खलरसभाग बनानेका प्रयत्न करता है। इस शरीरमें दो भाग हैं एक हड्डी नसें आदि कठिनरूप भाग है और दूसरा रुधिर आदि रसरूप पतला भाग है। कठिन भागको खलभाग कहते हैं और नरम वा पतले भागको रसभाग कहते हैं। उस रजोवीर्यके पिण्डमें आ कर वह जीव उस पिण्डमें कुछ भागको तो कठिनभाग वा खलभाग बनानेका प्रयत्न करता है और उसके कुछ भागको रसभाग बनानेका प्रयत्न करता है। जब उस पिण्डमें खलभाग और रसभाग बननेकी शक्ति उत्पन्न हो जाती है तब उसको शरीरपर्याप्तकी पूर्णता कहते हैं अर्थात् उस पिण्डमें खलरसभागरूप शरीर बननेकी शक्ति उत्पन्न हो जाना ही शरीरपर्याप्तिकी पूर्णता हो जाना है। यह इतना सब कार्य एक छोटे अन्तर्मुहूर्तमें हो जाता है। जब यह जीव अपनी शरीरपर्याप्तिको पूर्ण कर लेता है तभीसे यह जीव पर्याप्तक कहलाता है तथा जबतक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तबतक अपर्याप्तक कहलाता है। इस जीवकी छहों पर्याप्ति अन्तर्मुहूर्तमें ही पूर्ण हो जाती हैं और शरीरपर्याप्ति छोटे ही अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण हो जाती है इसलिये यह जीव छोटे अन्तर्मुहूर्ततक तो अपर्याप्त रहता है और फिर शरीरपर्याप्ति पूर्ण होनेके बादसे लेकर जन्मपर्यंत पर्याप्तक ही रहता है।

उदयात्पर्याप्तकस्य कर्मणो हेतुमुत्तरात्। सम्पूर्णं वपुरादत्ते निष्प्रत्यूहतयासुमान्॥ ७८॥ अपर्याप्तकजीवस्तु नारनुते वपुःपूर्णताम्। अपर्याप्तकसंज्ञस्य तद्विपक्षस्य

शरीर पर्याप्ति पूर्ण होनेपर फिर उस पिण्डमें इंद्रिय बननेकी शक्ति उत्पन्न होती है और यह एक छोटे अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण हो जाती है। इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद श्वासोच्छ्वास लेनेकी शक्ति उत्पन्न होती है और वह अन्तर्मुहूर्तमें ही समाप्त हो जाती है। इसके बाद अन्तर्मुहूर्तमें ही भाषापर्याप्ति अर्थात् भाषावर्गणा प्रगट होनेकी शक्ति समाप्त हो जाती है और अन्तमें मनःपर्याप्ति अर्थात् मन बननेकी शक्ति पूर्ण हो जाती है। इस-प्रकार इन छहों पर्याप्तियोंका स्वरूप है।

इसमें भी इतना विशेष है कि अपर्याप्तकके दो भेद हैं एक लब्ध्यपर्याप्तक और दूसरा निर्वृत्यपर्याप्तक। जिसके अपर्याप्तकनामा नामकर्मका उदय होता है वह लब्ध्यपर्याप्तक कहलाता है। ऐसा जीव शरीरपर्याप्ति पूर्ण होनेके पहले ही मर जाता है अर्थात् वह क्षुद्रभव धारण करनेवाला जीव होता है और उसकी आयु एक श्वास-के अठारहवें भागकी होती है अर्थात् वह एक श्वासमें अठारह वार मरता है और अठारह बार जन्म लेता है और इसप्रकार महादुख भोगता रहता है। दूसरा जो निर्वृत्यपर्याप्तक होता है वह होता तो है पर्याप्तकनामा नाम कर्मके उदयसे और इसीलिए वह नियमसे पर्याप्तक अवस्था धारण करता है परंतु पर्याप्तक अवस्था अंतर्मुहूर्तमें होती है अतएव जन्मसे लेकर अर्थात् उस रजोवीर्यके पिंडमें आनेके समयसे लेकर जबतक पर्याप्तक अवस्था धारण नहीं करता तबतक वह अपर्याप्तक ही कहलाता है। ऐसे अपर्याप्तकको निर्वृत्यपर्याप्तक कहते हैं और वह पर्याप्तक अवस्था नियमसे धारण करता है॥ ७८॥ अपर्याप्तक जीवके अपर्याप्तकनामके नामकर्मका उदय होता है। यह अपर्याप्तक नामकर्म पर्याप्तक नामकर्मका विरोधी है। उसी पर्याप्तकनामा नामकर्मके विरोधी अपर्याप्तकनामा नामकर्मके उदयसे यह जीव शरीर बननेकी शक्तिको पूर्ण नहीं कर पाता है। शरीर बननेकी शक्ति पूर्ण होनेके पहले ही आयु पूर्ण हो जानेके कारण मर जाता है ऐसे जीवको अपर्याप्तक कहते हैं॥ ७९॥ इस अपर्याप्तक जीवकी आयु एक श्वासके अठारहवें भाग प्रमाण होती है। यही उसकी जघन्य आयु है और

पाकतः ॥ ७९ ॥ अष्टादशैकभागेस्मिन् श्वासस्यैकस्य मात्रया . ...! जघन्यं स्यादुत्कृष्टं तावदेव हि ॥ ८० ॥ क्षुद्रभवायुरेतद्वा सर्वजघन्यमागमात्। तद्वदायु-

यही उत्कृष्ट आयु है। भावार्थ—एक श्वास लेनेमें जितना समय लगता है उसके अठारह भाग किये जांय, उसमेंसे एक भागका जितना समय है उतनी ही आयु अपर्याप्तक जीवकी होती है। उसमें उत्कृष्ट जघन्यका भेद नहीं होता ॥ ८० ॥ शास्त्रोंमें बतलाया है कि यह आयु सबसे जघन्य आयु है और क्षुद्रभव धारण करने-वालोंकी होती है। इसप्रकारकी आयुको धारण करनेवाले अर्थात् क्षुद्रभव धारण करनेवाले जीव अत्यंत दुखी होते हैं ॥ ८१ ॥ लिखा भी है।

तिण्णिसयाछत्तीसाछावट्ठिसहस्सवार मरणाइं। अंतोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥

अर्थ—यह जीव अपर्याप्तनामकर्मके उदयसे एकेन्द्रियादि सत्रह स्थानोंमें एक अंतर्मुहूर्त समयमें छया-सठ हजार तीनसौ छत्तीस बार जन्ममरण करता है और इतने ही क्षुद्रभव धारण करता है। इसका भी विशेष स्वरूप इसप्रकार है। दो इन्द्रियोंके भव ८०। तेइन्द्रियके ६०। चौ इन्द्रियके ४०। पंचेन्द्रियके २४। इन पंचेंद्रियके २४ भवोंमें भी तीन भाग हैं। तहां मनुष्योंमें लब्ध्यपर्याप्तकके भव ८ संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके भव ८ तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके भव ८। इसप्रकार त्रस जीवोंके सब मिलाकर २०४ जन्ममरण होते हैं। तथा पृथ्वीकायिक जलकायिक अग्निकायिक वायुकायिक और साधारण वनस्पतिकायिक इन पांचोंके स्थूल और सूक्ष्मके भेदसे दश भेद होते हैं तथा प्रत्येक वनस्पतिका एक स्थूल ही भेद होता है इसके दो भेद नहीं होते। ये सब ग्यारह भेद होते हैं। इनमें प्रत्येकके छह हजार बारह बारह जन्ममरण होते हैं अतएव ग्यारह-प्रकारके स्थावर जीवोंके छ्यासठ हजार एकसौ बत्तीस जन्ममरण होते है। इनमें पहलेके त्रस जीवोंके छह स्थानोंके २०४ जन्ममरण मिला देनेसे सब मिल कर ६६३३६ जन्ममरण हो जाते हैं। ये सब संसारी जीवोंके क्षुद्र भव हैं, इसप्रकार एक श्वासके अठारहवें भाग आयुके प्रमाणसे एक अन्तर्मुहूर्तमें सत्रह स्थानोंमें यह संसारी जीव मिथ्यात्वके उदयसे सर्वोत्कृष्ट क्षुद्रभव ६६३३६ धारण करता है।

विंशिष्टास्ते जीवाश्चातीव दुःखिताः ॥८१॥ उक्तं च । तिण्णिसयाछत्तीसाछावट्ठिसहस्सवार मरणाइ । अंतोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥ अत्रापर्याप्तशब्देन लब्ध्यपर्याप्तको मतः । अपर्याप्तकजीवस्तु स्यात्पर्याप्तक एव हि ॥ ८२ ॥ एवं ज्ञेयं जलादीनां लक्षम नो देशितं मया । ग्रन्थगौरवमीतेर्वा पुनरुक्तभयादपि ॥ ८३ ॥ किंचिद्भूम्यादिजीवानां चतुर्णां प्रोक्तलक्षणाम् । धातुचतुष्कमेतेषां संज्ञास्याज्जिनशासनात् ॥ ८४ ॥ अथ धातुचतुष्काज्ञाः सम्भवन्त्यप्रतिष्ठिताः । साधारणनिगोतांगैस्तैर्वनस्पतिकायिकैः ॥ ८५ ॥ उक्तं च । पुढवी आइचउण्ह तित्थयराहारदेवणिरयंगा । अपदिट्ठिदा णिगोदैं पदिट्ठिदंगा हवे सेसा ॥ किन्तु धातुचतुष्कस्य

यहांपर अपर्याप्त शब्दसे लब्ध्यपर्याप्तक समझना चाहिए क्योंकि जो निर्वृत्यपर्याप्तक है वह तो नियमसे पर्याप्तक होता ही है अथवा निर्वृत्यपर्याप्तकको पर्याप्तक ही समझना चाहिए, क्योंकि उसके पर्याप्तिनामा नामकर्मका उदय रहता है अपर्याप्तिनामा नामकर्मका उदय नहीं रहता ॥८२॥ जिसप्रकार ये पृथ्वीकायके भेद बतलाए हैं उसीप्रकार जलकायिक अग्निकायिक वायुकायिक वनस्पतिकायिकके भी भेद समझ लेना चाहिए। ग्रंथ बढ जानेके भयसे अथवा पुनरुक्त दोषके भयसे हमने उन सबका लक्षण जुदा जुदा नहीं कहा है ॥ ८३ ॥ जिनका लक्षण ऊपर कहा जा चुका है ऐसे पृथ्वी जल अग्नि वायु इन चारोंकी ही जैनशास्त्रोंमें धातुसंज्ञा कही गई है ॥ ८४ ॥ ये चारों ही धातु अप्रतिष्ठित होते हैं। इनमें वनस्पतिकायिकके साधारण निगोदिया जीव नहीं रहते। भावार्थ—जिसप्रकार आलू, अरवी, गाजर, मूली आदिमें निगोदिया अनंत जीव भरे रहते हैं जैसा कि दूसरे सर्गके ७९ वें श्लोकके आगे तीन गाथाओं द्वारा बतलाया है वैसे अनंतानंत निगोदिया जीव इन पृथ्वी जल अग्नि वायुमें नहीं रहते ॥८५॥ सो ही लिखा है—

पुढवी आइचउण्हं तित्थयराहारदेवणिरयंगा । अपदिट्ठिदा णिगोदैं पदिट्ठिदंगा हवे सेसा ॥

अर्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, तीर्थंकरोंका शरीर, आहारक शरीर, देवोंका शरीर और नारकियोंका शरीर इन आठ स्थानोंमें निगोदिया जीव नहीं रहते हैं । इनके सिवाय बाकी जीवोंके शरीर निगोदराशिसे भरे हुए प्रतिष्ठित समझने चाहिए ॥ १ ॥

इसप्रकार यद्यपि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चारों धातुओंमें निगोदिया जीव नहीं रहते तथापि इन चारों

पिण्डे सूच्यग्रमात्रके । एकाक्षाः सन्त्यसंख्याता नानन्ता नापिसंख्यकाः ॥ ८६ ॥ अयमर्थः पृथिव्यादिकाये यत्नो विधीयताम् । तद्घातपरित्यागवृत्तभावेपि श्रावकैः ॥ ८७ ॥ अनन्तानन्तजीवास्तु स्युर्वनस्पतिकायिकाः । पूर्ववत्तेपि सूक्ष्माश्च बादराश्चेति भेदतः ॥८८॥ पर्याप्तपर्याप्तकाश्च प्रत्येकं चेति ते द्विधा । प्रत्येकाः साधार-

ही धातुओंका पिंड जितना सुईके अग्रभागपर आता है उतने धातुओंके पिंडमें असंख्यात एकेंद्रिय जीव होते हैं। उन जीवोंकी संख्या न तो संख्यात होती है और न अनंत होती है किंतु असंख्यात ही होती है। भावार्थ—सुईके नोकपर जितनी मिट्टी आ सकती है उसमें असंख्यात पृथ्वीकायिक जीव होते हैं। इसीप्रकार सुईकी नोकपर जितना पानी आता है उसमें असंख्यात जलकायिक जीव होते हैं। सुईकी नोकपर जितनी अग्नि आती है उसमें असंख्यात अग्निकायिकके जीव होते हैं। सुईकी नोकपर जितना वायु आता है उसमें असंख्यात वायुकायिक जीव होते हैं॥ ८६ ॥ इस सबके कहनेका अभिप्राय यह है कि यद्यपि श्रावकोंके स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं होता तथापि उनको पृथ्वीकायिकादि जीवोंकी रक्षाका प्रयत्न अवश्य करते रहना चाहिए। भावार्थ—श्रावकोंके अणुव्रत होते हैं। अणुव्रतोंमें त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग होता है, स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग पूर्णरीतिसे नहीं होता तथापि श्रावकोंको अधिक जल फैलाकर जलकायिक जीवोंकी अधिक हिंसा नहीं करनी चाहिए। व्यर्थ ही मिट्टी खोद कर पृथ्वीकायिक जीवोंकी अधिक हिंसा नहीं करनी चाहिए। व्यर्थ ही अग्नि जला कर अग्निकायिक जीवोंकी अधिक हिंसा नहीं करनी चाहिए। अधिक वायु झकोरकर वायुकायिक जीवोंकी अधिक हिंसा नहीं करनी चाहिए। इसप्रकार इन चारों धातुओंके जीवोंकी रक्षा श्रावकोंको सदा करते रहना चाहिए॥ ८७ ॥

वनस्पतिकायिक जीव अनन्तानन्त होते हैं तथा उनके भी पहलेके समान स्थूल और सूक्ष्म ऐसे दो भेद होते हैं॥ ८८ ॥ इनमें भी प्रत्येकके दो दो भेद होते हैं। एक पर्याप्तक और दूसरा अपर्याप्तक। भावार्थ—पर्याप्तक स्थूल वनस्पतिकायिक, अपर्याप्तक स्थूल वनस्पतिकायिक, पर्याप्तक सूक्ष्म वनस्पतिकायिक, अपर्याप्तक सूक्ष्म वनस्पतिकायिक। इसप्रकार वनस्पतिकायिकके चार भेद हो जाते हैं। जैनशास्त्रोंमें इन सबके दो दो भेद

णाश्च विज्ञेया जैनशासनात् ॥ ८९ ॥ सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तानां च लक्षणम् । ज्ञातव्यं यत्प्रागत्रैव निर्दिष्टं नातिविस्तरात् ॥ ९० ॥ साधारणा निकोताश्च सन्त्येवैकार्थवाचकाः । घृतघटवद्यैः सूक्ष्मैर्लोकोयं संभृतोखिलः ॥ ९१ ॥ आधाराधेयहेतुत्वाद् बादराः स्युः क्वचित्क्वचित् । तेपि प्रतिष्ठिताः केचिन्निकोतैश्चाप्रतिष्ठिताः ॥ ९२ ॥ तैराश्रिता यथा प्रोक्ताः प्रागितो मूलकादयः । अनाश्रिता यथैतैश्च व्रीहयश्चणकादयः ॥ ९३ ॥ तत्रैकस्मिन् शरीरेपि सन्त्यनन्ताश्च प्राणिनः । प्रत्येकाश्च

बतलाए हैं । एक प्रत्येक और दूसरे साधारण ॥ ८९ ॥ इनमेंसे सूक्ष्म, बादर (स्थूल) पर्याप्तक और अपर्याप्तकोंका लक्षण पहले बता चुके हैं, इनका जो लक्षण पहले संक्षेपसे बतलाया है वही यहांपर समझ लेना चाहिये ॥९०॥ साधारण और निगोद ये दोनों ही शब्द एक ही अर्थको कहनेवाले हैं । जो निगोदका अर्थ है वही साधारणका अर्थ है । ऐसे सूक्ष्म निगोदिया जीवोंसे यह समस्त लोकाकाश इसप्रकार भरा हुआ है जैसे घीका घडा घीसे भरा रहता है । भावार्थ—जैसे घीसे भरे हुए घडेमें कोई ऐसी जगह खाली नहीं रहती जहां घी न हो उसीप्रकार इस समस्त लोकाकाशमें कोई ऐसी जगह खाली नहीं है जहां सूक्ष्म निगोदिया जीव न भरे हों, सूक्ष्म निगोदिया जीवोंसे यह समस्त लोकाकाश ठसाठस भरा हुआ है ॥ ९१ ॥ स्थूल वनस्पतिकायिक जीव इस लोकाकाशमें आधाराधेयरूपसे कहीं कहींपर रहते हैं । भावार्थ—स्थूल वनस्पतिकायिक इस लोकाकाशमें सब जगह नहीं हैं किंतु कहीं कहींपर हैं तथा वे किसी न किसीके आधार हैं । स्थूल जीव सूक्ष्म जीवोंके समान निराधार नहीं रहते किंतु किसी न किसीके आधारपर ही रहते हैं तथा वे स्थूल जीव अन्य कितने ही जीवोंके आधारभूत भी होते हैं । उन स्थूल जीवोंमेंसे कितने तो ऐसे हैं जो निगोदिया जीवोंसे भरे हुए प्रतिष्ठित हैं और कितने ही ऐसे हैं जो निगोदिया जीवोंसे रहित अप्रतिष्ठित हैं । भावार्थ—स्थूल जीवोंके दो भेद हैं प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित । जिनके आश्रय अनन्तानन्त निगोदिया जीव रहें उनको प्रतिष्ठित कहते हैं और जिनमें अनन्तानन्त निगोदिया जीव उत्पन्न न होते हों उनको अप्रतिष्ठित कहते हैं ॥ ९२ ॥ उन अनन्तानन्त निगोदिया जीवोंसे आश्रित रहनेवाले--अनन्तानन्त निगोदिया जीवोंसे भरे हुए वनस्पतिकायिक स्थूल जीव मूली अदरक आदिक हैं जिनका स्वरूप पहले दूसरे अध्यायमें अच्छीतरह बतला चुके हैं तथा जो अनन्तानन्त निगोदिया जीवोंसे

निकोताश्च नाम्ना सूत्रेषु सञ्चिताः ॥ ९४ ॥ उक्तं च । एय णिगोयसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा । सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥ फलमेतावदुक्तस्य तद्बोधस्याथवार्थतः । यत्नस्तद्रक्षणे कार्यः श्रावकैर्दुःखभीरुभिः ॥९५॥ उक्तमेकाक्षजीवानां संक्षेपाल्लक्षणं यथा । साम्प्रतं द्वीन्द्रियादीनां त्रसानां वच्मि लक्षणम्

आश्रित नहीं है अर्थात् जिनमें अनन्तानन्त निगोदिया जीव नहीं हैं वे एक स्थूल वनस्पतिकायिक गेहूं चना आदि हैं। भावार्थ–गेहूं चना आदि अप्रतिष्ठित हैं और मूली अदरक आलू आदि प्रतिष्ठित हैं ॥ ९३ ॥ उनमें जो प्रतिष्ठित हैं उनमें जो निगोदिया जीवोंके शरीर हैं उनमें एक एक शरीरमें अनन्तातन्त प्राणी रहते हैं। उनको शास्त्रोंमें प्रतिष्ठितप्रत्येक कहते हैं ॥ ९४ ॥ लिखा भी है–

एय णिगोयसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा । सिद्धे हि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥

अर्थ–निगोदिया जीवोंके एक शरीरमें जो अनंतानंत जीव होते हैं उनकी संख्या अनादिकालसे आजतक जितने सिद्ध हुए हैं उनकी संख्यासे अनंतगुणी है। भावार्थ–अनादिकालसे सिद्ध होते चले आ रहे हैं, उन सिद्धोंकी संख्या भी अनंतानंत है परन्तु एक निगोदिया शरीरमें जो जीव होते हैं उनकी संख्या उन सिद्धोंकी समस्त अनंतानंत संख्यासे भी अनन्तगुणी है। इतने जीव निगोदिया जीवके एक शरीरमें रहते हैं। इनका स्वरूप दूसरे सर्गमें अच्छीतरह कहा गया है ॥ १ ॥

इस सब कथनके कहनेका जाननेका और उसके अर्थको समझनेका यही फल है कि जो श्रावक संसारपरिभ्रमणके दुःखोंसे डरते हैं उनको इन समस्त जीवोंकी रक्षा करनेका प्रयत्न करना चाहिये। भावार्थ–ऊपर जो कुछ एकेन्द्रिय जीवोंका स्वरूप बतलाया है उन सबकी रक्षा करनेका प्रयत्न करना चाहिये। जो अनन्तकाय वनस्पति हैं उन सबका त्याग कर देना चाहिये तथा पृथ्वीकायिक आदि जीवोंको भी बिना प्रयोजनके नहीं सताना चाहिये। इन समस्त जीवोंकी रक्षा करना ही इस सब कथनके कहनेका फल है यही इस कथनको जान लेनेका फल है और यही इस ग्रन्थके अर्थ समझ लेनेका फल है। जीवोंकी रक्षाके सिवाय इस कथनके कहने जानने वा सुननेका और कोई फल नहीं है अतएव श्रावकोंको इनकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये ॥ ९५ ॥ इस-

॥ ९६ ॥ तल्लक्षणं यथा सूत्रे त्रसाःस्युर्द्वीन्द्रियादयः । पर्याप्तापर्याप्तकाश्च प्रत्येकं ते द्विधा मताः ॥ ९७ ॥ कृमयो द्वीन्द्रियाः प्रोक्तास्त्रीन्द्रियाश्च पिपीलिकाः । प्रसिद्धसंज्ञकाश्चैते भ्रमराश्चतुरिन्द्रियाः ॥ ९८ ॥ पंचेन्द्रिया द्विधा ज्ञेयाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनस्तथा । संज्ञिनस्तत्र पञ्चाद्याः देवनारकमानुषाः ॥ ९९ ॥ तिर्यंचस्तत्र पञ्चाक्षाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनस्तथा । प्रत्येकं ते द्विधा ज्ञेया सम्मूर्च्छिमाश्च गर्भजाः ॥ १०० ॥ लब्ध्यपर्याप्तकास्तत्र तिर्यंचो मनुजाश्च ये । असंज्ञिनो भवन्त्येव सम्मू-

प्रकार संक्षेपसे एकेन्द्रिय जीवोंका लक्षण बतलाया । अब आगे दोइंद्रिय तेइंद्रिय आदि त्रसजीवोंका लक्षण कहते हैं ॥ ९६ ॥

शास्त्रोंमें त्रसजीवोंका लक्षण 'द्वींद्रियादयस्त्रसाः' अर्थात्–'दो इंद्रियको आदि लेकर त्रस हैं' ऐसा कहा है । भावार्थ–त्रसनामा नामकर्मके उदयसे जो उत्पन्न होते हैं उनको त्रस कहते हैं । संसारमें जितने दोइंद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय और पंचेंद्रिय जीव हैं वे सब त्रस कहलाते हैं । उन सब त्रसजीवोंमेंसे प्रत्येकके दो दो भेद हैं एक पर्याप्तक और दूसरा अपर्याप्तक । भावार्थ–दोइंद्रिय जीव भी पर्याप्तक अपर्याप्तकके भेदसे दोप्रकार हैं, तेइंद्रिय जीव भी पर्याप्तक अपर्याप्तकके भेदसे दोप्रकार हैं, चौइंद्रिय जीव भी पर्याप्तक अपर्याप्तकके भेदसे दोप्रकार हैं और पंचेंद्रिय जीव भी पर्याप्तक अपर्याप्तकके भेदसे दोप्रकार हैं ॥९७॥ लट, गेंडुए आदि जीव दोइंद्रिय कहलाते हैं, चींटी,चींटा, खटमल आदि तेइंद्रिय जीव कहलाते हैं तथा भौंरा, मक्खी ततैया, वर्र, लेंप वा दीपकपर आनेवाले छोटे छोटे उडनेवाले जानवर सब चौइंद्रिय कहलाते हैं, ये सब जीव संसारमें प्रसिद्ध हैं ॥ ९८ ॥ पंचेंद्रिय जीवोंके दो भेद हैं एक सैनी और दूसरे असैनी । उनमेंसे देव, नारकी और मनुष्य सब सैनी पंचेंद्रिय कहलाते हैं ॥९९॥ संसारमें जितने पचेंद्रिय तिर्यंच हैं वे दोप्रकारके हैं एक सैनी और दूसरे असैनी । वे दोनों ही प्रकारके तिर्यंच दो दो प्रकारके हैं एक गर्भसे उत्पन्न होनेवाले गर्भज और दूसरे सम्मूर्च्छन । भावार्थ–सैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच भी दो प्रकारके हैं एक गर्भसे उत्पन्न होनेवाले सैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच और दूसरे जहांतहां अपनेआप उत्पन्न होनेवाले सम्मूर्च्छन सैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच । गाय भैंस कबूतर आदि गर्भज सैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच हैं और मेंढक आदि संमूर्च्छन सैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच हैं । इसीप्रकार असैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच भी सम्मूर्च्छन और गर्भजके भेदसे दो दोप्रकारके होते हैं । जैसे

र्च्छिमा न गर्भजाः ॥ १०१ ॥ इति सक्षेपतोप्यत्र जीवस्थानान्यचीकथत् । तत्स्वरूपं परिज्ञाय कर्तव्या करुणा जनैः ॥ १०२ ॥ व्यपरोपणं प्राणानां जीवाद्विश्लेषकारणम् । नाशकारणसामग्री सानिध्यं वा बहिष्कृतम् ॥ १०३ ॥ अर्थात्तज्जीवद्रव्यस्य नाशो नैवात्र दृश्यते । किन्तु जीवस्य प्राणेभ्यो वियोगो व्यपरोपणम् ॥१०४॥

कोई कोई पानीके सर्प सम्मूर्च्छन असैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच हैं और कोई कोई जंगली तोते गर्भज असैनी पंचेंद्रिय-तिर्यंच हैं ॥ १०० ॥ इनमें जो लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच हैं वे सब असैनी होते हैं और जो लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य हैं वे सब सम्मूर्च्छन होते हैं तथा लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच भी सम्मूर्च्छन ही होते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक चाहे तिर्यंच हों चाहे मनुष्य हों वे सब सम्मूर्छन ही होते हैं गर्भज नहीं होते। स्त्रियोंके कुच वा कांख आदि स्थानोंमें सम्मूर्च्छन मनुष्य उत्पन्न होते रहते हैं ॥ १०१ ॥ इसप्रकार अत्यंत संक्षेपसे जीवोंके स्थान बतलाए। इन सबका स्वरूप समझ कर श्रावकोंको इन समस्त जीवोंपर करुणा वा दया करनी चाहिए ॥ १०२ ॥

अब आगे व्यपरोपण शब्दका अर्थ बतलाते हैं। जीवसे उसके प्राणोंको अलग करना वियोग करना व्यपरोपण कहलाता है अथवा प्राणोंके नाश करनेकी सामग्रीका इकट्ठा करना अथवा प्राणोंको जीवसे सर्वथा अलग कर देना व्यपरोपण है। भावार्थ—जीवोंके दश प्राण पहले बता चुके हैं। उन प्राणोंका जीवसे अलग कर देना प्राणोंका व्यपरोपण अथवा हिंसा कहलाती है अथवा उन प्राणोंके वियोग करनेकी सामग्री मिला देना भी हिंसा ही कहलाती है जैसे किसीके भोजनमें विष मिला देना भी हिंसा ही कहलाती है क्योंकि उससे उसके प्राण अवश्य नष्ट हो जाते हैं ॥ १०३ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि इस संसारमें जीवद्रव्यका तो नाश कभी होता ही नहीं है किंतु जीवद्रव्यसे उसके वर्तमान आयु, श्वासोच्छ्वास आदि प्राणोंका वियोग हो जाता है। इसीको प्राणोंका व्यपरोपण वा हिंसा कहते हैं ॥ १०४ ॥

कदाचित् यहांपर कोई यह शंका करे कि प्राणोंका वियोग होना भी अनित्य है, होता ही रहता है। भावार्थ - प्राणोंका वियोग करनेसे नहीं होता किंतु बिना किए भी होता रहता है क्योंकि बिना मारे भी जीव मरते ही हैं तथा वे जीव फिर अन्य प्राणोंको धारण करते ही हैं इसमें कोई संदेह नहीं है यह बात प्रमाणसे सिद्ध है।

ननु प्राणवियोगोपि स्यादनित्यः प्रमाणसात्। यतः प्राणान्तरान् प्राणी लभते नात्र संशयः ॥ १०५ ॥ नैवं प्राणान्तरप्राप्तौ पूर्वप्राणप्रपीडनात्। प्राणभृद्दुःख-माप्नोति निर्वाच्यं मारणान्तिकम् ॥ १०६ ॥ कर्मासातं हि बध्नाति प्राणिनां प्राणपीडनात्। येन तेन न कर्तव्या प्राणिपीडा कदाचन ॥ १०७ ॥ ततो न्यायागतं

अतएव जब प्राणोंका वियोग होना अनित्य है और प्राणोंका वियोग होनेपर जब यह प्राणी अन्य प्राणोंको धारण कर ही लेता है तब फिर प्राणोंका वियोग करनेमें कोई पाप नहीं होता ॥ १०५ ॥ परंतु यह शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि जब इस जीवके प्राणोंका वियोग होता है तब उन प्राणोंको बहुत ही पीडा होती है तथा प्राणोंको पीडा होनेसे उस जीवको मरणसे उत्पन्न होनेवाला एकप्रकारका ऐसा महा दुःख होता है जो बचनोंसे कहा भी नहीं जा सकता। भावार्थ---मरते समय इस जीवको जो दुःख होता है उसे कोई कह भी नहीं सकता। प्राणोंका वियोग करनेसे वा मारनेसे जीवको इतना भारी दुःख होता है।१०६। इसीके साथ दूसरी बात यह है कि प्राणियोंकी पीडा करनेसे यह जीव बहुतसे असातावेदनीयकर्मका बंध करता है, इसलिए श्रावकोंको वा गृहस्थोंको प्राणियोंकी पीडा कभी नहीं करनी चाहिए। भावार्थ---जो प्राणियोंका वियोग करता है उसके तीव्र असातावेदनीयकर्मका बंध होता है तथा तीव्र असातावेदनीयकर्मका बंध होनेसे उसके उदय होनेपर उस जीवको अनेकप्रकारके महा दुःख भोगने पडते हैं अतएव उन दुःखोंसे बचनेके लिए जीवोंको चाहिए कि किसी भी जीवके प्राणोंका वियोग वा हिंसा न करें ॥ १०७ ॥ इसप्रकार यह बात न्यायपूर्वक सिद्ध हो जाती है कि जो जो कार्य इस जीवको दुःख देनेवाले हैं, जिन कार्योंसे अन्य जीवोंको किसी भी प्रकारकी बाधा वा दुःख पहुंचता हो, उन सब कार्योंका मनसे, बचनसे और कायसे त्याग कर देना चाहिए ॥ १०८ ॥ अतएव हे वत्स ! कामन ! तू कभी झूठ मत बोल, अनेकप्रकारके पाप उत्पन्न करनेवाली चोरी कभी मत कर, कुशीलसेवन कभी मत कर और किसी भी प्रकारकी मूर्च्छा वा परिग्रह रखनेकी लालसा मत कर। भावार्थ---झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन सब पापोंका त्याग कर दे ॥ १०९ ॥ क्योंकि झूठ बोलनेसे, चोरी करनेसे, कुशीलसेवन करनेसे और परिग्रहकी अधिक लालसा रखनेसे प्राणियोंको पीडा अवश्य होती है, तथा प्राणियोंको पीडा होनेसे पापकर्मोंका बंध

चैतद्यद्यद्बाधाकरं चितः । कायेन मनसा वाचा तत्तत्सर्वं परित्यजेत् ॥ १०८ ॥ तस्मात्त्वं मा वदासत्यं चार्यं माचर पापकृत् । माकुरु मैथुनं कांचिन्मूर्च्छां वत्स परित्यज ॥ १०९ ॥ यतः क्रियाभिरेताभिः प्राणिपीडा भवेद् ध्रुवम् । प्राणिनां पीडयावश्यं बन्धः स्यात्पापकर्मणः ॥ ११० ॥ तदेकाक्षादिपञ्चाक्षपर्यन्ते दुःखभीरुणा । दातव्यं निर्भयं दानं मूलं व्रततरोरिव ॥ १११ ॥ नन्वेवमीर्यासमितौ सावधानमुनावपि । अतिव्याप्तिर्भवेत्कालप्रेरितस्य मृतौ चितः ॥ ११२ ॥ मैवं प्रमत्त-

अवश्य होता है । भावार्थ---जहां जहां प्राणियोंको पीडा होती है वहां वहां पापकर्मोंका बंध अवश्य होता है और जहां जहां पापकर्मोंका बंध होता है वहां वहांपर उनके उदय होनेपर उन जीवांको महा दुःख प्रगट होता है अतएव उन दुःखोंसे बचनेके लिए कोई किसीप्रकारका भी पापकार्य नहीं करना चाहिए ॥ ११० ॥ इसलिए जो जीव उन पापकर्मोंके उदयसे होनेवाले महादुःखोंसे डरना चाहते हैं बचना चाहते हैं उन्हें एकेंद्रियसे लेकर पंचेंद्रियपर्यंत समस्त जीवोंको अभयदान देना चाहिए अर्थात् समस्त जीवोंकी रक्षा करनी चाहिए । यह समस्त जीवोंकी रक्षा करना व्रतरूपी वृक्षकी जड है । भावार्थ---जड होनेसे जैसे वह वृक्ष बढता है फूलता है और फलता है उसीप्रकार समस्त जीवोंकी रक्षा करनेसे समस्त व्रतोंका धारण होता है, पालन होता है और उनके यथेष्ट फल प्राप्त होते हैं ॥१११॥

यहांपर कदाचित् कोई यह शंका करे कि जो मुनि चलते समय ईर्यासमितिसे सावधान रहते हैं अर्थात् ईर्यासमितिको पूर्णरीतिसे पालन करते हुए चलते हैं उनके पांवसे भी कालके द्वारा प्रेरित हुए प्राणीकी मृत्यु हो सकती है । भावार्थ---ईर्यासेमितिसे चार हाथ भूमि देखते हुए चलनेपर भी कभी कभी ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है कि जब आगेकी जगहपर रखनेके लिए पैर उठाया था तब तक वहांपर कोई जीव नहीं था परंतु जब पैर रक्खा तो पैर रखनेके साथ ही साथ कोई प्राणी उड कर पैरके नीचे आकर दब गया । ऐसी अवस्थामें ईर्यासमितिसे चलनपर भी हिंसा हो गई । चाहे वह जीव अपनी आयुके पूर्ण होनेसे ही वहां आ कर दबा हो तथापि हिंसा तो समझी ही जायगी । इससे सिद्ध होता है कि जीवोंकी रक्षा करते हुए भी हिंसा हो ही जाती है । इसलिए अहिंसाके इस लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष आता है । अतिव्याप्ति दोष उसको कहते हैं जो लक्ष्य और

योगत्वाद्धेतोरव्यक्षजाग्रतः । तस्याभावान्मुनौ तत्र नातिव्याप्तिर्भविष्यति ॥११३॥ एवं यत्रापि चान्यत्र मुनौ वा गृहमेधिनि । नैवं प्रमत्तयोगोस्ति न बन्धो बन्धहेतुकः

अलक्ष्य दोनोंमें रहे अर्थात् जिसका लक्षण करते हैं उसमें भी वह लक्षण रहे और उसके सिवाय अन्यमें भी वह लक्षण रहे उसको अतिव्याप्ति दोष कहते हैं। यहांपर भी अतिव्याप्ति दोष है क्योंकि जो जीव मरते हैं उनमें भी हिंसा होती है और जो जीवोंको सवर्था बचानेका प्रयत्न करते हैं जो जीवोंकी रक्षाके लिये ही ईर्यासमितिसे चलते हैं उनसे भी हिंसा होती है इसलिए अहिंसाका यह लक्षण ठीक नहीं है।११२। परंतु शंकाकारकी यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जहांपर प्रमाद वा कषायके संबंधसे प्रत्यक्ष जीवकी हिंसा होती है वहींपर हिंसा कहलाती है। मुनिराजके कषायका संबंध लेशमात्र भी नहीं है। उनके प्रमादका सवर्था अभाव है अतएव प्राणोंका वियोग होनेपर भी उनको हिंसाका दोष लेशमात्र भी नहीं लग सकता। भावार्थ—मोक्षशास्त्रमें भी लिखा है "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा" अर्थात् प्रमादके योगसे प्राणोंका वियोग करना हिंसा है। इसमें प्रमादका होना मुख्य है। जहां जहां प्रमाद है वहां वहां अवश्य हिंसा होती है, चाहे प्राणोंका वियोग हो वा न हो परंतु प्रमादके (कषायके) होनेपर हिंसा अवश्य होती है तथा जहां जहां प्रमाद नहीं है वहां वहां हिंसा भी नहीं है। प्रमादके न होनेपर चाहे प्राणोंका वियोग भले ही हो जाय तथापि वहांपर हिंसा नहीं होती है क्योंकि हिंसाका लक्षण ही प्रमाद वा कषाय है। लिखा भी है—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति। तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।

अर्थात्—रागद्वेष आदि कषायोंका उत्पन्न न होना ही अहिंसा है और उन राग द्वेष आदि कषायोंका उत्पन्न होना ही हिंसा है। हिंसा और अहिंसाका लक्षण समझनेके लिए जैनशास्त्रोंका यही संक्षेप रहस्य है।

जब मुनिराज ईर्यासमितिसे चल रहे हैं और जीवोंकी रक्षा करनेमें सर्वथा दत्तचित्त हैं उस समय उनके किंचित्मात्र भी कषाय वा प्रमाद नहीं है यह बात निर्विवाद सिद्ध है। इससे सिद्ध होता है कि ईर्यासमितिमें सावधान रहते हुए भी उनके पैर रखनेके साथ ही उड कर आया हुआ जीव यदि दब कर मर भी जाय तो भी

॥ ११४ ॥ उक्तं च । मरदुव जीवदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा । पयदस्स णत्थिबन्धो हिंसामित्तेण विरदस्स ॥ ननु प्रमत्तयोगो यस्त्याज्यो हेयः स एव

उन मुनिराजको हिंसाका दोष नहीं लग सकता क्योंकि उनके प्रमादका सर्वथा अभाव है और बिना प्रमाद के हिंसा हो ही नहीं सकती इसलिए शंकाकारने जो अहिंसाके लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष दिया था उसका निवारण अच्छीतरह हो जाता है ॥ ११३ ॥ चाहे मुनि हो और चाहे गृहस्थ हो यह नियम सब जगह समझ लेना चाहिए कि जहांपर प्रमाद नहीं है वहांपर न तो कर्मोंका बंध होता है और न कर्मोंके बंध होनेका कोई कारण ही है। भावार्थ–जो मुनि वा गृहस्थ प्रमादरहित है, जीवोंकी रक्षा करनेमें सावधान है, उनके कर्मोंका बंध नहीं होता है। सो ही लिखा है—

मरदुव जीवदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। पयदस्स णत्थिबंधो हिंसामित्तेण समिदस्स।

अर्थ—जीव चाहे मर जाय अथवा जीवित बना रहे परंतु जो जीवोंकी रक्षा करनेमें प्रयत्न नहीं करता जीवों की रक्षामें सावधान नहीं रहता उसके हिंसाका पाप अवश्य लगता है तथा जो समितियोंका पालन करता है जीवोंकी रक्षा करनेमें प्रयत्न करता है सावधानी रखता है उसके जीवों की हिंसा होनेपर भी कर्मोंका बंध नहीं होता। भावार्थ—हिंसाका दोष प्रमादके होनेपर ही होता है बिना प्रमादके हिंसाका दोष नहीं लगता।

यहांपर शंका करनेवाला शंका करता है कि जब प्रमादके संबंधसे ही हिंसाका पाप लगता है, जीवोंके प्राणों का वियोग हो या न हो परंतु प्रमाद होनेपर हिंसाका पाप लग ही जाता है तो फिर प्रमादका ही त्याग करना चाहिए क्योंकि प्रमाद ही त्याग करने योग्य है। प्रमादके त्याग कर देनेपर फिर प्राणियोंको पीडा हो वा न हो यह प्राणियोंकी इच्छापर निर्भर रहना चाहिए। भावार्थ–प्रत्येक प्राणीको प्रमादका त्याग कर देना चाहिए, प्रमादका त्याग कर देनेपर फिर चाहे वह जीवोंकी हिंसा करे या न करे दोनों ही अवस्थाओंमें उसे हिंसा करनेका पाप नहीं लग सकता। इसका भी अभिप्राय यह है कि प्रमादका त्याग कर देनेपर चाहे वह अन्य प्राणियोंकी हिंसा करता रहे तो भी उस हिंसाका दोष नहीं लगना चाहिए ॥११५॥ परंतु कविराज कहते हैं कि शंकाकारकी ऊपर लिखी शंका

च। प्राणिपीडा भवेन्मा वा कामचारोस्तु देहिनाम् ॥ ११५ ॥ मैवं स्यात्कामचारोऽस्मिन्नवश्यं प्राणिपीडनात्। विना प्रमत्तयोगाद्वै कामचारो न दृश्यते ॥११६॥ उक्तं च। तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनाम्। तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यावृतिः ॥ अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां। द्वयं न हि विरुद्धयते किमु करोति जानाति च ॥ सिद्धमेतावता नूनं त्याज्या हिंसादिका क्रिया। त्यक्तायां प्रमत्तयोगस्तत्रावश्यं निवर्तते ॥ ११७ ॥ अत्यक्तायां तु हिंसादिक्रियायां द्रव्य-

ठीक नहीं है क्योंकि प्रमादका त्याग कर देनेपर जीवोंकी हिंसा करना हिंसा करनेवालेकी इच्छा पर निर्भर रखना सर्वथा अयुक्त है अर्थात् यह बात बन नहीं सकती। जिसने प्रमादका त्याग कर दिया है वह हिंसा भी करता रहे यह बात सर्वथा असंभव है क्योंकि हिंसा करनेसे प्राणोंकी पीडा अवश्य होती है तथा बिना प्रमादके हिंसा करनेकी इच्छा ही उत्पन्न नहीं हो सकती। भावार्थ–बिना प्रमादके न तो हिंसा करनेके परिणाम होते हैं और न हिंसा हो सकती है ॥ ११६ ॥ सो ही लिखा है—

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां। तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यावृतिः।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां। द्वयं न हि विरुद्धयते किमु करोति जानाति च।

अर्थ–ज्ञानियोंको निरर्गल प्रवृति नहीं करनी चाहिए क्योंकि निरर्गल व्यापार करना प्रमादका घर है। जो कर्म बिना इच्छाके किया जाता है वह ज्ञानियोंके लिए कर्मबंधका कारण नहीं होता। इसलिए करता और जानता दोनों ही परस्पर विरुद्ध नहीं होते इससे सिद्ध होता है कि हिंसादिक क्रियाओंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए। हिंसादिक क्रियाओंका त्याग कर देनेसे प्रमादरूप योगोंका त्याग अपनेआप हो जाता है। भावार्थ–जब यह नियम है कि प्रमादके होनेसे ही हिंसादिक क्रिया होती है बिना प्रमादके हिंसा नहीं होती तो फिर हिंसादिकका त्याग कर देनेसे प्रमादका त्याग अपनेआप सिद्ध हो जाता है इसलिए हिंसादिक क्रियाओंका त्याग कर देना अत्यावश्यक है ॥ ११७ ॥ यदि द्रव्यरूपसे हिंसादिक क्रियाओंका त्याग नहीं किया जायगा तो प्रमत्तयोगरूप जो परिणाम हैं उनका त्याग भी कभी नहीं हो सकेगा ॥११८॥ इसलिए आत्माका कल्याण करनेके लिए द्रव्य और भावकी मैत्री होना ही अच्छा है अर्थात् द्रव्यहिंसा और भावहिंसा दोनोंका साथ साथ त्याग कर देना अच्छा है।

रूपतः । भावः प्रमत्तयोगोपि न कदाचिन्निवर्तते ॥ ११८ ॥ ततः साधीयसी मैत्री श्रेयसे द्रव्यभावयोः । न श्रेयान् कदाचिद्वै विरोधो वा मिथोनयोः ॥ ११९ ॥ ननु हिंसा निषिद्धा स्याद्यदुक्तं तद्धि सम्मतः । तस्य देशतो विरतिस्तत्कथं तद्वदाद्य नः ॥ १२० ॥ उच्यते शृणु भो प्राज्ञ तच्छ्रोतुंकाम फामन । देशतो विरतेर्लक्षं हिंसाया वच्मि साम्प्रतम् ॥ १२१ ॥ अत्रापि देशशब्देन विशिष्टोंशो विवक्षितः । न यथाकाममात्मोत्थं कश्चिदन्यतमोंशकः ॥ १२२ ॥ देशशब्दोऽत्र स्थूलार्थे

इन दोनोंका विरोध होना कभी भी कल्याणकारी नहीं हो सकता। भावार्थ—यदि भावहिंसाका त्याग कर दिया जाय और द्रव्यहिंसाका त्याग न किया जाय तो भी हिंसाका त्याग नहीं हो सकता क्योंकि ऊपर लिख चुके हैं कि द्रव्यहिंसाका त्याग कर देनेसे भावहिंसा अवश्य छूट जाती है, यदि भावहिंसाका त्याग न किया जाय तो भावहिंसाका त्याग किए बिना द्रव्यहिंसाका त्याग होना असंभव है इसलिए दोनोंका ही त्याग करना आवश्यक है ॥ ११९ ॥

इतना सब सुन लेनेपर फामन फिर पूछने लगा कि आपने जो हिंसाका त्याग करना बतलाया और उसके त्याग करनेकी जो विधि बतलाई सो तो सब ठीक है परंतु उसका एकदेश त्याग कैसे किया जाता है । एकदेशका क्या अर्थ है उसे ही आज बतलाइये ॥ १२० ॥ हे विद्वान् फामन ! तू हिंसाके एकदेश त्यागका लक्षण सुनना चाहता है सो सुन मैं अब उसीका—हिंसाके एकदेश त्यागका लक्षण कहता हूं ॥ १२१ ॥ यहां पर देश शब्दका अर्थ विशिष्ट अंश लिया गया है। अपनी इच्छानुसार त्याग कर देना अथवा किसी एक अंशका त्याग कर देना एकदेश शब्दका अर्थ नहीं है।

भावार्थ—अपनी इच्छानुसार किसी जीवकी हिंसाका त्याग कर देना और किसीका त्याग न करना एकदेश शब्दका अर्थ नहीं है, अन्यथा अपने कुटंबके जीवोंकी हिंसाका त्याग कर देना और अन्य जीवोंकी हिंसाका त्याग न करना भी अहिंसाणुव्रत हो जायगा, परंतु ऐसे त्यागको अहिंसाणुव्रत कभी नहीं कहते हैं । इसी प्रकार किसी एक अंशका त्याग कर देना भी एकदेश शब्दका अर्थ नहीं है। यदि यह अर्थ मान लिया जायगा तो सूअरके मारनेका त्याग कर देना और अन्य जीवोंकी हिंसाका त्याग न करना अथवा गायकी हिंसाका त्याग

तथा भावाद्विवक्षितः । कारणात्स्थूलहिंसादेस्त्यागस्यैवात्र दर्शनात् ॥ १२३ ॥ स्थूलत्वमार्द्रव स्थूलत्रसरक्षादिगोचरम् । अतिचाराविनाभूतं सातिचारं च सास्रवम् ॥ १२४ ॥ तथया यो निवृत्तः स्याद्यावत्त्रसवधादिह । न निवृत्तस्तथा पंचस्थावरहिंसया गृही ॥ १२५ ॥ विरताविरताख्यः स स्यादेकस्मिन्ननेहसि । लक्षणात्त्रस-हिंसायास्त्यागेऽणुव्रतधारकः ॥ १२६ ॥ उक्तं च । जो तसवहाउविरओ अविरओ तह थावर वहाओ । एकसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥ अत्र तात्पर्य-

कर देना और अन्य बकरे आदि जीवोंकी हिंसाका त्याग न करना भी अहिंसाणुव्रत माना जायगा, परंतु ऐसे त्यागको अहिंसाणुव्रत कभी नहीं कहते हैं इसलिए एकदेश शब्दका अर्थ शास्त्रोंमें कहा हुआ विशेष अर्थ ही लेना चाहिए ॥ १२२ ॥ यहांपर एकदेश शब्दका अर्थ स्थूल लेना चाहिए तथा भावपूर्वक लेना चाहिए अर्थात् कारणपूर्वक स्थूल हिंसादिकका त्याग करना ही एकदेश त्यागका अर्थ है । यही अर्थ शास्त्रोंमें कहा गया है ॥ १२३ ॥ स्थूल शब्दका भी अर्थ कोमल परिणाम वा करुणा है । करुणापूर्वक स्थूल त्रस जीवोंकी रक्षा करना ही अहिंसाणुव्रत है । यह अणुव्रत अतिचारोंके साथ साथ होता है अर्थात् यह अतिचारसहित होता है और आस्रवसहित होता है । भावार्थ—ऊपर जो स्थूल त्रस जीवोंकी रक्षा करना अहिंसाणुव्रत बतलाया है उसका अर्थ यह है कि वह अणुव्रत अतिचारसहित होता है तथा यह अणुव्रत सरागसंयमासंयम है इसलिए इसमें आस्रव भी बराबर होता रहता है, इसीलिए इस व्रतको सास्रव अर्थात् आस्रवसहित बतलाया है ॥ १२४ ॥ आगे इसीका खुलासा कहते हैं । इस अहिंसा अणुव्रतको धारण करनेवाला गृहस्थ त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग कर देता है परंतु पांचों स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं करता इसलिए अणुव्रतोंको धारण करनेवाला गृहस्थ एक ही पापका त्यागी भी होता है और त्यागी नहीं भी होता अतएव अणुव्रतीको विरताविरत कहते हैं तथा अहिंसाणुव्रतका लक्षण त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करना बतलाया है । इसप्रकार जो त्रस जीवोंकी हिंसाका त्यागी और स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्यागी नहीं है उसको अणुव्रती कहते हैं ॥ १२५-१२६ ॥ सो ही लिखा है—

जो तसवहाउविरओ अविरओ तह थावर वहाओ । एकसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥

मेवैतत्सर्वारम्भेण श्रूयताम । त्रसकायवधाय स्यात्क्रिया त्याज्या हितावती ॥१२७। क्रियायां यत्र विख्यातस्त्रसकायवधो महान् । तां तां क्रियामवश्यं स सर्वामपि परित्यजेत् ॥ १२८ ॥ अत्राप्याशङ्कते कश्चिदात्मप्रज्ञापराधतः । कुर्याद्धिंसां स्वकार्याय न कार्या स्थावरक्षतिः ॥१२९॥ अयं तेषा विकल्पो यः स्याद्वा कपोलकल्पनात् । अर्थाभासस्य भ्रान्तेर्वा नैवं सूत्रार्थदर्शनात् ॥ १३० ॥ तद्यथा सिद्धसूत्रार्थे दर्शित पूर्वसूरिभिः । तत्रार्थाय विना कार्यं न कार्या स्थावरक्षतिः ॥ १३१ ॥

सर्ग ५

अर्थ–जो त्रस जीवोंकी हिंसाका त्यागी है परंतु स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्यागी नहीं है । इसप्रकार केवल जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको माननेवाला सम्यग्दृष्टी श्रावक एक ही समयमें विरताविरत कहलाता है । भावार्थ–वह त्रस जीवोंकी हिंसाका त्यागी है इसलिए विरत कहलाता है और स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्यागी नहीं है इसलिए अविरत कहलाता है, इसप्रकार एक ही समयमें वह विरत और अविरत अर्थात् विरताविरत कहलाता है ॥ १ ॥ इस सबके कहनेका अभिप्राय यह है कि जिन जिनसे त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी जितनी भी क्रियाएं हैं उनका सबप्रकारसे आरंभपूर्वक त्याग कर देना चाहिए । इस बातको खूब अच्छी तरह सुन लेना चाहिए, क्योंकि ऐसी क्रियाओंसे आत्माका कभी कल्याण नहीं होता है । ऐसी त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाली क्रियाओंसे यह आत्मा नरकादिक दुर्गतियोंमें ही प्राप्त होता है ॥ १२७ ॥ जिस क्रियाके करनेमें त्रस जीवोंकी महा हिंसा होती हो ऐसी ऐसी समस्त क्रियाओंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए । भावार्थ–अहिंसाणुव्रत धारण करनेवाले श्रावकको ऐसी कोई क्रिया नहीं करनी चाहिए जिसमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ॥ १२८ ॥

यहांपर कोई पुरुष अपनी बुद्धिके दोषसे कुतर्क करता हुआ शंका करता है कि अपने कार्यके लिए तो त्रस जीवोंकी हिंसा भी कर लेनी चाहिए परंतु बिना प्रयोजन स्थावर जीवोंका विघात भी नहीं करना चाहिए, परंतु यह उसका विकल्प कपोलकल्पित है । या तो उस अर्थका यथार्थ परिज्ञान नहीं हुआ है अथवा भ्रमरूप बुद्धि होनेसे ऐसी कपोलकल्पना करता है, क्योंकि उसका किया हुआ यह अर्थ सूत्र वा शास्त्रोंके अनुसार नहीं है। सूत्र वा शास्त्रोंके विरुद्ध है ॥१२९-३०॥ शंका करनेवालेने जो शंका करते हुए अहिंसा अणुव्रतका अर्थ किया है वह विरुद्ध क्यों है इसी बातको आगे दिखलाते हैं । पहलेके आचार्योंने अनादिसिद्ध शास्त्रोंमें जो अर्थ बत-

एतत्सूत्र विशेषार्थेऽनवदत्तावधानकैः । नूनं तैः स्खलित मोहात्सर्वसामान्यसंग्रहात् ॥ १३२ ॥ किञ्च कार्यं विना, हिंसा न कुर्यादितिधीमता । दृष्टेस्तुर्यगुणस्थाने कृतार्थत्वाद्दृगात्मनः ॥ १३३ ॥ तदुक्तं गोम्मटसारे सिद्धान्ते सिद्धसाधने । तत्सूत्रं च यथाम्नायात्प्रतीत्यै वक्ष्मिसाम्प्रतम् ॥ १३४ ॥ उक्तं च । सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं च सद्दहदि । सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥ अत्र सूत्रे चकारस्य ग्रहणं विद्यते स्फुटम् । तस्यार्थष्टीकाकारेण टीकायां प्रक-

लाया है वह यह है कि बिना प्रयोजनके स्थावर जीवोंकी हिंसा भी नहीं करनी चाहिए (फिर भला त्रस जीवोंकी हिंसा करनेकी तो बात ही क्या है। त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग तो सर्वथा कर देना चाहिए । किसी विशेष प्रयोजनके वश होकर भी त्रस जीवोंकी हिंसा कभी नहीं करनी चाहिए ॥ १३१ ॥ जो लोग इस सिद्धान्तके विशेष अर्थको नहीं जानते हैं ऐसे लोग ही अपने मोहनीयकर्मके उदयसे स्खलित हो जाते हैं अर्थात् मोहनीय कर्मके उदयसे हिंसाको ही अहिंसा वा अहिंसा अणुव्रत मान लेते हैं । ऐसे लोग समस्त कथनको सामान्यरूपसे समझ लेते हैं और सबको सामान्य समझकर एक साथ संग्रह कर लेते हैं ॥ १३२ ॥ दूसरी समझनेयोग्य विशेष बात यह है कि सम्यग्दृष्टी पुरुष कृतार्थ होता है वह अपने आत्माके स्वरूपको अच्छी तरह जानता है अतएव वह चौथे गुणस्थानमें भी विना प्रयोजनके हिंसा नहीं करता। इस बातको सब बुद्धिमान अच्छीतरह जानते हैं ॥ १३३ ॥ यही बात जीवकी सिद्ध अवस्थाके उपायको बतलानेवाले गोमट्टसारनामके सिद्धांतशास्त्रमें बतलाई है। आचार्योंकी परंपरापूर्वक चला आया जो वह सूत्र है उसको मैं अब विश्वासके लिए कहता हूं । भावार्थ—चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टी जीव भी बिना प्रयोजनके किसी जीवकी हिंसा नहीं करता इस बातको कहनेवाला जो गोमट्टसारका सूत्र है उसको बतलाते हैं ॥ १३४ ॥ गोमट्टसारमें लिखा है कि सम्यग्दृष्टी जीव भगवान सर्वज्ञ-देवके कहे हुए शास्त्रोंका श्रद्धान करता है तथा जिस किसी पदार्थका स्वरूप वह नहीं जानता है और उसका स्वरूप गुरु बतला देवें तो उन गुरुका बतलाया हुआ उस पदार्थका स्वरूप चाहे यथार्थ न हो तो भी वह उन यथार्थ गुरुके कहे हुए बचनोंका श्रद्धान कर लेता है। भावार्थ—गोमट्टसारमें चौथे गुणस्थानका स्वरूप बतलाते हुए यह गाथासूत्र कहा गया है । चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टी जीव देव शास्त्र गुरु तीनोंका यथार्थ श्रद्धान

टीकृतः ॥ १३५ ॥ टीका व्याख्या यथा कश्चिज्जीवो यः सम्यग्दृष्टिमान्। उपदिष्टं प्रवचनं जिनोक्तं श्रद्दधाति सः ॥ १३६ ॥ चकारग्रहणादेव न कुर्यात्त्रसहिं-

करता है। वह वीतराग सर्वज्ञदेवको ही देव मानता है। वीतराग सर्वज्ञदेवके श्रीअरहंतदेवके कहे हुए वचनोंको ही शास्त्र मानता है और परिग्रहरहित मुनिराजको ही गुरु मानता है। इन तीनोंपर वह गाढ श्रद्धान करता है इसीलिए कहा है कि वह भगवान अरहंतदेवके कहे हुए शास्त्रोंका ही श्रद्धान करता है। ऐसा कहनेसे देव और शास्त्रका यथार्थ श्रद्धान सूचित किया है तथा वह निर्ग्रंथ गुरुका इतना गाढ श्रद्धान करता है कि यदि वह गुरुके उपदेशानुसार किसी पदार्थका स्वरूप विपरीत भी समझ ले तथापि उसपर उसीप्रकार श्रद्धान कर लेता है। इस प्रकार चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टी जीव देव शास्त्र गुरुका गाढ श्रद्धान करता है। यह चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवका स्वरूप है ॥ इस सूत्रमें एक चकार है। सूत्रकारने जिस प्रयोजनके लिए चकारका ग्रहण किया है उसका स्पष्ट अर्थ टीकाकारने लिखा है ॥ १३५ ॥ टीकाकारने इस सूत्रकी टीका इसप्रकार लिखी है कि जो कोई भी सम्यग्दृष्टी जीव है वह भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए वचनोंका श्रद्धान करता है। इस सूत्रमें जो चकार है उसका अभिप्राय यह है कि उसका हृदय करुणासे अत्यन्त भीगा रहता है क्योंकि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य ये चार गुण उसके स्पष्ट प्रगट हो जाते हैं। अतएव वह सम्यग्दृष्टी पुरुष विना प्रयोजनके त्रस जीवोंकी हिंसा कभी नहीं करता है। भावार्थ–पहले कह चुके हैं कि गोमट्टसारमें यह सूत्रगाथा चौथे गुणस्थानका स्वरूप कहते समय कहा है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव यद्यपि व्रती नहीं है, क्योंकि व्रत धारण करना पांचवें गुणस्थानका स्वरूप है अतएव यद्यपि वह हिंसाका त्यागी नहीं है तथापि उसके जो अनुकंपा गुण प्रगट हो गया हैं उसके कारण वह विना प्रयोजनके कभी भी त्रस जीवोंकी हिंसा नहीं करता है। यद्यपि अप्रत्याख्यानावरणकर्मके उदयसे वह हिंसाका त्याग नहीं कर सकता तथापि सम्यग्दर्शनके साथ प्रगट होनेवाला अनुकंपागुण अपना कार्य अवश्य करता है और उसीके कारण हिंसा करनेके भाव उसके नहीं होते। वह जो प्रयोजनवश हिंसा करता है वह भी कर्मोंके उदयके वशीभूत हो कर लाचारीसे करता है। यही सूत्रमें दिये हुए चकारका अर्थ है ॥ १३६-१३७ ॥

सनम्। विना कार्यं कृपार्द्रत्वात्प्रशमादिगुणान्वितः॥ १३७॥ एवमित्यत्र विख्यातं कथितं च जिनागमे। स एवार्थो यद्यत्रापि व्रतित्वं हि कुतोऽर्थतः॥ १३८॥ तत्पञ्चमगुणस्थाने दिग्मात्रं व्रतमिच्छता। त्रसकायवधार्थं या क्रिया त्याज्याखिलापि च॥ १३९॥ ननु जलानलोर्व्यनसद्वनस्पतिकेषु च। प्रवृत्तौ तच्छ्रिताङ्गानां त्रसानां

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रत सम्यग्दृष्टीका यह स्वरूप सर्वत्र प्रसिद्ध है तथा जैनशास्त्रोंमें सर्वत्र कहा है। यदि यही अर्थ पंचम गुणस्थानवर्ती अहिंसा अणुव्रतके स्वरूपमें लिया जायगा तो फिर उसको व्रती किस कारणसे कहा जायगा। भावार्थ—पंचम गुणस्थानवर्ती व्रती श्रावक ऐसी कोई क्रियाएं नहीं करता जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो। यदि व्रती श्रावकका लक्षण चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रती श्रावकके समान ही माना जायगा तो फिर उसको पांचवें गुणस्थानमें आनेका और व्रती बननेका कारण क्या मानना पडेगा। जब पांचवें गुणस्थानका कोई कारण ही नहीं होगा तो यह अर्थात् सिद्ध हैं कि पांचवें गुणस्थानका अभाव मानना पडेगा॥ १३८॥ इसलिए जो श्रावक पांचवें गुणस्थानको धारण कर थोडेसे भी व्रतोंको धारण करना चाहता है उसे ऐसी समस्त क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिये जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो॥ १३९॥

यहांपर शंका करनेवाला फिर शंका करता है कि अहिंसा अणुव्रतको धारण करनेवाला त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाली क्रियाओंका त्यागी होता है। स्थावर जीवोंकी हिंसा करनेवाली क्रियाओंका त्यागी नहीं होता अतएव जब वह पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोंकी हिंसा करनेवाली क्रियाओंमें प्रवृत्त होता है उस समय उन स्थावर जीवोंके आश्रय रहनेवाले त्रस जीवोंकी क्या अवस्था होती होगी। भावार्थ—पृथ्वीकायिक जलकायिक वा वनस्पतिकायिक आदि स्थावर जीवोंके आश्रय अनेक त्रस जीव रहते हैं। जब वह अणुव्रती श्रावक ऐसी क्रियाओंके करनेमें प्रवृत्त होता है जिनमें केवल स्थावर जीवोंकी हिंसा होना सम्भव हो तो उस अवस्थामें भी उन स्थावर जीवोंके आश्रय रहनेवाले त्रस जीवोंकी भी हिंसा अवश्य हो जायगी अतएव ऊपर जो यह बतलाया गया है कि अणुव्रती श्रावक ऐसी क्रियाएं नहीं करता जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा हो सर्वथा असम्भव है। इससे सिद्ध होता है कि अणुव्रती श्रावक त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाली

तत्र का कथा ॥१४०॥ नैष दोषोल्पदोषत्वाद्यद्वा शक्यावचनात्। नाप्रमादतया तत्र रक्षणे यत्नतत्परात् ॥१४१॥ एवं चेत्तर्हि कृष्यादौ को दोषस्तुल्यकारणात्।

क्रियाओंका त्याग नहीं कर सकता ॥ १४० ॥ कदाचित् यह कहो कि अणुव्रतीके लिए इसमें कोई दोष नहीं है क्योंकि इसमें बहुत थोडा दोष लगता है क्योंकि वह त्रस जीवोंकी हिंसा करनेके लिए तैयार नहीं हुआ है केवल स्थावर जीवोंके आश्रय होनेसे उनका घात हो जाता है। उसके परिणाम उनके हिंसा करनेके लिए नहीं होते इसलिए इसमें अधिक दोष नहीं है। दूसरी बात यह है कि जिन त्रस जीवोंको वह बचा सकता है उनको बचा देता है, जिनके बचानेमें वह असमर्थ है, किसीतरह भी नहीं बचा सकता उन्हींका घात हो जाता है इसलिए भी इसमें दोष नहीं है। तीसरी बात यह है कि वह श्रावक उन जीवोंके मारनेके प्रति कषाय नहीं कर रहा है कषाय-पूर्वक उनका घात नहीं करता है अतएव प्रमादरहित होनेके कारण भी उसमें दोष नहीं है और चौथी बात यह है कि उनकी रक्षा करनेके लिए वह अच्छीतरह यत्न करता है। उनकी हिंसा होनेमें वह असावधान नहीं है इसलिए भी अणुव्रतीके लिये कोई दोष नहीं आता। शंकाकार कहता है कि इसप्रकार अणुव्रतीको तुम निर्दोष सिद्ध करना चाहो सो भी ठीक नहीं है क्योंकि वह इसप्रकार निर्दोष सिद्ध हो नहीं सकता। कदाचित् ऊपर लिखे कारणोंसे उसे निर्दोष सिद्ध करना चाहो तो फिर अणुव्रतीके लिये खेती करनेमें भी क्या दोष है क्योंकि जो कारण ऊपर बताए हैं वे सब यहां भी मिलते हैं। जिसप्रकार स्थावर जीवोंके आश्रय रहनेवाले त्रस जीवोंकी हिंसाको भी वह बचा नहीं सकता उसीप्रकार खेतीमें होनेवाली त्रस जीवोंकी हिंसाको भी वह बचा नहीं सकता भावार्थ—यद्यपि खेती करनेमें त्रस जीवोंकी हिंसाका उद्देश नहीं होता तथापि त्रस जीवोंकी हिंसा होती अवश्य है। यदि स्थावर जीवोंके आश्रय रहनेवाले त्रस जीवोंकी हिंसाको निर्दोष मानोगे तो फिर खेती करनेमें होनेवाली त्रस जीवोंकी हिंसा भी निर्दोष माननी पडेगी क्योंकि जिसप्रकार वह उन जीवोंको नहीं बचा सकता उसीप्रकार खेतीमें भी नहीं बचा सकता ॥ १४१-१४२ ॥ दूसरी बात यह है कि खेती करनेमें जो त्रस जीवोंकी हिंसा होती है उसके करते समय वह अपनी निंदा अवश्य करता है अर्थात् उस हिंसाको वह त्याज्य वा त्याग

अशक्यपरिहारस्य तद्वत्तत्रापि सम्भवात् ॥ १४२ ॥ अपि तत्रात्मनिन्दादिभावस्यावश्यभावतः । प्रमत्तयोगाद्यभावस्य यथास्वं सम्भवादपि ॥ १४३ ॥ जलादावपि विख्याता त्रसाः सन्त्युपलब्धितः । कृष्यादौ च त्रसाः सन्ति विख्याता क्षितिमण्डले ॥ १४४ ॥ नैवं यतोऽनभिज्ञोसि हिंसाणुव्रतलक्षणे । सतृणाभ्यवहारित्वं भुंजानो द्विरदादिवत् ॥ १४५ ॥ वक्ष्यहं लक्षणं तस्य सावधानतया शृणु । क्षणं प्रमादमुत्सृज्य गर्हितावद्यकारणम् ॥ १४६ ॥ अणुत्वमल्पीकरणं तच्च गृद्धेरिहार्थतः । यथा-

करने योग्य अवश्य मानता है। इसीप्रकार जैसे वहांपर उसके प्रमादका अभाव है, कषायरूप परिणामोंका अभाव है उसीप्रकार खेती करनेमें भी कषायरूप परिणामोंका अभाव है। खेती करनेमें जो त्रस जीवोंकी हिंसा होती है उसको वह कषाय पूर्वक नहीं करता तथा उनकी रक्षा करनेमें भी वह सावधान रहता है अतएव अणुव्रतीके लिए यदि स्थावर जीवोंके आश्रय रहनेवाले त्रस जीवोंकी हिंसाको निर्दोष कहा जायगा तो खेती करनेमें होनेवाली त्रस जीवोंकी हिंसाको भी निर्दोष कहना पडेगा ॥ १४३ ॥

शंकाकार कह रहा है कि कदाचित् तुम यह कहो कि स्थावर जीवोंके आश्रय त्रस जीव रहते ही नहीं है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि जलके आश्रय रहनेवाले त्रस जीव प्रसिद्ध हैं और वे प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। सूक्ष्मदर्शक यंत्रसे स्पष्ट दिखाई देते हैं तथा छोटी छोटी मछलियां तथा और भी अनेकप्रकारके जलचर जीव इन्द्रियोंसे भी दिखाई देते हैं। इसीप्रकार खेती करनेमें भी पृथ्वीमंडलमें रहनेवाले अनेकप्रकारके त्रस जीव प्रसिद्ध हैं। गिंडोरे गिंजाई आदि असंख्यात जीव खेतोंमें उत्पन्न हो जाते हैं इसलिए स्थावर जीवोंके आश्रय त्रस जीवोंका सद्भाव मानना ही पडता है तथा खेती करनेमें भी त्रस जीवोंकी हिंसा माननी ही पडती है। इसप्रकार पांच श्लोकोंमें शंकाकारने शंका उपस्थित की है ॥ १४४ ॥ कविराज अब उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि शंकाकारकी यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जिसप्रकार घासके साथ चावलोंको खाता हुआ हाथी चावलोंको नहीं समझता, केवल घासको ही समझता है उसीप्रकार शंका करनेवाला अहिंसा अणुव्रतके लक्षणको नहीं समझता ॥ १४५ ॥ कविराज शंका करनेवालेसे कहते हैं कि हे शंकाकार तू अत्यंत निन्दनीय और पापका कारण ऐसे प्रमादको छोड कर तथा सावधान हो कर क्षणभर सुन। मैं अब अणुव्रतका लक्षण कहता हूं ॥ १४६ ॥ अणु शब्दका

वधस्य हिंसादेर्हृषीकविषयस्य च ॥ १४७ ॥ कृष्यादयो महारम्भाः क्रूरकर्मार्जनक्षमाः । तत्क्रियानिरतो जीवः कुनो हिंसावकाशवान् ॥ १४८ ॥ नचाशंक्यं हि कृष्यादिमहारम्भे क्रिया तु या । सत्स्वल्पीकरणं चार्थाद्धिंसाणुव्रतमिष्यते ॥ १४९ ॥ यतः स्वल्पीकृतोप्यत्र महारम्भः प्रवर्तते । महावधस्य हेतुत्वात्तद्वान्नाणुव्रती भवेत्

अर्थ घटाना है तथा यहांपर प्रकरणके वशसे गृद्धता वा लालसाका घटाना लेना चाहिए तथा वह लालसा भी पापकर्मोंकी लालसा, हिंसाकी लालसा और इन्द्रियोंके विषयोंकी लालसा घटानी वा कम करनी चाहिए ॥१४७॥ खेती आदिक व्यापार महा आरंभ उत्पन्न करनेवाले हैं तथा क्रूर कार्योंसे उपार्जन किए जाते हैं? उन क्रूर कार्योंमें लगा हुआ जीव भला अहिंसा अणुव्रतको किसप्रकार पाल सकता है? भावार्थ--खेती करनेमें महा हिंसा होती है इसलिए खेती करनेवालेसे अणुव्रत कभी पल नहीं सकते ॥ १४८ ॥

यहांपर यह शंका भी नहीं करनी चाहिए कि खेती आदिक महारंभोंमें होनेवाली क्रियाओंका कम करना भी अहिंसा अणुव्रत कहलावेगा क्योंकि खेती आदिमें होनेवाली महारंभोंकी क्रियाएं चाहें जितनी कम की जायं तो भी उनमें महारंभ ही होते रहते हैं। इसका भी कारण यह है कि खेती करनेका महारंभ महा पापका कारण है इसलिए खेती करनेवाला महारंभी पुरुष कभी अणुव्रती नहीं हो सकता। भावार्थ—ऊपर जो यह कहा गया है कि पापोंका वा इन्द्रियोंके विषयोंका कम करना अहिंसाणुव्रत है तथा खेती करनेसे महारंभ होता है इसलिए खेती करनेवालेके अहिंसाणुव्रत हो नहीं सकता। इसपरसे शंकाकार कहता है कि जब कम करनेको ही अहिंसाणुव्रत कहते हैं तब खेती करनेके महारंभको कम कर देना भी अणुव्रत हो जायगा और इस हिसाबसे खेती करनेवाला भी अणुव्रती हो जायगा। जो किसान पहले एक हजार बीघा जमीन जोतता था वह यदि उसको घटा कर पांच सौ बीघा जमीन जोतने लगे तो उसके अणुव्रत क्यों नहीं मानना चाहिए परंतु कविराज इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि खेतीकी क्रिया घट जानेपर भी उसमें महारंभ ही रहता है इसलिए खेती करनेवालेके अणुव्रत हो नहीं सकते ॥ १४९-१५० ॥ बहुत कहनेसे क्या? अथवा अधिक वाद विवाद करनेसे वा अधिक बोलनेसे क्या? यह निश्चित सिद्धांत है कि अहिंसा

।१५०। अलं वा बहुनोक्तेन यावदूकतयाप्यलम्। त्रसहिंसाक्रिया त्याज्या हिंसाणुव्रतधारिणा ॥१५१॥ ननु त्यक्तुमशक्यस्य महारम्भानशेषतः। इच्छतः स्वल्पीकरणं कृष्यादेस्तस्य का गतिः ॥ १५२ ॥ अस्ति सम्यग्गतिस्तस्य साधु साधीयसी जिनैः। कार्या पुण्यफलारलाघ्या क्रियामुत्रेह सौख्यदा ॥ १५३ ॥ यथाशक्ति महारम्भा-त्स्वल्पीकरणमुत्तमम्। विलम्बो न क्षणं कार्यो नात्र कार्या विचारणा ॥१५४॥ हेतुरस्त्यत्र पापस्य कर्मणः संवरोंशतः। न्यायागतः प्रवाहश्च न केनापि निवार्यते

अणुव्रत धारण करनेवालेको त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाली समस्त क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिए ॥ १५१ ॥

यहांपर शंकाकार शंका करता है कि जो कोई पुरुष खेती आदिके महारंभोंको पूर्ण रीतिसे त्याग नहीं कर सकता परंतु उनको कम करना चाहता है उसके लिए क्या उपाय किया जायगा। भावार्थ-यदि कोई पुरुष खेती आदिके महारंभोंको कम करना चाहे तो ऊपर लिखे अनुसार उसके अणुव्रत तो हो नहीं सकते फिर उस-को उन महारंभोंके कम करनेमें कोई लाभ है या नहीं। यदि कुछ लाभ है तो उन महारंभोंके कम करनेको क्या कहोगे? कोई व्रत कहोगे या और कुछ? ॥ १५२ ॥ कविराज इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि खेती आदि-के महारंभोंको कम करनेवाले लोगोंके लिए भी भगवान जिनेन्द्रदेवने बहुत ही अच्छी गति बतलाई है। भग-वान् जिनेन्द्रदेवने कहा है कि जो क्रियाएं पुण्यरूप फलको उत्पन्न करनेवाली हैं और इसीलिए प्रशंसनीय और इस लोक तथा परलोक दोनों लोकोंमें सुख देनेवाली हैं ऐसी क्रियाएं गृहस्थोंको सदा करते रहना चाहिए ॥ १५३ ॥ अपनी शक्तिके अनुसार खेती आदिके महारंभोंको कम करना उत्तम कार्य है। ऐसे कार्योंके करने-के लिए कभी देर नहीं करनी चाहिए और न ऐसे उत्तम कार्योंके करनेके लिए कुछ विचार करना चाहिए। ॥ १५४ ॥ ऐसे उत्तम कार्योंको अत्यंत शीघ्र और बिना किसी सोचविचारके करनेका कारण भी यह है कि खेती आदिके महा आरंभ जितने कम कर दिये जायंगे उतने ही पापकर्मोंके अंशोंका संवर हो जायगा। यह न्यायसे प्राप्त हुआ प्रवाह सदासे चला आ रहा है वह किसीसे निवारण नहीं हो सकता। भावार्थ—यह नियम है कि पापकार्य जितने कम कर दिये जायंगे उतने ही कर्मोंका बंध कम हो जायगा तथा जितने कर्मोंका बंध कम

॥ १५५ ॥ साधितं फलवन्न्यायात्प्रमाणितं जिनागमात् । युक्तेः स्वानुभवाच्चापि कर्तव्य प्रकृतं महत् ॥ १५६ ॥ तत्रागमो यथा सूत्रादाप्तवाक्यं प्रकीर्तितम् । पूर्वापरविरुद्धं यत्प्रत्यक्षादिरबाधितम् ॥ १५७ ॥ उक्तं च । यथार्थदर्शिनः पुंसो यथादृष्टार्थवादिनः । उपदेशः परार्थो यः स इहागम उच्यते ॥ आगमः स यथा द्वेधा हिंसादेरपकर्षणम् । यमादेकं द्वितीयं तु नियमादेव केवलात् ॥ १५८ ॥ यमस्तत्र यथा यावज्जीवन प्रतिपालनम । दैवाद्घोरोपसर्गेपि दुःखे वामरणावधि ॥१५९॥

होगा उतना दुःख कम होगा वा उतना ही सुख अधिक मिलेगा इसलिए खेती आदिके महारंभोंका कम करना सर्वथा कल्याणकारी है ॥ १५५ ॥ इसप्रकार न्यायसे सिद्ध होता है कि खेती आदि महारंभोंका कम करना भी सफल वा पुण्यफलको देनेवाला है। यह बात जैनशास्त्रोंसे भी सिद्ध होती है, युक्तिसे भी सिद्ध होती है और अनुभवसे भी सिद्ध होती है अतएव खेती आदिके महारंभोंको कम करनेरूप जो उत्तम कार्य है वह गृहस्थोंको अवश्य करना चाहिये ॥ १५६ ॥ जो सूत्रोंके द्वारा आप्तवाक्योंका कहना है वही आगम कहलाता है। वह आगम पूर्वापर विरोधसे रहित होता है और प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंसे अबाधित होता है। भावार्थ—वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी अरहंत भगवानको आप्त कहते हैं। ऐसे आप्तके कहे हुए वाक्योंकी सूत्रबद्ध रचना करना आगम है। वह आगम परंपरासे सर्वज्ञके द्वारा कहा हुआ होता है इसलिए उसमें पूर्वापर कोई विरोध नहीं आता और न प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणोंसे किसीप्रकारकी बाधा आती है ॥ १५७ ॥ सो ही अन्य शास्त्रोंमें लिखा है। जो पुरुषविशेष वा अरंहतदेव यथार्थदर्शी हैं, समस्त स्थूल सूक्ष्म पदार्थोंको प्रत्यक्ष देखते हैं तथा जिसप्रकार देखते हैं उसीप्रकार उनका स्वरूप निरूपण कहते हैं ऐसे भगवान अरंहतदेवका भव्य जीवोंका कल्याण करनेके लिए दिया हुआ जो उपदेश है उसीको आगम कहते हैं ॥ १ ॥ उस आगममें हिंसादिक पापोंका जो त्याग बतलाया है वह दोप्रकारसे बतलाया है। एक तो केवल यमरूपसे और दूसरा केवल नियमरूपसे ॥ १५८ ॥ इन यम नियम दोनोंमेंसे जीवनपर्यंत पालन करना यम है। यदि दैवयोगसे कोई घोर उपसर्ग आ जाय अथवा महादुःख उत्पन्न हो जाय अथवा मरण होनेतकका समय आ जाय तो भी उस किए हुए त्यागसे विचलित न होना यम कहलाता है ॥ १५९ ॥ वह यम भी दो प्रकार है ॥

एक प्रतिमारूप और दूसरा सामान्यरूप। इन दोनोंका स्पष्ट लक्षण नीचे लिखे अनुसार है॥ १६० ॥ जीवन पर्यंत पूर्णरूपसे त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करना तथा जिन जिन क्रियाओंमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी समस्त क्रियाओंका जीवनपर्यंततकके लिए त्याग कर देना प्रतिमारूप यम कहलाता है। भावार्थ—जिसने जन्मभरके लिए त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग पूर्णरूपसे कर दिया है तथा खेती आदि जिन क्रियाओंमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी क्रियाओंका भी जिसने पूर्णरूपसे त्याग कर दिया है उसके प्रतिमारूप यम होता है॥ १६१ ॥ तथा जीवनपर्यंत त्रस जीवोंकी हिंसाको थोडा कम करना और वह भी पूर्णरूपसे नहीं किंतु एकदेश कम करना सामान्यरूप यम कहलाता है। भावार्थ—त्रस जीवोंकी हिंसाको जन्मभरतक पूर्णरूपसे त्याग करना प्रतिमारूप यम है और एकदेशरूपसे त्याग करना सामान्य यम है ॥ १६२ ॥ जैसे कोई किसान जन्मभरके लिए यह नियम ले कि मैं जो इस समय दोसौ वीघा खेती करता हूं सो अब न करूंगा। अबसे मैं जन्मभर तक सौ वीघा खेती करूंगा। ऐसे यमरूप त्यागको सामान्य यम कहते हैं। इसमें त्रस जीवोंकी हिंसा कम की गई है, उसका पूर्णरूपसे त्याग नहीं किया गया है इसलिए वह प्रतिमारूप यम नहीं है किन्तु एकदेशरूपसे कम की गई है इसलिए उसको सामान्य यम कहते हैं॥१६३॥ इसप्रकार यमके दो भेद बतलाए। अब आगे नियमके भी दो भेद बतलाते हैं। नियम भी दो प्रकार है। जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी क्रियाओंका अपनी शक्तिके अनुसार कालकी मर्यादा लेकर त्याग करना पहला नियम है तथा उन्हीं क्रियाओंका अपनी शक्तिके अनुसार जीवनपर्यंत त्याग करना दूसरा नियम है ॥ १६४॥ अपनी आयुके पहले पहलेतक किसी कालकी मर्यादा लेकर हिंसे त्रसके धारण करनेका नियम करना वह पहला सावधि (अवधि अर्थात्

सावधिः स्वायुषोयावदर्वागेव व्रतावधिः । ऊर्द्ध्वं यथात्मसामर्थ्यं कुर्याद्वा न यथेच्छया ॥ १६५॥ पुनः कुर्यात्पुनस्त्यक्त्वा पुनः कृत्वा पुनस्त्यजेत् । न त्यजेद्वा न कुर्याद्वा कारं कारं करोति च ॥ १६६ ॥ अस्ति कश्चिद्विशेषोपि द्वयोर्यमनियमयोः । नियमो दृक्प्रतिमायां व्रतस्थाने यमो मतः ॥ १६७ ॥ अयं भावो व्रतस्थाने या

कालकी मर्यादासहित) नियम कहलाता है । उस व्रतके धारण करनेकी जितने कालकी मर्यादा ली है उतने काल तक तो वह उसको पालन करता ही है । उसके बाद वह उस व्रतको अपनी इच्छानुसार और अपनी सामर्थ्यके अनुसार पालन करता भी है और नहीं भी करता है । भावार्थ-कालकी मर्यादाको लेकर जो व्रत धारण किए जाते हैं वे उतने कालतक तो पालन किए ही जाते हैं इसमें तो कोई संदेह ही नहीं, परंतु कालकी मर्यादाके बाहर फिर उस व्रतका पालन उसकी इच्छापर निर्भर है पालन करे या न करे । कोई कोई पालन करता है और कोई कोई नहीं भी करता ॥ १६५ ॥ कालकी मर्यादा लेकर नियम करनेवाला पुरुष उस मर्यादके पूर्ण होनेपर फिर उस व्रतको करता भी है करके छोड भी देता है, छोड करके भी फिर करने लगता है और फिर छोड देता है अथवा फिर उसे नहीं छोडता बराबर करता ही रहता है अथवा कालकी मर्यादा पूर्ण होनेपर फिर उसे करता ही नहीं, सर्वथा छोड देता है अथवा बार बार करता है और फिर करता है ॥ १६६ ॥ इन यम और नियम दोनोंमें विशेषकर यह भेद है कि दर्शनप्रतिमामें तो श्रावक नियमोंका पालन करता है और व्रतप्रतिमामें यमका पालन करता है ॥ १६७ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि व्रतप्रतिमामें (पांचवें गुणस्थानमें) सज्जनोंके लिये जो क्रियाएं बतलाई हैं उनको जो सामान्य रीतिसे वा एक देशरूपसे पालन करता है उसको सामान्य यम कहते हैं तथा दर्शनप्रतिमामें (चौथे गुणस्थानमें) जो क्रियाएं पहले बतलाई हैं उनको जो पुरुष जीवनपर्यन्त पालन करता है उसको अनवधि नियम अथवा जीवनपर्यंत होनेवाला नियम कहते हैं । भावार्थ—इन दो श्लोकोंमें सामान्य यम और जीवनपर्यंत होनेवाले नियममें अन्तर बतलाया है । यह बात पहले बता चुके हैं जीवनपर्यंतके पालन करनेको यम कहते हैं । उस यमके दो भेद बतलाये एक त्रस जीवोंकी हिंसाका पूर्णरूपसे त्याग और दूसरा एकदेशरूपसे वा सामान्यरूपसे त्याग । फिर नियमका लक्षण करते समय भी नियमके दो भेद बतलाये । एक

क्रियामिमता सताम्। तां सामान्यतः कुर्वन्सामान्यम उच्यते ॥ १६८ ॥ प्रतिमायां क्रियायां तु प्रागेवात्रापि सूचिता। यावज्जीवं हि तां कुर्वन्नियमोऽनवधिः स्मृतः ॥ १६९ ॥ उक्तं सम्यक् परिज्ञाय गृहस्थो व्रतमाचरेत्। यथाशक्ति यथाकालं यथादेशं यथावयः ॥ १७० ॥ त्रसहिंसाक्रियात्यागो यदि कर्तुं न शक्यते। व्रतस्थाना-

तो कालकी मर्यादा लेकर त्याग करना और दूसरा जीवनपर्यंत त्याग करना। कालकी मर्यादा लेकर त्याग करने-रूप पहले नियमका लक्षण तो पहले अच्छीतरह दिखला चुके हैं कि वह अपनी मर्यादातक पालन करता है, आगे उसकी इच्छापर निर्भर है पालन करे भी और न भी करे। अब रहा दूसरा जीवनपर्यंत होनेवाला नियम। सो इस नियममें तथा सामान्य यममें कविराजने यह स्पष्ट भेद बतला दिया कि पांचवें गुणस्थानकी क्रियाओंको जन्मभर समान्यरूपसे पालन करना सामान्य यम है और चौथे गुणस्थानकी क्रियाओंको जीवनपर्यंत पालन करना दूसरा जीवनपर्यंत होनेवाला नियम है। इसका कारण यह है कि ग्रन्थकर्ताने यम नियमका साधारण लक्षण ही यह बतला दिया है कि चौथे गुणस्थानमें नियम ही होता है यम नहीं होता तथा पांचवें गुणस्थानमें यम ही होता है नियम नहीं होता। यहांपर इतना विशेष और समझ लेना चाहिए कि यहांपर यम नियमका लक्षण बत-लाया है वह त्रस जीवोंकी हिंसाके त्यागके लिये ही बतलाया है। पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक त्रस जीवोंकी हिंसा-का त्याग जन्मभरके लिये कर देता है अन्यथा उसके पांचवां गुणस्थान ही नहीं होता तथा चतुर्थ गुणस्थानवर्ती श्रावक अभ्यासरूपसे कुछ कालतक त्याग करता है फिर छोड देता है फिर करने लगता है इसीप्रकार अहिंसाका पालन करता रहता है परन्तु इसप्रकारकी खंडशः अहिंसाका पालन करता हुआ भी वह अपने चतुर्थ गुण-स्थानमें होनेवाली क्रियाओंको पूर्ण रीतिसे जन्मभरतक पालन करता है। वही उसका दूसरा नियम कहलाता है ॥ १६८-१६९ ॥

ऊपर जो कुछ यम और नियमका स्वरूप बतलाया है उसको अच्छीतरह समझ कर अपनी शक्तिके अनु-सार, देशके अनुसार, कालके अनुसार और अपनी आयुके अनुसार गृहस्थोंको व्रत पालन करना चाहिए ॥ १७० ॥ जो पुरुष जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती है ऐसी क्रियाओंका त्याग नहीं कर सकता उसको पांचवें

ग्रहेणालं दर्शनेनैव पूर्यताम् ॥ १७१ ॥ व्रतस्थानक्रियां कर्तुमशक्योपि यदीप्सति । व्रतंमन्योपि संमोहाद्व्रताभासोस्ति न व्रती ॥ १७२ ॥ अलं कोलाहलेनालं कर्तव्याः

गुणस्थानमें आनेकी आवश्यकता नहीं है अर्थात् उसे अणुव्रत धारण नहीं करना चाहिए। उसको चतुर्थ गुण-
स्थानमें होनेवाली क्रियाएं ही पूर्णरीतिसे पालन करनी चाहिए ॥ १७१ ॥ जो पुरुष पांचवें गुणस्थानमें होनेवाली
क्रियाओंका पालन नहीं कर सकता अर्थात् अणुव्रतोंको धारण नहीं कर सकता अथवा त्रस जीवोंकी हिंसाका
त्याग नहीं कर सकता अथवा जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी क्रियाओंका त्याग नहीं कर सकता
तथापि वह यदि व्रतोंको धारण करना चाहे और अपनेको व्रती मानना चाहे तो भी वह व्रती नहीं हो सकता
किन्तु मोहनीयकर्मके उदय होनेसे उसको व्रताभासी अथवा व्रताभासोंको धारण करनेवाला कहते हैं। भावार्थ—
अप्रत्यख्यानावरण कषायके उपशम वा क्षयोपशम होनेसे अणुव्रत धारण किये जाते तभी त्रस जीवोंकी हिंसाका
त्याग करनेरूप परिणाम होते हैं। जिस श्रावकके सम्यग्दर्शन तो प्रगट हो गया है परन्तु अप्रत्यख्यानावरण
कषायके उपशम वा क्षयोपशम न होनेसे जो त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं कर सकता तथापि अणुव्रत धारण
करना चाहता है उसके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि जबतक उसके अप्रत्याख्यानावरणकषायका क्षयोपशमादिक
नहीं होता तबतक उसके अणुव्रत नहीं हो सकते क्योंकि अप्रत्यख्यानावरणकषायके होनेसे उसके वैसे परिणाम
ही नहीं हो सकते। यदि वैसे परिणामोंके न होनेपर भी वह व्रतोंको धारण कर ले तो उसको व्रती नहीं कह
सकते क्योंकि उसके वे व्रत व्रत नहीं हैं किन्तु व्रताभास हैं। व्रताभास उनको कहते हैं जो वास्तवमें व्रत तो न
हों किन्तु व्रतोंके समान मालूम पडते हों। ऐसे दिखाऊ व्रतोंको धारण करनेवाला वह व्रताभासी कहलाता है
॥ १७२ ॥ ग्रन्थकार कहते हैं कि व्यर्थके कोलाहल करनेसे कोई लाभ नहीं है। जिन क्रियाओंसे आत्माका
कल्याण होता हो ऐसी ही क्रियाएं श्रावकोंको करनी चाहिए क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष जितने आरम्भ वा कार्य
करते हैं उन सबसे अपने फलकी ही सिद्धि करते हैं। भावार्थ—व्रत धारण करनेका फल आत्माका कल्याण करना
है अतएव जिनसे आत्माका कल्याण हो ऐसी ही क्रियाएं करनी चाहिए ॥ १७३ ॥ "अणुव्रती श्रावकोंको

श्रेयसः क्रियाः। फलमेव हि साध्यं स्यात्सर्वारंभेण धीमता ॥ १७३ ॥ त्रसहिंसाक्रियात्यागशब्दः स्यादुपलक्षणम् । तेन भूकायिकादींश्च निःशंकं नोपमर्दयेत् ॥ १७४ ॥ किन्तु चैकाक्षजीवेषु भूजलादिषु पञ्चसु । अहिंसाव्रतशुद्धयर्थं कर्तव्यो यत्नो महान् ॥ १७५ ॥ त्रसहिंसाक्रियात्यागी महारम्भं परित्यजेत्। नारकाणां गतेर्बीजं नूनं तद्दुःखकारणम् ॥ १७६ ॥ उक्तं च। मिच्छो हु महारंभो णिस्सीलो तिव्वलोहसंजुत्तो। णिरयाउगं णिबद्धइ पावमयी रुद्दपरिणामो ॥ क्रूरं कृष्यादिकं

जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी समस्त क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिये" यह जो कहा गया है वह उपलक्षण है। लक्षणके लक्षणको उपलक्षण कहते हैं। जैसे किसीने कहा कि बिल्लीसे इस दूधको बचाना, इसका अर्थ यह है कि दूधकी रक्षा करना इष्ट है उसको बिल्ली कुत्ता आदि सबसे रक्षा करना चाहिए। इसीप्रकार जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी समस्त क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिए इसका अर्थ यह है कि जीवोंकी रक्षा करना सबप्रकारसे इष्ट है अतएव त्रस जीवोंकी रक्षा तो करनी ही चाहिए किंतु पृथ्वीकायिक जलकायिक आदि स्थावरकायिक जीवोंको निःशंक होकर उपमर्दन नहीं करना चाहिये। भावार्थ—त्रस जीवोंकी रक्षा करनेके साथ साथ यथासाध्य स्थावर जीवोंकी भी रक्षा करनी चाहिये ॥ १७४ ॥ अतएव अहिंसा अणुव्रतको शुद्ध बनाये रखनेके लिये पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक इन पांचों प्रकारके एकेन्द्रिय स्थावर जीवोंकी रक्षा करनेमें भी सबसे अधिक प्रयत्न करना चाहिए। भावार्थ—अपने सब कार्य यत्नाचारपूर्वक करने चाहिए जिससे स्थावर जीवोंकी भी रक्षा अच्छीतरह हो सके क्योंकि यत्नाचारपूर्वक कार्य किए बिना न तो स्थावर जीवोंकी रक्षा हो सकती है और न फिर त्रस जीवोंकी रक्षा हो सकती है ॥ १७५ ॥ जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती है ऐसी क्रियाओंको त्याग करनेवाले श्रावकको खेती आदिके समान महा आरंभोंका त्याग कर देना चाहिए क्योंकि महा आरंभ करना नरकगतिका कारण है तथा निश्चयसे नरकोंके महा दुःख देनेवाला है ॥ १७६ ॥ क्योंकि गोमट्टसारमें लिखा है कि जो मिथ्यादृष्टी है, महारंभ करनेवाला है, शीलरहित है, तीव्र लोभके वशीभूत है, पापरूप क्रियाओंको करनेवाला है और रौद्रपरिणामी है वह नरक आयुका बंध करता है।

कर्म सर्वतोपि न कारयेत् । वाणिज्यार्थं विदेशेषु शकटादि न प्रेषयेत् ॥ १७७ ॥ क्रयविक्रयवाणिज्ये क्रयेद्वस्तु त्रसोज्झितम् । विक्रयेद्वा तथा वस्तु नूनं सावद्यवर्जितम् ॥ १७८ ॥ वाणिज्यार्थं न कर्तव्योऽतिकाले धान्यसंग्रहः । घृततैलगुडादीनां भाण्डागारं न कारयेत् ॥ १७९ ॥ लाक्षालोष्टव्रणक्षारशस्त्रचर्मादिकर्मणाम् । हस्त्यश्ववृषादीना चतुष्पदानां च यावताम् ॥ १८० ॥ द्विपदानां च वाणिज्यं न कुर्याद्व्रतवानिह । महारम्भो भवत्येव पशुपाल्यादिकर्मणि ॥ १८१ ॥ शुककुर्कुर-

भावार्थ–वह नरकमें जाता है ॥१॥ अणुव्रती श्रावकोंको परिणामोंमें क्रूरता उत्पन्न करनेवाले खेती आदिके कार्य पूर्णरूपसे छोड देना चाहिए तथा व्यापार करनेके लिए (किसी मालको भेजने वा मंगानेके लिए) परदेशको गाडी आदि नहीं भेजने चाहिए ॥ १७७ ॥ यदि किन्हीं पदार्थोंके खरीदने वा बेचनेका व्यापार करना हो तो ऐसे पदार्थोंको खरीदना चाहिए जिनमें त्रस जीव न हों तथा जिनके खरीदनेमें बहुत सा पापकार्य न हो। इसीप्रकार ऐसे ही पदार्थ बेचने चाहिए जिनमें त्रस जीव न हों और जिनके बेचनेमें अधिक पाप न हो ॥१७८॥ व्यापार करनेके लिए गेहूं जौ आदि धान्योंका संग्रह बहुत दिन तक नहीं करना चाहिये, इसीप्रकार गुड तैल और घी आदि पदार्थोंका भंडार भी नहीं रखना चाहिये। भावार्थ–इन पदार्थोंका अधिक संग्रह नहीं करना चाहिये क्योंकि अधिक संग्रह करनेसे इनमें बहुतसे जीव आ जाते हैं और वे इनमें पड कर मरते रहते हैं। ॥ १७९ ॥ लाख, गूगुल, नील, लोहा, खार, शस्त्र, चमडा आदिका व्यापार नहीं करना चाहिए तथा इसीप्रकार हाथी घोडा बैल आदि पशुओंका व्यापार भी नहीं करना चाहिए । भावार्थ–लाख आदि पदार्थोंके व्यापार करनेमें असंख्यात जीवोंकी हिंसा होती है क्योंकि लाख असंख्यात जीवोंका पिंड है । लोहा खार शस्त्र आदिके व्यापारसे अनेक जीव मरते हैं। चमडा बिना हिंसाके उत्पन्न हो नहीं हो सकता तथा पशुओंका व्यापार करनेसे उनको महा दुःख होता है इसलिए ये सब व्यापार निषिद्ध हैं। श्रावकोंको कभी नहीं करने चाहिए।

१८० ॥ अणुव्रती श्रावकोंको दास दासी आदिका व्यापार भी नहीं करना चाहिए तथा पशुओंके पलनेका व्यापार भी नहीं करना चाहिए क्योंकि पशुओंके पालन करनेमें भी महा आरंभ होता है ॥ १८१ ॥ तोते, कुत्ते, बिल्ली, बंदर, सिंह, हिरण आदि पशुओंको भी नहीं पालना चाहिए क्योंकि ये सब पशु वा जानवर महा

मार्जारीकपिसिंहमृगादयः । न रक्षणीयाः स्वामित्वे महाहिंसाकरा यतः ॥ १८२ ॥ इत्यादिकाश्च यावन्त्यः क्रियास्त्रसबधात्मिकाः । न कर्तव्यास्त्रसानां हि हिंसाणुव्रत-धारिभिः ॥ १८३ ॥ सर्वसागारधर्मेषु देशशब्दोऽनुवर्तते । तेनानगारयोग्यायाः कर्तव्यास्ता अपि क्रियाः ॥ १८४ ॥ यथा समितयः पञ्च सन्ति तिस्रश्च गुप्तयः ।

हिंसा करनेवाले हैं। जो श्रावक इन पशुओंको पाल कर इनका स्वामी बनता है वह भी इनकी हिंसाके संबंधसे हिंसक कहलाता है। भावार्थ–हिंसक जीव समयानुसार हिंसा करते ही रहते हैं। जो गृहस्थ इन हिंसक जीवों-को पालता है वह उनका स्वामी होनेके कारण उस हिंसाका भागी होता है अतएव व्रती श्रावकोंको हिंसक जीव कभी नहीं पालने चाहिए ॥ १८२ ॥ त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करनेवाले अहिंसाणुव्रती श्रावकोंको ऊपर लिखीं क्रियाओंके समान त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवालीं समस्त क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिए। भावार्थ–वृक्षोंका बेचना, वनमें अग्नि लगवाना, भाडेपर गाडी घोडे चलाना, तेल आदिकी मिलें बनवाना, शरीरको छेदनेके व्यापार करना, तालाब कूओंको खाली करना, विषैले पदार्थोंका बेचना, हाथीदांत, चमरीगायके बाल, मक्खन लोनी आदिका बेचना आदि ऐसी बहुतसी क्रियाएं हैं जिनके करनेसे त्रस जीवोंकी हिंसा होती है, अणुव्रती श्रावकोंको ऐसी समस्त क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिए ॥ १८३ ॥

अहिंसा अणुव्रतीके कर्तव्य ऊपर दिखला चुके हैं। इनके सिवाय इतना और समझ लेना चाहिए कि गृहस्थोंके धर्ममें देश शब्द लगा हुआ है अर्थात् गृहस्थोंका धर्म एकदेश धर्म है और मुनियोंका धर्म सर्वदेश वा पूर्ण धर्म है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि मुनियोंका जो धर्म है उसीको एकदेशरूपसे पालन करना गृहस्थोंका धर्म है अतएव अणुव्रती श्रावकोंको मुनियोंके करनेयोग्य क्रियाओंमेंसे जो जो क्रियाएं गृहस्थ पालन कर सकते हैं अथवा उन क्रियाओंके जितने अंशोंको पालन कर सकते हैं उतनी क्रियाओंको अथवा उन क्रियाओंके उतने अंशोंको अवश्य पालन करना चाहिए ॥ १८४ ॥ आगे उन्हीं क्रियाओंको बतलाते हैं। जिसप्रकार पांचों महाव्रतोंका पालन करना मुनियोंका कर्तव्य है उसीप्रकार पांच समिति और तीन गुप्ति-योंका पालन करना भी मुनियोंका कर्तव्य है अतएव अणुव्रती श्रावक जिसप्रकार पांचों व्रतोंको एकदेशरूपसे

अहिंसाव्रतरक्षार्थं कर्तव्या देशतोऽपि तैः ॥ १८५ ॥ उक्तं तत्त्वार्थसूत्रेषु यत्तत्रावसरे यथा । व्रतस्थैर्याय कर्तव्या भावना पञ्च पञ्च च ॥ १८६ ॥ तत्सूत्रं यथा—
"तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च" तत्रापि हिंसात्यागव्रतरक्षार्थं—"वाग्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च" नचाशङ्क्यमिमाः पञ्च भावना
मुनिगोचराः । न पुनर्भावनीयास्ता देशतो व्रतधारिभिः ॥ १८७ ॥ यतोत्र देशशब्दोहि सामान्यादनुवर्तते । ततोऽणुव्रतसंज्ञेषु व्रतत्वान्नाव्यापको भवेत् ॥ १८८ ॥

पालन करता है उसीप्रकार उसको तीनों समितियोंको और पांचों गुप्तियोंको भी एकदेशरूपसे पालन करना चाहिए । जिसप्रकार पांचों समितियों और तीनों गुप्तियोंके पालन करनेसे महाव्रतोंकी रक्षा होती है उसीप्रकार एकदेशरूपसे समितियों और गुप्तियोंके पालन करनेसे अहिंसाणुव्रतकी रक्षा होती है अतएव अहिंसाणुव्रतकी रक्षा करनेके लिए श्रावकोंको एकदेशरूपसे समिति और गुप्तियोंका पालन अवश्य करना चाहिए ॥ १८५ ॥ अहिंसा अणुव्रतका स्वरूप कहते समय तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है कि व्रतोंको स्थिर रखनेके लिए प्रत्येक व्रतकी पांच पांच भावना करनी चाहिए ॥ १८६ ॥ तत्त्वार्थसूत्रका वह सूत्र यह है ।

"तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ।"

अर्थात् उन व्रतोंको स्थिर रखनेके लिए प्रत्येक व्रतकी पांच पांच भावनाएं हैं । उसमें भी अहिंसाणुव्रतकी रक्षा करनेके लिए नीचे लिखी पांच भावनाएं हैं ।

"वाग्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच"

अर्थात् वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन ये पांच अहिंसाणुव्रतकी भावनाएं हैं । आगे संक्षेपसे इन्हीं भावनाओंका निरूपण करते हैं ।

कदाचित् यहांपर कोई यह कहे कि इन भावनाओंका पालन करना मुनियोंका ही कर्तव्य है एकदेशव्रतोंको धारण करनेवाले अणुव्रती श्रावकोंको इन भावनाओंके पालन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, परंतु यहांपर ऐसी शंका करना सर्वथा अनुचित है, कभी नहीं करनी चाहिये क्योंकि गृहस्थोंके व्रतोंमें एकदेश शब्द सामान्य रीतिसे चला आ रहा है इसीलिए वह एकदेश शब्द अणुव्रतोंमें भी व्यापक नहीं है अर्थात् अव्यापक है क्योंकि

अलं विकल्पसंकल्पैः कर्तव्या भावना इमाः । अहिंसाव्रतरक्षार्थं देशतोऽणुव्रतादिवत् ॥ १८९ ॥ तत्र वाग्गुप्तिरित्युक्ता त्रसबाधाकरं वचः । न वक्तव्यं प्रमादाद्वा बधबन्धादिसूचकम् ॥ १९० ॥ अवश्यंभाविकार्येपि वक्तव्यं सकृदेव तत् । धर्मकार्येषु वक्तव्यं यद्वा मौनं समाश्रयेत् ॥ १९१ ॥ मनोगुप्तिर्यथानाम त्रसच्छेदे न

अणुव्रत भी व्रत है । भावार्थ—जो जो व्रत हैं उन सबमें एकदेश शब्द व्यापक है । जैसे व्रत पालना मुनियोंका कर्तव्य है परन्तु एकदेशव्रत वा अणुव्रत पालना गृहस्थोंका कर्तव्य है । जिसप्रकार एकदेश शब्द व्रतोंमें व्यापक है उसीप्रकार एकदेश शब्द समिति और गुप्तियोंमें वा इन भावनाओंमें व्यापक है । मुनियोंका मुख्य चारित्र तेरह प्रकारका बतलाया है । उस तेरहप्रकारके चारित्रको एकदेश पालन करना गृहस्थोंका कर्तव्य समझना चाहिये ॥ १८७-१८८ ॥ इस विषयमें अनेक विकल्प उठानेसे कोई लाभ नहीं है । यह निश्चित सिद्धांत है कि श्रावक जिसप्रकार अहिंसाव्रतकी रक्षा करनेकेलिए व्रतोंका एकदेशरूपसे वा अणुव्रतरूपसे पालन करता है उसीप्रकार उसको उसी अहिंसाव्रतकी रक्षा करनेके लिए इन भावनाओंका पालन करना चाहिये ॥ १८९ ॥ अब आगे इन पांचों भावनाओंमेंसे बचन गुप्तिका स्वरूप कहते हैं । बचनयोगको अपने वशमें रखना बचनगुप्ति है । गृहस्थ उसको पूर्णरूपसे पालन नहीं कर सकता इसलिये उसे ऐसे बचन नहीं कहने चाहिये जिनसे त्रस जीवोंको बाधा पहुंचे अथवा प्रमादसे ऐसे बचन भी नहीं कहने चाहिए जो त्रस जीवोंके बध बंधन आदिको सूचित करनेवाले हों ॥ १९० ॥ जो कार्य अवश्य करने पडेंगे उनके लिए एक बार कहना चाहिये । यह नियम रखना चाहिये कि धर्म-कार्योंमें तो सदा कहना वा बोलना चाहिये । धर्मकार्योंके सिवाय बाकीके कार्योंमें मौन धारण करना चाहिये । भावार्थ—जिन बचनोंसे किसी भी जीवको दुःख पहुंचनेकी सम्भावना हो ऐसे बचन अणुव्रती श्रावकोंको कभी नहीं चाहिए । धर्मकार्योंमें तो उसे चाहे जितना बोलना चाहिए परन्तु पापरूप कार्योंमें उसे मौन धारण करना चाहिए । अणुव्रती श्रावकोंके लिये यही एकदेश बचनगुप्तिका पालन करना है ॥ १९१ ॥ आगे गृहस्थोंके लिये एकदेश मनोगुप्तिका स्वरूप बतलाते हैं । यदि किसी त्रस जीवके छेदन भेदन करनेका कार्य आ पडे अथवा कोई अपराधी जीव सामने आ जाय तो भी अणुव्रती श्रावकको त्रस जीवोंके छेदन भेदन करनेके लिए कभी

चिन्तयेत् । समुत्पन्नेपि तत्कार्ये जने वा सापराधिनि ॥ १९२ ॥ संग्रामादिविधौ चिन्तां न कुर्यान्नैष्ठिको व्रती । अव्रती पाक्षिकः कुर्यादैवयोगात्कदाचन ॥१९३॥ नैष्ठिकोऽपि यदा क्रोधान्मोहाद्वा सङ्गरक्रियाम् । कुर्यात्तावतिकाले स भवेदात्मव्रताच्च्युतः ॥ १९४ ॥ त्रसहिंसाक्रियायां वा नापि व्यापारयेन्मनः । मोहाद्वापि प्रमादाद्वा स्वामिकार्येकृतेऽपि वा ॥ १९५ ॥ वीतरागोक्तधर्मेषु हिंसावद्यं न वर्तते । रूढिधर्मादिकार्येषु न कुर्यात्त्रसहिंसनम् ॥ १९६ ॥ रूढिधर्मे निषिद्धा चेत्कामार्थ-

चिन्तवन नहीं करना चाहिये ॥ १९२ ॥ व्रतोंको धारण करनेवाले नैष्ठिक श्रावकको युद्ध आदिका चिन्तवन कभी नहीं करना चाहिये । जो अव्रती पाक्षिक श्रावक हैं वे दैवयोगसे कभी कभी युद्धादिकका चिन्तवन करते हैं ॥ १९३ ॥ यदि कोई व्रतोंको करनेवाला नैष्ठिक श्रावक तीव्र क्रोधके उदयसे अथवा मोहनीयकर्मके उदयसे युद्ध करनेमें लग जाय तो वह जितने कालतक युद्ध करता है उतने कालतक अपने व्रतोंसे रहित हो जाता है । भावार्थ–युद्ध करना वा युद्धका चिन्तवन करना व्रती श्रावकका कर्तव्य नहीं है यदि कोई व्रती श्रावक किसीकारणसे युद्ध करनेमें प्रवृत्त हो जाय तो उतने समयतक उसे व्रतरहित समझना चाहिए ॥ १९४ ॥ इसीप्रकार अणुव्रती श्रावकको मोहसे अथवा प्रमादसे त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाली क्रियाओंमें अपना मन कभी नहीं लगाना चाहिये । यदि ऐसा कोई कार्य अपना न हो किन्तु अपने स्वामीका हो तो उस अपने स्वामीके ऐसे त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाले कार्योंमें भी व्रती श्रावकको अपना मन नहीं लगाना चाहिए । भावार्थ–ऐसे कार्योंका कभी चिन्तवन नहीं करना चाहिये ॥ १९५ ॥ यह निश्चित सिद्धांत है कि वीतराग सर्वज्ञदेव भगवान अरहन्तदेवके कहे हुए धर्ममें तो हिंसा करनेवाले पापकार्य हैं ही नहीं तथा जो रूढिसे माने हुए धार्मिक कार्य हैं उनके लिये भी अणुव्रती श्रावकोंको कभी भी त्रस जीवोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये । भावार्थ–संसारमें ऐसे बहुतसे कार्य हैं जो रूढिसे करने पडते हैं । ऐसे कार्योंमें भी त्रस जीवोंकी हिंसा कभी नहीं करनी चाहिए । अभिप्राय यह है कि अणुव्रती श्रावकको किसीप्रकारसे भी त्रस जीवोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये ॥ १९६ ॥ अणुव्रती श्रावकोंको यह स्वयं ही समझ लेना चाहिये कि जब रूढिसे माने गये धार्मिक कार्योंमें ही त्रस जीवोंकी हिंसाका निषेध किया गया है तो फिर अर्थ और काम पुरुषार्थके लिए तो कहना ही क्या है क्योंकि जहांपर बडे बडे

योस्तु का कथा। मज्जन्ति द्विरदा यत्र मशकास्तत्र किं पुनः ॥ १९७ ॥ हृषीकार्थादिदुर्ध्यानं वञ्चनार्थं स नैष्ठिकः। चिन्तयेत्परमात्मानं स्वं शुद्धं चिन्मयं महः ॥ १९८ ॥ यद्वा पञ्चपरमेष्ठिस्वरूपं चिन्तयेन्मुहुः। यद्वा त्रैलोक्यसंस्थानं जीवांस्तद्वार्तिनोऽथवा ॥ १९९ ॥ जगत्कायस्वभावौ वा चिन्तयेत्तन्मुहुर्मुहुः। द्वादशात्रा-

हाथी डूब जाते हैं वहांपर मच्छरोंकी तो बात ही क्या है। भावार्थ—धन कमानेके कार्योंको अर्थपुरुषार्थ कहते हैं और अपनी इच्छाओंकी पूर्ति करनेको कामपुरुषार्थ कहते हैं। अणुव्रती श्रावकोंको न तो किसी रूढिसे माने गये वा किये गये कार्योंमें त्रस जीवोंकी हिंसा करनी चाहिये, न धन कमानेके किसी भी कार्यमें त्रस जीवोंकी हिंसा करनी चाहिये और न अपनी इच्छाओंको पूरी करनेके लिये वा वाजीकरण आदि प्रयोगोंके लिए कभी भी त्रस जीवोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये ॥ १९७ ॥ इंन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न हुए आर्तध्यान वा रौद्रध्यानोंसे बचनेके लिये अथवा किसी भी प्रकारके अशुभ ध्यानसे बचनेके लिये व्रतोंको धारण करनेवाले नैष्ठिक श्रावकको सदा परमात्माका चिन्तवन करते रहना चाहिये अथवा शुद्ध चैतन्यस्वरूप और देदीप्यमान अपने आत्माका चिंतवन करना चाहिये। भावार्थ—अणुव्रती श्रावकको अपना मन धर्मध्यानमें लगाये रखना चाहिये जिससे वह अशुभ ध्यानोंसे बचता रहे ॥ १९८ ॥ अथवा अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इन पांचों परमेष्ठियोंके स्वरूपका बार बार चिन्तवन करते रहना चाहिये अथवा तीनों लोकोंका आकार चिन्तवन करना चाहिये वा तीनों लोकोंमें भरे हुए जीवोंके स्वरूपका चिन्तवन करते रहना चाहिए। अभिप्राय यह है कि आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन चारोंप्रकारके धर्मध्यानोंका चिंतवन करते रहना चाहिए ॥ १९९ ॥ अथवा जगत और कायके स्वभावका चिंतवन बार बार करते रहना चाहिए। यह संसार दुःखमय है, इसमें कोई भी जीव सुखी नहीं है, इस अनादि अनिधन संसारमें परिभ्रमण करता हुआ यह जीव नरक निगोद आदि चारों गतियोंके महादुःख सदा भोगता रहता है, इसप्रकार संसारके स्वरूपका चिंतवन करनेसे सम्यग्दर्शनका संवेगगुण बढता है। इसीप्रकार यह शरीर महा अपवित्र है, हड्डी मांस रुधिर आदि अपवित्र और घृणित पदार्थोंसे बना है तथा मल मूत्र आदि महा घृणित पदार्थ इससे सदा बहते रहते हैं, इसप्रकार शरीरका स्वभाव चिंतवन करनेसे

प्यनुप्रेक्षाः धारयेन्मनसि ध्रुवम् ॥ २०० ॥ यद्वा दृष्टिचरानत्र जिनबिम्बांश्च चिन्तयेत् । मुनीन् देवालयांश्चापि तत्पूजादिविधीनपि ॥ २०१ ॥ इत्याद्यालम्बनांश्चित्ते भावयेद्भावशुद्धये । न भावयेत्कदाचिद्वै त्रसहिंसां क्रियां प्रति ॥२०२॥ उक्ता वाग्गुप्तिरत्रैव मनोगुप्तिस्तथैव च । अधुना कायगुप्तेश्च भेदान् गृह्णातिसूत्रवित् ॥२०३॥ तत्रेर्यादाननिःक्षेपभावनाःकायसंश्रिताः । भावनीयाः सदाचारैराजवंजवविच्छिदे ॥ २०४ ॥ अत्रेर्यावचनं यावद्धर्मोपकरणं मतम् । तस्यादान च निःक्षेपःसमासात्तत्तथा स्मृतः ॥ २०५ ॥ अस्यार्थो मुनिसापेक्षः पिच्छिका च कमण्डलुः । त्रसरक्षाव्रतापेक्षः पूजोपकरणानि च ॥२०६॥ घण्टाचामरदीपाम्भः परछत्रध्वजादिकान् ।

वैराग्य गुण बढता है। अतएव संवेग और वैराग्य गुण बढानेके लिए तथा अपध्यानसे बचनेके लिए अणुव्रती श्रावकको सदा शरीर और जगतका स्वभाव चिंतवन करते रहना चाहिए अथवा अणुव्रती श्रावकको अपने मनमें बारह अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन करते रहना चाहिए ॥ २०० ॥ अथवा जहां जहांपर भगवान जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाओंके दर्शन किए हों उन सबका चिंतवन करना चाहिए, अथवा जिन जिन मुनियोंके दर्शन किये हुए हों उनका चिंतवन करना चाहिए, जिन जिन जिनालयोंके दर्शन किये हों उन जिनालयोंका चिंतवन करना चाहिए तथा भगवान जिनेन्द्रदेवके अभिषेककी विधि वा पूजाकी विधि आदिका चिंतवन करना चाहिए ॥ २०१ ॥ अपने परिणामोंको शुद्ध रखनेके लिए इसप्रकार ऊपर लिखे हुए परिणामोंको निर्मल रखनेके जितने साधन हैं उन सबका चिन्तवन करते रहना चाहिए, परंतु जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी क्रियाओंका चिन्तवन कभी नहीं करना चाहिए ॥२०२॥ इसप्रकार ऊपर लिखे अनुसार वचनगुप्ति और मनोगुप्तिका स्वरूप बतलाया. अब आगे जैनसूत्रोंके जाननेवाले विद्वान् कायगुप्तिके भेदोंको इसप्रकार ग्रहण करते हैं ॥ २०३ ॥

ईर्या आदाननिक्षेपण भावनाएं शरीरके आश्रित हैं अतएव संसारके दुःखोंको नाश करनेके लिए अणुव्रत आदि सदाचरणोंको पालन करनेवाले श्रावकोंको इन भावनाओंका पालन अवश्य करना चाहिए ॥ २०४ ॥ यहांपर ईर्या शब्दका अर्थ धर्मोपकरण है तथा आदान शब्दका अर्थ ग्रहण करना और निक्षेप शब्दका अर्थ रखना है। उन धर्मोपकरणोंका ग्रहण करना तथा रखना सो संक्षेपसे ईर्यादाननिक्षेप भावना कहलाती है ॥२०५॥ इसका भी अर्थ यह है कि मुनियोंके धर्मोपकरण पीछी और कमंडलु हैं. तथा त्रस जीवोंकी रक्षा करनेरूप अणु-

स्नानार्थं जलादींश्च धौतवस्त्रादिकानपि ॥ २०७ ॥ देशनावसरे शास्त्रं दानकाले तु भोजनम् । काष्ठपट्टादिकं शुद्धं काले सामायिकेऽपि च ॥ २०८ ॥ इत्यादयनेक भेदानि धर्मोपकरणानि च । निष्प्रमादतया तत्र कार्यो यत्नो बुधैर्यथा ॥ २०९ ॥ दृग्भ्यां सम्यग्निरीक्ष्यादौ यत्नतः प्रतिलेखयेत् । समादाय ततस्तत्र कार्ये व्यापारयल्यपि ॥ २१० ॥ दृष्टिपूतं यथादानं निक्षेपोपि यथा स्मृतः । दृष्ट्वा स्थानादिकं शुद्धं तत्र तानि विनिक्षिपेत् ॥ २११ ॥ इतः समितयः पञ्च वक्ष्यन्ते नातिविस्त-

व्रतोंको धारण करनेवाले श्रावकोंके धर्मोपकरण पूजाके उपकरण हैं अर्थात् पूजाकी सामग्री, बर्तन, स्थान, पुस्तक आदि पूजा करनेमें जो जो पदार्थ काममें आते हैं वे सब पूजाके उपकरण कहलाते हैं ॥ २०६ ॥ इनके सिवाय घंटा, चमर, दीपक, जल, छत्र, ध्वजा, स्नान करनेका जल और धुले हुए वस्त्र आदि भी सब पूजामें काम आते हैं इसलिए ये सब भी पूजाके उपकरण कहलाते हैं ॥२०७॥ जो श्रावक धर्मोपदेश देता है उस समय उसका उपकरण शास्त्र है, जिस समय वह दान देता है उस समय बना हुआ तैयार भोजन भी उसका धर्मोपकरण है तथा सामायिकके समय बैठनेका आसन वा काठका पाटा आदि धर्मोपकरण है। अभिप्राय यह है कि धार्मिक क्रियाओंमें जो जो पदार्थ काम आते हैं वे सब धर्मोपकरण कहलाते हैं ॥ २०८ ॥ इसप्रकार श्रावकोंके धर्मोपकरणोंके अनेक भेद हैं। बुद्धिमानोंको इन सब कार्योंमें सब तरहका प्रमाद छोड कर यत्न वा यत्नाचार करना चाहिए। वह यत्नाचार किसप्रकारका करना चाहिए इसी बातको आगे दिखलाते हैं ॥ २०९ ॥ सबसे पहले उन पदार्थोंको नेत्रोंसे अच्छीतरह देख लेना चाहिए फिर यत्नाचारपूर्वक उसको कोमल वस्त्रसे झाड पोंछ लेना चाहिए और फिर उसको वहांसे उठाना चाहिए। इसप्रकार उन धर्मोपकरणको उठा कर फिर उसको जिस कार्यमें लगाना हो उस कार्यमें लगाना चाहिए। उस धर्मोपकरणसे कार्य लेते समय भी किसी जीवका घात न हो जाय, इस बातका ध्यान रखना चाहिये ॥२१०॥ जिसप्रकार उस पदार्थको नेत्रोंसे देख कर उठाया था उसीप्रकार नेत्रोंसे देख कर तथा कोमल वस्त्रसे झाड कर शोध कर उस पदार्थको रखना चाहिए तथा रखते समय जिस स्थानपर रखना हो उस स्थानको भी नेत्रोंसे देख लेना चाहिये तथा कोमल वस्त्रसे झाड कर शुद्ध कर लेना चाहिए इसप्रकार स्थान और पदार्थ दोनोंको देख शोध कर तब उस पदार्थको रखना चाहिये, इसप्रकार संक्षेपसे श्रावकोंके पालन

रात् । ग्रन्थगौरवतोऽप्यत्र नोक्तास्ताः संयतोचिताः ॥ २१२ ॥ संयतासंयतस्यास्य प्रोक्तस्य गृहमेधिनः । समितयो या योग्याः स्युर्वक्ष्यन्ते ताः क्रमादपि ॥२१३॥ ईर्यासमितिरप्यस्ति कर्तव्या गृहमेधिना । अत्रेर्याशब्दो वाच्योऽस्ति मार्गोऽप गतिगोचरः ॥ २१४ ॥ दृष्ट्वा दृष्ट्वा शनैः सम्यग्युगदध्नां धरां पुरः । निष्प्रमादो गृही गच्छेदीर्यासमितिरुच्यते ॥ २१५ ॥ किञ्च तत्र विवेकोऽस्ति विधेयस्त्रसरक्षकैः । बहुत्रसाकुले मार्गे न गन्तव्यं कदाचन ॥ २१६ ॥ तत्र विचार्या प्रागेव देश-

करने योग्य कायगुप्तिका स्वरूप कहा ॥ २११ ॥ अब आगे संक्षेपसे पांचों समितियोंका स्वरूप कहते हैं । यहां पर केवल अणुव्रती श्रावकोंके पालन करने योग्य समितियोंका स्वरूप कहते हैं । ग्रंथ बढ जानेके डरसे मुनियोंके पालन करने योग्य समितियोंका स्वरूप इस ग्रंथमें नहीं कहा है ॥ २१२ ॥ ऊपर जिस अणुव्रती श्रावककी क्रियाओंका वर्णन करते चले आ रहे हैं ऐसे संयतासंयत गृहस्थके पालन करने योग्य जो समितियां हैं उन्हींको यहांपर क्रमसे कहते हैं ॥ २१३ ॥

पांचों समितियोंमें पहली ईर्यासमिति है वह भी अणुव्रती श्रावकको पालन करनी चाहिए । यहांपर ईर्या शब्दका अर्थ मार्गमें गमन करना है ॥२१४॥ गृहस्थोंको आगेकी चार हाथ जमीन देख कर तथा प्रमादको छोड कर धीरे धीरे अच्छीतरह बार बार देखते हुए गमन करना चाहिए, इसीको ईर्यासमिति कहते हैं ॥ ११५ ॥ इसमें भी त्रस जीवोंकी रक्षा करनेवाले श्रावकोंको बहुतसा विचार करना चाहिए और वह विचार यह है कि श्रावकोंको ऐसे मार्गमें कभी भी गमन नहीं करना चाहिए जिसमें बहुतसे त्रस जीव भरे हों ॥ २१६ ॥ देश और कालकी गतिके अनुसार उसका विचार पहलेसे ही कर लेना चाहिए अथवा उस मार्गको देखनेवाले सज्जन लोगोंसे पूछ लेना चाहिए । भावार्थ—प्रायः वर्षाके समयमें अनेक जीव उत्पन्न हो जाते हैं तथा वर्षा भिन्न भिन्न समयमें हुआ करती है । कहीं वैशाखसे पानी बरसना प्रारंभ हो जाता है, कहीं जेठसे प्रारंभ होता है और कहीं असाढसे प्रारंभ होता है । जिस देशको जाना हो उस दशको जाते समय इस बातका भी विचार कर लेना चाहिए । इसके सिवाय भिन्न भिन्न देशमें भिन्न भिन्न समयमें जीवोंकी उत्पत्ति होती है अतएव जीवोंके उत्पन्न होनेके समयका भी विचार कर लेना चाहिए । इन सब बातोंका विचार कर और उस देश वा मार्गको जाननें-

कालगतिर्यथा । प्रष्टव्याः साधवो यद्वा तत्तन्मार्गावलोकिनः ॥ २१७ ॥ निश्चित्य प्रासुकं मार्गं बहुत्रसैरनाश्रितम् । ईर्यासमितिसंशुद्धस्तत्र गच्छेनत्रचान्यथा ॥२१८॥ गच्छंस्तत्रापि दैवाच्चेत्पुरोमार्गस्त्रसाकुलः । तदा व्याघुट्टनं कुर्यात्कुर्याद्वा वीरकर्मतत् ॥ २१९ ॥ वीरकर्म यथा तत्र पर्यंकाद्यासनेन वा । कायोत्सर्गेण वा तिष्ठेद्योगिवद्यो-गमार्गवित् ॥ २२० ॥ यावत्तस्योपसर्गस्य निवृत्तिर्वा वपुःक्षतिः । यद्वावधिर्यथाकालं नीत्वाऽस्तीतस्ततो गतिः ॥२२१॥ सर्वारम्भेण तात्पर्यं प्रत्यक्षात्त्रससंकुले ।

वाले सज्जनोंसे पूछ कर वा निर्णय कर गमन करना चाहिए ॥ २१७ ॥ गमन करनेके पहले यह निश्चय कर लेना चाहिए कि जिस मार्गसे जाना है वह प्रासुक है या नहीं अथवा वह अनेक त्रस जीवोंसे रहित है या नहीं जब वह मार्ग प्रासुक वा जीवजंतुओंसे रहित हो तथा उसमें त्रस जीवोंका आश्रय न हो तब ईर्यासमितिसे उस मार्गको शोधते हुए गमन करना चाहिए यदि ऐसा मार्ग न हो तो उस मार्गसे कभी गमन नहीं करना चाहिए ॥ २१८ ॥ जिस मार्गका प्रासुक होने तथा त्रस जीवोंसे रहित होनेका निश्चय हो चुका है उस मार्गमें गमन करते हुए यदि दैवयोगसे आगेका मार्ग त्रस जीवोंसे भरा हुआ हो तो वहांसे लौट आना चाहिए अथवा वहींपर बैठ कर वीरकर्म करना चाहिये ॥ २१९ ॥ आगे वीरकर्मका स्वरूप कहते हैं । योगकी विधिको जाननेवाला जो श्रावक योगियोंके समान पर्यंकासनसे अथवा कायोत्सर्गसे एक स्थानपर विराजमान होता है उसको वीरकर्म कहते हैं । इस वीर कर्ममें उस श्रावकको जबतक वह उपसर्ग दूर न हो जाय अथवा जबतक अपना शरीर नाश न हो जाय तबतक वहींपर विराजमान रहना पडता है अथवा जबतक उसकी मर्यादाका समय पूरा हो जाय अथवा इधर उधरसे जानेका मार्ग हो जाय तबतक उसको वहीं विराजमान रहना पडता है । भावार्थ—जिसको महाशक्तिको धारण करनेवाले वीरपुरुष ही कर सकें उसको वीरकर्म कहते हैं । यदि किसी मार्गमें जाते हुए अणुव्रती श्रावकको आगेके उस मार्गमें त्रस जीवोंका समुदाय मिल जाय और ऐसी अवस्था उपस्थित हो जाय कि बिना उन त्रस जीवोंका घात किये आगे चलना असम्भव हो जाय तो फिर उस श्रावकके लिए दो ही उपाय हैं । सबसे अच्छा उपाय तो उसका लौट आना है । यदि वह लौटना न चाहे और त्रस जीवोंके घातके डरसे आगे भी न जाना चाहे तथा वह यथेष्ट शक्तिको धारण करनेवाला धीरवीर हो तो उसे वीरकर्म करना चाहिये अर्थात् जब-

मार्गे पादौ न क्षेप्तव्यौ व्रतिनां मरणावधि ॥ २२२ ॥ किञ्च रजन्यां गमनं न कर्तव्यं दीर्घध्वनि । दृष्टिचरे शुद्धे स्वल्पे न निषिद्धा मार्गेगतिः ॥ २२३ ॥ अश्वा-
धारोहणं मार्गे न कार्यं व्रतधारिणा । ईर्यासमितिसंशुद्धिः कुतःस्यात्तत्र कर्मणि ॥ २२४ ॥ इतीर्यासमितिः प्रोक्ता संक्षेपाद्व्रतधारिणः । यद्गोपासकाध्ययनात्

तक वह उपसर्ग दूर न हो जाय अथवा अपना शरीर नष्ट न हो जाय अथवा उस उपसर्गके कालकी मर्यादा समाप्त न हो जाय वा इधरउधरसे मार्ग न हो जाय तबतक उसको वहींपर कायोंत्सर्गसे खडे हो कर पंचपरमेष्ठीका ध्यान करना चाहिये अथवा पद्मासनसे बैठ कर परमेष्ठीका ध्यान करना चाहिये, इसीको वीरकर्म कहते हैं ॥ २२०-२२१ ॥ इस समस्त कथन कहनेका अभिप्राय यह है कि जो मार्ग प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले त्रस जीवोंसे भरा हो उस मार्गमें अणुव्रती श्रावकको मरनेका समय आनेपर भी अपने पैर नहीं रखने चाहिये। भावार्थ—समाधिमरण धारण कर प्राणोंका त्याग करना अच्छा परन्तु त्रस जीवोंसे भरे हुए मार्गमें पैर रखना अच्छा नहीं क्योंकि ऐसे मार्गमें पैर रखनेसे वा चलनेसे असंख्यात त्रस जीवोंका घात हो जाता है ॥२२२॥ इसी प्रकार अणुव्रती श्रावकको किसी लम्बे मार्गमें रातको नहीं चलना चाहिये परन्तु जो मार्ग नेत्रोंसे देखा हुआ है, शुद्ध है और छोटा है उस मार्गमें रातमें चलनेका निषेध नहीं है। भावार्थ—आवश्यक काम पडनेपर अणुव्रती श्रावक रातको परिचित तथा शुद्ध मार्गमें तो जा सकता है परन्तु अपरिचित और लम्बे मार्गमें उसको रातमें नहीं चलना चाहिये क्योंकि सम्भव है कि उस मार्गमें त्रस जीव हों और दिखाई न पडनेके कारण वे रातमें दब कर मर जांय ऐसे इसलिये मार्गमें दिनमें ही चलना चाहिये ॥ २२३ ॥ अणुव्रती श्रावकको घोडे गाडी आदिकी सवारीपर चढ कर भी मार्गमें नहीं चलना चाहिये क्योंकि घोडे आदिकी सवारीपर चढ कर चलनेमें उसके ईर्यासमितिकी शुद्धि किसप्रकार हो सकती है। भावार्थ—अहिंसा अणुव्रत पालन करनेवाले श्रावकको भी जब सवारीमें चलनेका निषेध है तब फिर ब्रह्मचारी और क्षुल्लक आदिको तो कभी सवारीमें चलना ही नहीं चाहिये ॥२२४॥ इसप्रकार अणुव्रती श्रावकोंके पालन करने योग्य ईर्यासमितिका स्वरूप अत्यन्त संक्षेपसे बतलाया। इसका विशेष स्वरूप वा विस्तारपूर्वक स्वरूप उपासकाध्ययनोंसे वा श्रावकाचारोंसे जान लेना चाहिये ॥ २२५ ॥

ज्ञातव्यातीवविस्तरात् ॥ २२५ ॥ अप्यस्ति भाषासमितिः कर्तव्या सद्भवासिभिः । अवश्यं देशमात्रत्वात्सर्वथा मुनिकुंजरैः ॥ २२६ ॥ वचो धर्माश्रितं वाच्यं वरं मौनमथाश्रयेत् । हिंसाश्रितं न तद्वाच्यं भाषासमितिरिष्यते ॥ २२७ ॥ इतिसंक्षेपतस्तस्या लक्षणं चात्र सूचितम् । मृषात्यागव्रताख्याने वक्ष्यामीषत्सविस्तरात् ॥ २२८ ॥ एषणासमितिः कार्या श्रावकैर्धर्मवेदिभिः । यया सागारधर्मस्य स्थितिर्मुनिव्रतस्य च ॥ २२९ ॥ यतो व्रतसमूहस्य शरीरं मूलसाधनम् । आहारस्तस्य मूलं

दूसरी समितिका नाम भाषासमिति है। उस भाषासमितिका एकदेश पालन गृहस्थोंको अवश्य करना चाहिये क्योंकि इसका पूर्ण पालन मुनिराज ही करते हैं। भावार्थ–भाषासमितिका पालन पूर्णरीतिसे मुनिराज करते हैं और एकदेशरूपसे अणुव्रती श्रावकोंको पालन करना चाहिये ॥ २२६ ॥ अणुव्रती श्रावकोंको धर्मरूप ही बचन कहने चाहिये। यदि धर्मरूप बचन कहते न बने तो फिर मौन धारण करना चाहिए। जिन बचनोंसे हिंसा होना सम्भव हो अथवा जो बचन हिंसात्मक हों ऐसे बचन श्रावकोंको कभी नहीं कहने चाहिये। हिंसात्मक बचन कहनेका त्याग करना और धर्मरूप बचन कहना ही श्रावकोंके लिये भाषासमिति कही जाती है ॥२२७॥ इसप्रकार यहांपर संक्षेपसे भाषासमितिका स्वरूप कहा है। इसका थोडासा विशेष स्वरूप अथवा थोडेसे विस्तारके साथ इसका स्वरूप आगे सत्यणुव्रतका स्वरूप कहते समय कहेंगे ॥ २२९ ॥

तीसरी समितिका नाम एषणासमिति है। धर्मके स्वरूपको जाननेवाले श्रावकोंको इस एषणासमितिका पालन भी अवश्य करना चाहिये क्योंकि गृहस्थधर्मकी स्थिति और मुनियोंके व्रतोंकी स्थिति इस एषणासमिति पर ही निर्भर है। भावार्थ–एषणासमितिके पालन करनेसे ही गृहस्थधर्मका निर्वाह हो सकता है क्योंकि दान देना गृहस्थधर्मका मुख्य कर्तव्य है और वह पात्रदान एषणासमितिके पालन किये बिना नहीं सकता इस लिये गृहस्थ धर्मका निर्वाह भी एषणा समितिके पालन करनेसे ही हो सकता है। इसीप्रकार एषणा समितिके पालन करनेसे ही श्रावक पात्रदान दे सकता है तथा पात्रदानकी प्रवृत्ति होनेसे ही मुनिराज अपने व्रतोंको पालन कर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं अतएव मोक्षका प्राप्त करना वा तपश्चरण महाव्रत आदिका पालन करना सब गृहस्थोंकी एषणासमितिपर निर्भर है। इसलिये श्रावकोंको एषणासमितिका पालन अवश्य करना चाहिये

स्यादेषणासमितावसौ ॥ २३० ॥ एषणासमितिर्नाम्ना संक्षेपाल्लक्षणादपि । आहारशुद्धिराख्याता सर्वव्रतविशुद्धये ॥ २३१ ॥ उक्तमांसाद्यतीचारैर्वर्जितो योऽशना-

॥ २२९ ॥ गृहस्थोंको एषणासमितिका पालन करना अत्यावश्यक है क्योंकि व्रतोंके समूहको पालन करनेका मूल साधन शरीर है। यदि शरीर न हो तो कोई किसीप्रकारका तप वा व्रत पालन नहीं हो सकता तथा शरीरका मूल साधन आहार है क्योंकि बिना आहारके यह शरीर टिक नहीं सकता और उस आहारका प्राप्त होना एषणासमितिके पालनसे ही होता है। यदि श्रावकजन एषणासमितिका पालन न करें तो मुनियोंको आहारकी प्राप्ति हो नहीं सकती अतएव मुनिजन शुद्ध आहार ग्रहण कर तपश्चरण करते हुए मोक्ष प्राप्त करते रहें इसके लिए प्रत्येक गृहस्थको इस एषणासमितिका पालन अवश्य करना चाहिए ॥ २३० ॥ समस्त व्रतोंको शुद्ध पालन करनेके लिए आहारकी शुद्धि रखना ही एषणासमिति है तथा संक्षेपसे यही एषणासमितिका लक्षण है। भावार्थ—इस जीवकी जैसी भोजनसामग्री होती है वैसे ही इसके परिणाम होते हैं। प्रायः देखा जाता है कि मांस खानेवाले मुसलमान आदिकोंके परिणाम सदा क्रूर ही बने रहते हैं तथा साधारण आहार लेनेवालोंके परिणाम प्रायः कोमल होते हैं। इसी प्रकार शुद्ध और निर्दोष आहार लेनेवाले मुनियोंके परिणाम सदा शुद्ध रहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि परिणामोंका शुभ अशुभ वा शुद्ध होना आहारपर निर्भर है। जो जैसा आहार करता है उसके वैसे ही परिणाम होते हैं इसीलिए आचार्योंने परिणामोंको शुद्ध रखनेके लिए आहारकी शुद्धता बतलाई है और आहारकी शुद्धता ही एषणासमिति है अतएव मोक्षकी इच्छा करनेवाले श्रावकोंको मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिसे सदा बनी रहनेके लिए एषणासमितिका पालन अवश्य करना चाहिए। वर्तमान समयमें प्रायः श्रावकोंके परिणाम शुभ वा धार्मिक नहीं देखे जाते इसका मूल कारण यही है कि उन लोगोंकी आहारशुद्धि नहीं रही है। आहारशुद्धि न होनेसे ही लोगोंके परिणाम मिथ्यारूप परिणत चल जाते हैं अतएव सबसे पहले आहारशुद्धिका रखना श्रावकोंका सबसे पहला कर्तव्य है। यही मोक्षमार्गकी जड है ॥ २३१ ॥ पहले जो मांस मद्य मधु उदंबर आदिके अतिचार बतलाए हैं उनसे रहित भोजन करना शुद्ध आहार कहलाता है।

दिकः । स एव शुद्धो नान्यस्तु मांसातीचारसंयुतः ॥ २३२ ॥ सोपि शुद्धो यथाभक्तं यथाकालं यथाविधिः । अन्यथा सर्वशुद्धोऽपि स्यादशुद्धवदेनकृत् ॥ २३३ ॥
काले पूर्वाह्णिके यावत्परतोऽपराह्णेऽपि च । यामस्यार्द्धं न भोक्तव्यं निशायां चापि दुर्दिने ॥ २३४ ॥ याममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लङ्घयेत् । आहारस्यास्त्ययं

जिस भोजनमें मांसादिकके अतिचार लगें वह भोजन कभी शुद्ध नहीं कहला सकता ॥ २३२ ॥ अणुव्रती श्रावकोंको वह शुद्ध और यथायोग्य भोजन भी समयके अनुसार और विधिके अनुसार ग्रहण करना चाहिए। यदि वह भोजन समय और विधिके अनुसार ग्रहण न किया गया हो तो सबप्रकारसे शुद्ध होनेपर भी वह अशुद्ध और पाप उत्पन्न करनेवाला कहलाता है ॥ २३३ ॥

भोजनका समय दोपहरसे पहले पहले है अथवा दोपहरके बाद दिन ढलेका समय भी भोजनका समय है, अणुव्रती श्रावकोंको सूर्य निकलनेके बाद आधे पहरतक भोजन नहीं करना चाहिए, इसीप्रकार सूर्य अस्त होनेके आधे पहर पहले भोजन कर लेना चाहिए। दिन निकलनेके समय और अस्त होनेके समय आधा पहर बचा देना चाहिए। इसीप्रकार अणुव्रती श्रावकको रातमें सर्वथा भोजन नहीं करना चाहिए तथा जिस दिन पानी बरस रहा हो, काली घटा छाई हो और उस घटाके कारण अंधेरा सा हो गया हो उस समय भी भोजन नहीं करना चाहिए ॥ २३४ ॥ अणुव्रती श्रावकोंको प्रायः पहले पहरमें भोजन नहीं करना चाहिए। (क्योंकि वह समय मुनियोंके भोजनका समय नहीं है। मुनिलोग प्रायः दूसर पहरमें भोजनके लिए निकलते हैं तथा मुनियोंको आहार दे कर वा उस समयतक पात्रकी प्रतीक्षा कर भोजन करना श्रावकका कर्तव्य है अतएव श्रावकोंको पहले पहरमें भोजन नहीं करना चाहिए, इसीप्रकार अणुव्रती श्रावकोंको दोपहरका समय उल्लंघन भी नहीं करना चाहिए अर्थात् दोपहरसे पहले पहले भोजन कर लेना चाहिए। अणुव्रती श्रावकोंके लिए यही आहार ग्रहण करनेका समय है। यह ध्यान रखना चाहिए कि अणुव्रती गृहस्थोंके लिए यह भोजनका समय बतलाया है औषधि और जलका समय नहीं बतलाया।

भावार्थ—सूर्यके उदय होनेके आधे पहरतक तथा अस्त होनेके आधे पहर पहले अणुव्रती श्रावकोंके लिए

कालो नौषधादेर्जलस्य वा ॥ २३५ ॥ संग्रामादिदिने हिंस्रे चन्द्रसूर्यादुपग्रहे । अन्यत्राप्यवयोगेषु भोजनं नैव कारयेत् ॥ २३६ ॥ उच्यते विधिरत्रापि भोजयेन्नाशुचिगृहे । तमश्छन्नेऽथ त्रसादिबहुजन्तुसमाश्रिते ॥ २३७ ॥ जैमनीयादिजीवानां हिंस्राणां दृष्टिगोचरे । अश्वादिपशुसंकीर्णे स्थाने भोज्यं न जातुचित् ॥ २३८ ॥ अन्तरायाश्च सन्त्यत्र श्रावकाचारगोचराः । अवश्यं पालनीयास्ते त्रसहिंसानिवृत्तये ॥२३९॥ दर्शनात्स्पर्शनाच्चैव मनसि स्मरणादपि । श्रवणाद्गन्धनाच्चापि रसनादन्त-

भोजनका निषेध किया है परंतु जल और औषधिका निषेध नहीं है, जल और औषधि वह उस समयमें भी ले सकता है ॥ २३५ ॥ जिस दिन कोई भारी युद्ध हो रहा हो अथवा जिस दिन अनेक जीवोंकी हिंसा हो रही हो, जिस दिन सूर्यग्रहण वा चन्द्रग्रहण पड रहा हो तथा इनके सिवाय और भी अशुभयोग जिस दिन हों उस दिन अणुव्रती श्रावकको उचित है कि वह भोजन न करे ॥ २३६ ॥ आगे भोजनकी विधि बतलाते हैं। अपवित्र घरमें कभी भोजन नहीं करना चाहिए। जिस घरमें अंधेरा हो वहांपर कभी भोजन नहीं करना चाहिए तथा जिस घरमें वा जिस स्थानमें त्रस और स्थावर आदि अनेकप्रकारके बहुतसे जीवोंका समुदाय हो, जहांपर बहुतसे त्रस वा स्थावर जीव भरे हों वहांपर कभी भोजन नहीं करना चाहिए।२३७। जहांपर घोडे, गाय, बैल आदि पशु बांधे जाते हों ऐसे संकीर्ण वा छोटे स्थानमें भी कभी भोजन नहीं करना चाहिए, इसीप्रकार जहांपर यज्ञ आदिमें मारे जानेवाले जीव दृष्टिगोचर हो रहे हों वहांपर भी भोजन नहीं करना चाहिए ॥ २३८ ॥ यह भोजनकी विधि है।

आगे भोजनके अंतराय बतलाते हैं। अणुव्रती श्रावकोंके लिए श्रावकाचारोंमें भोजनके अंतराय बतलाए हैं। श्रावकोंको त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करनेके लिए उन अंतरायोंको भी सदा बचाते रहना चाहिए। भावार्थ—श्रावकोंको अंतरायरहित भोजन करना चाहिए ॥ २३९ ॥ श्रावकोंके लिए भोजनके अंतराय कईप्रकारके होते हैं। कितने ही अंतराय देखनेसे होते हैं, कितने ही छूनेसे वा स्पर्श कर लेनेसे होते हैं, कितने ही मनमें स्मरण कर लेनेमात्रसे होते हैं, कितने ही सुननेसे होते हैं, कितने ही सूंघनेसे होते हैं और कितने ही अंतराय चखने वा स्वाद लेनेसे अथवा खानेमात्रसे होते हैं ॥ २४० ॥ आगे उन्हीं अंतरायोंको दिखलाते हैं। सबसे पहले

रायकाः ॥ २४० ॥ दर्शनात्तद्यथा सार्द्रं मांसमश्रं वसाऽजिनम् । अस्थ्यादि भोजनस्यादौ सद्यो दृष्ट्वा न भोजयेत् ॥ २४१ ॥ शुष्कचर्मास्थिलोमादिस्पर्शनान्नैव भोजयेत् । मूषकादिपशुस्पर्शात्त्यजेदाहारमञ्जसा ॥ २४२ ॥ गन्धनान्मद्यगन्धेव पूतिगन्धेव तत्समे । आगते घ्राणमार्गं च नान्न भुंजीत दोषवित् ॥ २४३ ॥ प्राक् परिसंख्यया त्यक्तं वस्तुजातं रसादिकम् । भ्रान्त्या विस्मृतमादाय त्यजेद्भोज्यमसंशयम् ॥ २४४ ॥ आमगोरससंपृक्तं द्विदलान्न परित्यजेत् । लालायाःस्पर्शमात्रेण त्वरितं बह्वमूर्च्छनात् ॥ २४५ ॥ भोज्यमध्यादशेषांश्च दृष्ट्वा त्रसकलेवरान् । यद्वा समूलतो रोम दृष्ट्वा सद्यो न भोजयेत् ॥ २४६ ॥ चर्मतोयादिसम्मिश्रात्सदोष-

देखनेके अंतराय दिखलाते हैं। गीला मांस, मद्य, चर्बी, गीला चमडा, गीली हड्डी, रुधिर, पीव आदि पदार्थ यदि भोजन करनेसे पहले दिखाई पड जायं तो उसी समय भोजन नहीं करना चाहिए। भावार्थ–यदि भोजन करनेके पहले ही ये पदार्थ दिखाई पड जांय तो उसी समय भोजनको नहीं बैठना चाहिए किंतु कुछ काल बाद भोजन करना चाहिए। यदि भोजन करते समय ये पदार्थ दिखाई पड जांय तो भोजन छोड देना चाहिए। मुखशुद्धि कर उठ आना चाहिए। ये देखनेके अंतराय हैं ॥ २४१ ॥

सूखी हड्डी, सूखा चमडा, बाल आदिका स्पर्श हो जानेपर भोजन नहीं करना चाहिए । इसीप्रकार चूहा, कुत्ता, बिल्ली आदि घातक पशुओंका स्पर्श हो जानेपर शीघ्र ही भोजनका त्याग कर देना चाहिए । ये स्पर्श करनेके अंतराय हैं ॥ २४२ ॥ भोजनके अंतराय और दोषोंको जाननेवाले श्रावकोंको मद्यकी दुर्गंध आने-पर वा मद्यकी दुर्गंधके समान दुर्गंध आनेपर अथवा और भी अनेकप्रकारकी दुर्गंधोंके आनेपर भोजनका त्याग कर देना चाहिए। ये सूंघनेके अंतराय हैं ॥ २४३ ॥ भोगोपभोग पदार्थोंका परिमाण करते समय जिन पदार्थोंका त्याग कर दिया है अथवा जिन रसोंका त्याग कर दिया है उनको भूल जानेके कारण अथवा किसी अन्य पदार्थका भ्रम हो जानेके कारण ग्रहण कर ले तथा फिर उसी समय स्मरण आ जाय अथवा किसी भी तरह मालूम होजाय तो बिना किसी संदेहके उस समय भोजन छोड देना चाहिए।२४४। कच्चे दूध दही आदि गोरसमें मिले हुए चना, उडद, मूग, रमास आदि जिनके बराबर दो भाग हो जाते हैं (जिनकी दाल बन जाती है) ऐसे अन्नका त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि कच्चे गोरसमें मिले हुए चना, उडद, मूग आदि अन्नोंके खानेसे मुहकी लारका स्पर्श होते ही

मशनादिकम्। परिज्ञायेंगितैः सूक्ष्मैः कुर्यादाहारवर्जनम् ॥ २४७ ॥ श्रवणाद्धिंसकं शब्दं मारयामीति शब्दवत्। दग्धो मृतः स इत्यादि श्रुत्वा भोज्यं परित्यजेत् ॥ २४८ ॥ शोकाश्रितं वचः श्रुत्वा मोहाद्वा परिदेवनम। दीनं भयानकं श्रुत्वा भोजनं त्वरितं त्यजेत् ॥ २४९ ॥ उपमानोपमेयाभ्यां तदिदं पिशितादिवत्। मनः-स्मरणमात्रत्वात्कृत्स्नमन्नादिकं त्यजेत् ॥ २५० ॥ सूतकं पातकं चापि यथोक्तं जैनशासने। एषणाशुद्धिसिद्ध्यर्थं वर्जयेच्छ्रावकाग्रणीः ॥ २५१ ॥ एषणासमितिः-

उसमें उसी समय अनेक सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं ॥२४५॥ यदि बने हुए भोजनमें किसी भी प्रकार के त्रस जीवोंका कलेवर दिखाई पडे तो उसे देखते ही भोजन छोड देना चाहिए, इसीप्रकार यदि भोजनमें जडसहित बाल दिखाई दे तो भी भोजन छोड देना चाहिए ॥ २४६ ॥ "यह भोजन चमडेके पानीसे बना है वा इसमें चमडेके बर्तनमें रक्खे हुए घी दूध तेल पानी आदि पदार्थ मिले हुए हैं और इसीलिए यह भोजन अशुद्ध वा सदोष हो गया है" ऐसा किसी भी सूक्ष्म इशारेसे वा किसी भी सूक्ष्म चेष्टासे मालूम हो जाय तो उसी समय आहार छोड देना चाहिए। ये सब चखनेके अंतराय हैं ॥ २४७ ॥ मैं इसको मारता हूं इसप्रकारके हिंसक शब्दोंको सुन कर अथवा वह जल गया, मर गया इसप्रकारके हिंसक शब्दोंको सुनकर भोजनका परित्याग कर देना चाहिए। ये सुननेके अंतराय हैं ॥ २४८ ॥ अथवा शोकसे उत्पन्न होनेवाले वचनोंको सुन कर वा किसीके मोहसे अत्यन्त रोनेके शब्द सुन कर अथवा अत्यन्त दीनताके वचन सुन कर वा अत्यन्त भयंकर शब्द सुन कर शीघ्र ही भोजन छोड देना चाहिए। ये सुननेके अंतराय हैं ॥२४९॥

"यह भोजन मांसके समान है वा रुधिरके समान है अथवा विष्ठाके समान है" इसप्रकार किसी भी उपमेय वा उपमानके द्वारा मनमें स्मरण हो आवे तो भी उसी समय समस्त जलपानादिका त्याग कर देना चाहिए। ("यह भोजन मांसके समान है" इसप्रकारका स्मरणहो आना उपमेयके द्वारा होनेवाला स्मरण कहलाता है तथा "मांस भी ऐसा ही होता है" इसप्रकारका स्मरण होना उपमानके द्वारा होनेवाला स्मरण कहलाता है) ॥२५०॥ अणुव्रतोंको पालन करनेवाले श्रावकोंको अपने भोजनोंकी शुद्धि बनाए रखनेके लिए अथवा एषणासमितिको शुद्धरीतिसे पालन करनेके लिए जैनशास्त्रोंमें अच्छीतरह बतलाए हुए सूतक पातकोंका भी त्याग कर देना चाहिए।

ख्याता संक्षेपात्सारसंग्रहात्। तत्रान्तराद्विशेषज्ञैर्ज्ञातव्यास्ति सुविस्तरात्॥ २५२॥ अस्ति चादाननिक्षेपस्वरूपा समितिः स्फुटम्। वस्त्राभरणपात्रादिनिखिलोपधि-
गोचराः॥ २५३॥ यावन्त्युपकरणानि गृहकर्मोचितानि च। तेषामादाननिक्षेपौ कर्तव्यौ प्रतिलेख्य च॥ २५४॥ प्रतिष्ठापननाम्नी च विख्याता समितिर्यथा।
श्रवद्वपुर्दशद्वारा मलमूत्रादिगोचरा॥ २५५॥ निश्छिद्रं प्रासुकं स्थानं सर्वदोषविवर्जितम्। दृष्ट्वा प्रमार्ज्य सागारो वर्चोमूत्रादि निक्षिपेत्॥ २५६॥ अस्ति

भावार्थ-किसीके सूतक पातकमें भी भोजन नहीं करना चाहिए॥ २५१॥ इसप्रकार अत्यंत संक्षेपसे तथा सबका थोडा थोडा सार कह कर एषणासमितिका स्वरूप बतलाया। विशेष विद्वानोंको यदि विस्तारके साथ इसका स्वरूप जानना हो तो अन्य शास्त्रोंसे जान लेना चाहिए॥ २५२॥

चौथी समितिका नाम आदाननिक्षेपण समिति है। अणुव्रती श्रावकोंको इसका भी पालन करना चाहिए। वस्त्र, आभरण, बर्तन आदि घरके जितने पदार्थ हैं वा जितने पदार्थ घरके काममें आते हैं उन सबको देख शोध कर उठाना वा रखना चाहिए जिससे किसी जीवका घात न हो जाय, इसीको आदाननिक्षेपणसमिति कहते हैं॥ २५३-२५४॥

पांचवीं समितिका नाम प्रतिष्ठानसमिति वा उत्सर्गसमिति है। वह भी अणुव्रती श्रावकोंको पालन करनी चाहिए। इस शरीरके दश द्वार हैं। दो नेत्र, दो कान, दो नाक, एक मुह, एक गुदा, एक गुह्येन्द्रिय और एक ब्रह्मांड द्वार इसप्रकार दश द्वार हैं। इन दश द्वारोंसे मल मूत्र कफ मैल आदि पदार्थ सदा बहते रहते हैं। उन सब मलोंको तथा विशेषकर मल मूत्रको ऐसे स्थानपर छोडना चाहिये जो छिद्र रहित हो, प्रासुक वा निर्जीव हो और समस्त दोषोंसे रहित हो ऐसे स्थानको देख कर और शोध कर अणुव्रती श्रावकोंको मल मूत्र छोडना चाहिए जिससे किसी जीवका घात न हो॥ २५६॥ इसप्रकार चार भावनाओंका स्वरूप कहा। पांचवीं भावनाका नाम आलोकितपानभोजन है। आलोकितपानभोजन दिनमें सूर्यके प्रकाशमें देख शोध कर भोजन करनेको कहते हैं। इसका पालन भी गृहस्थोंको अवश्य करना चाहिए इसप्रकार पांचों भावनाओंका स्वरूप कहा। अणुव्रती श्रावकोंको अहिंसाव्रत पालन करनेके लिए इन पांचों भावनाओंको अच्छीतरह पालन

चालोकितपानभोजनाख्याथ पञ्च ताः । भावना भावनीया स्यादहिंसाव्रतहेतवे ॥२५७॥ शुद्धं शोधितं चापि सिद्धं भक्तादिभोजनम । सावधानतया भूयो दृष्टिपूतं च भोजयेत् ॥ २५८ ॥ नचानध्यवसायेन दोषेणानवधानतः । मया दृष्टचरं चैतन्मत्वाभोज्यं न भोजयेत् ॥ २५९ ॥ तत्र यद्यपि भक्त्यादि शुद्धमस्तीति निश्चितम् ।

करना चाहिए तथा अच्छीतरह चिंतवन करना चाहिए ॥ २५७ ॥ जो दाल भात आदि भोजन तैयार किया हुआ है वह चाहे शुद्ध हो और खूब अच्छीतरह शोध लिया हो तथापि उसे फिर भी अच्छीतरह देख कर बडी सावधानीके साथ भोजन करना चाहिए । भावार्थ—शुद्ध और शोधे हुए तैयार भोजनको भी भोजन करते समय अच्छीतरह देख शोध कर भोजन करना चाहिए । संभव है तैयार होनेपर कोई जीव उसमें पड जाय इसलिए अणुव्रती श्रावकोंको सदा नेत्रोंसे देखते हुए सावधानीके साथ भोजन करना चाहिए ॥ २५८ ॥ अपने अज्ञानसे वा किसी अन्य दोषसे अथवा असावधानीसे ऐसा कभी नहीं मानना चाहिए कि यह भोजन मेरा देखा हुआ है अथवा मेरा शुद्ध किया है तथा ऐसा मान कर बिना देखे शोधे कभी भोजन नहीं करना चाहिए । भावार्थ–शुद्ध किए हुए भोजनको भी भोजन करते समय अच्छीतरह देख शोध कर भोजन करना चाहिए । यह शुद्ध किया हुआ है वा देखा शोधा हुआ है ऐसा मानना अज्ञान, दोष वा प्रमाद है । भोजन करनेमें ऐसा प्रमाद कभी नहीं करना चाहिए ॥ २५९ ॥ यद्यपि उस भोजनमें यह निश्चित है कि यह भोजन शुद्ध है, इसमें किसीप्रकारका संदेह नहीं है तथापि यदि बिना देखे शोधे भोजन किया जायगा तो प्रमाद वा अज्ञानसे उत्पन्न हुआ महा दोष लगेगा । भावार्थ–बिना देखे शोधे भोजन करना अज्ञान और प्रमाद है । अणुव्रती श्रावकोंको बिना देखे शोधे भोजन कर अज्ञान और प्रमादका दोष भी नहीं लगाना चाहिए । इस अज्ञान और प्रमादके दोषको दूर करनेके लिए उसे सदा सावधानीके साथ देख शोध कर भोजन करना चाहिए ॥ २६० ॥

सूत्रकार श्रीउमास्वामीने अपने तत्त्वार्थसूत्र वा मोक्षशास्त्रनामक महाग्रंथमें त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करनेरूप अहिंसा अणुव्रतके पांच अतिचार बतलाये हैं । भावार्थ–आचार्योंने प्रत्येक व्रतके पांच पांच

तथापि दोष एव स्यात्प्रमादादिकृतो महान् ॥ २६० ॥ सन्ति तत्राप्यतीचाराः पंच सूत्रेपि लक्षिताः । त्रसहिंसापरित्यागलक्षणेऽणुव्रताह्वये ॥ २६१ ॥ तत्सूत्रं यथा-

अतिचार बतलाये हैं। अतिचार दोषोंको कहते हैं। यद्यपि प्रत्येक व्रतके अनेक दोष होते हैं तथापि उन सबको सूत्रोंमें कहे हुए पांच पांच अतिचारोंके भीतर ही अन्तर्भूत कर लेते हैं। सामान्य रीतिसे दोष चारप्रकार हैं। अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार। शास्त्रकारोंने इन चारोंका लक्षण इसप्रकार लिखा है-

अतिक्रमो मानसशुद्धहानि-र्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषा ।
तथातिचारं करणालसत्वं, भंगो ह्यनाचारमिह व्रतानाम् ॥

अर्थ-मनकी शुद्धतामें कमी होना, व्रत पालते हुए मनमें अशुद्धता लाना अतिक्रम है। विषयोंकी इच्छा रखना अर्थात् जिनका त्याग कर दिया है उनको सेवन तो न करना किंतु सेवन करनेकी इच्छा वा लालसा करना व्यतिक्रम है तथा चारित्रके पालन करनेमें वा व्रतोंके पालन करनेमें आलस वा असावधानी वा प्रमाद करना अतिचार है और व्रतोंके भंग करनेको अनाचार कहते हैं। अन्य ग्रन्थकारोंने अतिचारका लक्षण लिखा है-

सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंऽशभंजनम् । मंत्रतंत्रप्रयोगाद्याः पेरप्यूह्यास्तथात्ययाः ॥

अर्थ-"मैं ग्रहण किये हुए अहिंसाव्रतका भंग नहीं करूंगा" ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले श्रावकके व्रतका एक अंश भंग होना अर्थात् चाहे अंतरंग व्रतका खण्डन होना अथवा बहिरंग व्रतका खंडन होना उस व्रतमें अतिचार कहलाता है। भावार्थ-निर्दय होना अंतरंग व्रतका खंडन है तथा अंतरंगकी प्रवृत्तिके बिना प्राणघात होना किसीको दुख पहुंच जाना आदि बहिरंग व्रतका खण्डन हो जाना है। यदि अन्तरंग और बहिरंग दानों व्रतोंका खण्डन हो जाय तो अनाचार कहलाता है। पांच अतिचारोंके सिवाय किसी भी दुष्ट क्रियाके सिद्ध करनेके लिये किसी मन्त्रका प्रयोग करना वा तंत्रका प्रयोग करना हिंसक व्यापार करना आदि सब अतिचार कहलाते हैं ॥२६१॥

आचार्यवर्य श्री १०८ श्री उमास्वामीने जो अतिचार बतलानेवाला सूत्र कहा है वह यह है-

बधबन्धच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः । अत्रोक्तं बधशब्देन ताडनं यष्टिकादिभिः । प्रागेव प्रतिषिद्धत्वात्प्राणिहत्या न श्रेयसी ॥ २६२ ॥ पशूनां गोमहिष्यादि-छागवारणवाजिनाम् । तन्मात्रातिरिक्तां बाधां न कुर्याद्वा कशादिभिः ॥२६३॥ बन्धो मात्राधिको गाढं दुःखदं शृंखलादिभिः । आतताया (१) प्रमादाद्वा न कुर्याच्छ्व कोत्तमः ॥२६४॥ छेदो नाशादिच्छिद्रार्थः काष्ठसूलादिभिः कृतः । तावन्मात्रातिरिक्त तन्नविधेयं प्रतिमान्वितैः ॥२६५॥ सापराधे मनुष्यादौ कर्णनाशादि छेदनम् ।

बधबन्धछेदातिभारारोपणान्ननिरोधाः ।

अर्थ—मारना, बांधना, छेदना, अधिक बोझा लाद ना तथा अन्नपानका रोक देना ये पांच अहिंसा अणुव्रतके अतिचार हैं । आगे इन्हींका स्वरूप यथाक्रमसे दिखलाते हैं ।

यहांपर बध शब्दसे वा मारना शब्दसे लकडी आदिसे मारना लेना चाहिये । प्राणोंका नाश करना नहीं लेना चाहिये क्योंकि प्राणोंकी हत्या करना तो पहले ही छोडा जा चुका है, उसका त्याग पहले ही किया जा चुका है, प्राणोंकी हत्या करना कभी कल्याण करनेवाली नहीं है इसलिये उसका तो सर्वथा त्याग करना बतलाया है और सबसे पहले उसका त्याग बतलाया है । प्राणोंकी हत्याका त्याग करके किसी भी पुरुष वा पशुको लकडी बेत थप्पड घूंसा आदिसे मारना अतिचार कहलाता है ॥ २६२ ॥ गाय भैंस बकरी हाथी घोडा आदि पशुओंको कोडा, पैना, लकडी आदिसे उनकी शक्तिसे अधिक बाधा नहीं पहुंचाना चाहिये अर्थात् यदि मारनेका भी काम पडे तो उतना ही मारना चाहिए जितना कि वह सहन कर ले अथवा उसको अधिक दुःख न पहुंचे । उसकी शक्तिसे अधिक मारना अतिचार है ॥ २६३ ॥ अणुव्रत धारण करनेवाले उत्तम श्रावकोंको अपने क्रूर परिणामोंसे अथवा प्रमादसे गाय भैंस आदि पशुओंको सांकल रस्सी आदिसे इसप्रकार कस कर नहीं बांधना चाहिये जिससे उनको दुःख पहुंचे अथवा जिस बन्धनको वह सहन न कर सके । भावार्थ—पशुओंको किसी मकानमें बिना बांधे हुए रखना अच्छा है । यदि बांधनेका काम पडे तो इसप्रकार बांधना चाहिए जिससे काम पडनेपर, अग्नि आदिके लगनेपर अपनेआप तोड कर भाग जांय । उसको दुखदायी कस कर बांधना अतिचार है ॥ २६४ ॥ प्रतिमारूप अहिंसा अणुव्रतको पालन करनेवाले श्रावकोंको नाक छेदनेके लिए सुई सूआ वा लकडी

न कुर्याद्भूपकल्पोऽपि व्रतवानपि कश्चन ॥२६६॥ भारः काष्ठादिलोष्ठान्नघृततैलजलादिकम् । नेतुं क्षेत्रान्तरे क्षिप्रं मनुजांश्चत्रिकादिषु ॥२६७॥ यावद्यस्यास्ति सामर्थ्यं तावत्तस्यैव निक्षिपेत् ॥ नातिरिक्तं ततः क्वापि निक्षिपेद् व्रतधारकः ॥ २६८ ॥ दासीदासादिभृत्यानां बन्धुमित्रादिप्राणिनाम् । सामर्थ्यातिक्रमः क्वापि कर्तव्यो न विचक्षणैः ॥२६९॥ अन्नपाननिरोधाख्यो व्रतदोषोस्ति पञ्चमः । तिरश्चां वा नराणां वा गोचरः स स्मृतो यथा ॥२७०॥ नराणां गोमहिष्यादितिरश्चां वा प्रमादतः ।

आदिसे जो छेद करना पडता है वह भी उतना ही करना चाहिए जितनेसे काम चल जाय, उससे अधिक छेद नहीं करना चाहिये। दुख देनेवाला अधिक छेद करना अतिचार है ॥ २६५ ॥ यदि कोई राजाके समान व्रती मनुष्य हो तथा उसे अपराधी मनुष्योंको दंड देनेका पूर्ण अधिकार हो तो भी उसे अपराधी मनुष्योंके भी नाक कान आदि नहीं काटने चाहिए। भावार्थ—नाक कान आदि काटनेमें महा दुःख होता है इसलिए अपराध होनेपर भी किसीके नाक कान नहीं काटने चाहिए ॥ २६६ ॥ इसीप्रकार किसी मनुष्य वा पशुपर उसकी सामर्थ्यसे अधिक बोझा लादना भी अतिचार है । यदि किसी व्रती श्रावकको काठ, पत्थर, लोहा, अन्न, घी, तेल, जल आदि पदार्थ एक स्थानसे दूसरे स्थानमें ले जाना हो अथवा किसी मनुष्य वा स्त्रीको डोलीमें बिठा कर दूसरे किसी स्थानमें ले जाना हो तो जिस मनुष्य वा पशुकी जितनी सामर्थ्य है उसपर उतना ही बोझ रखना चाहिए, अणुव्रती श्रावकोंको उनकी शक्तिसे अधिक बोझा कभी नहीं रखना चाहिए। अधिक बोझा लादना अहिंसाणुव्रतका चौथा अतिचार है ॥२६७-२६८॥ चतुर श्रावकोंको उचित है कि वे दास दासी आदि नौकरचाकरोंसे अथवा भाई मित्र आदि कुटंबीजनोंसे काम लेवें तो उनकी शक्तिसे अधिक काम नहीं लेना चाहिए। उनकी शक्तिका अतिक्रम कभी नहीं करना चाहिए। शक्तिसे अधिक काम लेना वा शक्तिसे अधिक बोझा लादना वा शक्तिसे अधिक चलाना आदि सब अहिंसाणुव्रतका अतिचार है ॥२६९॥ इस अहिंसाणुव्रतका पांचवां अतिचार अन्नपानविरोध है वह भी मनुष्य और पशु दोनोंके लिए होता है। भावार्थ—दासी दास भाई बंधु पुत्र स्त्री आदि अपने आश्रित मनुष्योंको वा पशुओंको समयपर भोजन न देना अथवा उनको भूखे प्यासे रखना वा कम भोजन देना आदि अहिंसाणुव्रतका पांचवां अतिचार है ॥ २७० ॥ प्रमादसे दासी दासादिक मनुष्योंको वा

तृणाद्यन्नादिपातानां निरोधो व्रतदोषकृत् ॥ २७१ ॥ बहुप्रलपितेनालं ज्ञेयं तात्पर्यमात्रतः । सा क्रिया नैव कर्तव्या यया त्रसवधो भवेत् ॥२७२॥ इत्युक्तमात्रदिग्मात्रं सागारार्हमणुव्रतम् । त्रसहिंसापरित्यागलक्षणं विश्वसाक्षिभिः ॥ २७३ ॥

इति श्रीस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्लविरचितायां श्रावकाचारापरनामलाटीसंहितायां साधुश्रीदूदाऽऽत्मजफामनमनःसरोजारविन्दविकाशनैकमार्तण्डमण्डलायमानायां त्रहिंसापरित्याग-प्रथमाणुव्रतवर्णनो नाम पंचमः सर्गः ।

गाय भैंस आदि पशुओंको भोजन वा घास जल आदि खानेपीनेकी सामग्रीको उनको देनेसे रोक देना न देने देना अहिंसाणुव्रतका अतिचार है ॥ २७१ ॥ बहुत कहनेसे क्या सबका अभिप्राय यह समझ लेना चाहिए कि अणुव्रत धारण करनेवाले श्रावकोंको ऐसी कोई भी क्रिया नहीं करनी चाहिए जिसमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो । भावार्थ—त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाली जितनी भी क्रियाएं हैं, जितने भी व्यापार हैं उन सबका त्याग कर देना चाहिए, त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवालीं क्रियाओंका त्याग कर देनेसे ही अहिंसाणुव्रत निर्दोष रीतिसे पल सकता है ॥ २७२ ॥ इसप्रकार ऊपर जो कुछ कहा गया है, जो जो त्याग बतलाया है, जिन जिन क्रियाओं-का निषेध किया है, जिन जिन व्यापारोंका निषेध किया है वह सब गृहस्थोंके द्वारा पालन करने योग्य त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करनेरूप अहिंसाणुव्रत है ऐसा भगवान सर्वज्ञदेवने कहा है । भावार्थ—ऊपर इस पांचवें अध्यायमें जो जो क्रियाएं बतलाई हैं वे सब अहिंसाणुव्रतीको पालन करनी चाहिये ॥ २७३ ॥

इसप्रकार स्याद्वादस्वरूप निर्दोष गद्यपद्यविद्यामें अत्यन्त चतुर और विद्वानोंमें शिरोमणि ऐसे कविराज राजमल्लके द्वारा बनी हुई तथा सज्जनोत्तम दूदाके सुपुत्र श्रीफामनके मनरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेकेलिये सूर्यमंडलके समान सुशोभित होनेवाली और श्रावकाचार है दूसरा नाम जिसका ऐसी इस लाटीसंहिता नामके ग्रंथकी चावली (आगरा) निवासी देहलीप्रवासी "धर्मरत्न" लालाराम जैन शास्त्री द्वारा विरचित हिन्दी भाषा टीकामें त्रसहिंसाके त्याग करनेरूप अहिंसाणुव्रत नामके प्रथम अणुव्रतको वर्णन करनेवाला यह पांचवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

अथ षष्ठः सर्गः

त्रसहिंसापरित्यागलक्षणं यदणुव्रतम् । साधुदूदाङ्गजोदामफामनाख्यं पुनातु तत् ॥१॥ इत्याशीर्वादः ।

अथमृषापरित्यागलक्षणं व्रतमुच्यते । सर्वतस्तन्मुनीनां स्याद्देशतो वेशमवासिनाम् ॥ १ ॥ ग्राह्या तत्रानुवृत्तिः सा प्राग्वदत्रापि धीधनैः । प्रोक्तमसदभिधानमनृतं सूत्रकारकैः ॥२॥ असदिति हिंसाकरमभिधानं स्याद्भाषणम । शब्दानामनेकार्थत्वाद्गतेश्चार्थानुसारिणी ॥ ३ ॥ नात्रासदिति शब्देन मृषामात्रं समस्यते । साकारमन्त्रभे-

अथ छठा सर्ग

त्रसहिंसाका त्याग करनेरूप जो अहिंसाणुव्रत है वह सज्जन दूदाके पुत्र और अत्यन्त उदार ऐसे फामनको पवित्र करो । इति आशीर्वादः ।

अब आगे असत्य बचनोंका त्याग कर देना ही जिसका लक्षण है ऐसे सत्याणुव्रतका स्वरूप कहते हैं, यह सत्यव्रत पूर्णरूपसे तो मुनियोंके होता है तथा एकदेशरूपसे गृहस्थोंके होता है । भावार्थ—असत्य बचनोंका त्याग पूर्णरूपसे मुनियोंके होता है और एकदेशरूपसे गृहस्थोंके होता है । मुनियोंके इस व्रतको सत्यमहाव्रत कहते हैं और गृहस्थोंके इस व्रतको सत्यअणुव्रत कहते हैं ॥ १ ॥ बुद्धिमानोंको अहिंसाणुव्रतमें कहे हुए समस्त कथनकी अनुवृत्ति इस सत्याणुव्रतमें भी ग्रहण करनी चाहिये । सूत्रकारने कहा है "अदसभिधानमनृतम्" अर्थात् प्रमादके योगसे असत्य बचन कहना अनृत वा झूठ है ।२। आगे असत् और अभिधान दोनोंका अलग अलग अर्थ कहते हुए दिखलाते हैं । हिंसा करनेवालेको असत् कहते हैं तथा भाषण करने, कहने वा बोलनेको अभिधान कहते हैं । इन दोनों शब्दोंका मिला कर अर्थ करनेसे यही अर्थ निकलता है कि जो जो बचन हिंसा करनेवाले हैं उन सबको अनृत कहते हैं । यद्यपि असत् शब्दके अनेक अर्थ होते हैं तथापि उनका अर्थ वही लिया जाता है जो प्रकरणके अनुसार ठीक बैठता है । भावार्थ—यहांपर प्रकरणके अनुसार असत् शब्दका अर्थ हिंसा करनेवाला ही लेना चाहिये और अर्थ नहीं लेना चाहिए ॥ ३ ॥ यहांपर असत् शब्दका अर्थ केवल झूठ बोलनामात्र नहीं लेना हिये क्योंकि यदि असत् शब्दका अर्थ केवल झूठ बोलना लिया जायगा तो साकारमंत्रभेद आदि जो झूठके भेद

दादौ सूनृतत्वानुषङ्गतः ॥ ४ ॥ देशतो विरतिस्तत्र सूत्रमित्यनुवर्तते । त्रैसत्वाधाकरं तस्माद्वचो वाच्यं न धीमता ॥ ५ ॥ सत्यमप्यसत्यतां याति क्वचिद्धिंसानुबन्धतः । सर्वतस्तन्न वक्तव्यं यथा चोरादिदर्शनम् ॥६॥ असत्यं सत्यतां याति क्वचिज्जीवस्य रक्षणात् । अचक्षुषा मया चोरो न दृष्टोऽस्ति यथाध्वनि ।७। तत्रांसत्यवचस्त्याग-

हैं उनमें कुछ बोलना नहीं पडता इसलिये ऐसे झूठको सत्यमें ही शामिल करना पडेगा। भावार्थ–साकारमंत्र भेद भी एक झूठका भेद वा अतिचार है परन्तु उसमें कुछ बोलना नहीं पडता, केवल इशारे वा चेष्टासे कोई बात जान कर उसको प्रगट कर देना साकारमन्त्रभेद कहलाता है। यदि असत् शब्दका अर्थ झूठ बोलना ही लिया जायगा तो फिर साकारमन्त्रभेदको सत्यव्रतका अतिचार नहीं कह सकेंगे, फिर उसे सत्य ही कहना पडेगा इसलिए असत् शब्दका अर्थ केवल झूठ बोलना नहीं लेना चाहिये किन्तु "हिंसा करनेवाले" यही अर्थ लेना चाहिये ॥ ४ ॥ सूत्रमें जो 'असदभिधानमनृतम्' लिखा है। उसमें "एकदेशरूपसे त्याग करना" इस वाक्यकी अनुवृत्ति चली आ रही है। इस अनुवृत्तिको मिलानसे इस सबका यही अर्थ होता है जो हिंसा करनेवाले बचन हैं उनका एकदेश त्याग करना सत्याणुव्रत है अतएव बुद्धिमान श्रावकोंको ऐसे बचन कभी नहीं कहना चाहिए जिनके कहनेसे त्रस जीवोंकी हिंसा होना संभव हो। भावार्थ–त्रस जीवोंकी हिंसाको सूचित करनेवाले बचनोंके कहनेका त्याग करना सत्याणुव्रत है ॥ ५ ॥ जिस सत्यबचनके कहनेसे त्रस जीवोंकी हिंसा होना संभव हो ऐसे सत्यबचन भी कभी कभी असत्य ही कहलाते हैं "जैसे इस चोरको चोरी करते हुए मैंने देखा था" ऐसा कहनेसे उसको दंड दिया जा सकता है अतएव ऐसे सत्यबचन कहना भी हिंसा करनेवाले बचन हैं, ऐसे सत्यबचन भी असत्य-बचन कहलाते हैं ऐसे बचन अणुव्रती श्रावकोंको कभी नहीं बोलने चाहिए ॥ ६ ॥ इसीप्रकार कहीं कहीं पर जीवोंकी रक्षा होनेसे असत्य बचन भी सत्य कहलाते हैं। जैसे मुझे दिखाई नहीं देता इसलिए मार्गमें मैंने किसी चोरको नहीं देखा। भावार्थ–चोरको देख कर भी यह कहना कि "मैंने चोरको नहीं देखा है" सरासर असत्य बचन है, तथापि ऐसा कहनेसे उसके प्राणोंकी रक्षा होती है अतएव ऐसे असत्यबचन भी प्राणोंके रक्षक होनेके कारण सत्य ही कहलाते हैं ॥७॥

व्रतरक्षार्थमेव याः । भावनाः पञ्च सूत्रोक्ताः भावनीया व्रतार्थिभिः ॥८॥ तत्सूत्रं यथा-क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच । यत्र क्रोधप्रत्याख्यानं वचो वाच्यं मनीषिभिः । स्वपराश्रितमेदेन तद्वचश्च द्विधोच्यते ॥ ९ ॥ स्वयं क्रोधेन सत्यं वा न वक्तव्यं कदाचन । न च वाच्यं वचस्तद्वत्परेषां क्रोधकारणम् ॥१०॥ यथा क्रोधस्तथा मानं माया लोभस्तथैव च । तेषामवद्यहेतुत्वे मृषावादाविशेषतः ॥ ११ ॥ हास्योज्झितं च वक्तव्यं न च हास्याश्रितं क्वचित् । तदपि द्विविधं ज्ञेयं

इस असत्यवचनोंके त्याग करनेरूप सत्याणुव्रतकी रक्षा करनेके लिये सूत्रकारने पांच भावनाएं बतलाई हैं। अणुव्रत धारण करनेवाले श्रावकोंको उन भावनाओंका पालन भी अच्छीतरह करते रहना चाहिए ॥८॥ सूत्रकार श्रीउमास्वामीने उन भावनाओंको कहनेवाला जो सूत्र कहा है वह यह है—

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच ।

अर्थ—क्रोधका त्याग, लोभका त्याग, डर वा भयका त्याग, हंसीका त्याग और अनुवीचिभाषण वा निर्दोष अनिंद्य भाषण ये पांच सत्याणुव्रतकी भावनाएं हैं। आगे इन्हीं पांचों भावनाओंका स्वरूप बतलाते हैं।

बुद्धिमानोंको ऐसे बचन कहने चाहिए जिसमें क्रोध उत्पन्न न हो, यही क्रोधका त्याग नामकी पहली भावना है। क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले बचन दो प्रकार हैं एक अपने क्रोधसे कहे जानेवाले बचन और दूसरे दूसरेको क्रोध उत्पन्न करनेवाले बचन ॥ ९ ॥ अणुव्रती श्रावकको स्वयं क्रोध कर सत्य बचन भी कभी नहीं कहने चाहिये तथा इसीप्रकार ऐसे बचन भी कभी नहीं कहने चाहिये जो दूसरे लोगोंको क्रोध उत्पन्न करनेवाले हों ॥१०॥ जिसप्रकार क्रोधसे कहे जानेवाले बचनोंका त्याग करना बतलाया है उसीप्रकार मान माया और लोभका त्याग भी समझ लेना चाहिये अर्थात् मान माया लोभके वशीभूत हो कर बचन नहीं कहना चाहिये और न ऐसे बचन कहने चाहिये जिनसे दूसरोंको मान माया वा लोभ उत्पन्न हो। इसका भी कारण यह है कि क्रोध मान माया वा लोभसे उत्पन्न हुए बचन पापके कारण होते हैं अतएव असत्य बचनोंसे उनमें किसीप्रकारकी विशेषता नहीं होती अर्थात् जो जो बचन कषायोंके वशीभूत हो कर कहे जाते हैं अथवा कषायोंको उत्पन्न करनेवाले बचन कहे जाते हैं वे सब प्राणोंको पीडा उत्पन्न करनेवाले वा पाप उत्पन्न करनेवाले होते हैं इसलिये ऐसे बचन असत्य

स्वपरोभयभेदतः ॥ १२ ॥ स्वयं हास्यवता भूत्वा न वक्तव्यं प्रमादतः । न च वाच्यं परेषां वा हास्यहेतुर्विचक्षणैः ॥ १३ ॥ हास्योपलक्षणेनैव नोकषाया नवेतिये ।
तेपि त्याज्या मृषात्यागव्रतसंरक्षणार्थिभिः ॥ १४ ॥ भीरुत्वोत्पादकं रौद्रं वचो वाच्यं न श्रावकैः । अवश्यं बन्धहेतुत्वात्तीव्रासातादिकर्मणाम् ॥ १५ ॥ आलोचितं

ही कहे जाते हैं। अणुव्रती श्रावकको ऐसे असत्य वचनोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥ ११ ॥ अणुव्रती
श्रावकको सदा हास्यरहित बचन कहना चाहिये। हंसीसे मिले हुए बचन श्रावकोंको कभी नहीं कहने चाहिये।
क्रोधरूप बचनोंके समान हास्यरूप बचन भी दोप्रकार हैं। एक स्वयं हंसीसे कहे जानेवाले बचन और दूसरे
दूसरोंको वा दोनोंको हंसी उत्पन्न करनेवाले बचन ॥ १२ ॥ अणुव्रती श्रावकको प्रमादके वशीभूत होकर स्वयं
हंस कर बचन कभी नहीं कहने चाहिये। इसीप्रकार चतुर श्रावकोंको ऐसे बचन भी कभी नहीं कहने चाहिये
जो दूसरोंको हसी उत्पन्न करनेवाले हों ॥ १३ ॥

यहांपर हास्यशब्द उपलक्षण है इसीलिये हास्य शब्दसे नौ नोकषाय लेने चाहिये। असत्य वचनों-
के त्याग करनेरूप सत्याणुव्रतको धारण करनेवाले श्रावकोंको उस सत्याणुव्रतकी रक्षा करनेके लिये हास्यके
समान हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुंवेद और नपुंसकवेद इन नौ नोकषायोंका भी त्याग कर
देना चाहिये। भावार्थ—जिसप्रकार श्रावकोंको हंसीके बचनोंका त्याग कर देना चाहिये उसीप्रकार प्रेम द्वेष शोक
भय ग्लानिसे कहे जानेवाले बचन वा इनको उत्पन्न करनेवाले बचन नहीं कहने चाहिये, इसीप्रकार स्त्रीवेद पुरुष-
वेद वा नपुंसकवेदके विकारसे उत्पन्न होनेवाले वचन वा इनके विकारोंको उत्पन्न करनेवाले बचन भी श्रावकोंको
कभी नहीं कहने चाहिये। अभिप्राय यह है कषाय वा नोकषायोंसे कहे जानेवाले बचन अथवा कषाय वा नो-
कषायोंको उत्पन्न करनेवाले बचन किसी न किसीको दुःख पहुचानेवाले वा प्राणोंको पीडा पहुंचानेवाले होते हैं
अतएव ऐसे बचन असत्य ही कहे जाते हैं इसीलिए श्रावकोंको ऐसे बचन नहीं कहने चाहिए ॥१४॥ अणुव्रती
श्रावकोंको डर उत्पन्न करनेवाले भयानक शब्द कभी नहीं कहने चाहिए क्योंकि दूसरोंको डरानेवाले भयानक
शब्दोंके कहनेसे असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मोंका बंध अवश्य होता है।

च वक्तव्यं न वाच्यमनालोचितम् । चौर्यादिविकथाख्यान न वाच्यं पापभीरुणा ॥ १६ ॥ अत्रासत्यपरित्यागव्रतेऽतीचारपंचकम् । प्रामाणिकं प्रसिद्धं स्यात्सूत्रेप्युक्तं महर्षिभिः ॥ १७ ॥ तत्सूत्रं यथा—मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः । तत्रमिथ्योपदेशाख्यः परेषां प्रेरणं यथा । अहमेवं न वक्ष्यामि

भावार्थ—ऐसे बचन कहनेसे कहनेवालेके भी अशुभ कर्मोंका बंध होता और सुननेवालोंके भी अशुभ कर्मोंका बंध होता है । कभी कभी भयानक शब्दोंको सुन कर लोग रोगी हो जाते हैं तथा कभी कभी तो मर जाते हैं इसलिए ऐसे बचन हिंसक बचन कहलाते हैं। ऐसे बचन अणुव्रती श्रावकको कभी नहीं कहने चाहिए ॥ १५ ॥ अणुव्रती श्रावकोंको जो कुछ कहना चाहिए वह सब समझ कर शास्त्रोंके अनुकूल बचन कहने चाहिए। बिना सोचे समझे शास्त्रोंके विरुद्ध वचन कभी नहीं कहने चाहिए, इसीप्रकार पापोंसे डरनेवाले अणुव्रती श्रावकोंको चौर्यकथा, राष्ट्रकथा, भोजनकथा, युद्धकथा आदि विकथाएं कभी नहीं कहनी चाहिए क्योंकि इन विकथाओंके कहनेसे कहने सुननेवाले दोनोंके परिणामोंमें मलिनता और विकार उत्पन्न होता है जिससे अशुभ कर्मोंका बंध होता है इसलिए श्रावकोंको ऐसे बचनोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥ १६ ॥ अणुव्रती श्रावकोंको इसप्रकार ऊपर लिखी हुई सत्यव्रतकी पांचों भावनाओंका पालन अवश्य करना चाहिए । इनके पालन करनसे व्रतोंकी रक्षा होती है ।

इस असत्य बचनोंके त्याग करनेरूप सत्याणुव्रतके पांच अतिचार हैं। वे पांचों ही अतिचार प्रसिद्ध हैं और उनको सब मानते हैं । बडे बडे महर्षियोंने भी सूत्रोंमें उनका वर्णन किया है अर्थात् उमास्वामी ऐसे महा आचार्योंने भी मोक्षशास्त्रोंमें उनका वर्णन किया है ॥१७॥ वह मोक्षशास्त्रका सूत्र यह है—

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहार साकारमन्त्रभेदाः ।

अर्थ–मिथ्या उपदेश देना, किसी एकांतमें की हुई क्रियाओंको वा कही हुई बातको प्रगट कर देना, झूठे लेख लिखना, किसीकी धरोहर मार लेना और किसी भी चेष्टासे किसीके मनकी बातको जान कर प्रगट कर देना ये पांच सत्याणुव्रतके अतिचार हैं । आगे अनुक्रमसे इन्हींका स्वरूप दिखलाते हैं ।

वद त्वं मम मन्मनात् ॥ १८ ॥ रहोभ्याख्यानमेकान्ते गुह्यवार्ताप्रकाशनम् । परेषां शङ्कया किंचिद्धेतोरत्यत्र कारणम् ॥ १९ ॥ कूटलेखक्रिया सा स्याद्वंचनार्थं लिपिर्मृषा । सा न साक्षात्तया तस्या मृषानाचारसम्भवात् ॥ २० ॥ किन्तु स्वल्पा यथा कश्चित्किंचित्प्रत्यूहनिस्पृहः । इदं मदीयात्रेषु मदर्थं न लिपीकृतम् ॥ २१ ॥

"इस बातको मैं नहीं कहूंगा मेरे मनके अनुसार तू ही कह" इसप्रकार मिथ्यावचन कहनेके लिए दूसरोंको प्रेरणा करना मिथ्योपदश नामका पहला अतिचार कहलाता है । भावार्थ—दूसरोंसे मिथ्यावचन कहलवाना वा धर्मका विपरीत स्वरूप बतलाना आदि सब मिथ्योपदशनामका पहला अतिचार कहलाता है । सत्याणुव्रती श्रावकको इसका त्याग कर देना चाहिए ॥ १८ ॥

"यहांपर कुछ कारण अवश्य है बिना कारणके एकांतमें कोई बातचीत नहीं करता" इस हेतुसे शंका उत्पन्न करा कर एकांतमें किसी पुरुषके द्वारा वा स्त्री पुरुषोंके द्वारा कही हुई बातोंको वा की हुई क्रियाओंको प्रकाशित करना रहोभ्याख्यान कहलाता है॥ १९ ॥

दूसरोंको ठगनेके लिए झूठा लेख लिखना या लिखाना कूटलेखक्रिया है । इसमें इतना और समझ लेना चाहिये कि यह झूठा लेख साक्षात् नहीं लिखा जाता न साक्षात झूठा लेख लिखाया जाता है क्योंकि यदि साक्षात् झूटा लेख लिखा जाय या लिखाया जाय तब तो वह असत्य वचनरूप अनाचार ही हो जाता है क्योंकि ऐसा करनेसे किसी भी अंशमें सत्यव्रतकी रक्षा नहीं होती है किंतु उसमें थोडे थोडे झूठे शब्द मिलाये जाते हैं । जैसे कोई पुरुष अपने ऊपर आई हुई आपत्तिको दूर करनेके लिये कहता है कि "मैंने जो यह अपने पत्रमें लेख लिखा है वह अपने लिये नहीं लिखा है" । भावार्थ–वह उसे अपना लिखा हुआ तो स्वीकार करता है । इतने अंशोंमें अपने सत्यव्रतकी रक्षा करता है परन्तु अपने ऊपर आई हुई आपत्तिको दूर करनेके लिये इतना और बढा देता है कि "यह लेख लिखा तो मैंने है परन्तु मैंने अपने लिये नहीं लिखा है ।" इतने अंशमें सत्यका घात होनेसे यह अतिचार कहलाता है । सत्याणुव्रतीको ऐसे अतिचारका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ २०-२१ ॥ दूसरेकी धरोहरको अपहरण कर लेना, मार लेना, न देना न्यासापहार कहलाता है । उसमें भी इतना विशेष है कि वह दूसरेके समस्त

स्वयं स्थानान्तरं गतः ॥ २३ ॥ वदत्येवं स लोकानां पुरस्तादिह निन्हवात्। धृतं न मे गृहे किंचित्तेनाऽमाऽर्थेन गच्छता ॥ २४ ॥ उक्तो न्यासापहारः स प्रसिद्धो-ऽनर्थसूचकः। मृषात्यागव्रतस्योच्चैः दोषः स्यात्सर्वतोमहान् ॥ २५ ॥ साकारमन्त्रभेदोपि दोषोतीचारसंज्ञकः। न वक्तव्यः कदाचिद्वै नैष्ठिकैः श्रावकोत्तमैः ॥ २६ ॥

धनका हरण नहीं करता किन्तु उसका कुछ भाग हरण करता है क्योंकि रक्खी हुई धरोहरके कुछ भागको हरण कर लेना ही न्यासापहार कहलाता है। न्यासापहारका यही लक्षण है, जैसे किसी पुरुषके पास कुछ धन था वह अपना सब धन किसी अन्य धनीके यहां जमा कराकर वा रख कर स्वयं परदेशको चला गया। उस धनको छिपाने-के लिये वा प्रगट न होने देनेके लिये वह धनी दूसरे लोगोंके सामने यह कहता है कि वह पुरुष मेरे घर तो कुछ नहीं रख गया, वह तो परदेश जाते समय सब धन अपने साथ ले गया है। इसका अभिप्राय यह है कि वह धनी पुरुष उसके धनको मारना तो नहीं चाहता किन्तु किसी पुरुषका धन मेरे घर रक्खा है इस बातको प्रगट करना नहीं चाहता इसीलिये वह लोगोंके सामने कहता है कि वह अपना सब धन साथ ले गया है, मेरे यहां कुछ नहीं रख गया। इसमें यद्यपि बाह्य वचन असत्य है तथापि उसके अन्तरंगमें सत्यताका घात नहीं है अन्तरंग व्रतोंकी रक्षा बनी हुई है इसीलिये यह अतिचार कहलाता है ॥ २३-२४ ॥ ऊपर जो न्यासापहारका स्वरूप बत-लाया है वह प्रसिद्ध है और अनेक अनर्थोंको उत्पन्न करनेवाला है। असत्य बचनोंके त्याग करनेरूप सत्य अणु-व्रतको पालन करनेवाले श्रावकके लिये यह सबसे बडा और बहुत बडा दोष है। इसका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ २५ ॥ साकारमन्त्रभेद भी सत्याणुव्रतका अतिचार और दोष कहलाता है। नैष्ठिक उत्तम श्रावकको यह साकारमन्त्रभेद भी कभी नहीं कहना चाहिये ॥ २६ ॥ दूसरेके मनमें जो छिपी हुई बात है अथवा कोई ऐसी बात है जो दूसरोंको मालूम नहीं है उस बातको किसी चेष्टासे वा किसी इशारे आदिसे जान कर प्रकाशित कर देना साकारमन्त्रभेद कहलाता है। व्रती श्रावकोंको ऐसी किसी दूसरेकी मनकी बात कभी प्रकाशित नहीं करनी चाहिये। भावार्थ—ऐसी बातके प्रकाशित हो जानेसे जिसने वह बात किसी भी कारणसे अबतक छिपा रक्खी थी

दुर्लक्ष्यमर्थं गुह्यं यत्परेषां मनसि स्थितम्। कथंचिदिङ्गितैर्ज्ञात्वा न प्रकाश्यं व्रतार्थिभिः ॥२७॥ ननु चैवं मदीयोऽयं ग्रामो देशोऽथवा नरः। इत्येवं यज्जगत्सर्वं वदत्येतन्मृषा वचः ॥ २८ ॥ मैवं प्रमत्तयोगाद्धि सूत्रादिह्यनुवर्तते। तस्याभावान्न दोषोस्ति तद्भावे दोष एव हि ॥ २९ ॥ एवं संव्यवहाराय स्यादद्दोषो नयात्मके। नास्ति

उसको दुःख पहुंचता है तथा दुःख पहुंचनेसे आर्तध्यान होता है और आर्तध्यान होनेसे अशुभ कर्मोंका बंध करता है इसीलिये साकारमन्त्रभेद सत्याणुव्रतका अतिचार है। अणुव्रतियोंको इसका भी त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ २७ ॥

यहांपर शंकाकार शंका करता है कि "यह गांव मेरा है, यह देश मेरा है अथवा यह मनुष्य मेरा है" इस-प्रकार जो यह समस्त संसार कहना है वह भी सब मिथ्या बचन हैं। भावार्थ—वास्तवमें देखा जाय तो गांव वा देश किसीका नहीं होता, फिर भी लोग उसको अपना बतलाते ही हैं परन्तु गांव वा देशको अपना बतलाना मिथ्या बचन हैं और मिथ्या बचनोंको समस्त संसार बोलता है, बुरा भी बोलते हैं इसलिए असत्यका त्याग व्रतियोंके भी नहीं हो सकता ॥२८॥ इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि शंकाकारकी यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि तत्वार्थसूत्रमें जो असत्यका लक्षण "असदभिधानमनृतम्" लिखा है उसमें ऊपरके सूत्रसे "प्रमत्तयोगात्" शब्दोंकी अनुवृत्ति चली आ रही है। इस अनुवृत्तिके अर्थको मिला देनेसे असत्यका लक्षण "प्रमाद वा कषायके निमित्तसे दूसरेकी अनुवृत्तिसे दूसरेकी हिंसा उत्पन्न करनेवाले बचन कहना असत्य है" ऐसा बन जाता है। जहां जहां प्रमाद वा कषाय होते हैं वहीं असत्य होता है जहां प्रमाद वा कषाय नहीं होता वहां असत्य भी नहीं होता। संसारमें जो "यह गांव मेरा है वा यह देश मेरा है" ऐसा बचन कहा जाता है उसमें प्रमाद वा कषाय नहीं है केवल अपना निवासस्थान बतलानेके लिये ऐसा कहता है परन्तु जहांपर उस गांव वा उस देशको अपनानेके लिए उसपर अपना अधिकार जमानेके लिये कषायकी प्रवृत्ति होती है वहांपर वही वाक्य असत्य हो जाता है अतएव शंकाकारने जो शंका की थी वह सर्वथा निर्मूल है ॥ २९ ॥

"जहां जहांपर कषाय होता है वहींपर असत्यता होती है" ऐसा मान लेनेसे नयोंके अनुसार जो एक ही

च स्थापनायां च द्रव्ये भावे जगत्त्रये ॥ ३० ॥ अस्ति स्तेयपरित्यागो व्रतं चाणु तथा महत् । देशतः सर्वतश्चापि त्यागद्वैविध्यसम्भवात् ॥ ३१ ॥ तल्लक्षणं यथा सूत्रे

पदार्थका स्वरूप भिन्न भिन्न रीतिसे कहा जाता है अथवा संसारमें अपना व्यवहार चलानेके लिये जो नाम स्थापना द्रव्य भाव चार निपेक्ष बतलाये हैं उनसे भी पदार्थोंका स्वरूप भिन्न भिन्न रीतिसे समझा जाता है। उसमें भी कोई दोष नहीं आता। भावार्थ—संसारमें जितने जीव अजीव आदि पदार्थ हैं वे सब द्रव्यार्थिक नयसे नित्य हैं और पर्यायार्थिकनयसे अनित्य हैं ऐसा निश्चित सिद्धांत है। जिस पदार्थको द्रव्यार्थिकनयसे नित्य कहा है उसी पदार्थको पर्यायार्थिकनयसे अनित्य कहना मिथ्या है परन्तु कहनेवाला कषायरहित होकर कहता है वह केवल किसी विशेष नयकी अपेक्षा उसका स्वरूप बतला रहा है, किसी मोह वा अज्ञानके कारण वा किसीको दुःख पहुंचानेके लिये नहीं कह रहा है अतएव कषायरहित होनेके कारण वह असत्य नहीं कहलाता। इसीप्रकार चारों निक्षेपोंसे भी पदार्थोंका स्वरूप अलग अलग कहा जाता है। भावनिक्षेपसे वर्तमानकी अवस्था कही जाती है, द्रव्यनिक्षेपसे भूत वा भविष्यत्कालका स्वरूप वर्तमानमें कहा जाता है, नामनिक्षेप केवल पहिचानके लिये ही है और स्थापनानिक्षेपमें उस पदार्थका अभाव होनेपर भी उसकी कल्पना किसी अन्य पदार्थमें की जाती है। यदि वास्तवमें देखा जाय तो भूत वा भविष्यके स्वरूपको वर्तमानमें कहना असत्य है अथवा स्थापनानिक्षेपके द्वारा कल्पना किया हुआ पदार्थ भी असत्य है परन्तु उसके कहनेमें किसीप्रकारका प्रमाद वा कषाय नहीं है, जो कुछ कहा जाता है वह किसी भी विशेष अपेक्षासे उसके स्वरूपका कथन किया जाता है इसलिये वह असत्य नहीं है किन्तु नयसत्य, नाम सत्य, स्थापनासत्य, द्रव्यसत्य और भावसत्य कहलाता है, इसप्रकार अतिचारोंका वर्णन समाप्त कर सत्याणुव्रतका स्वरूप समाप्त किया ॥ ३० ॥

चोरीका त्याग करनेरूप अचौर्यव्रत भी दोप्रकार है। एक अणुव्रत और दूसरा महाव्रत। एकदेश चोरीका त्याग करना अचौर्याणुव्रत है और पूर्णरूपसे चोरीका त्याग कर देना अचौर्य महाव्रत है, इसप्रकार चोरीका त्याग दो प्रकारसे संभव हो सकता है ॥ ३१ ॥ सूत्र बनानेमें अत्यंत चतुर ऐसे आचार्यवर्य श्रीउमास्वामीने उस

सूक्तं सूत्रविशारदैः । अदत्तादानं स्तेयं स्यात्तदर्थैः कथ्यतेऽधुना ॥ ३२ ॥ अदत्तस्य यदादान चायामत्युच्यते बुधैः । अर्थात्स्वामिगृहीतार्थे सद्द्रव्ये नेतरे पुनः ॥ ३३ ॥ अन्यथा सर्वलोकेस्मिन्नतिव्याप्तिः पदे पदे । अनगारैश्च दुर्वारा विशद्भिर्गोपुरादिषु ॥ ३४ ॥ सर्वतः सर्वविषयं देशतस्तसगोचरम् । यतो सागारिणां न

चोरीका लक्षण कहते हुए सूत्र लिखा है वह सूत्र "अदत्तादानं स्तेयम्" है अर्थात् बिना दिए हुए पदार्थका ग्रहण करना चोरी है। अब आगे इसी सूत्रका अर्थ बतलाते हैं ॥ ३२ ॥ किसी भी बिना दिये हुए पदार्थका ग्रहण करना चोरी है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। इसका भी अर्थ यह है कि जिन पदार्थोंका कोई स्वामी है तथा जो पदार्थ कुछ मूल्यवाले हैं ऐसे पदार्थोंको बिना दिये हुए ग्रहण करना चोरी है । जिन पदार्थोंका कुछ मूल्य नहीं है अथवा जिन पदार्थोंका कोई स्वामी नहीं है ऐसे पदार्थोंको बिना दिये हुए ग्रहण कर लेना गृहस्थोंके लिए चोरी नहीं है ॥ ३३ ॥ यदि चोरीका लक्षण यह न माना जायगा तो इस समस्त संसारमें पद पदपर अतिव्याप्तिदोष मानना पडेगा क्योंकि सांसके द्वारा वायुका ग्रहण करना, कर्म नोकर्म वर्गणाओंका ग्रहण करना आदि सब बिना दिये हुए होता है इसलिए वहां भी चोरी समझी जायगी परंतु वहांपर चोरी नहीं कही जाती इसलिए चोरीका ऊपर लिखा हुआ लक्षण ही ठीक है । दूसरी बात यह है कि मुनिराज नगरमें जानेके लिए नगरके बडे दरवाजेमें प्रवेश करते हैं वह भी बिना पूछे ही प्रवेश करते हैं इसलिए उसको भी चोरी ही मानना पडेगा तथा इसप्रकार माननेसे अचौर्यव्रतका पालना कठिन ही नहीं किंतु असंभव हो जायगा इसलिए चोरीका लक्षण वही मानना चाहिए जो ऊपर कहा जा चुका है ॥ ३४ ॥ उस चोरीका पूर्णरूपसे त्याग करना महाव्रत है अर्थात् त्रस और स्थावर दोनों प्रकारके जीवोंको दुःख पहुंचानेवाली चोरीके त्याग करनेको पूर्ण त्याग वा अचौर्य महाव्रत कहते हैं तथा केवल त्रस जीवोंको पीडा पहुंचानेवाली चोरीके त्याग करनेको एकदेश त्याग अथवा अचौर्याणुव्रत कहते हैं। गृहस्थ लोग अचौर्याणुव्रत ही पालन कर सकते हैं क्योंकि वे गृहस्थ जल मिट्टी आदि सर्वसाधारणके ग्रहण करने योग्य पदार्थोंको बिना दिये ग्रहण करनेका त्याग नहीं कर सकते। भावार्थ–मुनिराज तो बिना दिया जल मिट्टी आदि कुछ भी पदार्थ ग्रहण नहीं करते हैं

स्याज्जलादिपरिवर्जनम् ॥ ३५ ॥ देशतः स्तेयसंत्यागलक्षणं गृहिणां व्रतम् । अदत्तं वस्तु नादेयं यस्मिन्नस्ति त्रसाश्रयः ॥ ३६ ॥ रक्षार्थं तस्य कर्तव्या भावनाः पञ्च नित्यशः । सर्वतो मुनिनाथेन देशतः श्रावकैरपि ॥ ३७ ॥ तत्सूत्रं यथा—शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसद्धर्माविसंवादाः पञ्च । शून्यागारेषु

परन्तु गृहस्थलोग इन पदार्थोंको बिना दिये हुए ग्रहण करते ही हैं, कूआ वा नदीसे पानी लाते ही हैं, जंगलसे मिट्टी ले ही आते हैं, ऐसी अत्यन्त सूक्ष्म चोरीका त्याग गृहस्थलोग नहीं कर सकते अतएव वे ऐसी ही चोरी का त्याग करते हैं जिससे त्रसजीवोंको पीडा पहुंचे। स्थावर जीवोंको पीडा पहुंचानेवाली चोरीका त्याग गृहस्थोंके नहीं हो सकता ॥ ३५ ॥ एकदेश चोरीका त्याग करना गृहस्थ श्रावकोंका व्रत है। अणुव्रती श्रावकोंको जिनमें त्रस जीवोंका आश्रय हो ऐसे कोई भी पदार्थ बिना दिये हुए कभी ग्रहण नहीं करने चाहिये। यही उनका अचौर्याणुव्रत है ॥ ३६ ॥

इस अचौर्यव्रतकी रक्षा करनेके लिए पांच भावनाएं हैं वे भी नित्य पालन करनी चाहिए। उन भावनाओं का पालन मुनियोंको पूर्णरूपसे करना चाहिये और श्रावकोंको एकदेश करना चाहिये ॥ ३७ ॥ इस अचौर्यव्रत की रक्षाके लिए जो भावनाएं सूत्रकारने बतलाई हैं वे ये हैं—

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसद्धर्माविसंवादाः पंच । अर्थात् सूने मकानमें रहना, छोडे हुए मकानमें रहना, किसीको रोकना नहीं, भोजनकी शुद्धि रखना और धर्मात्माओंके साथ यह तेरा है यह मेरा है, इसप्रकार धर्मोपकरणोंमें विवाद नहीं करना ये पांच अचौर्यव्रतकी भावनाएं हैं। आगे इन्हींका स्वरूप बतलाते हैं।

व्रतियोंको पर्वतोंकी गुफा आदि सूने मकानोंमें ठहरना चाहिए तथा वहांपर भी उस स्थानके इन्द्रसे वा स्वामी से विरोध कर नहीं रहना चाहिए। भावार्थ—प्रत्येक स्थानका स्वामी कोई न कोई व्यंतर देव है। यदि व्रतीको किसी भी स्थानपर ठहरना हो तो उस व्यंतरदेवसे आज्ञा ले लेनी चाहिए तथा वह आज्ञा इसप्रकार लेनी चाहिए कि "यहां इस स्थानपर रहनेवाले वा इस स्थानके स्वामी हे देव प्रसन्न हो मैं यहांपर पांच दिनतक

वावासा भूभृतां गह्वरादयः । तदिन्द्रादिविरोधेन न वास्तव्यमिहामुना ॥ ३८ ॥ किंतु प्राक् प्रार्थनामित्थं कृत्वा तत्रापि संविशेत् । प्रसीदात्रत्य भो देव ! पंचरात्रं वसाम्यहम् ॥ ३९ ॥ निःस्वामित्वेन संत्यक्ताः ग्रहाः सन्त्युद्वसाह्वयाः । प्राग्वदत्रापि वसतिं न कुर्यात्कुर्याद्वा तथा ॥ ४० ॥ स्वामित्वेन वसत्यादि परैः स्याद्रुपरुन्धितम् । परोपरोधाकरणमाहुः सूत्रविशारदाः ॥ ४१ ॥ तत्स्वामिनमनापृच्छ्य स्थातव्यं न गृहिव्रतैः । स्थातव्यं च तमापृच्छ्य दीयमानं तदाज्ञया ॥ ४२ ॥ भैक्ष्यशुद्ध्यविसवादो भावनीयो व्रतार्थिना । सर्वतो मुनिनाथेन देशतोगृहमेधिना ॥ ४३ ॥ नादेयं केनचिद्दत्तमन्येनातत्स्वामिना । तत्स्वामिनश्च प्रच्छन्नवृत्त्या तत्स्याददत्तवत्

ठहरूंगा या तीन दिनतक ठहरूंगा" इसप्रकार पहले प्रार्थना कर फिर उस स्थानमें प्रवेश करना चाहिए ॥ ३८-३९ ॥ अपना अधिकार न होनेके कारण जो घर छोड दिया गया है उसको छोडा हुआ घर कहते हैं। इस छोडे हुए घरमें भी पर्वतकी गुफा आदि सूने मकानके समान बिना उसके स्वामीकी आज्ञा लिए कभी निवास नहीं करना चाहिए यदि वहां निवास करना हो तो वहांके इन्द्रकी वा वहांपर रहनेवाले व्यंतरदेवकी ऊपर लिखे अनुसार आज्ञा ले कर निवास करना चाहिए ॥ ४० ॥ जिस बसतिका आदि स्थानको अन्य लोगोंने स्वामी बन कर रोक रक्खा है उसको शास्त्रोंके जानकार विद्वान् पुरुष परोपरोधाकरण कहते हैं। गृहस्थोंको ऐसे स्थानमें उसके स्वामीको बिना पूछे कभी नहीं रहना चाहिए। उसको पूछ कर और उसकी आज्ञा मिल जानेपर रहना चाहिए। भावार्थ—यदि किसी गुफा आदिमें कोई रह रहा है तो गृहस्थोंको उनसे पूछ कर रहना चाहिए। यदि किसी गुफा आदिमें स्वयं रह रहा हो और अन्य कोई व्रती उसमें आना चाहे तो उसे रोकना नहीं चाहिए, इसीको परोपरोधाकरण कहते हैं ॥ ४१-४२ ॥

चौथी भावनाका नाम भैक्ष्यशुद्धि और पांचवीं भावनाका नाम अविसंवाद है। व्रती श्रावकोंको इन दोनों भावनाओंका पालन भी करना चाहिए। मुनिराज इन दोनों भावनाओंका पालन पूर्णरीतिसे करते हैं और गृहस्थ श्रावक इनका पालन एकदेशरूपसे करते हैं ॥ ४३ ॥ यदि कोई श्रावक भोजन देवे और वह भोजन उसका न हो किसी अन्यका हो तो उस व्रती श्रावकको नहीं लेना चाहिए। यदि वह भोजन उसीका हो और वह उसे छिपा कर देता हो तो भी उसे विना दिये हुएके समान ही समझना चाहिये। यही श्रावककी भैक्ष्यशुद्धि है ॥ ४४ ॥ जो

॥ ४४ ॥ आत्मधर्मः सधर्मी स्यादर्थाज्जैनो व्रतान्वितः । तेन कारापितं यावज्जिनचैत्यगृहादि यत् ॥ ४५ ॥ तत्रापि निवसेद्धीमान् क्षणं यावत्तदाज्ञया । तदाज्ञा-मन्तरेणेह न स्थातव्यमुपेक्षया ॥ ४६ ॥ भावनापंचकं यावदत्रोक्तं चांशमात्रतः । स्वर्णाद्यपि च नादेयमदत्तं वसनादि वा ॥ ४७ ॥ अत्रापि सन्त्यतीचाराः पंचेति सूत्रसम्मताः । त्याज्याःस्तेपरित्यागव्रतसंशुद्धिहेतवे ॥ ४८ ॥ उक्तं च—"स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यादिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ।

आत्मके धर्मको पालन करता हो अथवा जो अपने धर्मको पालन करता हो उसको सधर्मी कहते हैं। इसका भी अभिप्राय यह है कि जो जैनधर्मको धारण करनेवाला व्रती श्रावक है उसको सधर्मी कहते हैं। उसने जो कुछ जिनेन्द्रभवन, चैत्यालय आदि बनवाया है उसमें भी यदि कोई श्रावक ठहरना चाहे तो उसकी आज्ञा लेकर क्षणभर ठहरना चाहिये, उसकी आज्ञाके बिना उपेक्षापूर्वक उसे वहांपर कभी नहीं रहना चाहिए। इसको सद्धर्माविसम्वाद नामकी पांचवीं भावना कहते हैं ॥ ४५-४६ ॥ इसप्रकार यहांपर पांचों भावनाओंका स्वरूप बहुत ही संक्षेपसे अंशमात्र कहा है। व्रती श्रावकको सोना चांदी वस्त्र आदि कुछ भी बिना दिया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥ ४७ ॥

इस अचौर्याणुव्रतके भी पांच अतिचार हैं जो सूत्रकारने भी अपने सूत्रमें कहे हैं। चोरीके त्याग करनेरूप अचौर्य अणुव्रतको शुद्ध रखनेके लिए व्रती श्रावकको इन पांचों अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिए ॥ ४८ ॥ सूत्रकारने अतिचारोंका कहनेवाला जो सूत्र कहा है वह यह है—

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः।

अर्थ—चोरीका प्रयोग बतलाना, चोरीका माल लेना, राजाकी आज्ञाके विरुद्ध चलना, तौलने वा नापनेके बांट गज आदि कमती बढती रखना वा और अधिक मूल्यके पदार्थमें कम मूल्यके पदार्थ मिला कर चलाना ये पांच अचौर्याणुव्रतके अतिचार हैं। आगे इसीका स्पष्टीकरण करते हैं।

किसी लोभके वश हो कर अन्य मनुष्योंको चोरी करनेकी प्रेरणा करनेको बुद्धिमानलोग स्तेनप्रयोग कहते हैं। अचौर्याणुव्रतका यह पहला अतिचार है। भावार्थ—स्वयं तो चोरी नहीं करना किंतु किसी लोभके कारण

परस्य प्रेरणं लोभात्स्तेयं प्रति मनीषिणा । स्तेनप्रयोग इत्युक्तः स्तेयातीचारसंज्ञकः ॥ ४९॥ अप्रेरितेन केनापि दस्युना स्वयमाहृतम् । गृह्यते धनधान्यादि तदाहृतादानं स्मृतम् ॥ ५० ॥ नादेयं दीयमान वा पुण्यदानेन चापि तत् । स्तेयत्यागव्रतस्यास्य स्वामिनात्महितैषिणा ॥ ५१ ॥ राज्ञाज्ञापितमात्मेत्यं युक्तं वाऽयुक्तमेव तत् । क्रियते न यदा स स्याद्विरुद्धराज्यातिक्रमः ॥ ५२ ॥ कर्तव्यो न कदाचित्स प्रकृतव्रतधारिणा । आस्तामुत्र तेनार्तिरिहानर्थपरंपरा ॥ ५३ ॥ क्रेतुं मानाधिकं मान

चोरी करनेकी प्रेरणा करना स्तेनप्रयोग है ॥ जिस किसी चोरको चोरी करनेकी प्रेरणा नहीं की है, विना प्रेरणा किये ही वह स्वयं चुरा कर जो धन धान्य आदि पदार्थ लाया है उसको ग्रहण करना तदाहृतादाननामका अतिचार कहलाता है ॥५०॥ अपने आत्माका कल्याण करनेवाले और अचौर्याणुव्रतको पालन करनेवाले व्रती श्रावकोंको ऐसा चोरीका धन यदि कोई दे भी तो भी नहीं लेना चाहिए । यदि कोई पुण्य समझ कर दान देता हो तो भी नहीं लेना चाहिए ॥ ५१ ॥ राजाने कुछ आज्ञा दी है चाहे वह योग्य हो और चाहे वह अयोग्य हो, उसका पालन न करना विरुद्धराज्यातिक्रमनामका अतिचार कहलाता है ॥ ५२ ॥ अचौर्याणुव्रत धारण करनेवाले श्रावकोंको राजाकी आज्ञाके विरुद्ध कार्य कभी नहीं करना चाहिए क्योंकि राज्यविरुद्ध कार्य करनेसे परलोकमें दुःख होता है और इसलोकमें अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं । भावार्थ—संसारके समस्त कार्य सुव्यवस्थित चलानेके लिए राजाकी आज्ञा मानना आवश्यक है । कभी कभी युद्धादिक होनेपर एकदेशके मनुष्योंको दूसरे देशमें जानेसे रोक दिया जाता है, ऐसी अवस्थामें उस रोके हुए देशमें जाना विरुद्धराज्यातिक्रम है, इसीप्रकार राज्य बदलनेके समय अधिक मूल्यके पदार्थ कम मूल्यमें लेना वा कम मूल्यके पदार्थ अत्यन्त अधिक मूल्यमें बेचना विरुद्धराज्यातिक्रम है । ऐसा करनेवाला इस लोकमें भी अनेकप्रकारके दंड पाता है, महा दुःखी होता है और अशुभ परिणामोंके कारण परलोकमें भी महा दुःख पाता है अतएव व्रती श्रावकको इस अतिचारका भी त्याग कर देना चाहिए ॥ ५३ ॥ खरीदनेके लिए तौलनेके बांट वा नापनेके गज पायली आदि अधिक वा बढती रखना और बेचनेके लिए कमती रखना हीनाधिकमानोन्मान नामका अतिचार है ॥५४॥ व्रती श्रावकको इस हीनाधिकमानोन्मान नामके अतिचारको पूर्णरूपसे त्याग कर देना चाहिये क्योंकि जो गृहस्थ तौलनेके लिए बांटोंको कमती बढती

विक्रेतुं न्यूनमात्रकम् । हीनाधिकमानोन्माननामातीचारसंज्ञकः ॥ ५४ ॥ सर्वारम्भेण त्याज्योऽयं गृहस्थेन व्रतार्थिना । इहैवाकीर्तिसन्तानः स्यादमुत्र च दुःखदः ॥ ५५ ॥ निक्षेपणं समर्थस्य महार्घे वञ्चनाशया । प्रतिरूपकनामा स्याद् व्यवहारो व्रतक्षतौ ॥ ५६ ॥ स्तेयत्यागव्रतारूढैर्नादेयः श्रावकोत्तमैः । अस्त्यतीचारसंज्ञोपि सर्वदोषाधिपो महान् ॥ ५७ ॥ उक्तातिचारनिमुक्तं तृतीयव्रतमुत्तमम् । अवश्यं प्रतिपाल्यं स्यात्परलोकसुखाप्तये ॥ ५८ ॥ चतुर्थं ब्रह्मचर्यं स्याद्व्रतं देवेन्द्रवन्दितम् ।

रखता है वा नापनेके गजोंको कमती बढती रखता है उसकी अपकीर्ति इस समस्त लोकमें फैल जाती है तथा बांट वा गजोंको कमती बढती रख कर वह दूसरोंको ठगता है इसलिए परलोकमें भी उसे नरकादिकके महा दुःख भोगने पडते हैं इसलिए व्रती गृहस्थको इस अतिचारका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ॥५५॥ दूसरों को ठगनेकी इच्छासे अधिक मूल्यके पदार्थमें जो उसमें अच्छीतरह मिल सके ऐसा कम मूल्यका पदार्थ मिला देना प्रतिरूपकव्यवहारनामका पांचवां अतिचार कहलाता है । इस अतिचारसे यह अचौर्याणुव्रत प्रायः नष्ट हो जाता है ॥ ५६ ॥ चोरीके त्याग करनेरूप अचौर्याणुव्रतको पालन करनेवाले उत्तम श्रावकोंको यह अतिचार कभी नहीं लगाना चाहिए क्योंकि यह अतिचार यद्यपि अतिचार कहलाता है तथापि यह अतिचार सबसे बडा और सब दोषोंका अधिपति है । भावार्थ–अधिक मूल्यके पदार्थमें कम मूल्यके पदार्थ मिलानेसे दूसरे मनुष्य बहुत शीघ्र धोखेमें आ कर ठगे जाते हैं जिससे अंतमें मालूम होनेपर उनको बहुत दुख पहुंचता है इसीलिए यह सबसे बडा अतिचार है और व्रती श्रावकोंको इसका पूर्णरूपसे त्याग कर देना चाहिए ॥ ५७ ॥ व्रती गृहस्थोंको परलोकके सुख प्राप्त करनेके लिए ऊपर लिखे अतिचारोंको छोड कर इस तीसरे उत्तम अचौर्याणुव्रतको अवश्य पालन करना चाहिए । भावार्थ- अचौर्याणुव्रत धारण करनेवाले श्रावकोंको इसके अतिचार भी अवश्य छोड देने चाहिए । अतिचारोंके त्याग कर देनेसे ही उनका यह व्रत उत्तम व्रत कहलाता है ॥ ५८ ॥ इसप्रकार अचौर्याणुव्रतका स्वरूप बतलाया ।

अब आगे ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप बतलाते हैं । चौथे व्रतका नाम ब्रह्मचर्य व्रत है । सोलह स्वर्गोंके देवोंके इन्द्र भी इस ब्रह्मचर्यव्रतकी बंदना करते हैं, मुनिराज इसका पालन पूर्णरीतिसे करते हैं और श्रावक इसका

देशतः श्रावकैर्ग्राह्यं सर्वतो मुनिनायकैः ॥ ५९ ॥ देशतस्तद्व्रतं धाम्नि स्थितस्यास्य सरागिणः । उदिता धर्मपत्नी या सैव सेव्या नचेतरा ॥६०॥ ब्रह्मव्रतस्य रक्षार्थं कर्तव्याः पञ्चभावनाः । तल्लक्षणं यथा सूत्रे प्रोक्तमत्रापि चाहृतिः ॥ ६१ ॥ तत्सूत्रं यथा—स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च । प्रसिद्ध विटचर्यादि दम्पत्योर्वा मिथो रतिः । अनुरागस्तद्वार्तायां योषिद्रागकथाश्रुतिः ॥ ६२ ॥ उक्तं च । रतिरूपा तु या चेष्टा दम्पत्योः सानु-

पालन एकदेशरूपसे करते हैं ॥ ५९ ॥ घरमें रहनेवाले सरागी गृहस्थोंको इस व्रतका पालन एकदेशरूपसे करना चाहिए । इसी ग्रंथमें पहले जो धर्मपत्नीका स्वरूप कह आये हैं वह धर्मपत्नी ही गृहस्थोंको सेवन करनी चाहिए । उसके सिवाय अन्य समस्त स्त्रियोंके सेवन करनेका त्याग कर देना चाहिए ॥ ६० ॥

इस ब्रह्मचर्यव्रतकी रक्षा करनेके लिए जो पांच भावनाएं बतलाई हैं उनका भी पालन करना चाहिए तथा उन पांचों भावनाओंका लक्षण जो सूत्रकारने अपने सूत्रमें कहा है वही ग्रहण कर लेना चाहिए ॥ ६१ ॥ सूत्रकारका वह सूत्र यह है—

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच ।

अर्थ—स्त्रियोंकी रागरूप कथा सुननेका त्याग, उनके मनोहर अंगोंके देखनेका त्याग, पहले भोगी हुई स्त्रियोंके स्मरण करनेका त्याग, पौष्टिक रसका त्याग और अपने शरीरके संस्कार करनेका त्याग ये पांच ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएं हैं । इनके पालन करनेसे ब्रह्मचर्यकी रक्षा होती है । आगे इन्हींका स्वरूप बतलाते हैं ।

व्यभिचारी लोग जो रागरूप कुचेष्टाएं करते रहते हैं अथवा कोई भी स्त्री पुरुष जो परस्पर कामक्रीडा करते हैं उनकी कथा सुननेमें प्रेम रखना स्त्रियोंकी रागरूप कथाका सुनना कहलाता है । यहांपर रागरूप कथाके कहनेसे शृंगारके कहनेका अभिप्राय है । शृंगाररसके सुननेमें प्रेम करना स्त्रीरागकथाश्रवण है ॥६२॥ लिखा भी है—

रतिरूपा तु या चेष्टा दंपत्योः सानुरागयोः । शृंगारः स द्विधा प्रोक्तः संयोगो विप्रलम्भकः ॥

अर्थात् परस्पर एक दूसरेको प्रेम करनेवाले स्त्री पुरुषोंकी जो कामक्रीडारूप चेष्टा है उसको शृंगार कहते

रागयो । शृंगारः स द्विधा प्रोक्तः सयोगो विप्रलम्भकः ॥ स ह्याज्योऽपरदम्पत्योः सम्बन्धी बन्धकारणम् । प्रीतिः शृङ्गारशास्त्रादौ नादेया ब्रह्मचारिभिः ॥ ६३ ॥ चक्षुर्गण्डाधरग्रीवास्तनोदरनितम्बकान् । पश्येत्तन्मनोहरांगनिरीक्षणमत्यादरात् ॥ ६४ ॥ न कर्तव्यं तदज्ञानां भाषणं वा निरीक्षणम् । कायेन मनसा वाचा ब्रह्माणुव्रत-धारिणा ॥ ६५ ॥ रतं मोहोदयात्पूर्वं सार्द्धमन्यांगनादिभिः । तत्स्मरणमतीचारं पूर्वरतानुस्मरणम् ॥ ६६ ॥ ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य दोषोयं सर्वतो महान् । ह्याज्यो ब्रह्मप-

हैं । वह शृंगार दोप्रकारका बतलाया है एक संयोगात्मक और दूसरा वियोगात्मक । स्त्री पुरुषोंके मिलनेसे जो शृंगाररस प्रगट होता है वह संयोगात्मक शृंगाररस है और स्त्री पुरुषोंके वियोग होनेपर जो परस्पर मिलनेकी उत्कट इच्छा होती है अथवा जो वियोगजन्य दुःख होता है उसको कहना वा सुनना वियोगात्मक रस है ।

व्रती श्रावकोंको अन्य स्त्री पुरुषोंसे उत्पन्न होनेवाले शृंगाररसके सुननेका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए क्योंकि ऐसी कुचेष्टाओंके सुननेसे अशुभ कर्मोंका तीव्र बंध होता है । इसीप्रकार ब्रह्मचर्य व्रतको धारण करनेवाले ब्रह्मचारियोंको शृंगाररसको कहनेवाले शास्त्रोंमें भी प्रेम नहीं करना चाहिए । भावार्थ—शृंगाररसको कहनेवाले काव्य आदिके सुनने वा पढनेका त्याग कर देना चाहिए तथा अन्य स्त्रीपुरुषसंबंधी कामक्रीडाकी चेष्टाओंके सुननेका तो सर्वथा त्याग कर देना चाहिए क्योंकि ऐसी चेष्टाओंके सुननेसे कामकी तीव्रता बढती है तथा कामकी तीव्रता बढनेसे अशुभ कर्मोंका तीव्र बंध होता है इसलिए ऐसी कथाओंके सुननेका त्याग कर देना पहली भावना है ॥६३॥ स्त्रियोंके नेत्र, कपोल, अधर, ग्रीवा (गर्दन), स्तन, उदर, नितंब आदि मनोहर अंगोंको अत्यंत आदरसे देखना तन्मनोहरांगनिरीक्षण कहलाता है ॥ ६ ॥ ब्रह्मचर्य अणुव्रतको धारण करनेवाले व्रती गृहस्थोंको मनसे, बचनसे और कायसे स्त्रियोंके मनोहर अंगोंका न तो कभी वर्णन करना चाहिए और न कभी उनको देखना चाहिए । ब्रह्मचर्यव्रतकी रक्षा करनेके लिए यह दूसरी भावना है ॥ ६५ ॥

मोहनीयकर्मके उदयसे पहले जो अन्य स्त्रियोंके साथ कामक्रीडा की थी उसका स्मरण करना पूर्वरतानुस्मरण कहलाता है । यह पूर्वरतानुस्मरणनामका दोष इस ब्रह्मचर्य व्रतका सबसे बडा दोष है । इसलिए इस ब्रह्मचर्यव्रतरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेके लिए सूर्यके समान ब्रह्मचारीको इस पूर्वरतानुस्मरणनामके दोषका

योजांशुमालिना ब्रह्मचारिणा ॥ ६७ ॥ वृषमन्नं यथा माषाःपयश्चेष्टरसः स्मृतः । वीर्यवृद्धिकरं चान्यत्याज्यमित्यादि ब्रह्मणे ॥ ६८ ॥ स्नेहाभ्यंगादिस्नानानि माल्यं सृक् चन्दनानि च । कुर्यादत्यर्थमात्रं चेद् ब्रह्मातीचारदोषकृत् ॥६९॥ स्वशरीरसंस्काराख्यो दोषोयं ब्रह्मचारिणः । सर्वतो मुनिना त्याज्यो देशतो गृहमेधिभिः ॥७०॥

त्याग अवश्य कर देना चाहिये । भावार्थ—पहले भोगी हुई स्त्रियोंके स्मरण करनेसे व्यर्थ ही अशुभ परिणाम होते हैं और ब्रह्मचर्य नष्ट होता है इसीलिये यह सबसे बडा दोष है । ब्रह्मचर्य अणुव्रतको धारण करनेवालोंको इसका त्याग अवश्य कर देना चाहिए । इसका त्याग करनेसे ब्रह्मचर्यकी पूर्ण रक्षा होती है । यह तीसरी भावना है ॥ ६६-६७ ॥ उडदकी दाल, दूध तथा अपनेको अच्छे लगनेवाले जितने रस हैं वे सब पौष्टिक रस कहलाते हैं अथवा वीर्यको बढानेवाले जितने भी पदार्थ हैं वे सब पौष्टिक रस कहलाते हैं । अणुव्रती श्रावकोंको अपना ब्रह्मचर्य सुदृढ बनानेके लिये ऐसे पौष्टिक रसोंके सेवन करनेका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए । पौष्टिक रसका त्याग करनेसे इंद्रियोंकी प्रबलता नष्ट हो जाती है तथा इंन्द्रियोंकी प्रबलता नष्ट होनेसे ब्रह्मचर्यका पालन अच्छी तरह होता है । अतएव श्रावकोंको पौष्टिक रसोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए । यह ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेके लिए चौथी भावना है ॥ ६८ ॥ तेल लगा कर नहाना, उबटन लगा कर नहाना, फूलोंका शृंगार करना, माला पहिनना, चन्दन लगाना तथा इनके सिवाय शरीरको संस्कार करनेवाले जितने भी पदार्थ हैं उनका अधिकताके साथ सेवन करना स्वशरीरसंस्कार कहलाता है । यह स्वशरीरसंस्कार ब्रह्मचर्यको घात करनेवाला, उसमें अनेक प्रकारके दोष उत्पन्न करनेवाला और अनेकप्रकारके अतिचार उत्पन्न करनेवाला है ॥ ६९ ॥ ब्रह्मचर्य अणुव्रतको धारण करनेवाले ब्रह्मचारियोंको यह स्वशरीरसंस्कारनामका दोष भी एक प्रबल दोष है । मुनियोंको इसका त्याग पूर्णरूपसे कर देना चाहिये और गृहस्थोंको इसका त्याग एकदेशरूपसे करना चाहिये । भावार्थ-गृहस्थोंको वस्त्राभूषण आदि भी पहनने पडते हैं परन्तु उनको इसप्रकार पहनना चाहिये जिससे रागकी वृद्धि न हो, गृहस्थोंको अपने पदस्थके अनुसार वेष और भूषा रखनी चाहिये । पदस्थके बाहर वेष भूषा करना अन्तरंगकी तीव्र रागरूप क्रियाको द्योतित करता है तथा उससे ब्रह्मचर्यका घात अवश्य होता है अतएव व्रती गृहस्थोंको अपने

भावनाः पंचनिर्दिष्टाः सर्वतो मुनिगोचरा । तत्राशक्तिर्गृहस्थानां वर्जनीया स्वशक्तितः ॥ ७१ ॥ लक्ष्यन्तेऽत्राप्यतीचाराः ब्रह्मचर्यव्रतस्य ये । पंचैवेति यथा सूत्रे सूक्ताः प्रत्यक्षवादिभिः ॥ ७२ ॥ उक्तं च–परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः । परविवाहकरणं दोषो ब्रह्मव्रतस्य यः । व्यक्तो

शरीरके संस्कार करनेका त्याग अवश्य कर देना चाहिये । यह ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेवाली पांचवीं भावना है ॥ ७० ॥ इसप्रकार ब्रह्मचर्यकी पांचों भावनाओंका निरूपण किया । इन भावनाओंका पूर्णरीतिसे पालन मुनियों-से ही होता है अथवा यों कहना चाहिये कि स्त्रियोंकी रागरूप कथा सुनना, उसके मनोहर अंग देखना, पहले भोगी हुई स्त्रियोंका स्मरण करना, पौष्टिक रसका सेवन और अपने शरीरका संस्कार ये पांच दोष ब्रह्मचर्यको घात करनेवाले हैं इनका पूर्ण त्याग मुनिराज करते हैं तथा गृहस्थोंको अपनी शक्तिके अनुसार इन सबमें आसक्त वा लीन रहनेका त्याग कर देना चाहिये । इन पांचों दोषोंमें लीन नहीं रहना चाहिये तथा अपनी शक्तिके अनुसार इनमेंसे जितना त्याग बन सके उतना त्याग कर देना चाहिये । यह ब्रह्मचर्य व्रत सर्वोत्तम व्रत है, देव और इन्द्रोंके द्वारा भी बन्दनीय है इसलिये इसको जितना निर्मल और निर्दोष पालन किया जाय उतना ही श्रेष्ठ और कल्याणकारी है । इसप्रकार पांचों भावनाओंका स्वरूप बतलाया ॥ ७१ ॥

इस ब्रह्मचर्य व्रतके भी पांच अतिचार हैं जो सर्वज्ञदेवने बतलाये हैं तथा जो सूत्रकारने अपने सूत्रमें लिखे हैं ॥ ७२ ॥ वह सूत्र इसप्रकार है–

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानंगक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥

अर्थ–दूसरेके पुत्र पुत्रियोंका विवाह करना कुलटा विवाहिता स्त्रीके यहां आना जाना, अविवाहिता कुलटा स्त्रीके यहां आना जाना, अनंगक्रीडा करना और काममेवनकी तीव्र लालसा रखना ये पांच ब्रह्मचर्य अणुव्रतके अतिचार हैं । आगे इन्हींका स्वरूप बतलाते हैं ।

दूसरेके पुत्र पुत्रियोंका विवाह करना परविवाहकरण कहलाता है । यह भी ब्रह्मचर्यका एक अतिचार वा दोष है । दूसरेके पुत्र पुत्रियोंका विवाह करना संसारमें प्रसिद्ध है, सब कोई जानता है अतएव सुगम होनेसे

लोकप्रसिद्धत्वात्सुगमे प्रयासो वृथा ॥ ७३ ॥ अयं भावः स्वसम्बन्धिपुत्रादींश्च विवाहयेत् । परवर्गविवाहांश्च कारयेन्नानुमोदयेत् ॥ ७४ ॥ इत्वरिका स्यात्पुंश्चली सा द्विधा प्राग्यथोदिता । काचित्परिगृहीता स्यादपरिगृहीता परा ॥७५॥ ताभ्यां सरागवागादिवपुस्पर्शोऽथवा रतम् । दोषोऽतीचारसंज्ञोऽपि ब्रह्मचर्यस्य हानये ॥७६॥ दोषश्चानङ्गक्रीडाख्यः स्वप्नादौ शुक्रविच्युतिः । विनापि कामिनीसङ्गात्क्रिया वा कुत्सितोदिता ॥ ७७ ॥ कामतीव्राभिनिवेशो दोषोतीचारसंज्ञकः । दुर्दान्तवेदनाक्रांत-

इसके स्वरूपके कहनेमें परिश्रम करना व्यर्थ है। भावार्थ-इसका स्वरूप इसके शब्दोंसे ही निकल आता है तथा यह विषय लोकमें प्रसिद्ध होनेसे सब कोई इसको जानता है इसलिए इसका और स्वरूप कहना व्यर्थ है ॥ ७३ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि अपनेसे संबंध रखनेवाले पुत्र पुत्रियोंका तो विवाह कर देना चाहिए परंतु जिनसे अपना कोई संबंध नहीं है ऐसे पुत्र पुत्रियोंका विवाह न तो कराना चाहिए और न उसकी अनुमोदना करनी चाहिए। भावार्थ-विवाह करनेमें भी पूर्ण ब्रह्मचर्यका घात होता है। अपने पुत्र पुत्री अपने आधीन हैं यदि उनका विवाह न किया जायगा तो संभव है कि वे न्यायमार्गसे च्युत हो जायं तथा उनको न्यायमार्गमें लगाये रखना अपना विशेष कर्तव्य है इसलिए अपने पुत्र पुत्रियोंका विवाह तो न्यायरूपसे करना पडता है परंतु जिनसे अपना कोई संबंध नहीं है ऐसोंका विवाह कराना ब्रह्मचर्यके घातका भागी बनना है इसलिए परविवाहकरण ब्रह्मचर्य अणुव्रतका पहला अतिचार है ॥ ७४ ॥ इत्वरिका शब्दका अर्थ पुंश्चली वा व्यभिचारिणी स्त्री है इसीको कुलटा कहते हैं। वह दो प्रकार है एक परिगृहीता और दूसरी अपरिगृहीता। इन दोनोंका स्वरूप पहले अच्छीतरह कह चुके हैं। भावार्थ-इसी ग्रंथके दूसरे सर्गके अंतिम भागमें इसका स्वरूप खूब विस्तारके साथ कहा है वहांसे जान लेना चाहिए ॥ ७५ ॥ परिगृहीता व्यभिचारिणी स्त्री और अपरिगृहीता व्यभिचारिणी स्त्री इन दोनोंके साथ रागपूर्वक बातचीत करना, शरीर स्पर्श करना, अथवा क्रीडा करना अतिचार है, यह अतिचार वा दोष ब्रह्मचर्यको घात करनेवाला है ॥ ७६ ॥ स्वप्नमें वीर्यपात हो जाना अथवा किसी भी स्त्रीके समागमके विना खोटी चेष्टा करना, खोटी क्रिया करना अनंगक्रीडानामका दोष कहलाता है ॥ ७७ ॥ कामसेवनकी तीव्र वेदनाके वशीभूत हो कर कामके विकारसे अत्यंत पीडित हुआ मनुष्य

स्मरसंस्कारपीडितः ॥ ७८ ॥ ननु चास्ति स दुर्वारो दुस्त्याज्या मानसी क्रिया। ब्रह्मव्रतगृहीतस्य सतोत्र वद का गतिः ॥ ७९ ॥ उच्यते गतिरस्यास्ति वृद्धैः सूत्रे प्रमाणिता। यथा कथंचिन्न त्याज्या नीता ब्रह्मव्रतक्रिया ॥ ८० ॥ उक्तं ब्रह्मव्रतं साङ्गमतिचारविवर्जितम्। पालनीयं सदाचारैः स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ॥ ८१ ॥ उपाधि-

जो कामसेवनकी तीव्र लालसा रखता है उसको कामतीव्राभिनिवेश नामका अतिचार कहते हैं ॥ ७८ ॥

यहांपर शंकाकार कहता है कि इस कामतीव्राभिनिवेशनामके अतिचारका त्याग करना अत्यंत कठिन है क्योंकि मनके विकारोंका त्याग करना अत्यन्त कठिन है फिर भला जिसने ब्रह्मचर्य अणुव्रत धारण कर लिया है और मनके विकारोंका त्याग कर नहीं सकता कामतीव्राभिनिवेश नामके अतिचारका त्याग कर नहीं सकता ऐसा मनुष्य उस व्रतका पालन किसप्रकार कर सकेगा, उसके व्रत पालन करनेका क्या उपाय है सो बत लाना चाहिए ॥ ७९ ॥ कविराज इस शंकाका उत्तर देते हुए कहते हैं कि ऐसे मनुष्योंके व्रत पालन करनेका उपाय भी है। जो कि वृद्ध पुरुषोंने बडे बडे आचार्योंने सूत्रोंमें बतलाया है। उसका अभिपाय यही है कि जो ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया है उसको जिसप्रकार बने उसीप्रकार पालन करना चाहिए उसको किसी भी प्रकार छोडना नहीं चाहिये ॥ ८० ॥ इसप्रकार ब्रह्मचर्य अणुव्रतका स्वरूप कहा। अणुव्रतोंको धारण करने वाले श्रावकोंको स्वर्ग और मोक्षके अनुपम सुख देनेवाला यह व्रत अतिचार रहित और भावनाओं सहित पालन करना चाहिए ॥ ८१ ॥

अब आगे परिग्रहके परिमाण करनेकी विधि कहते हैं। यह निश्चित है कि परिग्रहके परिमाण करनेसे ही ऊपर कहे हुए समस्त व्रत चिरकालतक ठहर सकते हैं।

भावार्थ—परिग्रहकी तीव्र लालसा मोहनीयकर्मके उदयसे होती है तथा जब परिग्रहकी तीव्र लालसा होती है तब वह मनुष्य परिग्रहका परिमाण नहीं कर सकता, इससे सिद्ध होता है कि जिसके परिग्रह परिमाण नहीं है उसके मोहनीयकर्मका तीव्र उदय है तथा जिसके मोहनीयकर्मका तीव्र उदय होता है उसके अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि कोई भी व्रत नहीं हो सकते, इसीलिए ग्रंथकारने कहा है कि जिसके परिग्रहका परिमाण होता है

परिमाणस्य सद्विधिश्चाधुनोच्यते । सति यत्रोदितानां स्याद्व्रतानां स्थितिसन्ततिः ॥ ८२ ॥ मुनिभिः सर्वतस्त्याज्यं तृणमात्रपरिग्रहम् । तत्संत्यागगृहिभिः कार्या त्रस-हिंसादिहानये ॥ ८३ ॥ अवश्यं द्रविणादीनां परिमाणं च परिग्रहे । गृहस्थेनापि कर्तव्य हिंसातृष्णोपशान्तये ॥ ८४ ॥ परिमाणे कृते तस्मादर्वाग्मूर्च्छा प्रवर्तते । अभावान्मूर्च्छायास्तूर्द्ध्वं मुनित्वमिव गीयते ॥ ८५ ॥ तस्मादात्मोचितादूद्रव्याद् ह्रासनं तद्वरं स्मृतम् । अनात्मोचितसङ्कल्पाद् ह्रासनं तन्निरर्थकम् ॥ ८६ ॥ अना-

उसीके ऊपर लिखे हुए व्रतोंका पालन होता है क्योंकि मोहनीयकर्मके मंद उदयसे परिग्रहका परिमाण होता है और मोहनीयकर्मके मंद उदयसे ही समस्त व्रतोंका पालन होता है ॥८२॥ परिग्रहका त्याग मुनियोंको पूर्णरूपसे कर देना चाहिए। मुनिराज तृणमात्र परिग्रह भी अपने पास नहीं रखते । उसका भी त्याग कर देते हैं तथा अणुव्रती श्रावकोंको त्रस जीवोंकी हिंसाके त्यागका पालन करनेके लिए अथवा त्रस जीवोंकी रक्षा करनेके लिए उस परिग्रहका परिमाण नियत कर लेना चाहिए ॥ ८३ ॥ हिंसा और तृष्णाको शांत करनेके लिए गृहस्थोंको धन धान्य आदि परिग्रहका परिमाण अवश्य कर लेना चाहिए। भावार्थ—समस्त परिग्रहोंका परिमाण कर लेनेसे अनेक जीवोंकी हिंसा बच जाती है और हृदयकी तृष्णा वा लालसा कम हो जाती है इसलिए परिग्रहका परिमाण कर लेना गृहस्थोंके लिए अत्यावश्यक है ॥८४॥ जो मनुष्य जितने परिग्रहका परिमाण कर लेता है उसकी लालसा वा मूर्च्छा उतने ही परिग्रहमें रहती है। उतने परिग्रहसे अधिक परिग्रहमें उसकी मूर्च्छा वा लालसा नहीं रहती। किये हुए परिमाणसे अधिक परिग्रहमें उसकी मूर्च्छाका सर्वथा अभाव हो जाता है। अतएव किये हुए परिमाणके ऊपर वह परिमाण करनेवाला मुनिके समान समझा जाता है ॥ ८५ ॥ अतएव अपने योग्य जो परिग्रह है उसमेंसे घटाना ही कल्याणकारी है । जो द्रव्य अपने योग्य नहीं है उसका घटाना वा त्याग करना व्यर्थ है। भावार्थ—परिग्रह परिमाणका अभिप्राय वर्तमानके परिग्रहका घटाना है । अपनी हैसियतके अनुसार जो द्रव्य है जितना परिग्रह है उसमेंसे ही कम करना चाहिए, तभी लालसा कम हो सकती है और तभी आत्माका कल्याण हो सकता है। जो मनुष्य ऐसे परिग्रहोंका वा ऐसे पदार्थोंका त्याग करता है जो अपने लिए संभव ही नहीं हो सकते उनका त्याग करना व्यर्थ है ॥ ८६ ॥ जो परिग्रह वा जो द्रव्य अपने लिए कभी संभव नहीं हो

त्योचितसङ्कल्पाद् हासनं यन्मनीषया। कुर्युर्यद्वा न कुर्युर्वा तत्सर्वं व्योमचित्रवत् ॥ ८७ ॥ प्रत्यंप्रजन्मनीहेदमन्त्यन्ताभावलक्षणम। तत्त्यागोपि वरं कैश्चिदुच्यते सार-वर्जितम् ॥ ८८ ॥ तत्रोत्सर्गो नृपर्यायस्थितिमात्रकृते धनम्। रक्षणीयं व्रतस्थैस्तैस्त्याज्यं शेषमशेषतः ॥ ८९ ॥ अपवादस्तुपात्तानां व्रतानां रक्षणं यथा। स्याद्वा न

सकते उनका त्याग वा उनका कम करना केवल मनके संकल्पसे होता है अतएव उनका त्याग करना वा न करना दोनों ही आकाशके चित्रके समान हैं। भावार्थ- जैसे आकाशके चित्रोंका होना असंभव है आकाशमें चित्र हो नहीं सकते उसीप्रकार जिन पदार्थोंका प्राप्त होना कभी संभव नहीं है उन पदार्थोंका त्याग करना वा परिमाण करना व्यर्थ है। उनके त्याग करने वा परिमाण करनेको व्रत नहीं कह सकते ॥ ८७ ॥ इस विषयमें कोई कोई लोग ऐसा भी कहते हैं कि इस जन्ममें जिस पदार्थका प्राप्त होना अत्यंत असंभव है अथवा जो पदार्थ अत्यंत सारहीन है व्यर्थके समान है उसका त्याग करना भी अच्छा है। भावार्थ---कोई कोई ऐसा भी कहते हैं कि जो पदार्थ अपने पास नहीं है अथवा जिनका प्राप्त होना भी असंभव है ऐसे पदार्थोंका भी त्याग कर देना अच्छा है क्योंकि त्याग कर देनेसे लालसा घटती है, मनको संतोष होता है और आत्माके शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति होती है अतएव जो पदार्थ वर्तमानमें उपस्थित है उनका तो परिमाण कर लेना ही चाहिए किंतु जो पदार्थ उपस्थित नहीं है वा जिनके होनेकी कोई संभावना भी नहीं है उनका भी त्याग कर देना अच्छा है ॥ ८८ ॥ इस परिग्रहके त्याग करनेकी रीति यह है कि इस मनुष्यपर्यायको स्थिर रखनेके लिए जितने धनकी आवश्यकता है उतना धन तो रख लेना चाहिए और बाकीका जितना धन है वा जितना परिग्रह है उस सबका अणुव्रती श्रावकोंको त्याग कर देना चाहिए। भावार्थ---अपना पदस्थ देख कर उस पदस्थके अनुसार जितने धनसे वा जितने परिग्रहसे अपना जीवननिर्वाह अच्छीतरह हो जाय उतने धनका परिमाण कर लेना चाहिए। शेष परिग्रहका सबका त्याग कर देना चाहिए ॥ ८९ ॥ इसका भी आवश्यक अपवाद यह है कि जो व्रत धारण कर लिए उनकी रक्षा जिसप्रकार हो जाय जितने धन वा परिग्रहसे हो जाय अथवा जितना धन वा परिग्रह रखनेसे उन में किसीप्रकारकी हानि न हो उतने परिग्रहका परिमाण कर लेना चाहिए। भावार्थ-धारण किये हुए व्रतोंका

यात्तु तद्वानिः संख्यातव्यस्तयोपधिः ॥ ९० ॥ रक्षार्थं तद्व्रतस्यापि भावनाः पञ्च सम्मताः । भावनीयाश्च ता नित्यं यथा सूत्रेपि लक्षिताः ॥९१॥ तत्सूत्रं यथा—
मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच । इन्द्रियाणि स्फुटं पंच पंच तद्विषयाः स्मृताः । यथास्वं तत्परित्यागभावनाः पंच नामतः ॥ ९२ ॥ पंचस्वेषु मनोज्ञेषु

पालन करना मुख्य कार्य है । जितना सब प्रयास है उतना सब व्रतोंकी रक्षाके लिए है यहांतक कि यह मनुष्य-पर्याय और इस गृहस्थधर्मका पालन करना सब व्रतोंकी रक्षाके लिए है अतएव उन्हीं व्रतोंकी रक्षा करनेमें जितना धन वा परिग्रह काम आता हो उतना धन वा परिग्रह तो रख लेना चाहिए और बाकीके परिग्रहका त्याग कर देना चाहिए । अणुव्रती श्रावकोंके लिए परिग्रहका परिमाण करने वा परित्यागका त्याग करनेकी यह सबसे उत्तम रीति है ॥ ९० ॥

अन्य व्रतोंके समान इस परिग्रहत्यागव्रतकी रक्षा करनेके लिए भी पांच भावनाएं हैं जो कि आचार्यवर्य श्री १०८ उमास्वामीने अपने बनाए हुए तत्त्वार्थसूत्रमें वा मोक्षशास्त्रमें बतलाई हैं । अणुव्रती श्रावकोंको उनका भी पालन करते रहना चाहिए ॥ ९१ ॥ उन भावनाओंको कहनेवाला सूत्र यह है—

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच ।

अर्थात् मनोज्ञ और अमनोज्ञ जो इंद्रियोंके विषय हैं उनमें रागद्वेषका त्याग कर देना परिग्रहत्यागकी पांच भावनाएं हैं । आगे उन्हींका विशेष वर्णन करते हैं ।

इंद्रियां पांच हैं और उनके विषय भी पांच हैं । उनका यथायोग्यरीतिसे त्याग करना ही पांच भावनाएं हैं ॥ ९२ ॥ इसका भी अर्थ यह है कि पांचों इंद्रियोंके जो विषय हैं उनमें कुछ मनोज्ञ विषय रहते हैं और कुछ अमनोज्ञ विषय रहते हैं । उनमेंसे जो मनोज्ञ विषय हैं इंद्रियोंको अच्छे लगनेवाले विषय हैं उनमें राग नहीं करना चाहिए तथा जो अमनोज्ञ विषय हैं इंद्रियोंको बुरे लगनेवाले विषय हैं उनमें द्वेष नहीं करना चाहिए । पांचों इंद्रियोंको अच्छे लगनेवाले विषयोंमें रागका त्याग कर देना और बुरे लगनेवाले विषयोंमें द्वेषका त्याग कर देना ही इस व्रतकी भावनाएं हैं ॥ ९३ ॥ इसका भी खुलासा यह है कि यदि शुभ कर्मोंके उदयसे इष्ट पदार्थोंका संयोग

भावना रागवर्जनम्। अमनोज्ञेषु तेषूचैर्भावना द्वेषवर्जनम्॥ ९३॥ अप्यर्थो यदीष्टार्थसंयोगोस्ति शुभोदयात्। तदा रागो न कर्तव्यो हिरण्याद्यपकर्षता ॥ ९४॥ अथानिष्टार्थसंयोगो दुर्दैवाज्जायते नृणाम्। तदा द्वेषो न कर्तव्यो धनसंख्यावतेप्सिना ॥ ९५॥ इष्टानिष्टादिशब्दार्थः सुगमत्वान्न लक्षितः। रागद्वेषौ प्रसिद्धौ स्तः प्रयासः सुगमे वृथा॥ ९६॥ अत्रातीचारसंज्ञाः स्युः दोषाः संख्यावतस्य च। उदिता सूत्रकारेण त्याज्या व्रतविशुद्धये॥ ९७॥ उक्तं च—क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्ण-

हो जाय, सोना, चांदी, भोजन, वस्त्र आदि उत्तम पदार्थ प्राप्त हो जायं तो सोना चांदी आदि पदार्थोंको घटानेकी इच्छा करनेवाले श्रावकको उन पदार्थोंमें राग नहीं करना चाहिए। शांत और मध्यस्थ भावोंसे उसका उपभोग करना चाहिए॥ ९४॥ यदि अशुभ कर्मके उदयसे मनुष्योंको अनिष्ट पदार्थोंका संयोग हो जाय, रोग वा कुपुत्र वा कलह करनेवाली स्त्रीका संयोग प्राप्त हो जाय तो धनधान्यादिका परिमाण करनेवाले वा घटानेकी इच्छा करनेवाले श्रावकोंको उन अनिष्ट पदार्थोंसे द्वेष नहीं करना चाहिए। उन अनिष्ट पदार्थोंके संयोगको भी शांत और मध्यस्थ भावोंसे भोगना चाहिए॥ ९५॥ इष्ट और अनिष्ट शब्दोंका अर्थ सुगम है इसलिए उनका अलग लक्षण नहीं कहा है इसीप्रकार राग और द्वेष शब्द भी प्रसिद्ध हैं अतएव उनका अर्थ भी नहीं बतलाया है क्योंकि जिन शब्दोंका अर्थ सुगमतासे मालूम हो जाय उनके अर्थ बतलानेमें परिश्रम करना व्यर्थ है। ऐसे शब्दोंके अर्थ बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं है॥ ९६॥

इस परिग्रहपरिमाणव्रतके भी पांच अतिचार हैं जो सूत्रकारने भी अपने सूत्रमें बतलाए हैं। अणुव्रती श्रावकोंको अपने व्रत शुद्ध रखनेके लिये उन दोषोंका भी त्याग कर देना चाहिये॥ ९७॥ उन अतिचारोंको कहनेवाला जो सूत्र है वह यह है—

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः॥

अर्थ—क्षेत्र वास्तु हिरण्य सुवर्ण धन धान्य दासी दास और कुप्य पदार्थोंका जितना परिमाण किया है उसको उल्लंघन करना परिग्रहपरिमाणव्रतके अतिचार हैं, आगे इन्हींका विशेष वर्णन करते हैं।

क्षेत्र शब्दका अर्थ रहनेका स्थान है अथवा जिनमें गेहूं जौ चावल आदि धान्य उत्पन्न होते हैं ऐसे खेतोंको

धनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः । क्षेत्रं स्याद्वसतिस्थानं धान्याधिष्ठानमेव वा । गवाद्यागारमात्रं वा स्त्रीकृतं यावदात्मना ॥ ९८ ॥ ततोऽतिरिक्ते लोभान्मूर्च्छा-वृत्तिरतिक्रमः । न कर्तव्यो व्रतस्थेन कुर्वतोपधितुच्छताम् ॥९९॥ वास्तु वस्त्रादिसामान्यं तत्सङ्ख्यां क्रियतां बुधैः । अतीचारनिवृत्त्यर्थं कार्यो नातिक्रमस्ततः ॥१००॥ हिरण्यध्वनिना प्रोक्तं वज्रौक्तिकसत्फलम् । तेषा प्रमाणमात्रेण क्षणान्मूर्च्छा प्रलीयते ॥ १०१ ॥ अत्र सुवर्णशब्देन ताम्रादिरजतादयः । संख्या तेषां च कर्तव्या

भी क्षेत्र कहते हैं अथवा जिनमें गाय भैंस आदि पशु बांधे जाते हैं ऐसे स्थानको भी क्षेत्र कहते हैं। ऐसे क्षेत्रका जितना परिमाण कर लिया है उससे अधिक क्षेत्रमें किसी लोभके कारण मूर्च्छा रखना, मोह रखना, ममत्व रखना अतिक्रम वा अतिचार कहलाता है। अणुव्रतोंको धारण करनेवाले और परिग्रहको घटानेकी इच्छा करनेवाले श्रावकको ऐसे अतिचारका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। भावार्थ-किसी लोभमें आ कर किसी खेन-को वा मकानको नियत परिमाणसे अधिक नहीं बढाना चाहिये क्योंकि जो परिमाण नियत कर लिया है उसमे अधिक बढाना व्रतका भंग करना है इसलिये नियत किये हुए परिमाणसे उनकी मर्यादा कभी नहीं बढानी चाहिये ॥ ९८-९९ ॥ वस्त्र आदि सामानको वास्तु कहते हैं। बुद्धिमान श्रावकोंको अतिचार वा दोषोंका त्याग करनेके लिये वस्त्रादिकोंका परिमाण भी नियत कर लेना चाहिये तथा जो परिमाण नियत कर लिया है उसका उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिये ॥ १०० ॥ हिरण्य शब्दका अर्थ हीरा मोती मानिक आदि जवाहरात है ऐसे पदार्थोंका परिमाण कर लेनेसे अणुव्रती श्रावकका ममत्व क्षणभरमें नष्ट हो जाता है। भावार्थ—अणुव्रती श्रावकों-को जवाहरातका परिमाण भी कर लेना चाहिये जिससे लालसा न बढे और व्रतमें कोई दोष न लगे ॥ १०१ ॥ सुवर्ण शब्दका अर्थ सोना, चांदी, तांबा, पीतल आदि धातु समझना चाहिये। अणुव्रती श्रावकको ऐसी धातुओं-का परिमाण भी नियत कर लेना चाहिये तथा जितना परिमाण नियत किया है उसका उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिये क्योंकि उल्लंघन करनेसे व्रतका भंग होता है और व्रतोंका भंग करनेसे अनेकप्रकारके दुख भोगने पडते हैं अतएव जितना परिमाण नियत किया है उतना ही दृढ रखना चाहिये ॥ १०२ ॥ धन शब्दका अर्थ गाय भैंस घोडा आदि पशु हैं। अणुव्रती श्रावकको गाय भैंस आदि पशुओंका परिमाण भी नियत कर लेना चाहिये तथा

श्रेयान्नातिक्रमस्ततः ॥ १०२ ॥ धनशब्दो गवाद्यर्थः स्याच्चतुष्पदवाचकः । विज्ञेयं तत्परिमाणं ततो नातिक्रमो वरः ॥ १०३ ॥ धान्यशब्देन मुद्गादि यावदन्नकदम्बकम् । व्रतं तत्परिमाणेन व्रतहानिरतिक्रमात् ॥ १०४ ॥ दासकर्मरता दासी क्रीता वा स्वीकृता सती । तत्संख्या व्रतशुद्ध्यर्थं कर्तव्या सानतिक्रमात् ॥ १०५ ॥ यथा दासी तथा दासः संख्या तस्यापि श्रेयसी । श्रेयानतिक्रमो नैव हिंसातृष्णोपवृंहणात् ॥ १०६ ॥ कुप्यशब्दो घृताद्यर्थस्तद्भाण्डं भाजनानि वा । तेषामप्यल्पीकरण

जितने पशुओंका परिमाण नियत किया है उससे कभी बढाना नहीं चाहिये ॥ १०३ ॥ गेहूं, जौ, उडद, मूंग आदि सबप्रकारके अन्नोंको धान्य कहते हैं। परिग्रहका परिमाण करनेवाले श्रावकको इन धान्योंका परिमाण भी नियत कर लेना चाहिये तथा जितना परिमाण नियत किया है उसका उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिये क्योंकि नियत किये हुए परिमाणका उल्लंघन करनेसे व्रतकी हानि होती है, व्रतमें दोष लगता है अतएव जितना परिमाण नियत किया है उसका पालन पूर्णरीतिसे करना चाहिये।१०४। घरका काम काज करनेवाली स्त्रीको दासी कहते हैं, चाहे वह खरीदी हो, नौकर रक्खी हुई हो अथवा और किसीतरहसे काम काजके लिये घरमें रख ली हो। अणुव्रती श्रावकोंको अपना परिग्रहपरिमाणव्रत शुद्ध रखनेके लिये दासियोंकी संख्या भी नियत कर लेनी चाहिये तथा जितनी संख्या नियत की है उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिये।१०५। जिसप्रकार टहल चाकरी करनेवाली दासियां होती हैं उसीप्रकार दास होते हैं। अणुव्रती श्रावकको दासोंकी संख्या भी नियत कर लेनी चाहिये और फिर नियत की हुई संख्याको कभी नहीं बढाना चाहिये क्योंकि नियत की हुई संख्याको बढा लेनेसे हिंसा और तृष्णाकी वृद्धि होती है। भावार्थ-जितने दासदासी अधिक रक्खे जाते हैं उतनी ही हिंसा अधिक होती है, उतना ही ममत्व वा लालसा अधिक बढती है जिससे अशुभ कर्मोंका बन्ध अधिक होता है अतएव व्रतको शुद्ध रखनेके लिये नियत की हुई संख्या कभी नहीं बढानी चाहिये ॥१०६॥ कुप्य शब्दका अर्थ घी तेल आदि रखनेके बर्तन अथवा रोटी पानी आदिके बर्तन हैं व्रतोंको धारण करनेवाले श्रावकोंको उन बर्तनोंकी संख्या भी घटा लेनी चाहिये क्योंकि ममत्व वा परिग्रह जितना कम होता है उतना ही पाप कम लगता है तथा उतना ही आत्माका कल्याण अधिक होता है ॥ १०७ ॥ इसप्रकार संक्षेपसे परिग्रहपरिमाणके अतिचार वा दोष बतलाये। परिग्रहपरिमाण नामके अणु-

श्रेयसे स्याद्व्रतार्थिनाम् ॥ १०७ ॥ उक्ताः संख्या व्रतस्यास्य दोषाः संक्षेपतो मया । परिहार्याः प्रयत्नेन संख्याणुव्रतधारिणा ॥ १०८ ॥ प्रोक्तं सूत्रानुसारेण यथाणुव्रतपंचकम् । गुणव्रततत्रयं वक्तुमुत्सहेदधुना कविः ॥ १०९ ॥ दिग्देशानर्थदण्डानां विरतिः स्याद्गुणव्रतम् । एकत्वाद्विरतेश्चापि त्रेधा विषयभेदतः ॥ ११० ॥ दिग्विरतिर्यथानाम दिक्षु प्राच्यादिकासु च । गमनं प्रतिजानीते कृत्वासीमानमार्हतः ॥१११॥ सन्त्यत्र विषयाः सीम्नः वननीवृन्नगापगाः । अनु तानवधिं कृत्वा गच्छे-

व्रतको धारण करनेवाले श्रावकको प्रयत्नपूर्वक इनका त्याग कर देना चाहिये । भावार्थ–व्रतकी महिमा अतिचार रहित पालन करनेसे ही होती है अतएव व्रती श्रावकको अतिचारोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥१०८॥

जिसप्रकार पाँचों अणुव्रतोंका स्वरूप सूत्रके अनुसार निरूपण किया है उसीप्रकार कविराज अब तीनों गुणव्रतोंका स्वरूप कहते हैं ॥ १०९ ॥ दिशाओंका त्याग करना (दिशाओंकी मर्यादा नियत कर उससे आगे आने जानेका त्याग करना) देशका त्याग (कुत्सित देशमें जानेका त्याग अथवा जो त्याग किया है उसको किसी कालकी मर्यादासे और घटाना) तथा अनर्थ दंडोंका त्याग (विना प्रयोजनके जिनमें पाप लगता है ऐसी क्रियाओंका त्याग कर देना) इन तीनोंको गुणव्रत कहते हैं । यद्यपि त्यागकी अपेक्षासे ये तीनों ही एक हैं तथापि जिनका त्याग किया जाता है उन विषयोंमें भेद होनेसे तीनप्रकारके कहलाते हैं । भावार्थ–दिशाओंका त्याग करना दिग्व्रत है, देशका त्याग करना देशव्रत है और अनर्थदंडोंका त्याग करना अनर्थदंडव्रत है इसप्रकार गुणव्रतके तीन भेद हैं ॥ ११० ॥ भगवान अरहन्तदेवकी आज्ञानुसार व्रतोंको धारण करनेवाले श्रावकको पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि सब दिशाओंकी सीमा नियत कर उससे आगे न जानेका नियम लेना दिग्व्रत अथवा दिग्विरतिव्रत कहलाता है । भावार्थ–पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ईशान, आग्नेय, नैऋत, वायव्य, ऊपर, नीचे ये दश दिशाएं कहलाती हैं । श्रावकको इन दश दिशाओंमें जन्मभरतकके आने जानेके लिये मर्यादा नियत कर लेनी चाहिये । सब दिशाओंमें सीमा नियत कर लेनी चाहिये और फिर उस सीमाके बाहर न स्वयं जाना चाहिये, न किसीको भेजना चाहिये और न कोई किसीप्रकारका व्यापार करना चाहिये । इसीको दिग्व्रत नामका गुणव्रत कहते हैं ॥ १११ ॥ वन, देश, पर्वत, नदी और बडे बडे देश इस दिग्व्रतकी सीमा कहलाते हैं ।

दर्वाग्न तद्बहिः ॥ ११२ ॥ पूर्वस्यां दिशि गच्छामि यावद्गङ्गाबु केवलम् । तद्बहिर्वपुषानेन न गच्छामि सचेतनः ॥११३॥ एवं कृतप्रतिज्ञस्य संवरः पापकर्मणः । तद्बहिः सर्वहिंसाया अभावात्तन्मुनेरिव ॥११४॥ परिपाट्यानयोदीच्यां पश्चिमायां दिशि स्मृताः । मर्यादोर्द्ध्वमधश्चापि दक्षिणस्यां विदिक्षु च ॥ ११५ ॥ तत्करणे महच्छ्रेयो हिंसा तृष्णाद्वयात्ययात् । करणीयं ततोऽवश्यं श्रावकैर्व्रतधारिभिः ॥११६॥ सन्ति तत्राप्यतीचाराः पंचेति सूत्रसाधिताः । सावधानतया त्याज्यास्तेपि तद्व्रतसिद्धये

इनकी मर्यादा नियत करके उस मर्यादाके भीतर ही जाना चाहिये । मर्यादाके बाहर कभी नहीं जाना चाहिये । भावार्थ–इस दिग्व्रतकी सीमा ऐसी होनी चाहिये जो संसारमें प्रसिद्ध हो जैसे हिमालय पर्वत, गंगा नदी, बंगाल देश । ऐसी प्रसिद्ध सीमा नियत करके फिर जन्मभरतक उसीमें अपना निर्वाह करना चाहिये । उसके बाहर कभी नहीं जाना चाहिये और न किसीप्रकारका सम्बन्ध रखना चाहिये ॥ ११२ ॥ जैसे मैं इस शरीरसे सचेतन अवस्थामें पूर्व दिशामें जहांतक गंगानदी बहती है वहांतक जाऊंगा इससे आगे कभी नहीं जाऊंगा ॥ ११३ ॥ इसप्रकारकी प्रतिज्ञा करनेवाले श्रावकको मर्यादाके बाहर मुनिके समान समस्त हिंसाका त्याग हो जाता है । अतएव उस श्रावकके मुनियोंके समान ही पापकर्मोंका संवर होता है । भावार्थ–मर्यादाके बाहर श्रावकके मन बचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे सबप्रकारकी हिंसाका त्याग हो जाता है अतएव उस श्रावकके उस हिंसाके त्यागसे पापकर्मोंका महा संवर होता है ॥ ११४ ॥ जिसप्रकार यह पूर्व दिशाका उदाहरण दिया है उसीप्रकार उत्तर दिशामें, पश्चिम दिशामें, दक्षिण दिशामें, ईशान आग्नेय नैऋत्य वायव्यादिक चारों विदिशाओंमें तथा ऊपरकी और नीचेकी ओर भी मर्यादा नियत कर उससे आगे न जानेकी प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये ॥११५॥ इसप्रकार दशों दिशाओंमें मर्यादा नियत कर उससे आगे न जानेकी प्रतिज्ञा कर लेनेसे आत्माका बहुत भारी कल्याण होता है क्योंकि इसप्रकारकी प्रतिज्ञा करनेसे हिंसा और तृष्णा दोनोंका त्याग हो जाता है । मर्यादा नियत कर लेनेपर मर्यादाके बाहर फिर किसी भी प्रकारका सम्बन्ध रखनेकी तृष्णा नहीं रहती है और न किसीप्रकारकी हिंसा हो सकती है अतएव व्रत धारण करनेवाले श्रावकोंको यह दिग्व्रत अवश्य धारण कर लेना चाहिये ॥११६॥

अन्य व्रतोंके समान इस दिग्व्रतके भी पांच अतिचार हैं जो कि आचार्यवर्य श्री १०८ उमास्वामीने अपने

बनाये हुए सूत्रमें बतलाये हैं। इस दिग्व्रतको अच्छीतरह पालन करनेके लिये, निर्दोष वा शुद्ध पालन करनेके लिये इन सब अतिचारोंका त्याग भी बडी सावधानीके साथ कर देना चाहिये॥ ११७ ॥ उन अतिचारोंके कहनेवाला वह सूत्र यह है।

ऊर्द्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ।

अर्थ—ऊर्द्ध्वव्यतिक्रम अर्थात् ऊपरकी मर्यादाका उल्लंघन करना, अधोव्यतिक्रम अर्थात् नीचेकी मर्यादाका उल्लंघन करना, तिर्यग्व्यतिक्रम अथात् आठों दिशाओंकी मर्यादाका उल्लंघन करना, क्षेत्रकी मर्यादा बढा लेना और नियत की हुई मर्यादाको भूल जाना ये पांच दिग्व्रतके अतिचार हैं। आगे इन्हींका विशेष वर्णन करते हैं।

ऊंची पृथ्वीपर चढनेसे अथवा किसी पर्वतपर चढनेसे ऊर्द्ध्वव्यतिक्रम होता है। इसीप्रकार किसी पर्वतकी बहुत नीची गुफामें जानेसे अधोव्यतिक्रम होता है। भावार्थ--ऊपर और नीचेकी जितनी मर्यादा नियत कर ली है उसका उल्लंघन करना अतिचार है। पर्वतपर चढनेसे ऊपरकी दिशाका उल्लंघन होना सम्भव है और किसी गुफामें जानेसे नीचेकी दिशाका उल्लंघन होना सम्भव है अतएव किसी पर्वतपर चढते समय और गुफामें उतरते समय इन दोनों अतिचारोंका ध्यान रखना चाहिये और जिसप्रकार ये अतिचार न लगें उसीप्रकार कार्य करना चाहिये ॥ ११८ ॥ कोई कोई देश ऐसे हैं जो दिशाओंके कोनोंमें हैं और बहुत लम्बे हैं अथवा उनका जो मार्ग है वह बहुत ही लम्बा है। ऐसे किसीदेश वा क्षेत्रमें किसी लोभके कारणसे जाना तिर्यग्व्यतिक्रमनामका अतिचार कहलाता है। भावार्थ--कोई गांव वा क्षेत्र ऐसा है जो दो दिशाओंके बीचमें हैं, यदि दिशाओंकी सीमाके हिसाबसे देखा जाय तो मर्यादाके भीतर आ जाता है परन्तु तिरछा होनेके कारण उसका मार्ग नियत किये हुए योजनोंसे अधिक होता है ऐसे देश वा क्षेत्रमें जाना तिर्यग्व्यतिक्रमनामका अतिचार कहलाता है क्योंकि जानेके

॥ ११८ ॥ क्वचिद्दिक्कोणदेशादौ क्षेत्रे दीर्घाध्ववर्तिनि । कारणाद्गमनं लोभाद्व्रतेर्तियग्व्यतिक्रमः ॥११९॥ यथा सत्यमितः क्रोशः शतं यावद्गतिर्मम । क्रोशा मालव-देशीया क्षेत्रवृद्धिश्च दूषणम् ॥ १२० ॥ स्मृतं स्मृत्यन्तराधानं विस्मृतं च पुनः स्मृतम् । दूषणं दिग्विरतेः स्यादनिर्णीतमियत्तया ॥१२१॥ प्रोचिता देशविरतिर्या-

लिये जितना मार्ग नियत कर रक्खा है उससे अधिक दूरतक चलना पडता है । व्रती श्रावकोंको ऐसा अतिचार नहीं लगाना चाहिये ॥११९॥

यह ठीक है वह नगर यहांसे सौ कोश है तथा यहांसे सौ कोशतक जाने की ही मेरी मर्यादा है परन्तु ये कोश मालवदेशके कोश हैं इसको क्षेत्रवृद्धिनामका दोष कहते हैं । भावार्थ---देशके भेदसे कोशमें भी भेद होता है । जैसे उत्तरकी ओर (मेरठ सहारनपुरकी ओर) सोलह मीलके बारह कोश गिने जाते हैं परन्तु आगरेकी ओर सोलह मीलके आठ ही कोश होते हैं । कहीं कहींपर तीन तीन मीलका भी एक कोश माना जाता है । जिस श्रावकने पहले सौ कोशकी मर्यादा नियत कर ली है वह श्रावक यदि काम पडनेपर यह कहे कि कोश मालव-देशके कोशसे संभाले जांयेंगे अथवा अन्य किसी देशके कोश मालवदेशके कोशसे भी बडे हों और वह श्रावक वहांके कोशोंसे अपनी मर्यादाके सौ कोश संभाले तो उसके क्षेत्रवृद्धिनामका दोष होता है क्योंकि पहले उसने साधारण वा उस देशमें प्रचलित कोशोंसे मर्यादा नियत की थी और अब वह अपनी सौ कोशकी संख्याको तो नियत रखता है उसको तो नहीं बढाता किंतु कोशोंको बडा मान कर क्षेत्रकी मर्यादा बढा लेता है अतएव व्रतका एकदेश भंग होनेके कारण वह अतिचार वा दोष कहलाता है । ऐसा दोष व्रती श्रावकको कभी नहीं लगाना चाहिए ॥ १२० ॥ जो मर्यादा नियत की थी वह पहले तो स्मरण थी, फिर कुछ दिन बाद उसे भूल गया अथवा नियत संख्याको भूल कर कोई और संख्या स्मरण हो आई ऐसे दोषको स्मृत्यन्तराधान कहते हैं । इस स्मृत्यन्तराराधाननामके दोषमें कोई भी संख्या निश्चित नहीं रहती अथवा वह नियत की हुई मर्यादा निश्चित नहीं रहती इसलिए यह दोष गिना जाता है क्योंकि मर्यादाका निश्चय न होनेके कारण व्रतका निश्चय भी नहीं हो सकता इसलिए यह दोष व्रतका एकदेश भंग करनेवाला है । ऐसा अतिचार व्रती श्रावकको कभी

नहीं लगाना चाहिए ॥ १२१ ॥ इसप्रकार पांचों अतिचारोंका स्वरूप वर्णन कर दिग्व्रतका स्वरूप समाप्त किया अब आगे देशव्रतका निरूपण करते हैं ।

किसी नियत समयतक त्याग करनेको देशविरति वा देशव्रत कहते हैं । नियत समयतक अथवा थोडे कालतकका अर्थ एक पहर, एक दिन, एक महीना, एक ऋतु वा दो महीना अथवा एक वर्ष लेना चाहिए । भावार्थ–एक पहर, एक दिन, एक महीना, एक वर्ष आदि कालकी मर्यादा नियत कर किसी भी पाप रूप क्रियाका त्याग करना देशविरतिनामका व्रत कहलाता है ॥ १२२ ॥

इस व्रतका विषय गमन करनेका त्याग, भोजन करनेका त्याग, मैथुन करनेका त्याग अथवा मौन धारण करना आदि है । भावार्थ–यहांपर देश शब्दका अर्थ एकदेश है, व्रती श्रावकने जो जो व्रत धारण कर रक्खे हैं उनमें जन्मभरके लिए जिन जिन पापरूप क्रियाओंका त्याग कर रक्खा है उन पापरूप क्रियाओंको किसी कालकी मर्यादा नियत कर और अधिक त्याग कर देना देशव्रत है । जैसे जिसने जन्मभरके लिए पूर्वमें गंगा नदीतक आने जानेके मर्यादा नियत कर रक्खी है वह यदि दो चार महीनेतकके लिए जमुना नदी तक ही अपनी मर्यादा नियत कर लेवे अथवा एक दो दिनके लिए किसी घर मोहल्ला वा गांव तक ही मर्यादा नियत कर लेवे तो वह उसका देशव्रत कहलाता है । जिसने स्वदारसन्तोषव्रत धारण कर लिया है वह यदि महीने दो महीनेके लिये वा एक दो दिनके लिये अपनी विवाहिता धर्मपत्नीके साथ भी मैथुन करनेका त्याग कर देवे तो भी उसके वह व्रत देशव्रत कहलाता है । जिसने सत्यअणुव्रत धारण कर लिया है वह यदि घण्टे दो घण्टेके लिये मौनव्रत धारण कर ले तो वह उसका देशव्रत कहलाता है, इसीप्रकार यदि कोई श्रावक घण्टे दो घण्टेतकके लिये भोजन पानका त्याग कर देवे वा आठ दश दिनके लिये अपना परिमाण किया हुआ परिग्रह और घटा कर बहुत थोडा रख लेवे तो वह सब उसका देशव्रत कहलाता है । यह व्रत समस्त व्रतोंकी मर्यादा

यथाद्य यदि गच्छामि प्राच्यामेवेति केवलम् । कारणान्नापि गच्छामि शेषदिक्त्रितयेवशात् ॥१२४॥ यथा वा यावदद्याहि भूयान्मेऽनशनं महत् । यद्वा तत्रापि रात्रौ च ब्रह्मचर्यं ममास्तु तत् ॥१२५॥ यथा वा वर्षासमये चातुर्मासेऽथ योगिवत् । इतः स्थानान्न गच्छामि क्वापि देशान्तरे जवात् ॥१२६॥ परिपाट्यानया योज्या वृत्तिः स्याद्बहुविस्तरा । कर्तव्या च यथाशक्ति मातेव हितकारिणी ॥१२७॥ पंचातिचारसंज्ञाः स्युर्दोषाः सूत्रोदिता बुधैः । देशविरतिरूपस्य व्रतस्यापि मलप्रदाः ॥१२८॥

का और संक्षेप करता है परन्तु करता है कुछ कालके लिये इसीलिये इसको देशव्रत कहते हैं ॥१२३॥ जैसे यदि आज मैं कहीं जाऊंगा तो केवल पूर्व दिशामें ही जाऊंगा। यदि आज मुझे जानेके लिये कोई विशेष कारण भी मिल जायगा तो भी मैं बाकीकी तीन दिशाओंमें नहीं जाऊंगा ॥ १२४ ॥ अथवा आज अबसे लेकर दिनभर-तक मेरे चारोंप्रकारके आहारका त्याग है और आजकी रात्रिमें अपना पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करूंगा ॥ १२५ ॥ अथवा वर्षा होनेके समयमें अथवा वर्षाऋतुके चार महीनेमें मैं मुनिराजके समान इसी स्थानपर रहूंगा इतने दिन-तक इस स्थानसे अन्य किसी भी देश वा गांवमें कभी नहीं जाऊंगा । भावार्थ—जैसे मुनिराज एक ही स्थान-पर चौमासा करते हैं वैसे ही मैं भी इसी स्थानपर चौमासा करूंगा, चौमासेमें इस स्थानको छोड कर और किसी भी गांव वा देशमें नहीं जाऊंगा ॥ १२६ ॥ इस क्रमके अनुसार, इस परिपाटीके अनुसार इस देशव्रतका पालन करना चाहिये। इस परिपाटीके अनुसार इसका विस्तार बहुत कुछ बढ सकता है। व्रती श्रावकोंको अपनी शक्ति-के अनुसार इस व्रतका पालन अवश्य करना चाहिये क्योंकि यह व्रत माताके समान आत्माका कल्याण करनेवाला है। भावार्थ–जिसप्रकार माता अपने पुत्रका सदा कल्याण करती रहती है उसीप्रकार इस देशव्रतसे भी बहुत अंशोंमें और अनेकरूपसे पापोंका त्याग होता रहता है अतएव इस व्रतके धारण करनेसे बहुत कुछ आत्माका कल्याण होता रहता है इसलिये व्रती श्रावकोंको इसका पालन सदा करते रहना चाहिये ॥ १२७ ॥

इस देशविरतिनामके व्रतको दूषित करनेवाले पांच अतिचार हैं जो अत्यन्त विद्वान् आचार्य श्री १०८ उमास्वामीने अपने सूत्रमें बतलाये हैं। व्रती श्रावकोंको उनका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ १२८ ॥

आचार्य श्री उमास्वामीने उन अतिचारोंको कहनेवाला जो सूत्र कहा है वह यह है–

तत्सूत्रं यथा—आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः । आत्मसंकल्पितादेशाद्बहिःस्थितस्य वस्तुनः । आनयेतींगितैः किंचिद् ज्ञापनानयनं मतम् ॥ १२९ ॥ उक्तं केनाप्यनुक्तेन स्वयं तच्चानयाम्यहम् । एवं कुर्विति नियोगो प्रेष्यप्रयोग उच्यते ॥ १३० ॥ शब्दानुपातनामापि दोषोतीचारसंज्ञकः । संदेशकारणं दूरे तद्व्यापार-

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ।

अर्थ—नियत की हुई मर्यादाके बाहरसे किसीको बुलाना या कोई पदार्थ मगाना, मर्यादाके बाहर किसीको भेजना या किसीके द्वारा काम कराना, मर्यादाके भीतर रहते हुए मर्यादाके बाहर अपने शब्दसे ही काम निकालना अथवा अपना रूप दिखा कर अथवा शरीरके किसी इशारेसे मर्यादाके बाहर काम निकालना तथा ढेले पत्थर फेंक कर मर्यादाके बाहर रहनेवालोंके लिये कुछ इशारा करना या काम निकालना ये पांच देशव्रतके अतिचार हैं। आगे इन्हींका विशेष वर्णन करते हैं।

देशव्रतको धारण करनेवाले व्रती पुरुषने उस देशव्रतकी जितनी मर्यादा नियत कर ली है उसके बाहर रक्खे हुए पदार्थको मंगानेके लिये किसी पुरुषको किसी भी इशारेसे बतला देना आनयननामका अतिचार है। भावार्थ-इस व्रतका अभिप्राय पापोंका घटाना है। जब पापोंको घटानेके लिये ही दिग्व्रतकी मर्यादा घटा कर कुछ समयके लिये बहुत थोडी रख ली है तो फिर उसको मर्यादाके बाहर कोई किसीप्रकारका सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। यदि वह मर्यादाके बाहर रक्खे हुए पदार्थोंको मगा लेता है चाहे वह किसी इशारेसे मगावे या कह कर मगावे दोनों ही अवस्थाओंमें वह मर्यादाके बाहर अपना कार्य करता है। यद्यपि वह समझता है कि मर्यादाके बाहर मैं नहीं जाता हूं तथापि वह अपना कार्य कर लेता है इसीलिये व्रतका एकदेश भंग होनेके कारण यह आनयन अतिचार वा दोष कहलाता है। व्रती श्रावकको यह अतिचार कभी नहीं लगाना चाहिये ॥ १२९ ॥ इसीप्रकार जिस किसी पुरुषको उस पदार्थको लानेके लिये आज्ञा नहीं दी है या कुछ भी इशारा नहीं किया है वह पुरुष यदि यह कहे कि मैं उस पदार्थको लाता हूं उस पुरुषको "तू ऐसा करना इसप्रकार करना" इसप्रकारकी आज्ञा देनेको प्रेष्यप्रयोग कहते हैं। भावार्थ-मर्यादाके बाहर किसीको भेजना वा कार्य बतलाना प्रेष्यप्रयोग है।

करान् प्रति ॥ १३१ ॥ दोषो रूपानुपाताख्यो व्रतस्यामुष्य विद्यते । स्वांगांगदर्शनं यद्वा समस्या चक्षुरादिना ॥ १३२ ॥ अस्ति पुद्गलनिक्षेपनामा दोषोत्र संयमे । इतो वा प्रेषणं तत्र पत्रिकाहेमवाससाम् ॥ १३३ ॥ उक्तातीचारनिर्मुक्तं स्याद्देशविरतिर्व्रतम् । कर्तव्यं व्रतिनावश्यं हिंसातृष्णादिहानये ॥ १३४ ॥ वृतं चानर्थ-

इससे भी पहले अतिचारके व्रतका एकदेश भंग होता है इसलिये व्रती श्रावकको इस अतिचारका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ १३० ॥ अपनी नियत की हुई मर्यादाके बाहर जो कोई व्यापार करनेवाले हैं वा अपना काम करनेवाले मुनीम गुमास्ते नौकर चाकर हैं उनको अपने शब्दके द्वारा कोई भी संदेश पहुंचाना, कोई भी कार्य बता देना अथवा वे अपने काममें लगे रहें इसलिए खकार मठार कर अपनी देखरेख वा उपस्थिति बतला देना शब्दानुपातनामका अतिचार है। यह भी व्रतको दूषित करनेवाला है इसलिये व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ १३१ ॥

मर्यादाके बाहर काम करनेवाले नौकर चाकर अपना काम करते रहें इसकेलिये अपनी उपस्थिति वा देखरेख सूचित करनेकेलिये अपना शरीर दिखलाना वा और किसी प्रयोजनकेलिये मर्यादाके बाहरवालोंको अपना शरीर दिखला कर अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेना अथवा आंख आदि शरीरके अवयवोंसे मर्यादाके बाहरवालोंको कोई इशारा करना रूपानुपातनामका अतिचार कहलाता है। यह अतिचार भी इस देशव्रतमें दोष लगानेवाला है इसलिये व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ १३२ ॥ अपनी मर्यादामें रहते हुए मर्यादाके बाहर सोना चांदी वस्त्र चिट्ठी पत्री आदि कोई भी पदार्थ भेजना अथवा मर्यादाके बाहरवालोंको ढेले पत्थर फेंक कर अपना कुछ भी प्रयोजन सिद्ध कर लेना पुद्गलक्षेपनामका अतिचार है। इस अतिचारसे भी इस व्रतका एक-देश भंग होता है इसलिये व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ १३३ ॥ इस देशव्रतको धारण करनेवाले श्रावकोंको उचित है कि वे हिंसा और तृष्णा, ममत्व, लालसा, इन्द्रियोंके विषयोंकी लालसाको दूर करनेके लिये ऊपर कहे हुए अतिचारोंको छोड कर इस देशव्रतका पालन अवश्य करें। भावार्थ—ऊपर बता चुके हैं कि इस व्रतके पालन करनेसे बहुतसे पापोंका त्याग हो जाता है तथा मर्यादाके बाहर वह मुनियोंके समान पापोंका

त्यागी समझा जाता है इसलिये श्रावकोंको इसका पालन अवश्य करना चाहिये और ऊपर लिखे हुए सब अतिचारोंका भी त्याग कर देना चाहिये क्योंकि अतिचारोंका त्याग कर देनेसे ही यह व्रत निर्दोष वा निर्मल रीतिसे पल सकता है॥ १३४॥ इसप्रकार देशव्रतका स्वरूप बतलाया।

अब आगे अनर्थदण्डविरतिनामके व्रतका स्वरूप बतलाते हैं।

अनर्थदण्डोंका त्याग करनेरूप अनर्थदण्डविरतिनामके व्रतका पालन भी गृहस्थोंको अवश्य करना चाहिये क्योंकि यह अनर्थदंडविरतिनामका व्रत बारह व्रतरूपी वृक्षकी अद्वितीय वा सबसे मुख्य जड है। भावार्थ–विना किसी प्रयोजनके जो पाप लगते हैं उनको अनर्थदंड कहते हैं। ऐसे अनर्थदंडोंका बिना प्रयोजनके लगनेवाले पापोंका त्याग कर देना अनर्थदंडविरति है। संसारमें अनर्थदंड अनेक हैं, उनकी कोई गिनती नहीं कर सकता तथापि संग्रहनयकी अपेक्षा पांच अनर्थदंड माने हैं और सबका अन्तर्भाव इन्हीं पांचोंमें कर लिया है, उन पांचोंके नाम ये हैं, पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या। जिसमें जीवोंकी हिंसा हो ऐसा उपदेश देना पापोपदेश है, तलवार आदि हिंसा करनेवाले पदार्थोंका दान देना हिंसादान है। दूसरोंका बुरा चिंतवन करना अपध्यान है, मिथ्यात्वकी पुष्टि करनेवाले शास्त्रोंका पढना पढाना सुनना सुनाना दुःश्रुति है तथा बिना प्रयोजनके पानी फैलाना, हवा करना, पृथ्वी खोदना, अग्नि जलाना, पेड पौधे तोडना आदि प्रमादचर्या है। इन पांचों अनर्थदंडोंका त्याग कर देना अनर्थदण्डव्रत है। यह व्रत समस्त व्रतोंका मूल है क्योंकि इसका पालन करनेसे अनेकप्रकारके त्रस और स्थावर जीवोंकी रक्षा होती है तथा अपने परिणाम सदा निर्मल और निर्दोष रहते हैं इसलिये श्रावकोंको इसका पालन अवश्य करना चाहिये॥ १३५॥ इन अनर्थदण्डोंमेंसे किसी एक अनर्थदंडका त्याग कर देना व्रत नहीं है क्योंकि एक एक अनर्थदंडका त्याग बहुत आसानीसे वा बिना किसी परिश्रमके हो जाता है तथा समस्त अनर्थदण्डोंका त्याग करोडों परिश्रमसे भी नहीं होता है। भावार्थ–समस्त अनर्थदण्डोंका त्याग कर

॥ १३६ ॥ स्वार्थं चान्यस्य संन्यासं विना कुर्यान्न कर्म तत् । स्वार्थश्चावश्यमात्रात्मा स्वार्थः सर्वो न सर्वतः ॥ १३७ ॥ यथानाम विनोदार्थं जलादि वनक्रीडनम् ।

देना अनर्थदण्डव्रत है । किसी एक अनर्थदण्डके त्याग कर देनेसे अनर्थदंडव्रत नहीं होता ॥ १३६ ॥ जिसमें दूसरेके स्वार्थकी सिद्धि हो ऐसा कार्य सिवाय समाधिमरणके और कुछ नहीं करना चाहिये । वास्तवमें देखा जाय तो आत्माको अवश्य करने योग्य ऐसा आत्माका कल्याण करना ही स्वार्थ है । संसारसम्बन्धी और समस्त कार्य स्वार्थ नहीं हैं तथा वे पूर्णरूपसे स्वार्थ कभी नहीं हो सकते । भावार्थ—आत्माका कल्याण करना सबसे बडा स्वार्थ है और वह समाधिमरण धारण करनेसे होता है अतएव समाधिमरण धारण करना आत्माका सबसे बडा स्वार्थ है । यदि कोई समाधिमरण धारण करता हो तो उसमें सहायता अवश्य पहुंचानी चाहिये, जिसप्रकार उसका समाधिमरण अच्छीतरह हो जाय वह कार्य अवश्य करना चाहिये । इस कार्यके सिवाय संसारसम्बन्धी कार्योंसे होनेवाली स्वार्थसिद्धि किसीकी नहीं करनी चाहिये क्योंकि संसारसम्बन्धी कार्योंसे होनेवाली स्वार्थसिद्धिमें सिवाय अनर्थदंडके और कुछ आत्माका कल्याण नहीं होता है इसीलिये वह आत्माका स्वार्थ नहीं कहलाता है ॥१३७॥ जैसे चित्त प्रसन्न करनेके लिये जलक्रीडा करना, बनक्रीडा करना आदि सब अनर्थदण्ड कहलाता है । उसको मनसे करना, बचनसे करना, कायसे करना आदि रूपसे उसके अनेक भेद हो जाते हैं ॥ १३८ ॥ मन बचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे भूत भविष्यत और वर्तमानकालसम्बन्धी समस्त पापरूप कार्योंका त्याग कर सबसे उत्तम उदासीन अवस्था धारण करनी चाहिये । भावार्थ—पापोंके त्याग करनेके कृत कारित अनुमोदना और मन बचन कायके भेदसे उनंचास भेद होते हैं। जैसे कोई भी पापरूप कार्य मनसे नहीं करना, बचनसे नहीं करना, कायसे नहीं करना, मनबचनसे नहीं करना, मनकायसे नहीं करना, बचनकायसे नहीं करना और मनबचनकाय तीनोंसे नहीं करना, इसप्रकार करनेके त्यागके सात भेद होते हैं । इसीप्रकार कारित अर्थात् करानेके सात भेद और अनुमोदनाके सात भेद होते हैं । ये सब इकईस भेद होते हैं तथा उसी पापरूप कार्यके करने करानेका मनसे त्याग, बचनसे त्याग, कायसे त्याग, मनबचनसे त्याग, मनकायसे त्याग, बचनकायसे त्याग,

तथा मन बचन काय तीनोंसे त्याग । इसप्रकार करने करानेके त्यागके सात भेद होते हैं, इसीप्रकार कराने और अनुमोदनाके त्यागके सात भेद, करने तथा अनुमोदनाके त्यागके सात भेद तथा करने कराने और अनुमोदनाके सात भेद इसप्रकार अट्ठाईस भेद ये होते हैं । इनमें उपरके इकईस भेद मिलानेसे सब उनंचास भेद हो जाते हैं । इनके अलग अलग भेद नीचे लिखे कोष्ठकसे समझ लेने चाहिये ।

१	मनकृत	वचनकृत	कायकृत	मनवचनकृत	मनकायकृत	वचनकायकृत	मनवचनकायकृत
२	मनकारित	वचनकारित	कायकारित	मनवचनकारित	मनकायकारित	वचनकायकारित	मनवचनकायकारित
३	मनोनुमत	वचनानुमत	कायानुमत	मनोवचनानुमत	मनःकायानुमत	वचनकायानुमत	मनोवचनकायानुमत
४	मनःकृत-कारित	वचनकृतकारित	कायकृतकारित	मनोवचनकृतकारित	मनःकायकृतकारित	वचनकायकृतकारित	मनोवचनकायकृत-कारित
५	मनःकृतानुमत	वचनकृतानुमत	कायकृतानुमत	मनोवचनकृतानुमत	मनःकायकृतानुमत	वचनकायकृतानुमत	मनोवचनकायकृतानु-मत
६	मनःकारितानु-मत	वचनकारितानुमत	कायकारितानु-मत	मनोवचनकारितानु-मत	मनःकायकारितानुमत	वचनकायकारिता-नुमत	मनोवचनकाय-कारितानुमत
७	मनःकृतकारि-तानुमत	वचनकृतकारिता-नुमत	कायकृतकारि-तानुमत	मनःवचनकृतकारि-तानुमत	मनःकायकृत-कारितानुमत	वचनकायकृत-कारितानुमत	मनोवचनकायकृत-कारितानुमत
	१	२	३	४	५	६	७

इसप्रकार पापोंके त्यागके उनंचास भेद हो जाते हैं । इनके भूतकाल वर्तमान और भविष्यत्कालसम्बन्धी पापोंके त्याग करनेसे तिगुने अर्थात् एकसौ सैंतालीस भेद हो जाते हैं । जैसे उनंचासप्रकारसे पहले किये हुए पापोंका पश्चात्ताप करना वा त्याग करना, वर्तमानकालमें उनंचास प्रकारसे त्याग करना तथा भविष्यतकालके पापोंको उनंचासप्रकारसे त्याग करना । इसप्रकार पापोंके त्यागके एकसौ सैंतालीस भेद होते हैं । ये भेद एक एक पापके त्यागके हैं । इसीप्रकार सब पापोंके त्यागके भेद होते हैं ।

दोषाः सूत्रोदिताः पञ्च सन्त्यतीचारसंज्ञकाः । अनर्थदण्डत्यागस्य व्रतस्यास्यापि दूषिकाः ॥ १४० ॥ तत्सूत्रं यथा —कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोग-परिभोगनार्थक्यानि । अस्ति कन्दर्पनामापि दोषः प्रोक्तव्रतस्य यः । रागोद्रेकात्प्रहासाहिमिश्रोवाग्योग इत्यपि ॥ १४१ ॥ दोषः कौत्कुच्यसंज्ञोस्ति दुष्टकायक्रियादियुक् । पराङ्गस्पर्शनं स्वांगैरर्थादन्याङ्गनादिषु ॥ १४२ ॥ मौखर्यदूषणं नाम रतप्रायं वचःशतम् । अतीव गर्हितं धार्ष्ट्याद्बहुलार्थं प्रजल्पनम् ॥ १४३ ॥ असमीक्ष्याधिकर-

इसप्रकार अनर्थदंडको त्याग करनेवाले श्रावकोंको इन सब भेदोंसे अनर्थदंडोंका त्याग कर देना चाहिए और फिर अत्यंत शांत होकर अपने आत्मामें लीन हो जाना चाहिए ॥ १३९ ॥

इस अनर्थदंडत्याग व्रतके भी पांच अतिचार हैं जो कि सूत्रकारने अपने सूत्रमें बतलाए हैं । ये अतिचार भी व्रतमें दोष लगानेवाले हैं इसलिए व्रती श्रावकको इनका भी त्याग कर देना चाहिए ॥ १४० ॥ उन अतिचारोंको कहनेवाला सूत्र यह है—

कंदर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ।

अर्थ—कंदर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये पांच अनर्थदंडव्रतके अतिचार हैं । आगे इनका स्वरूप कहते हैं ।

रागकी तीव्रतासे हंसीसे मिले हुए अशिष्ट बचन कहना कंदर्प कहलाता है । यह कंदर्प भी अनर्थदंडत्याग-व्रतका पहला अतिचार है । कंदर्प शब्दका अर्थ काम है । कामको बढानेवाले जितने हंसीके बचन हैं अथवा जितने अशिष्ट बचन हैं उनके कहनेको कंदर्प कहते हैं । ऐसे बचन कहनेसे परिणाम मलिन होते हैं तथा व्यर्थ ही पापकर्मोंका बंध होता है इसलिए व्रती श्रावकको इस अतिचारका त्याग कर देना चाहिए ॥ १४१ ॥ रागकी तीव्रतासे शरीरकी दुष्ट क्रिया करना कौत्कुच्य है । जैसे अपने शरीरसे अन्य स्त्रियोंका शरीर स्पर्श करना, भौंह चलाना, आंखें मटकाना आदि सब कामको बढानेवाली शरीरकी चेष्टाओंको, शरीरकी क्रियाओंको कौत्कुच्य कहते हैं । इससे भी व्यर्थ ही पाप कर्मोंका बंध होता है इसलिए व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिए ॥ १४२ ॥ कामको बढानेवाले अत्यन्त निंदनीय सैकडों बचन कहना अथवा धृष्टतापूर्वक बहुत बकवाद करना

णमनल्पीकरणं हि यत्। अर्थात्स्वार्थमसमीक्ष्य वस्तुनोऽनवधानतः ॥ १४४ ॥ यथाहारकृते यावज्जलेनास्ति प्रयोजनम् । नेतव्यं तावदेवात्र दूषणं चान्यथोदितम् ॥ १४५ ॥ भुज्यते सकृदेवात्र स्यादुपभोगसंज्ञकः । यथा सृक्चन्दनं माल्यमन्नपानौषधादि वा ॥ १४६ ॥ परिभोगः समाख्यातो भुज्यते यत्पुनः पुनः । यथा योषिदलंकारवस्त्रागारगजादिकम् ॥ १४७ ॥ आनर्थक्यं तयोरेव स्यादसंभविनोर्द्वयोः । अनात्मोचितसंख्यायाः करणादपि दूषणम् ॥ १४८ ॥ यथा दीनश्च दुर्भाग्यो

मौखर्यनामका अतिचार है । इससे भी व्यर्थ ही पापकर्मोंका बंध होता है इसलिए व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिए ॥ १४३ ॥ अपने प्रयोजन वा आवश्यकताका विचार किए विना असावधानीके साथ पदार्थोंका अधिक संग्रह करना असमीक्ष्याधिकरण कहलाता है । भावार्थ-पदार्थोंका उतना ही संग्रह करना चाहिए जितनेकी आवश्यकता हो, पदार्थोंका अधिक संग्रह करनेसे अधिक हिंसा होती है अतएव आवश्यकतासे अधिक संग्रह करना अनर्थदंडका अतिचार है । व्रती श्रावकको इस अतिचारका भी त्याग कर देना चाहिए ॥ १४४ ॥ जैसे भोजनादि बनानेके लिए जितने जलकी आवश्यकता हो उतना ही जल भरना चाहिए, उससे अधिक जल भरना अनर्थदंड है, अधिक जल भरनेसे व्यर्थका पाप लगता है अतएव आवश्यकतासे अधिक पदार्थोंका संग्रह कभी नहीं करना चाहिए ॥ १४५ ॥ जो पदार्थ एक बार भोगे जाते हैं, एक बार काममें आते हैं उनको उपभोग कहते हैं जैसे माला, चंदन, फूल, भोजन, पानी, औषध आदि ॥ १४६ ॥ जो पदार्थ बार बार भोगनेमें आते हैं उनको परिभोग कहते हैं जैसे स्त्री, अलंकार, वस्त्र, घर, हाथी, घोडे आदि ॥ १४७ ॥ उपभोग और परिभोग इन दोनोंको आवश्यकतासे अधिक इकट्ठा करना अनर्थदंडका अतिचार है अथवा जिन पदार्थोंकी संभावना ही नहीं है, जो पदार्थ असंभव है उनका परिमाण करना अथवा जो पदार्थ अपनी योग्यतासे बाहर हैं, अपनी योग्यताके अनुसार जिन पदार्थोंका प्राप्त होना असंभव है ऐसे पदार्थोंका त्याग करना वा परिमाण करना अनर्थदंडव्रतका अतिचार है ॥ १४८ ॥ जैसे कोई अत्यन्त दरिद्र पुरुष है और उसके अशुभकर्मका उदय अत्यन्त प्रबल हो रहा है वह यदि ऐसा प्रमाण करना चाहे कि संसारमें जितने अनित्य पदार्थ हैं उनको ही ग्रहण करनेकी मेरे प्रतिज्ञा है। अनित्य पदार्थोंके सिवाय नित्य पदार्थोंको मैं कभी ग्रहण नहीं करूंगा यह परि-

वस्तुसंख्यां चिकीर्षति । गृह्णाम्यशाश्वतं यावन्न गृह्णामि ततोधिकम् ॥१४९॥ निर्दिष्टानर्थदण्डस्य विरतिर्नाम्ना गुणव्रतम् । अतीचारविनिर्मुक्तं नूनं निःश्रेयसे भवेत् ॥ १५० ॥ शिक्षाव्रतानि चत्वारि सन्ति स्याद्गृहमेधिनाम् । इतस्तान्यपि वक्ष्यामि पूर्वसूत्रानतिक्रमात् ॥ १५१ ॥ तत्सूत्रं यथा—सामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च । अर्थात्सामायिकः प्रोक्तः साक्षात्साम्यावलम्बनम् । तदर्थं व्यवहारत्वात्पाठः कालासनादिमान् ॥ १५२ ॥ तत्सूत्रं यथा—

माण असंभव पदार्थोंका है क्योंकि संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो अनित्य न हो अथवा ऐसा पदार्थ होना सर्वथा असंभव है जो सर्वथा नित्य हो अतएव ऐसा परिमाण करना उपभोपरिभोगपरिमाणनामक व्रतका अतिचार है ॥ १४९ ॥ इसप्रकार अनर्थदंडविरतिनामक गुणव्रतका स्वरूप बतलाया । इस व्रतको अतिचाररहित पालन करनेसे ही आत्माका कल्याण होता है अतएव व्रती श्रावकोंको अतिचाररहित ही व्रतोंको पालन करना चाहिए ॥ १५० ॥

गृहस्थोंके पालन करनेयोग्य शिक्षाव्रत चार हैं । अब आगे पहलेके आचार्योंके कथनानुसार अथवा सूत्रोंमें लिखे अनुसार उन्हीं शिक्षाव्रतोंका वर्णन करते हैं ॥ १५१ ॥ उन शिक्षाव्रतोंको वर्णन करनेवाला सूत्र यह है—

सामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ।

अर्थ—सामायिक प्रोषधोपवास उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं । व्रती गृहस्थ इन व्रतोंका भी पालन करता है । आगे इन्हींका वर्णन करते हुए सबसे पहले सामायिकका स्वरूप वर्णन करते हैं ।

शुद्ध आत्माका साक्षात् चिंतवन करना सामायिक है अथवा शुद्ध आत्माका चिंतवन करनेके लिए योग्य समयमें योग्य आसनसे बैठकर सामायिकका पाठ करना भी सामायिक कहलाता है ॥ १५२ ॥ सो ही सामायिक पाठमें लिखा है- -

समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावनाः । आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकव्रतम् ॥

अर्थ—समस्त जीवोंमें समताभाव धारण करना, संयम पालन करनेके लिए सदा शुभ भावना रखना और आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानका सर्वथा त्याग कर देना सामायिकव्रत कहलाता है ॥ १ ॥

समता सर्वभूतेषु सयमे शुभभावना । आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकव्रतम् ॥ १ ॥ तदर्थात्प्रातरुत्थाय कुर्यादात्मादिचिन्तनम् । एकोहं शुद्धचिद्रूपो नाहं पैद्गलिकं वपुः ॥ १५४ ॥ चिन्तनीयं ततश्चित्ते सूक्ष्मं षड्द्रव्यलक्षणम् । ततः ससारिणो मुक्त्वा जीवाश्चिन्त्या द्विधार्यतः ॥ १५५ ॥ तत्र संसारिणो जीवाश्चतुर्गतिनिवासिनः । कर्मनोकर्मयुक्तत्वाद् यायिनोऽतीव दुःखिताः ॥ १५६ ॥ पूर्वकर्मोदयाद्भावस्तेषां रागादिसंयुतः । जायते शुद्धसज्ञो यस्तस्माद्बन्धोस्ति कर्मणाम् ॥ १५७ ॥

उस सामायिकव्रतको पालन करनेके लिए प्रातःकाल उठ कर शुद्ध आत्माका चिंतवन करना चाहिए । मैं अकेला हूं, शुद्ध हूं और चैतन्यस्वरूप हूं, पुद्गलका बना हुआ शरीर मेरा स्वरूप नहीं है, पुद्गल जड है मैं चैतन्यरूप हूं अतएव पुद्गलसे सर्वथा भिन्न हूं । इसप्रकार चिंतवन करना चाहिए ॥ १५३ ॥ तदनंतर अपने हृदयमें छहों द्रव्योंका सूक्ष्म स्वरूप चिंतवन करना चाहिए । फिर उन छह द्रव्योंमेंसे भी जीव दो प्रकार हैं । एक संसारी और दूसरे मुक्त । इसप्रकार जीवोंके भेदप्रभेदोंका तथा उनके स्वरूपका चिंतवन करना चाहिए ॥ १५४ ॥ उन दोनों प्रकारके जीवोंमेंसे जो जीव चारों गतियोंमें निवास करते हैं, कर्म नोकर्म सहित होनेसे जो सदा परिभ्रमण करते रहते हैं और अत्यन्त दुखी रहते हैं उनको संसारी जीव कहते हैं । भावार्थ—ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि आठ कर्मोंको कर्म कहते हैं और औदारिक वैक्रियिक आहारक इन तीन शरीर और छह पर्याप्तिके योग्य जो पुद्गलवर्गणा ग्रहण की जाती हैं उनको नोकर्म कहते हैं । कर्म और नोकर्मके कारण ही यह जीव संसारमें परिभ्रमण करता है तथा संसारमें परिभ्रमण करनेके कारण ही अत्यंत दुखी रहता है तथा चारों गतियोंमें निवास करता रहता है । ऐसे जीवको संसारी जीव कहते हैं ॥ १५५ ॥ इस संसारी जीवके पूर्व कर्मोंके उदय होनेसे रागद्वेषरूप अशुद्धभाव उत्पन्न होते हैं तथा उन्हीं रागद्वेषरूप अशुद्ध भावोंसे फिर नवीन कर्मोंका बंध होता है । भावार्थ—इस संसारमें ऐसा कोई जीव नहीं है जिसके राग द्वेष न हो । समस्त संसारी जीवोंके राग द्वेष पाए जाते हैं । उन राग द्वेषरूप परिणामोंसे नवीन कर्मोंका बन्ध होता है तथा उन कर्मोंका जब उदय होता है तभी उन कर्मोंके उदयसे फिर राग द्वेषरूप परिणाम होते हैं । उन राग द्वेष परिणामोंसे फिर कर्मोंका बन्ध होता है ॥ १५६ ॥ जिसप्रकार बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज होता है अर्थात् बीज वृक्ष दोनों एक दूसरेसे उत्पन्न होते रहते हैं उसीप्रकार पहले

एवं पूर्वापरीभूतो भावश्चान्योन्यहेतुकः । शक्यते न पृथक् कर्तुं यावत्संसारसंज्ञकः ॥ १५८ ॥ एवं वाऽनादिसन्तानाद्भ्रमतिस्म चतुर्गतौ । जन्ममृत्युजरातङ्कदुःखाक्रान्तः स प्राणभृत् ॥ १५९ ॥ तत्र कश्चन भव्यात्मा काललब्धिवशादिह । कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा संसाराद्धि प्रमुच्यते ॥ १६० ॥ अस्ति सद्दर्शनज्ञानचारित्राण्यत्र

कर्मोंके उदयसे राग द्वेष और उन राग द्वेषसे नवीन कर्मोंका बन्ध, तथा उन कर्मोंके उदयसे फिर राग द्वेष और उन राग द्वेषसे फिर नवीन कर्मोंका बंध होता रहता है। जबतक यह जीव संसारमें परिभ्रमण करता रहता है, तबतक यह कार्यकारणसम्बन्ध कभी छूट नहीं सकता। भावार्थ—यह कभी नहीं हो सकता कि राग द्वेष तो हो और उनसे नवीन कर्मोंका बन्ध न हो अथवा उन कर्मोंका उदय तो हो और राग द्वेषरूप भाव न हो। राग द्वेषसे कर्मोंका बन्ध अवश्य होता है और कर्मोंके उदयसे राग द्वेष अवश्य होते हैं। जबतक यह जीव संसारमें परिभ्रमण करता रहता है तबतक यह सम्बन्ध कभी नहीं छूटता ॥१५७॥ इसप्रकार यह जीव अनादिकालसे नरक तिर्यंच देव मनुष्य इन चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता रहता है तथा जन्म, मरण, बुढापा, रोग आदि अनेक दुःखोंसे दुःखी बना रहता है ॥१५८॥ उन संसारी जीवोंमेंसे कोई भव्य जीव काललब्धिके प्राप्त हो जानेपर समस्त कर्मोंको नाश करके इस संसारसे छूट कर मुक्त हो जाता है। भावार्थ—जबतक इस जीवके साथ कर्मोंका सम्बन्ध लगा रहता है तबतक यह जीव संसारी कहलाता है तथा जब उन समस्त कर्मोंको तथा कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले शरीरको नष्ट कर देता है, कर्म और शरीरसे रहित हो कर शुद्ध बुद्ध और चैतन्यस्वरूप हो जाता है तब वही जीव मुक्त कहलाता है, इसप्रकार सामयिक करते समय जीवोंके इन भेदोंके स्वरूपको चिंतवन करना चाहिये ॥ १५९ ॥ इसके साथ यह भी चिंतवन करना चाहिये कि उन कर्मोंसे छूटनेके लिये वा मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही कारण हैं तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र उत्पन्न होनेके लिये काललब्धिकारण है और काललब्धि अपनेआप प्रगट होती है।

भावार्थ—जब कोई भव्य जीव सैनी पंचेंद्रिय होता है तथा संसारपरिभ्रमणका काल अधिकसे अधिक अर्द्धपुद्गलपरावर्तन बाकी रहता है तब उनको सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेकी योग्यता होती है। उसके साथ

इतना और होना चाहिये कि जो उसके नवीन कर्मोंका बन्ध हो वह अधिकसे अधिक अंतःकोडाकोडी सागरसे (एक कोडाकोडी सागरसे कुछ कम) अधिक नहीं होना चाहिये तथा उसके जिन कर्मोंकी सत्ता है उनकी स्थिति भी अन्तःकोडाकोडी सागरसे अधिक नहीं होनी चाहिये इसका अभिप्राय यह है कि उसके कर्मोंकी सत्ता अधिक नहीं है, अधिक स्थितिवाली नहीं है वा तीव्ररूप नहीं है इसलिये उसके परिणाम तीव्र अशुभ नहीं होते किंतु मन्दरूप ही उदयमें आते रहते हैं इसलिये उसके जो नवीन कर्मोंका बन्ध होता है वह तीव्र नहीं होता किंतु मन्द ही होता है। ऐसी अवस्थामें उसका मोहनीयकर्म (दर्शनमोहनीय कर्म) अत्यन्त बलहीन हो जाता है तथा धीरे धीरे समय पा कर वा किसी उपदेशादिकके मिलनेपर वा भगवान सर्वज्ञदेवके दर्शन करनेपर वह मोहनीयकर्म शांत हो जाता है, इसप्रकार दर्शनमोहनीयकर्मके शांत होनेसे शुद्ध आत्माका अविनाभावी, शुद्ध आत्माके साथ रहनेवाला सम्यग्दर्शनगुण प्रगट हो जाता है। उस सम्यग्दर्शनके प्रगट होते ही उसका ज्ञान जो कि दर्शनमोहनीयकर्मके उदय होनेसे मिथ्याज्ञान कहलाता था वही मिथ्याज्ञान उसी दर्शनमोहनीयके उपशम होनेसे वा उदय न होनेसे सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान साथ साथ प्रगट हो जाते हैं।

दर्शनमोहनीयकर्मका जब उपशम होता है तब वह अकेला उपशांत नहीं होता, किंतु उसके साथमें अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंका वा चारित्रमोहनीयकी इन ऊपर लिखी हुई चार प्रकृतियोंका भी उपशम हो जाता है। दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियां हैं मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व। इन तीनों प्रकृतियोंके साथ साथ ही अनन्तानुबन्धी चारों प्रकृतियोंका उपशम होता है अर्थात् सातों प्रकृतियोंका उपशम एक साथ होता है। इन सातों प्रकृतियोंके उपशम होनेसे सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है सम्यग्ज्ञान प्रगट हो जाता है और स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हो जाता है। इस आत्माका अपने ही आत्मामें

कारणम् । हेतुस्तेषां समुत्पत्तौ काललब्धिः परं स्वतः ॥ १६१ ॥ इत्यादि जगत्सर्वं स्वं चिन्तयेत्तन्मुहुर्मुहुः । नूनं संवेगवैराग्यवर्द्धनाय महामतिः ॥ १६२ ॥

आचरण करने लगना स्वरूपाचरणचारित्र है। इसका भी अभिप्राय यह है कि इस आत्माका शरीरादिकसे ममत्व छूट जाता है और केवल शुद्ध आत्मामें ही अपनापन मानने लगता है इसीको स्वपरभेदविज्ञान कहते हैं।

वास्तवमें देखा जाय तो दर्शनमोहनीयकर्म एक घोर अन्धकारके समान है। जबतक उसका उदय रहता है रहता है तबतक इस आत्माको अपना अर्थात् अपने ही आत्माका स्वरूप दिखाई नहीं देता। उस अन्धेरेमें यह आत्मा कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होनेवाले राग द्वेषको शरीरादिकको, अथवा धनादिकको अपना समझ लेता लेता है। जब वह दर्शनमोहनीयकर्म उपशम हो जाता है तब वह अंधेरा दूर हो कर सम्यग्दर्शनरूपी एक अद्भुत प्रकाश प्रगट हो जाता है जिससे इस आत्माको अपने परायेका ज्ञान होने लगता है, रागद्वेषको, शरीरको वा धनादिकको अपनेसे भिन्न समझने लगता है तथा भिन्न समझ कर उसके त्याग करनेकी चेष्टा करता जाता है तथा जैसे जैसे चारित्रमोहनीयकर्मका उपशम होता जाता है वैसे ही वैसे वह उनका त्याग करता जाता है इसीको रत्नत्रय वा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहते हैं।

इसप्रकार त्याग करते करते जब आत्मा शुद्ध हो जाता है और समस्त कर्मोंको नष्ट कर देता है उसी समय इसको मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है तथा अनंत और अविनश्वर सुख प्राप्त हो जाता है। सामायिक करते समय यह सब चिंतवन करना चाहिए ॥ १६० ॥ इसप्रकार महा बुद्धिमान श्रावकको आत्माका संवेग और वैराग्यगुण बढानेके लिए अपने आत्माका चिंतवन करना चाहिए तथा इसी संवेग और वैराग्यगुणको बढानेके लिए इस समस्त जगतका स्वरूप बार बार चिंतवन करना चाहिए ॥ १६१ ॥ तत्त्वार्थसूत्रमें लिखा भी है—

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ।

अर्थ—जगतका स्वरूप वा स्वभाव चिंतवन करनेसे संवेग बढता है और शरीरका स्वभाव चिंतवन करनेसे वैराग्य बढता है। भावार्थ—पंचपरावर्तनरूप संसारसे अथवा जन्ममरणरूप संसारसे भयभीत होना संवेग है।

उक्तं च–जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् । चिन्तनानन्तरं चेति चिन्तयेदात्मनो गतिम् । कोहं कुतः समायातः क्व यास्यामि जवादितः ॥१६३॥ हेयं किं किमु-

इन तीनों लोकोंका आकार ऐसा है, इसमें यह जीव चारों गतियोंमें अनेकप्रकारके दुःख पाता हुआ सदा परिभ्रमण करता है, यह जीवन जलके बुद्बुदाके समान क्षणभंगुर है तथा भोगोपभोगकी सामग्री देखते देखते नष्ट हो जाती है, इस संसारमें कोई भी ऐसा सुख वा पदार्थ नहीं हैं जो नित्य हो सदा टिकनेवाला हो। इसप्रकार संसारका स्वरूप चिंतवन करनेसे इस संसारसे भयभीतपना उत्पन्न होता है। इसीप्रकार शरीरका स्वरूप चिंतवन करनेसे वैराग्य बढता है। यह शरीर अपवित्र है, अनित्य है, दुर्गंधमय है, जो उत्तमसे उत्तम पदार्थ इसपर लगा दिया जाता है वह भी लगानेमात्रसे ही अपवित्र हो जाता है, यह शरीर हड्डी मांस रुधिर आदि और घृणित पदार्थोंसे बना है और मलमूत्रसे भरा है। जिस शरीरको देख देखकर यह जीव मोहित होता है उसी शरीरके भीतरी भागको बाहर रख दिया जाय तो उसी मोहित होनेवाले जीवको इतनी घृणा उत्पन्न होती है कि फिर वह उस शरीरको आंख उठाकर देख भी नहीं सकता। इसप्रकार शरीरके स्वभावका चिंतवन करनेसे वैराग्य बढता है। रागके उदयकी मंदता वा अभाव होनेके कारण जो इंद्रियोंके विषयमें अरुचि प्रगट होती है उसीको वैराग्य कहते हैं। वह वैराग्य शरीरका स्वभाव चिंतवन करनेसे बढता है।

इसप्रकार चिंतवन कर लेनेके अनंतर सामायिक करनेवालेको अपने आत्माका स्वरूप चिंतवन करना चाहिए तथा विचार करना चाहिए कि "मैं कौन हूं, कहांसे आया हूं, किस गतिसे आकर इस गतिमें जन्म लिया है और अब यहांसे जो मुझे शीघ्र जाना है सो कहां जाना होगा ॥ १६२ ॥ मेरे इस शुद्ध आत्माके लिए ऐसे कौन कौनसे कार्य हैं अथवा ऐसे कौन कौनसे पदार्थ हैं जो त्याग करनेयोग्य हैं, तथा ऐसे कौनसे पदार्थ हैं जो ग्रहण करनेयोग्य हैं। मुझे अब इस जन्मपर्यंत क्या क्या कार्य करने चाहिए और किन किन कार्योंका त्याग कर देना चाहिए ॥ १६३ ॥ इसप्रकार चिंतवन करनेसे सामायिक करनेवालेके आत्माका संवेग गुण बढता है तथा संसार शरीर और भोगोंसे अथवा संसारमें उत्पन्न हुए भोगोंसे वैराग्य बढता है ॥ १६४-॥ तदनंतर सामायिक

पादेयं मम शुद्धचिदात्मनः । कर्तव्यं किं मया त्याज्यमधुना जीवनावधि ॥ १६४ ॥ इति चिन्तयतस्तस्य संवेगो जायते गुणः । संसारभवभोगेभ्यो वैराग्यं चोपबृंहति ॥ १६५ ॥ ततः साधुसमाधिश्च सामायिकव्रतान्वितः । ततः सामायिकीं क्रियां कुर्याद्वा शल्यवर्जितः ॥ १६६ ॥ तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं पठेत्पद्यादिलक्षणम् । सिद्धानामथ साधूनां कुर्यात्सोपि गुणस्तुतिम् ॥ १६७ ॥ ततोर्हद्भारतीं स्तुत्वा जगच्छान्तिमधीय च । क्षणं ध्यानस्थितो भूत्वा चिन्तयेच्छुद्धचिन्मयम् ॥ १६८ ॥ ततः सम्पूर्णतां नीत्वा ध्यानं कालानतिक्रमात् । संस्तुतानां यथाशक्ति तत्पूजां कर्तुमर्हति ॥ १६९ ॥ स्नानं कुर्यात्प्रयत्नेन संशुद्धैः प्रासुकोदकैः ॥ गृह्णीयाद्धौतवस्त्राणि दृष्टि-

करनेवाले व्रती श्रावकको साधुसमाधि करनी चाहिए। अपने आत्माके शुद्धस्वरूपका चिंतवन करने अथवा पंच परमेष्ठीके स्वरूपका चिंतवन करनेको साधुसमाधि कहते हैं। इसप्रकार चिंतवन कर लेनेके अनंतर उस व्रती श्रावकको माया मिथ्या निदान इन तीनों शल्योंको छोड कर सामयिककी क्रिया करनी चाहिये ॥ १६५ ॥ आगे उसी सामयिककी क्रियाको बतलाते हैं। अनुष्टुप, जाति, उपजाति, बसन्ततिलका आदि छन्दोंमें भगवान जिनेन्द्रदेवके गुणोंकी स्तुति पढनी चाहिये अथवा सिद्ध परमेष्ठीकी स्तुति करनी चाहिये वा साधुओंके गुणोंकी स्तुति करनी चाहिये ॥ १६६ ॥ तदनन्तर भगवान अरहन्तदेवकी कही हुई वाणीकी अर्थात् सरस्वतीदेवीकी स्तुति करनी चाहिये और संसारकी शांतिकी कामनाके लिये शांतिपाठ पढना चाहिये। भावार्थ—ये सब भक्तियां हैं। अरहन्तभक्ति, सिद्धभक्ति, आचार्यभक्ति वा गुरुभक्ति, श्रुतभक्ति और शांतिभक्तिका पाठ पढना चाहिये। फिर क्षणभर ध्यान करना चाहिये और उस ध्यानमें शुद्ध चैतन्यस्वरूप अपने आत्माका ध्यान करना चाहिये ॥ १६७ ॥ तदनन्तर समय पूरा हो जानेपर उस ध्यानको समाप्त कर देना चाहिये और फिर जिनकी स्तुति की है उनकी पूजा अपनी शक्तिके अनुसार करनी चाहिये। भावार्थ—पहले अरहन्तदेव, सिद्ध परमेष्ठी, गुरु और सरस्वती की स्तुति की थी सो अब अपनी शक्तिके अनुसार इन्हीं सबकी पूजा करनी चाहिये ॥ १६८ ॥ भगवान अरहन्तदेव आदिकी पूजा करनेके लिये यत्नाचारपूर्वक शुद्ध और प्रासुक जलसे स्नान करना चाहिये और फिर धुले हुए वस्त्रोंको आंखोंसे देख कर पहनना चाहिये। भावार्थ—धुले हुए वस्त्रोंको देखभाल कर पहनना चाहिये जिससे किसी जीवका घात न हो जाय ॥ १६९ ॥ तदनन्तर जल चन्दन आदि आठों द्रव्योंको किसी उत्तम

पूतानि प्रायशः ॥ १७० ॥ ततः शनैः शनैर्गत्वा स्वसद्मस्थजिनालये । द्रव्याण्यष्टौ जलादीनि सम्यगादाय भोजने ॥ १७१ ॥ तत्रस्थान् जिनबिम्बांश्च सिद्धयन्त्रान् समर्चयेत् । दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं स्थाप्य समर्चयेत् ॥ १७२ ॥ शेषानपि यथाशक्ति गुणानप्यर्चयेद्व्रती । अत्र संक्षेपमात्रत्वादुक्तमुल्लखतो मया ॥ १७३ ॥ अस्त्यत्र पञ्चधा पूजा मुख्यमाह्वानमात्रिका । प्रतिष्ठापनसंज्ञाथ सन्निधीकरणं तथा ॥ १७४ ॥ ततः पूजनमत्रास्ति ततो नाम विसर्जनम् । पञ्चधेयं समाख्याता पञ्चकल्याणदा-

थाल आदि पात्रोंमें ले कर धीरे धीरे अपने घरके चैत्यालयमें जाना चाहिये ॥ १७० ॥ उस चैत्यालयमें विराजमान अरहन्तदेवके प्रतिबिम्बोंकी पूजा करनी चाहिये, सिद्धयन्त्रकी पूजा करनी चाहिये और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रको स्थापन कर उनकी पूजा करनी चाहिये । भावार्थ—देवपूजा सिद्धपूजा और रत्नत्रयकी पूजा करनी चाहिये ॥ १७१ ॥ व्रती श्रावकको अपनी शक्तिके अनुसार आत्माके शेष उत्तम क्षमा आदि गुणोंकी भी पूजा करनी चाहिये । यह पूजा करनेका विधान पहले आचार्योंके कहे अनुसार हमने अत्यन्त संक्षेपसे कहा है । भावार्थ—किस किसकी पूजा करनी चाहिये इसका विधान बहुत बडा है वह अन्य ग्रन्थोंसे देख लेना चाहिये यहांपर हमने बहुत ही संक्षेपसे कहा है ॥ १७२ ॥

पूजा पंचोपचारी होती है अर्थात् पांचप्रकारसे की जाती है। सबसे पहले आह्वान करना चाहिये, फिर स्थापन करना चाहिये, फिर सन्निधापन वा सन्निधिकरण करना चाहिये तदनन्तर पूजा करनी चाहिये और फिर बिसर्जन करना चाहिये । इसप्रकार यह पूजा पांचप्रकारकी बतलायी है । यह पांचप्रकारसे की हुई पूजा पंचकल्याणक फलको देनेवाली है । भावार्थ—भगवान अरहन्तदेव और सिद्ध भगवान गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक, तपःकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और मोक्षकल्याणक इन पांचों कल्याणको प्राप्त हुए हैं अतएव जो भव्य जीव इनकी पूजा करता है वह भी अरहन्तदेवके समान पांचों कल्याणकोंको प्राप्त होता है । यह पूजा करनेका फल है ॥ १७३-१७४ ॥ पूजाकी विधि बहुत बडी है यद्यपि उसको पूर्ण रीतिसे मैं कह सकता हूं तथापि मैंने उसका उपलक्षण मात्र कहा है क्योंकि पूजाकी विधि तो बहुत बडी है और यह स्मृतिशास्त्र अथवा श्रावकाचार अत्यन्त संक्षेपसे केवल संकेतमात्र कहा है । भावार्थ—यह पूजाकी विधि बहुत ही संक्षेपसे कही गई है, इसका विस्तार अन्य संहिता

यिनी ॥ १७५ ॥ तद्विधिश्चात्र निर्दिष्टुमर्हन्नप्युपलक्षितः । स्मृतेः संक्षेपसंकेताद्विधेश्चातीव विस्तरात् ॥ १७६ ॥ एवमित्यावश्यंस्यात्कर्तव्यं व्रतधारिभिः । अस्ति चेदात्मसामर्थ्यं कुर्याच्चाप्यपरं विधिम् ॥ १७७ ॥ अर्चयेच्चैत्यवेश्मस्थानर्हद्बिम्बादिकानपि । सूर्युपाध्यायसाधूंश्च पूजयेद्भक्तितो व्रती ॥ १७८ ॥ ततो मुनिमुखोद्गीर्णं प्रोक्तं वा सद्मसूरिभिः । धर्मस्य श्रवणं कुर्यादादराद् ज्ञानचक्षुषे ॥ १७९ ॥ गृहकार्यं ततः कुर्यादात्मनिन्दादिमानयम् । ततो मध्याह्निके प्राप्ते भूयः कुर्यादमुं विधिम्

ग्रन्थोंसे जान लेना चाहिये ॥ १७५ ॥ व्रती श्रावकोंको ऊपर लिखे अनुसार कर्तव्य तो अवश्य पालन करना चाहिये । यदि उसकी अधिक सामर्थ्य हो तो अन्य शास्त्रोंके अनुसार उसे और विधि भी करनी चाहिये ॥ १७६ ॥

तदनन्तर उस व्रती श्रावकको जिनालयमें जा कर वहांपर विराजमान भगवान अरहन्तदेवके बिम्बोंकी पूजा करनी चाहिये तथा आचार्य उपाध्याय और साधुओंकी पूजा भी भक्तिके साथ करनी चाहिये । भावार्थ-बडे जिनालयमें जा कर भगवानकी पूजा करनी चाहिये । यदि वहांपर अथवा पास ही किसी और स्थानपर आचार्य उपाध्याय और साधु हों तो उनकी पूजा भी भक्तिपूर्वक करनी चाहिये ॥ १७७ ॥ तदनन्तर मुनिराजके मुखारविन्दसे कहे हुए धर्मका श्रवण करना चाहिये अथवा अपने ज्ञानरूपी नेत्रोंकी ज्योति बढानेके लिये अपने घरके आचार्यके (गृहस्थाचार्यके) द्वारा कहे हुए धर्मका श्रवण बडे आदरके साथ करना चाहिये ॥ १७८ ॥

तदनन्तर अपनी निन्दा करते हुए उस व्रती श्रावकको अपने घरके व्यापार धन्धे करने चाहिये और दोपहरका समय होनेपर फिर भगवान अरहन्तदेवकी पूजा करनी चाहिये ॥ १७९ ॥ दोपहरके कुछ समय पहले अतिथिसंविभागव्रतकी भावनाका भी चिन्तवन करना चाहिये । भावार्थ-दोपहरसे कुछ समय भगवानकी पूजा करनी चाहिये फिर मुनियोंको दान देनेकेलिये दरवाजेपर आ कर खडा होना चाहिये, यदि किसी मुनि आदिका संयोग मिल जाय तो भक्तिपूर्वक आहारदान देना चाहिये । यदि किसी भी पात्रका संयोग न मिले तो मुनियोंके आहारका समय पूर्ण हो जानेपर भोजन करना चाहिये । यह ध्यान रखना चाहिये कि आहारदान देनेके लिये मुनियोंके आहारके समय ही खडा होना चाहिये उस समयको टाल कर वा बिता कर खडा होनेसे कोई लाभ नहीं होता । समयपर यदि किसी पात्रका संयोग न भी मिले तो भी उसको उसकी भावनाका फल मिल ही जाता

॥ १८० ॥ अतिथिसंविभागस्य भावनां भावयेदपि । मध्याह्नादीषदर्वागवै नातः कालाद्यतिक्रमे ॥ १८१ ॥ भोजयित्वा स्वयं यावत्क्षणं शेते सुखाशया । धारयेद्धर्मश्रवणं पूर्वाह्णे यच्छ्रुतं स्मृतेः ॥ १८२ ॥ ऊहापोहोपि कर्तव्यः सार्द्धं चापि सधर्मिभिः । अस्ति चेद् ज्ञानसामर्थ्यं कार्यं शास्त्रावलोकनम् ॥ १८३ ॥ गृहकार्यं ततः कुर्याद्भूयः संध्यावधेरिह । ततः सायंतने प्राप्ते कुर्यात्सामायिकीं क्रियाम् ॥ १८४ ॥ किञ्चापराह्णके काले जिनबिम्बान् प्रागर्चयेत् । ततः सामायिकं कुर्यादुक्तेन विधिना व्रती ॥ १८५ ॥ ततश्च शयनं कुर्याद्यथानिद्रं यथोचितम् । निशीथे पुनरुत्थाय कुर्यात्सामायिकीं क्रियाम् ॥ १८६ ॥ तत्रार्द्धरात्रके पूजां न कुर्यादर्हतामपि । हिंसाहेतोरवश्यं स्याद्रात्रौ पूजाविवर्जनम् ॥ १८७ ॥ एवं प्रवर्तमानश्च सागारो व्रतवानिह । स्वर्गादिसम्पदो भुक्त्वा निर्वाणपदमाप्नुयात् ॥ १८८ ॥ सामायिकव्रत-

है ॥ १८० ॥ फिर भोजन कर थोडी देर तक आराम करनेके लिये सोना चाहिये । फिर प्रातःकाल मुनियोंसे वा गृहस्थाचार्यसे जो धर्म श्रवण किया था उसका मनन करना चाहिये, चिंतवन करना चाहिये और धारण करना चाहिये ॥ १८१ ॥ इसीसमय धर्मात्माओंके साथ बैठ कर धर्मचर्चा करनी चाहिये । यदि अपनेमें ज्ञानकी सामर्थ्य अधिक हो तो शास्त्रोंका अवलोकन करना चाहिये । भावार्थ—आरामके बाद धर्मचर्चा और स्वाध्याय करना चाहिये ॥ १८२ ॥ तदनन्तर फिर शामतक घरके व्यापार धन्धे करने चाहिये तथा शाम हो जानेपर सामायिक करना चाहिये ॥ १८३ ॥ इसमें भी इतना विशेष है कि शाम हो जानेपर पहले भगवान अरहन्तदेवकी पूजा करनी चाहिये और फिर उस व्रती श्रावकको ऊपर लिखी विधिके अनुसार सामायिक करना चाहिये ॥ १८४ ॥ फिर सोना चाहिये । अपनी नींदके अनुसार तथा जितना उचित समझा जाय उतना सोना चाहिये । फिर आधी रातके समय उठ कर सामायिक करना चाहिये ॥ १८५ ॥ इसमें भी इतना विशेष है कि आधी रातके समय भगवान अरहन्तदेवकी पूजा नहीं करनी चाहिये क्योंकि आधी रातके समय पूजा करनेसे हिंसा अधिक होती है । रात्रिमें जीवोंका संचार अधिक होता है तथा यथोचित रीतिसे जीव दिखाई भी नहीं पडते इसलिये रात्रिमें पूजा करनेका निषेध किया है ॥ १८६ ॥ इस संसारमें इसप्रकार ऊपर लिखी हुई क्रियाओंको करता हुआ व्रती गृहस्थ स्वर्गादिकके अनुपम सुखोंको भोग कर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करता है ॥ १८७ ॥

अन्य व्रतोंके समान इस सामयिकव्रतके भी पांच अतिचार हैं जो दोषोंके नामसे प्रसिद्ध हैं और जिनका

स्यापि पञ्चातीचारसंज्ञकाः । दोषाः सन्ति प्रसिद्धास्ते त्याज्याः सूत्रोदिता यथा ॥ १८९ ॥ तत्सूत्रं यथा—योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि । सामायिकादितोन्यत्र मनोवृत्तिर्यदा भवेत् । मनोदुष्प्रणिधानाख्यो दोषोतीचारसंज्ञकः ॥ १९० ॥ वाग्योगोपि ततोन्यत्र हुङ्कारादिप्रवर्तते । वचोदुष्प्रणिधानाख्यो दोषोतीचारसंज्ञकः

वर्णन सूत्रमें भी किया है । व्रती श्रावकोंको उन अतिचारोंका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥ १८८ ॥ उन अतिचारोंको कहनेवाला जो सूत्र है वह यह है—

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।

अर्थ- मनोदुष्प्रणिधान अर्थात मनके द्वारा अशुभ चिंतवन, बचनदुष्प्रणिधान अर्थात् बचनके द्वारा अशुभ प्रवृत्ति, कायदुष्प्रणिधान अर्थात् शरीरके द्वारा अशुभ क्रियाका होना, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान अर्थात् भूल जाना ये पांच सामायिकके अतिचार हैं । आगे इन्हींका स्वरूप दिखलाते हैं ।

सामायिक करते समय अपने मनकी प्रवृत्ति सामायिकके सिवाय अन्य कार्योंमें लगाना—अपने आत्माके स्वरूपके चिंतवनके सिवाय वा पंच परमेष्ठीके स्वरूपके चिंतवनके सिवाय अन्य किसी भी पदार्थका चिंतवन करना मनोदुष्प्रणिधाननामका दोष है जो सामायिकका पहला अतिचार कहलाता है ॥ १८९ ॥ सामायिक करते समय हुं हुं, हूं, हां आदिरूपसे बचनोंकी प्रवृत्ति सामायिकके सिवाय अन्य कार्यमें लगाना बचनदुष्प्रणिधाननामका दोष है । भावार्थ--उस समय ऊपर लिखे हुए पाठ वा भक्ति तो पढना चाहिये । इसके सिवाय अन्य किसी भी कार्यके लिए हूं, हां आदिरूपसे भी कुछ नहीं कहना चाहिये । उस समय किसी भी कार्यके इशारेके लिये हूं, हां करना सामायिकका दूसरा अतिचार है ॥ १९० ॥ इसीप्रकार सामायिक करते समय अपने शरीरकी प्रवृत्ति सामायिकके सिवाय अन्य किसी भी कार्यमें लगाना हाथ, उंगली, माथा, आंख, भौंह आदिके इशारेसे किसी भी कार्यका इशारा करना, किसी पदार्थको इशारेसे दिखलाना कायदुष्प्रणिधाननामका अतिचार कहलाता है ॥ १९१ ॥ यह व्रती श्रावक जब कभी आलससे,मोहसे वा प्रमादसे वा अन्य किसी कारणसे बिना उत्साहके सामायिक करता है तब उसके अनादरनामका चौथा अतिचार लगता है ॥ १९२ ॥ जब कभी यह व्रती श्रावक प्रमादी

॥ १९१ ॥ काययोगस्ततोन्यत्र हस्तसंज्ञादिदर्शने । वर्तते तदतीचारः कायदुष्प्रणिधानकः ॥ १९२ ॥ यदाऽऽलस्यतया मोहात्कारणाद्वा प्रमादतः । अनुत्साहतया कुर्यात्तदाऽनादरदूषणम् ॥ १९३ ॥ अस्ति स्मृत्यनुपस्थानं दूषणं प्रकृतस्य यत् । न्यूनं वर्णैः पदैर्वाक्यैः पठ्यते यत्प्रमादतः ॥ १९४ ॥ ख्यातं सामायिकं नाम व्रतं चाणुव्रतार्थिनाम् । अतीचारविनिर्मुक्तं भवेत्संसारविच्छिदे ॥१९५॥ स्यात्प्रोषधोपवासाख्यं व्रतं च परमौषधम् । जन्ममृत्युजरातङ्कविध्वंसनविचक्षणम् ॥१९६॥ चतुर्द्धाशनसंन्यासो यावद्यामाश्च षोडश । स्थितिर्निरवद्यस्थाने व्रतं प्रोषधसंज्ञकम् ॥ १९७ ॥ कर्तव्यं तदवश्यं स्यात्पर्वण्या प्रोषधव्रतम् । अष्टम्यां च चतुर्दश्यां यथा-

हो कर वर्णरहित (अक्षररहित) पदरहित वा वाक्यरहित सामायिकका पाठ पढता है वा शीघ्रताके साथ पढता है वा पढते पढते भूल जाता है वा कुछ छोड कर आगे पढने लगता है तब उसके स्मृत्यनुपस्थाननामका सामायिकका पांचवां अतिचार होता है ॥ १९३ ॥ इसप्रकार अणुव्रत धारण करनेवाले व्रती श्रावकोंके लिये सामायिकनामके शिक्षाव्रतका स्वरूप कहा । यदि इस व्रतको अतिचाररहित पालन किया जाय तो इस जीवके संसारपरिभ्रमणका अवश्य ही नाश हो जाता है और मोक्षकी प्राप्ति अवश्य होती है ॥ १९४ ॥

आगे प्रोषधोपवासव्रतका स्वरूप कहते हैं । जन्म, मरण, बुढापा, रोग आदि संसारसम्बन्धी समस्त दुःखोंको, समस्त रोगोंको नाश करनेके लिये यह प्रोषधोपवासनामका व्रत एक विलक्षण और सबसे उत्तम औषधि है । भावार्थ–प्रोषधोपवासनामका व्रत एक प्रकारका तप है । इस तपके करनेसे जन्म मरण आदि समस्त दोषोंका नाश हो जाता है और मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ॥ १९५ ॥ सोलह पहर तक चारप्रकारके आहारका त्याग कर देना और जिनालय आदि किसी भी निर्दोष स्थानमें रहना प्रोषधोपवासव्रत कहलाता है । भावार्थ–प्रोषधोपवासके दिन जिनालयमें वा चैत्यालयमें ही रहना चाहिये । उस दिन सबप्रकारके व्यापार और घरसम्बन्धी समस्त कार्य छोड देना चाहिये । केवल धर्मसम्बन्धी कार्य करना चाहिये या धर्मचर्चा दिन बिताना चाहिये ॥ १९६ ॥ यह प्रोषधोपवास नामका व्रत अष्टमी और चतुर्दशी इन दोनों पर्वोंके दिनोंमें अवश्य करना चाहिये । भावार्थ–प्रत्येक महीनेमें चार पर्व होते हैं । दो अष्टमी और दो चतुर्दशी । इन चारों पर्वोंके दिनोंमें प्रोषधोपवास व्रत अवश्य करना चाहिये तथा अपनी शक्तिके अनुसार और और दिनोंमें भी करना चाहिये अर्थात् अष्टमी चतुर्दशीके

शक्त्यपि चान्यदा ॥ १९८ ॥ धारणाह्णि त्रयोदश्यां मध्याह्ने कृतभोजनः । तिष्ठेत्स्थानं समासाद्य नीरागं निरवद्यकम् ॥ १९९ ॥ तत्रैव निवसेद्रात्रौ जागरूको

दिन तो करना ही चाहिये तथा शक्ति हो तो इन दिनोंके सिवाय अन्य दिनोंमें भी करना चाहिये ॥१९७॥ यदि चतुर्दशीको प्रोषधोपवास करना हो तो इस व्रतको त्रयोदशीके दिन ही ग्रहण करना चाहिये। त्रयोदशीके दिन मध्याह्नमें वा दोपहरके समय एक बार भोजन करना चाहिये तथा भोजन बाद किसी निर्दोष और रागरहित स्थानमें पहुंच कर रहना चाहिये। भावार्थ—प्रोषधोपवासव्रत करनेवालेको पर्वके पहिले दिन और दूसरे दिन एकाशन करना पडता है। जिसे चतुर्दशीको प्रोषधोपवास करना है वह त्रयोदशीको एकाशन करता है, चतुर्दशीको उपवास करता है और पौर्णिमाको फिर एकाशन करता है। इसका कारण यह है कि प्रोषध शब्दका अर्थ एकाशन है। लिखा भी है—

चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः। स प्रोषधोपवासः यदुपोष्यारम्भमाचरति।

अर्थात्—चारप्रकारके आहारका त्याग कर देना उपवास है और एक बार भोजन करना प्रोषध है। जो उपवास करनेके बाद आरम्भ वा प्रोषध किया जाय उसको प्रोषधोपवास कहते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि जो उपवास प्रोषधसे घिरा हो, जिसके पहले पीछे दोनों ओर प्रोषध हो उसको प्रोषधोपवास कहते हैं। इसीलिये यह व्रत एक दिन पहले ग्रहण किया जाता है। एक दिन पहले एकाशन करके सोलह पहरतक आहार त्यागका नियम ले कर किसी ऐसे स्थानमें निवास करना चाहिये जो सबप्रकारके दोषोंसे रहित हो तथा जिसमें राग द्वेष उत्पन्न होनेके कोई साधन न हों। ऐसा स्थान या मुनियोंके निवास करने योग्य स्थान होता है या चैत्यालय वा जिनालय होता है। व्रती श्रावकको प्रोषधोपवासके दिन या तो मुनिसंघमें रहना चाहिये अथवा चैत्यालय वा जिनालयमें रहना चाहिये। इनके सिवाय योग्यता और साधन मिलनेपर गुफा आदि एकान्त स्थानमें भी रह सकता है ॥ १९८ ॥ बाकी दिन उसे वहीं बिताना चाहिये, रात्रिमें भी वहीं निवास करना चाहिये। उस रातको अपनी शक्तिके अनुसार जगते रहना चाहिये। प्रातःकाल उठ कर उस व्रती श्रावकको वह समस्त दिन धर्मध्यानसे

यभावलम्। प्रातरादिदिनं कृत्स्नं धर्मध्यानैर्नयेद्व्रती ॥ २०० ॥ जलपानं निषिद्धं स्यान्मुनिवत्तत्र प्रोषधे। न निषिद्धाऽनिषिद्धा स्यादर्हत्पूजा जलादिभिः ॥ २०१ ॥ यदा सा क्रियते पूजा न दोषोस्ति तदापि वै। न क्रियते सा तदाप्यत्र दोषो नास्तीह कश्चन ॥ २०२ ॥ एवमित्यादि तत्रैव नीत्वा रात्रिं स धर्मधीः। कृतक्रियोऽशनं

बिताना चाहिये ॥१९९॥ प्रोषधोपवासके दिन उस व्रती श्रावकको जलपान नहीं करना चाहिये अर्थात् जल नहीं पीना चाहिये। आचार्योंने प्रोषधोपवासके दिन मुनियोंके समान ही जलपानका निषेध किया है। भावार्थ-जिस-प्रकार मुनिराज उपवासके दिन जल नहीं पीते हैं उसीप्रकार व्रती श्रावकको भी प्रोषधोपवासके दिन जल नहीं पीना चाहिये। इसमें भी इतना और समझ लेना चाहिये कि उस व्रती श्रावकको जलके पीनेका निषेध है, जल चन्दन अक्षत आदि आठों द्रव्योंसे भगवान अरहन्तदेवकी पूजा करनेका निषेध नहीं है क्योंकि भगवान अरहन्तदेवकी पूजा करना श्रावकका नित्य कर्तव्य है। प्रोषधोपवासके दिन उसे अचित्त द्रव्योंसे पूजा करनी चाहिये, क्योंकि उस दिनेके लिये वह व्रती श्रावक सचित्त पदार्थोंके स्पर्शमात्रका भी त्याग कर देता है ॥ २०० ॥ प्रोषधोपवास-के दिन भगवान अरहन्तदेवकी पूजा करनेके लिये आचार्योंकी ऐसी आज्ञा है कि व्रती श्रावक यदि प्रोषधोपवास-के दिन भगवान अरहन्तदेवकी पूजा करे तो भी कोई दोष नहीं है। यदि उस दिन वह पूजा न करे तो भी कोई दोष नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि उस दिन वह ध्यान और स्वाध्यायमें ही दिन बिताना चाहे तो वह ऊपर लिखे दोनों कार्योंमें ही अपने दिनको व्यतीत कर सकता है, यदि उसकी रुचि ध्यान और स्वाध्यायमें कम लगती हो तथा पूजामें विशेष लगती हो तो वह अपनी इच्छानुसार पूजा भी कर सकता है। जिसमें अपने परिणाम निर्मल बने रहें वही कार्य उस दिन करना चाहिये ॥ २०१ ॥ उस धर्मात्मा व्रती श्रावकको वहींपर उस दिनकी रात्रि व्यतीत करनी चाहिये तथा पारणाके दिन अर्थात् पौर्णिमाके दिन प्रातःकाल उठ कर पूजा, स्वाध्याय, ध्यान आदि अपना नित्य कर्तव्य करना चाहिये और दोपहरके समय एक बार भोजन करना चाहिये ॥ २०२ ॥ धारणाके दिनसे लेकर अर्थात् त्रयोदशीसे लेकर तीन दिनतक त्रयोदशी चतुर्दशी और पौर्णिमा इन तीनों दिन उसे ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये। यह ध्यानमें रखना चाहिये कि ऐसे व्रती श्रावकके लिये परस्त्रीका

कुर्यान्मध्याह्ने पारणादिने ॥ २०३ ॥ ब्रह्मचर्यं च कर्तव्यं धारणादि दिनत्रयम । परयोषिन्निषिद्धा प्रागिदं त्वात्मकलत्रके ॥२०४॥ स्युः प्रोषधोपवासस्य दोषाः पञ्चो-दिताः स्मृतौ । निरस्यास्ते व्रतस्थैस्तैः सागारैरपि यत्नतः ॥ २०५ ॥ तत्सूत्रं यथा—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि । जीवाः सन्ति नवा सन्ति कर्तव्यं प्रत्यवेक्षणम् । चक्षुर्व्यापारमात्रं स्यात्सूत्रात्तल्लक्षणं यथा ॥ २०६ ॥ प्रमार्जनं च मृदुभिः यथोपकरणैः कृतम् । उत्सर्गादानसंस्तरविषयं

निषेध वा त्याग तो पहले ही कह चुके हैं । अब यहांपर जो तीन दिनके लिये ब्रह्मचर्यका पालन बतलाया है वह अपनी विवाहिता धर्मपत्नीके सेवन करनेका त्याग बतलाया है । भावार्थ—धारणाके दिन,उपवासके दिन और पारणाके दिन तीनों दिनतक उसे जिनालय आदि एकान्त स्थानमें रहना चाहिये और इन तीनों दिनतक पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये ॥ २०३ ॥

अन्य व्रतोंके समान इस प्रोषधोपवासके भी श्रावकाचारोंमें पांच अतिचार बतलाये हैं । व्रती श्रावकोंको इन पांचों अतिचारोंका त्याग बडे प्रयत्नसे कर देना चाहिये ॥२०४॥ आचार्य श्रीउमास्वामीने उन अतिचारोंको कहनेवाला जो सूत्र कहा है वह यह है—

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।

अर्थ--अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-उत्सर्ग अर्थात् बिना देखे बिना शोधे मलमूत्र करना वा कोई वस्तु रखना, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-आदान अर्थात् बिना देखे बिना शोधे कोई वस्तु उठाना, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-संस्तरोपक्रमण अर्थात् बिना देखे बिना शोधे सांथरा वा सोनेका बिछोना बिछाना, अनादर अर्थात् व्रतको उत्साह-पूर्वक नहीं करना और स्मृत्यनुपस्थान अर्थात् उस दिन मनको स्थिर न रख कर चंचल रखना ये पांच प्रोषधो-पवासके अतिचार हैं । आगे इन्हींका विशेष वर्णन करते हैं ।

जीव हैं अथवा नहीं हैं इस बातको जाननेके लिये नेत्रोंसे खूब अच्छी तरह देखना प्रत्यवेक्षण कहलाता है । प्रत्यवेक्षणका लक्षण सूत्रोंमें यही बतलाया है ॥ २०५ ॥ कोमल वस्त्रोंसे पोंछना झाडना प्रमार्जन कहलाता है । किसी वस्तुको रखना हो, उठाना हो वा बिछोना वा सांथरा बिछाना हो तो उन सबको खूब अच्छीतरह देख कर वा कोमल वस्त्रसे झाड पोंछ कर रखना वा उठाना चाहिये तथा देख शोध कर बिछोना वा सांथरा

चोपवृंहणम् ॥ २०७ ॥ अप्रत्यवेक्षितं तत्र यथा स्यादप्रमार्जितम् । मूत्रादुत्सर्ग एवास्ति दोषः प्रोषधसंयमे ॥ २०८ ॥ यथोत्सर्गस्तथादानं संस्तरोपक्रमस्तथा ।
तुन्नमानो व्यतीचारा दोषाः प्रोक्ता व्रतस्य ते ॥ २०९ ॥ ज्ञेयः पूर्वोक्तसंदर्भादनुत्साहोप्यनादरः । प्रोषधो पोषितस्यास्य दोषोती चारसंज्ञकः ॥ २१० ॥ स्यात्स्मृत्यनु-

बिछाना चाहिये जिससे किसी जीवका घात न हो । ऐसा करनेसे व्रत निर्दोष पलता है, व्रतकी वृद्धि होती है ॥ २०६ ॥ बिना देखे बिना शोधे मल मूत्र करना वा अन्य कोई पदार्थ रखना प्रोषधोपवासका पहला अतिचार है । भावार्थ—प्रोषधोपवासके दिन यदि मलमूत्र करना हो तो उस स्थानको खूब अच्छीतरह देख शोध कर मलमूत्र करना चाहिये । उस स्थानको बिना देखे बिना शोधे मलमूत्र करना पहला अतिचार है । इसीप्रकार पूजाके बर्तन पुस्तक चौकी आदि धर्मके उपकरण रखना हो तो रखनेके स्थानको तथा उन उपकरणोंको खूब देख शोध कर रखना चाहिये, बिना देखे शोधे रखना अतिचार है ॥ २०७ ॥ जिसप्रकार बिना देखे बिना शोधे किसी पदार्थको रखना पहला अतिचार है उसीप्रकार बिना देखे और बिना शोधे झाडे किसी भी पुस्तक आदि धर्मोपकरणको उठा लेना अप्रत्यवक्षित-अप्रमार्जित-आदाननामका प्रोषधोपवासव्रतका तीसरा अतिचार कहलाता है तथा बिना देखे बिना शोधे सांथरा बिछाना वा सोनेकेलिये चटाई आदि बिछाना इस प्रोषधोपवासव्रतका अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-संस्तरोपक्रमण नामका तीसरा अतिचार है ॥ २०८ ॥ अनादरका लक्षण जो पहले कह चुके हैं वही ग्रहण करना चाहिये अर्थात् इस प्रोषधोपवास व्रतको उत्साहपूर्वक न करना, बिना उत्साहके, बिना मनके करना प्रोषधोपवासका अनादरनामका चौथा अतिचार वा दोष कहलाता है ॥ २०९ ॥ प्रोषधोपवासके दिन मनको स्थिर न रखना, चंचल वा डवांडोल रखना स्मृत्यनुपस्थाननामका पांचवां अतिचार कहलाता है । इस अतिचारका यह लक्षण उपलक्षणरूपसे कहा है । मनके समान बचन और शरीरको भी चंचल रखना प्रोषधोपवासका अतिचार समझना चाहिये । इसप्रकार प्रोषधोपवासके पांचों अतिचारोंका वर्णन किया । प्रोषधोपवासव्रत धारण करनेवाले व्रती श्रावकको इन पांचों अतिचारोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ २१० ॥ इसप्रकार प्रोषधोपवास व्रतका लक्षण बतलाया ।

पस्थानं दूषणं प्रोषधस्य तत् । अनैकाग्र्यं तदेव स्याल्लक्षणादपि लक्षणम् ॥ २११ ॥ प्रोषधोपवासस्यात्र लक्षणं कथितं मया । इतः संख्योपभोयस्य परिभोगस्य चोच्यते ॥ २१२ ॥ निर्दिष्टं लक्षणं पूर्वं परिभोगोपभोगयोः । तयोः सख्या प्रकर्तव्या सागारैर्व्रतधारिभिः ॥ २१३ ॥ सन्ति तत्राप्यतीचाराः पञ्च सूत्रोदिता बुधैः ।

अब आगे भोगोपभोगपरिमाणका लक्षण कहते हैं ॥ २११ ॥ उपभोग और परिभोग दोनोंका लक्षण पहले इसी अध्यायमें कह चुके हैं । व्रत धारण करनेवाले गृहस्थोंको उपभोग और परिभोग दोनोंप्रकारके पदार्थोंकी संख्या नियत कर लेनी चाहिये । भावार्थ-भोजन, पान, तांबूल, फूलमाला, चन्दन आदि जो पदार्थ एक बार काममें आते हैं उनको उपभोग कहते हैं तथा सवारी, वस्त्र, बिछाना, अलंकार, मकान, खेत आदि परिभोग कहलाते हैं, इन पदार्थोंको मैं इतने दिन सेवन करूंगा आगेके लिये सर्वथा त्याग कर दूंगा अथवा वर्ष, दो वर्ष आदि कालकी मर्यादा नियत कर नियम कर लेना चाहिये कि मैं इतने दिनतक इन पदार्थोंका त्याग करता हूं अथवा आज मैं इतने पदार्थ, इतने रस काममें लाऊंगा बाकी सबका त्याग है । इसप्रकारके नियम करनेको उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत कहते हैं ॥ २१२ ॥

इस उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतके भी पांच अतिचार हैं जो सूत्रमें भी बतलाये हैं । धर्मके स्वरूपको जानने वाले विद्वान् श्रावकोंको बडे प्रयत्नसे इन अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिये ॥२१३॥ उन अतिचारोंको कहनेवाला सूत्र यह है-

सचित्तसम्बन्धसन्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ।

अर्थ-सचित्त पदार्थोंका सेवन करना, सचित्तसे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थोंका सेवन करना, सचित्तसे मिले हुए पदार्थोंका सेवन करना, रसीले पौष्टिक आहारका सेवन करना और दुष्पक्व अर्थात् जो अच्छीतरह नहीं पका है अथवा जो आवश्यकतासे अधिक पक गया है ऐसे पदार्थोंका सेवन करना ये पांच उपभोगपरिभोगपरिमाणके अतिचार हैं। आगे इन्हींका वर्णन करते हैं ।

उपभोगपरिभोगपदार्थोंका परिमाण करनेकी इच्छा करनेवाला अर्थात् उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतको

परिहार्याः प्रयत्नेन श्रावकैर्धर्मवेदिभिः ॥२१४॥ तत्सूत्रं यथा–सचित्तसम्बन्धसन्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः। चिकीर्षन्नपि तत्संख्यां सचित्तं यो न-मुञ्चति। दोषः सचित्तसंज्ञोस्य भवेत्सख्याव्रतस्य सः ॥ २१५ ॥ तथाविधोपि यः कश्चिच्चेतनाधिष्ठितं च यत्। वस्तुसंख्यामकुर्वाणो भवेत्सम्बन्धदूषणम् ॥ २१६ ॥ मिश्रितं च सचित्तेन वस्तुजातं च वस्तुना। स्वीकुर्वाणोप्यतीचारं सन्मिश्राख्यं च न त्यजेत् ॥२१७॥ आहारं स्निग्धग्राहिश्च ? दुर्जरं जठराग्निना। असंख्यातवतस्तस्य दोषो दुष्पक्व-

धारण करनेवाला श्रावक यदि सचित्त पदार्थोंका त्याग न करे तो उसके उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतका सचित्त नामका अतिचार होता है। भावार्थ–चित्त शब्दका अर्थ चेतना है। जिसमें चेतना हो उसको सचित्त कहते हैं। उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत करनेवाले श्रावकोंको सचित्त पदार्थोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए तभी यह व्रत निर्दोष पल सकता है। सचित्त पदार्थका त्याग न करना व्रती श्रावकके लिए उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतका पहला अतिचार कहलाता है ॥ २१४ ॥ जो पदार्थ अचित्त हैं परंतु उनका संबंध सचित्त पदार्थोंसे हो तो उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत करनेवाले श्रावकोंको ऐसे पदार्थोंका भी त्याग कर देना चाहिए। यदि व्रती श्रावक ऐसे पदार्थोंका त्याग न करें तो उनको सचित्तसंबंधनामका दूसरा अतिचार लगता है ॥ २१५ ॥ यदि उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत करनेवाला व्रती श्रावक सचित्तसे मिले हुए पदार्थोंका त्याग न करे, सचित्तसे मिले हुए अचित्त पदार्थोंका सेवन करे तो उसके सचित्तसन्मिश्रनामका तीसरा अतिचार वा दोष लगता है। ॥ २१६ ॥ जो पदार्थ चिकने और रसीले हैं तथा जो पेटकी अग्निसे पच नहीं सकते ऐसे पदार्थोंका त्याग न करना अभिषवनामका अतिचार है। भावार्थ–अभिषव शब्दका अर्थ रसीले और पौष्टिक पदार्थ हैं जैसे घी, रबडी आदि। ऐसे पदार्थ बडी कठिनतासे पचते हैं, व्रती श्रावकको ऐसे पदार्थोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए क्योंकि ऐसे पदार्थोंके सेवन करनेसे विकार उत्पन्न होता है अतएव ऐसे पदार्थोंका सेवन करना उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतका चौथा अतिचार कहलाता है ॥ २१७ ॥ जो पदार्थ अग्निके द्वारा अच्छी-तरह पका नहीं है जैसे कच्ची रोटी, बिना गली हुई दाल वा भात अथवा जो पदार्थ आवश्यकतासे अधिक पक गया है जैसे जली रोटी, जला हुआ शाक आदि, ऐसे पदार्थोंको दुष्पक्व कहते है। ऐसे पदार्थोंके सेवन

संज्ञकः ॥ २१८ ॥ उक्तातिचारनिर्युक्तं परिभोगोपभोगयोः । संख्याव्रतं गृहस्थानां श्रेयसे भवति ध्रुवम् ॥ २१९ ॥ अतिथिसंविभागाख्यं व्रतमस्ति व्रतार्थिनाम् । सर्व-व्रतशिरोरत्नमिहामुत्र सुखप्रदम् ॥ २२० ॥ ईषन्न्यूने च मध्याह्ने कुर्याद् द्वारावलोकनम् । दातुकामः सुपात्राय दानीयाय महात्मने ॥ २२१ ॥ तत्पात्रं त्रिविधं ज्ञेयं

करनेसे लोलुपता अधिक प्रतीत होती है तथा अधपके कच्चे पदार्थ पचते भी नहीं हैं, कठिनतासे पचते हैं अतएव उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत करनेवालोंको ऐसे दुष्पक्व पदार्थोंका भी त्याग कर देना चाहिए। यदि इस व्रतको पालन करनेवाला ऐसे पदार्थोंका त्याग न करे तो उसके दुष्पक्वनामका पांचवां अतिचार लगता है। इसप्रकार इस व्रतके पांचों अतिचारोंका निरूपण किया। व्रती श्रावकोंको अपना व्रत शुद्ध और निर्दोष रखनेके लिए इन पांचों अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिए ॥ २१८ ॥ इसप्रकार अतिचार रहित पालन किया हुआ यह उपभोगपरिभोगपरिमाणनामका व्रत गृहस्थोंके लिए अवश्य ही कल्याणकारी होता है। भावार्थ—जो गृहस्थ इसका पालन करते हैं उनकी आत्माका कल्याण अवश्य होता है। वे स्वर्गादिकके सुख भोग कर अवश्य ही मुक्त होते हैं* ॥ २१९ ॥

व्रत पालन करनेवालोंके लिए अतिथिसंविभागव्रतनामका भी एक उत्तम व्रत है। यह व्रत समस्त व्रतों-के मस्तकका रत्न है तथा इसलोक और परलोक दोनों लोकोंमें सुख देनेवाला है ॥ २२० ॥ जिस महात्माके लिए, जिस देनेयोग्य सुपात्रके लिए दान देनेकी इच्छा हो ऐसे श्रावकको दोपहरके कुछ समय पहले द्वारावलोकन करना चाहिए। भावार्थ—मुनि आर्जिका श्रावक श्राविका आदि जिस किसी भी पात्रको देनेकी इच्छा हो तो दान देनेवालेको दोपहरसे पहले द्वारपर खडे होकर पात्रकी प्रतीक्षा करनी चाहिए क्योंकि दोपहरका समय सामायिकका समय है और मुनिराज प्रायः आहार ग्रहण करनेके बाद सामायिक करते हैं। इसका भी कारण यह है कि गृहस्थोंके भोजनका यही समय है ॥ २२१ ॥ जिनको आहार देना चाहिए ऐसे पात्रोंके तीन भेद हैं। पहले उत्तमपात्र, दूसरे मध्यमपात्र और तीसरे जघन्यपात्र ॥ २२२ ॥ सो ही लिखा है। मुनियोंको

* मूलप्रतिमें एक श्लोक कम है। ऐसा मालूम होता है कि एक श्लोकके पहले दो चरण हैं और दूसरे श्लोकके अंतिम दो चरण हैं।

तत्राप्युत्कृष्टमादिमम् । द्वितीयं मध्यमं ज्ञेयं तृतीयं तु जघन्यकम् ॥ २२२ ॥ उक्तं च—उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं, मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम् । निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं, युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि । एतेष्वन्यतमं प्राप्य दानं देयं यथाविधि । प्रासुकं शुद्धमाहारं विनयेन समन्वितम् ॥ २२३ ॥ पात्रालाभे यथाचित्ते पश्चात्तापपरो भवेत् । अधमे विफलं जन्म भूयोभूयश्च चिन्तयेत् ॥ २२४ ॥ कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथायथम् । केवलं तत्कृपादानं देयं पात्रधिया न हि ॥ २२५ ॥ अस्ति सूत्रोदित शुद्धं तत्रातीचारपंचकम् । अतिथिसविभागाख्यव्रतरक्षार्थं परित्यजेत् ॥ २२६ ॥ तत्सूत्रं यथा—सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमा-

उत्तम पात्र कहते हैं. अणुव्रती श्रावक मध्यमपात्र हैं, व्रतरहित सम्यग्दृष्टी श्रावक जघन्यपात्र हैं । सम्यग्दर्शनसे रहित और व्रतोंको पालन करनेवाले मिथ्यादृष्टी कुपात्र हैं और जो सम्यग्दर्शनसे भी रहित हैं तथा व्रतोंसे भी रहित हैं ऐसे मनुष्योंको अपात्र कहते हैं ॥ १ ॥ उत्तम मध्यम जघन्य इन तीनों पात्रोंमेंसे जो कोई मिल जाय उसीको विधिपूर्वक दान देना चाहिये । दानमें जो आहार दिया जाय वह प्रासुक होना चाहिये और शुद्ध होना चाहिये तथा विनयपूर्वक देना चाहिये ॥ २२३ ॥ यदि दैवयोगसे किसी पात्रका लाभ न हो तो अपने हृदयमें पश्चात्ताप करना चाहिये और इस अधम समयमें मेरा जन्म व्यर्थ जा रहा है इसप्रकार उसे बार बार चिंतवन करना चाहिये ॥ २२४ ॥ कुपात्र और अपात्रोंको भी उनकी योग्यतानुसार दान देना चाहिये परन्तु इसमें इतना विशेष है कि कुपात्र अपात्रोंको दिया हुआ दान केवल करुणादान कहलाता है तथा करुणाबुद्धिसे ही देना चाहिये । उनको पात्र समझ कर वा पात्रबुद्धिसे दान कभी नहीं देना चाहिये ॥ २२५ ॥

अन्य व्रतोंके समान इस व्रतके भी सूत्रमें कहे हुए पांच अतिचार हैं अतएव इस अतिथिसंविभागव्रतकी रक्षा करनेके लिये, इस व्रतको निर्दोष पालन करनेके लिये उन पांचों अतिचारोंका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ २२६ ॥

उन अतिचारोंको कहनेवाला सूत्र यह है--

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ।

अर्थ—आहारदान देते हुए सचित्त वस्तुपर रक्खे हुए पदार्थको दानमें देना, सचित्त वस्तुसे ढके हुए

त्सर्यकालातिक्रमाः । सचित्ते पद्मपत्रादौ निक्षेपोऽन्नादिवस्तुनः । दोषः सचित्तनिक्षेपो भवेदन्वर्थसंज्ञकः ॥ २२७ ॥ अपिधानमावरणं सचित्तेन कृतं यदि । स्यात्सचित्तापिधानाख्यं दूषणं व्रतधारिणः ॥ २२८ ॥ आस्माकीनं सुसिद्धान्न त्वं प्रयच्छेति योजनम् । दोषः परोपदेशस्य करणाख्यो व्रतात्मनः ॥ २२९ ॥ प्रयच्छन्नच्छमनादि गर्वमुद्वहते यदि । दूषणं लभते सोपि महामात्सर्यसंज्ञकम् ॥ २३० ॥ ईषन्न्यूनाच्च मध्यान्हादानकालादधोथवा । ऊर्द्धं तद्भावनाहेतोर्दोषः कालव्यतिक्रमः

पदार्थको दान देना, दान देनेकेलिये दूसरेको आज्ञा देना, मात्सर्य वा ईर्षा करना और समयको टाल कर आहार-का समय बीत जानेपर द्वारावलोकन करना ये पांच अतिथिसंविभागव्रतके अतिचार हैं। आगे इन्हींका वर्णन करते हैं।

हरे कमलके पत्तेपर वा केलेके पत्तेपर रक्खे हुए पदार्थको आहारदानमें देना सचित्तनिक्षेपनामका अतिचार है। जिसमें चेतनाके अंश हों उसको सचित्त कहते हैं, ऐसे सचित्त पदार्थपर रक्खे हुए दाल भात आदि पदार्थों-का दान देना सचित्तनिक्षेपनामका पहला अतिचार है ॥ २२७ ॥ अपिधान शब्दका अर्थ ढकना है । जो दाल-भात रोटी आदि पदार्थ हरे कमलके पत्ते आदि सचित्त पदार्थोंसे ढके हुए हैं ऐसे पदार्थोंका दान देना व्रती श्रावकके लिए सचित्तापिधाननामका दूसरा अतिचार लगता है ॥२२८॥ "यह हमारा बना बनाया तैयार भोजन है इसको तुम दान दे देना" इसप्रकार दान देनेके लिये दूसरेको कहना व्रती श्रावककेलिये परव्यपदेशनामका तीसरा अति-चार है ॥ २२९ ॥ यदि कोई दान देनेवाला दाता दानमें किसी निर्दोष अन्नको देवे परन्तु उसको देते हुए वह यदि अभिमान करे और यह समझे कि निर्दोष अन्न मैंने ही दिया है इसप्रकारका समझना वा अभिमान करना महामात्सर्यनामका अतिचार कहलाता है ॥ २३० ॥ दान देनेका समय दोपहरके समयसे कुछ पहलेका समय है, उस आहारदान देनेके समयसे पहले अथवा उसके बाद यदि आहारदानकी भावना करनेके लिये द्वारावलोकन करे तो उसके कालातिक्रमनामका पांचवां अतिचार होता है। भावार्थ—आहारदान देनेके लिये नियत समय-पर पडगाहन करनेके लिये द्वारपर खडा होना चाहिये। नियत समयसे पहले खडे होना अथवा समय बीत जाने-पर खडे होना अतिचार है जो कालातिक्रम अतिचार कहलाता है ॥ २३१ ॥ जो व्रती श्रावक समयानुसार प्राप्त

॥ २३१ ॥ एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तं पात्रेभ्यो दानमुत्तमम् । अतिथिसंविभागाख्यव्रतं तस्य सुखाप्तये ॥ २३२ ॥ यथात्मज्ञानमाख्यातं संख्याव्रतचतुष्टयम् । अस्ति सल्लेखना कार्या तद्व्रतो मारणान्तकी ॥ २३३ ॥ सोस्ति सल्लेखनाकालो जीर्णे वयसि चाथवा । दैवाद्घोरोपसर्गेऽपि रोगोऽसाध्यतरेऽपि च ॥२३४॥ क्रमेणाराधनाशास्त्र-

हुए उत्तम मध्यम जघन्यपात्रोंको ऊपर लिखे पांचों अतिचारोंसे रहित दान देता है और इसप्रकार इस अतिथिसंविभाग व्रतको निर्दोष पालन करता है उसको स्वर्ग मोक्षके अनुपम सुखोंकी प्राप्ति अवश्य होती है ।२३२। इसप्रकार अपने ज्ञानके अनुसार चारों संख्याव्रतोंका अथवा शिक्षाव्रतोंका निरूपण किया। सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग इन व्रतोंसे मुनिराजके चारित्रकी शिक्षा मिलती है। जिसप्रकार मुनिराज सामायिक करते हैं उसीप्रकार गृहस्थको करना पडता है, जिसप्रकार मुनिराज अनेक उपवास करते हैं उसीप्रकार व्रती श्रावक प्रोषधोपवास करता है, जिसप्रकार मुनिराज इंद्रियोंके विषयोंका सर्वथा त्याग करते हैं उसी प्रकार व्रती श्रावक भी उन विषयोंका परिमाण नियत कर लेता है तथा जिसप्रकार मुनिराज ज्ञानदान देकर मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति करते हैं उसीप्रकार व्रती श्रावक भी चारोंप्रकारके दान देकर मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति करते हैं। इसप्रकार इन चारों व्रतोंसे मुनिधर्म की शिक्षा मिलती है इसलिये इनको शिक्षाव्रत कहते हैं तथा इन चारों व्रतोंमें पापोंका त्याग किया जाता है तथा नियतकालतक त्याग किया जाता है वा परिमाण किया जाता है इसलिये इन व्रतोंको संख्याव्रत कहते हैं। यहांपर संख्या शब्दका अर्थ नियत की हुई संख्या अथवा परिमाण है इसीलिये इसको संख्याव्रत कहते हैं।

अब आगे सल्लेखनाव्रतको कहते हैं। व्रती श्रावकको मरण समयमें होनेवाली सल्लेखना भी अवश्य करनी चाहिये ॥ २३३ ॥ जब अपनी आयु अत्यन्त जीर्ण हो जाय अर्थात् सबसे अधिक बुढापा आ जाय अथवा दैवयोगसे कोई घोर उपसर्ग आ जाय (जलमें डूब जाय अथवा अग्निमें जल मरनेका समय आ जाय) अथवा कोई प्रबल और असाध्य रोग हो जाय तो वही समय सल्लेखनाका समय समझना चाहिये। भावार्थ--असाध्य रोग हो जानेसे अथवा कोई घोर उपसर्ग आ जानेसे वा अत्यन्त बुढापा आ जानेसे यदि अपनी आयुके पूर्ण

प्रोक्तेन विधिना व्रती । वपुषश्च कषायाणां जयं कृत्वा तनुं त्यजेत् ॥ २३५ ॥ धन्यास्ते वीरकर्माणो ज्ञानिनस्ते व्रतावहाः । येषां सल्लेखनामृत्युः निष्प्रत्यूहतया भवेत् ॥२३६॥ दोषाः सूत्रोदिताः पञ्च सन्त्यतीचारसंज्ञकाः । अन्त्यसल्लेखनायास्ते संत्याज्याः पारलौकिकैः ॥२३७॥ तत्सूत्र यथा—जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानु-

होनेका निश्चय हो जाय तो उस समय व्रती श्रावकको सल्लेखना वा समाधिमरण अवश्य धारण करना चाहिये ॥ २३४ ॥ व्रती श्रावकको आराधनाशास्त्रोंमें कही हुई विधिके अनुसार अनुक्रमसे शरीर और कषायोंको जीतना चाहिये और फिर शरीरका त्याग करना चाहिये । भावार्थ--समाधिमरणमें चारों आराधनाओंका आराधन किया जाता है इसीलिये सल्लेखनाकी विधिको कहनेवाले शास्त्र आराधनाशास्त्र कहलाते हैं जैसे भगवतीआराधना। सल्लेखनाकी विधिका विशेष स्वरूप भगवती आराधनामें वर्णन किया है तथा साधारण वर्णन धर्मामृत आदि श्रावकाचारोंमें किया है। भव्य जीवोंको वहांसे जान लेना चाहिये ॥ २३५ ॥ इस संसारमें वे ही व्रती-श्रावक धन्य हैं, वे ही शूरवीर वा वीरकर्म करनेवाले हैं और वे ही ज्ञानी हैं जिनका समाधिमरण बिना किसी विघ्नके पूर्ण हो जाता है। भावार्थ–व्रत और तपश्चरणका अन्तिम फल समाधिमरण है । जिसका समाधिमरण हो गया उसका व्रत तप सब सफल हो गया समझना चाहिये तथा जिसका समाधिमरण नहीं हुआ उसका करोडों वर्षोंका किया हुआ जप तप भी व्यर्थ ही समझना चाहिये । समाधिमरणके बिना ही यह जीव संसारमें परिभ्रमण करता रहता है । यदि एक बार भी समाधिमरण हो जाय तो फिर इस जीवको अवश्य ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाय अतएव समाधिमरण धारण करनेके लिये अवश्य प्रयत्न करना चाहिये ॥ २३६ ॥

इस सल्लेखनाव्रतके भी पांच अतिचार हैं जो सूत्रकारने भी अपने सूत्रमें बतलाये हैं । परलोकमें सुख चाहनेवाले व्रती श्रावकोंको इस मरण समयमें होनेवाले सल्लेखनाव्रतके उन पांचों अतिचारोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ २३७ ॥ उन अतिचारोंको कहनेवाला सूत्र यह है–

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ।

अर्थ–जीवित रहनेकी आशा रखना, शीघ्र मरनेकी आशा रखना, मित्रोंमें प्रेम रखना, भोगे हुए सुखोंका

बन्धनिदानानि । आशंसा जीविते मोहाद् यथेच्छेदपि जीवितम् । यद् जीव्ये वरं तावद्दोषोऽयं यत्समस्यते ।२३८। आशंसा मरणे चापि यथेच्छेन्मरणं द्रुतम् । वरं मे मरणं तूर्णं मुक्तः स्यां दुःखसंकटात् ॥२३९॥ दोषो मित्रानुरागाख्यो यत्नेच्छेन्मरणं क्वचित् । पुरस्तान्मित्रतो मृत्युर्वरं पश्चान्न मे वरम् ।२४०। दोषः सुखानुबन्धाख्यो

अनुभव करना अथवा आगामी सुखोंकी चाह करना और निदान करना ये पांच सल्लेखनाव्रतके अतिचार हैं। आगे इन्हींका वर्णन करते हैं।

मोहनीयकर्मके उदयसे जीवित रहनेकी आशा करना अथवा अपने जीवित रहनेकी इच्छा करना अथवा "मैं यदि तबतक जीता रहूं तो अच्छा" इसप्रकार नियतकालतक जीवित रहनेकी इच्छा करे तो उसके जीविताशंसानामका पहला अतिचार होता है। भावार्थ—ये बडे बडे मनुष्य मेरी सेवा कर रहे हैं, मेरी प्रशंसा कर रहे हैं, यदि मैं थोडी देरतक और जीवित बना रहूं तो अच्छा, इसप्रकार समाधिमरण धारण करके भी जीवित रहनेकी आशा रखना समाधिमरणका अतिचार है। जीवित रहना वा मरना किसीके आधीन नहीं है इसलिये इन दोनोंकी आशा करना व्यर्थ और कर्मबन्ध करनेवाली है इसलिये समाधिमरण धारण करनेवालोंको इन दोनोंकी आशा करनेका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥ २३८ ॥ "मुझे इस समय बहुत दुःख हो रहा है, यदि मेरा मरण शीघ्र हो जाय तो मैं इस भारी दुःखसे छूट जाऊं" इसप्रकार विचार कर शीघ्र ही मरनेकी इच्छा करना मरणाशंसा नामका दूसरा अतिचार है ॥ २३९ ॥ "मेरा मरण यदि मेरे मित्रके सामने ही होता तो अच्छा, मित्रके पीछे मेरा मरण होना अच्छा नहीं" इसप्रकार मित्रके सामने ही अपने मरणकी इच्छा करना मित्रानुरागनामका अतिचार है। मित्रानुराग शब्दका अर्थ मित्रोंमें प्रेम रखना है। सो इसप्रकार मित्रके सामने मरनेकी इच्छा करना भी मित्रानुराग है तथा पहले जो मित्रोंके साथ बालकपनमें क्रीडा की थी उसका स्मरण करना भी मित्रानुराग है। ऐसा स्मरणकरनेसे भी परिणामोंकी निर्मलतामें कमी आ जाती है इसलिये समाधिमरण धारण करनेवालोंको इस अतिचारका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ २४० ॥ "मैं इस जन्ममें बहुत दुःखी हूं, मैंने जो ये व्रत पालन किये इनके माहात्म्यसे मैं मर कर किसी दूसरे स्थानमें जा कर सुखी हूंगा" इसप्रकार चिंतवन करना

यथात्रास्मीह दुःखवान्। मृत्वापि व्रतमाहात्म्याद् भविष्येऽहं सुखी क्वचित् ॥ २४१ ॥ दोषो निदानबन्धाख्यो यथेच्छेन्मरणं कुधीः। भवेयं व्रतमाहात्म्यादस्य घाताय तत्परः ॥ २४२ ॥ यदि वा मरणं चेच्छेन्मोहोद्रेकात्स मूढधीः। भवेयं चोपकाराय मित्रस्यास्य व्रतादितः ॥ २४३ ॥ यदिवा मरणं चेच्छेदज्ञानाद्वा सुखाशयाः। भूयान्मे व्रतमाहात्म्यात्स्वर्गश्रीरद्वितीयादिनी ॥ २४४ ॥ एतैर्दोषैर्निर्मुक्तमन्त्यसल्लेखनाव्रतम्। स्वर्गापवर्गसौख्यानां सुधापानाय जायते ॥२४५॥ उक्ता सल्लेखनोपेता द्वादशव्रतभावनाः। एतामिर्व्रतप्रतिमा पूर्णतां याति सुस्थिता ॥ २४६ ॥

इति श्रीस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्लविरचितायां श्रावकाचारापरनामलाटीसंहितायां साधुश्रीदूदात्मजफामनमनःसरोजारविन्दविकाशनैकमार्तण्डमण्डलायमानायां मृषात्यागादि लक्षणाणुव्रतचतुष्क गुणव्रतत्रिक शिक्षाव्रतचतुष्टय प्रतिमाप्रतिपादकः षष्ठः सर्गः।

सुखानुबन्धनामका अतिचार है। (अथवा इस जन्ममें जिन जिन सुखोंका अनुभव किया है उनका स्मरण करना भी सुखानुबन्धनामका अतिचार है) ॥ २४१ ॥ यदि समाधिमरण धारण करनेवाला कोई श्रावक अपनी दुर्बुद्धिके दोषसे यह चिन्तवन करे कि "मैं इस व्रतके माहात्म्यसे मर कर ऐसे स्थानमें उत्पन्न होऊं जो इस अपने शत्रुका घात करूं" यही सोच कर मरनेकी इच्छा करना निदाननामका अतिचार है ॥२४२॥ अथवा कोई मूर्ख मोहनीयकर्मके उदयसे यह चिंतवन करे कि मैं मर कर इस व्रतके माहात्म्यसे ऐसे स्थानमें उत्पन्न होऊं जो अपने इस मित्रका अच्छा उपकार करूं" इसप्रकार चिंतवन कर मरनेकी इच्छा करना निदानबन्धनामका अतिचार है ॥ २४३ ॥ अथवा अपने अज्ञानसे सुखकी इच्छा करता हुआ वह समाधिमरण धारण करनेवाला यह चिंतवन करे कि "मैं शीघ्र मर जाऊं जिससे मुझे इस व्रतके माहात्म्यसे स्वर्गकी अद्वितीय लक्ष्मी प्राप्त हो।" इसप्रकार चिंतवन कर मरनेकी इच्छा करना निदाननामका अतिचार है ॥ २४४ ॥ जो व्रती मनुष्य ऊपर लिखे समस्त दोषोंसे रहित इस मरणसमयके सल्लेखनाव्रतको पालन करते हैं अर्थात् इस सल्लेखनाव्रतको अतिचाररहित पालन करते हैं उनको स्वर्ग और मोक्षके अनुपम सुखरूपी अमृत अवश्य पीनेको मिलता है। भावार्थ—उनको स्वर्ग-मोक्षके सुख अवश्य प्राप्त होते हैं ॥२४५॥ इसप्रकार सल्लेखनाव्रतके साथ बारह व्रतोंका तथा उनकी भावनाओं-

अथ सप्तमः सर्गः

द्वादशव्रतरूपं यद् व्रतं सद्गृहमेधिनाम्। साधुदूदाङ्गजोद्धारभूयाद्यो नामफामनः ॥ १ ॥ इत्याशीर्वादः।

द्वादशव्रतशुद्धस्य विशुद्धेश्चातिशायिनः। युक्तमुत्कृष्टाचरणमिच्छतस्तत्पदं मुदे ॥ १ ॥ स्यात्सामायिकप्रतिमा नाम्ना चाप्यस्तिसंख्यया। तृतीया व्रतरूपा स्यात्क-

का निरूपण किया। जो व्रती श्रावक इन सम्पूर्ण व्रतोंको पालन करता है उसके व्रतप्रतिमा पूर्णरीतिसे पालन होती है। भावार्थ—इन सब व्रतोंको निर्दोष और निरतिचार पालन करना व्रतप्रतिमा कहलाती है ॥ २६ ॥ इसप्रकार व्रतप्रतिमाका स्वरूप कहा।

इसप्रकार स्याद्वादस्वरूप निर्दोष गद्यपद्यविद्यामें अत्यन्त चतुर और विद्वानोंमें शिरोमणि ऐसे कविराज राजमल्लके द्वारा बनी हुई तथा सज्जनोत्तम दूदाके सुपुत्र श्रीफामनके मनरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेकेलिये सूर्यमंडलके समान सुशोभित होनेवाली और श्रावकाचार है दूसरा नाम जिसका ऐसे इस लाटीसंहितानामके ग्रंथकी चावली (आगरा) निवासी देहलीप्रवासी "धर्मरत्न" लालाराम जैन शास्त्री द्वारा विरचित हिन्दी भाषा टीकामें सत्याणुव्रत आदि चार अणुव्रत तीन गुणव्रत और चारों शिक्षाव्रतोंको निरूपण करनेवाला अथवा दूसरी प्रतिमाके स्वरूपको पूर्ण कहनेवाला यह छठा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

अथ सातवां सर्ग

इसप्रकार जो गृहस्थोंके बारह व्रत बतलाये हैं वे सज्जनोत्तम दूदाके पुत्र फामनके लिये उद्धार करनेवाले हों। भावार्थ—ऊपर लिखे हुए बारह व्रत फामनका उद्धार करें ॥ १ ॥ इत्याशीर्वादः।

जो श्रावक बारह व्रतोंके पालन करनेसे शुद्ध है तथा निर्मल सम्यग्दर्शनके प्रभावसे जिसकी विशुद्धि, जिसके आत्माकी निर्मलता अत्यन्त बढती जा रही है और जो अपनी आत्माका कल्याण करनेके लिये उत्तम मुनिपदको धारण करनेकी इच्छा करता है ऐसे श्रावकको उत्कृष्ट आचरण धारण करना चाहिए। भावार्थ—ऐसे श्रावकको आगेकी प्रतिमाएं धारण करनी चाहिए ॥ १ ॥ तीसरी प्रतिमाका नाम सामयिकप्रतिमा है। व्रती श्रावकोंको दूसरी प्रतिमाके पालन करनेमें निपुण हो जानेपर तीसरी प्रतिमा पालन करनी चाहिए ॥ २ ॥

द्वादशव्रतमध्येपि विद्यते प्रोषधं व्रतम्। तदेवात्र समाख्यानं विशेषस्तु विवक्षितः ॥ १३ ॥ अवश्यमपि कर्तव्यं चतुर्थप्रतिमाव्रतम्। कर्मकाननकोटीनामस्ति दावानलोपमम् ॥ १४ ॥ पञ्चमी प्रतिमा चास्ति वृतं सागारिणामिह। तत्सचित्तपरित्यागलक्षणं भक्ष्यगोचरम् ॥ १५ ॥ इतःपूर्वं कदाचिद्वै सचित्तं वस्तु भक्षयेत्। इतः परं स नास्नुयात्सचित्त तज्जलादपि ॥ १६ ॥ भक्षणेऽत्र सचित्तस्य नियमो न तु स्पर्शने। तत्स्वहस्तादिना कृत्वा प्रासुक चात्र भोजयेत् ॥ १७ ॥ रात्रिभक्तपरि-

प्रोषधोपवासव्रतमें उससे कुछ विशेषता है और वह विशेषता यही है कि बारह व्रतोंका पालन करनेवाला व्रतप्रतिमावाला श्रावक अष्टमी चतुर्दशीको प्रोषधोपवास करता है तथा कभी किसी स्थानपर कारण मिलनेपर नहीं भी करता है तो भी उसके व्रतकी हानि नहीं होती किन्तु चौथी प्रतिमावालेको प्रत्येक पर्वके दिन प्रोषधोपवास अवश्य करना पडता है. यदि चौथी प्रतिमावाला किसी भी स्थानपर किसी भी कारणसे किसी भी समय प्रोषधोपवास न करे तो फिर उसके व्रतकी अर्थात् चौथी प्रतिमाकी हानि हो जाती है। यही व्रतप्रतिमा और चौथी प्रतिमाके प्रोषधोपवासमें अन्तर है इसलिये ऊपर कहा गया है कि व्रत प्रतिमावाला अतिचार सहित पालन करता है और चौथी प्रतिमावाला अतिचार रहित पालन करता है ॥ १३ ॥ यह प्रोषधोपवासव्रत कर्मरूपी करोडों वनोंको जलानेके लिये दावानल अग्निके समान है, जिसप्रकार दावानल अग्नि करोडों वनोंको भस्म कर देती है उसीप्रकार इस प्रोषधोपवासव्रतके पालन करनेसे करोडों जन्मके अनन्तानन्त कर्म नष्ट हो जाते हैं अतएव व्रती श्रावकोंको इस चौथी प्रतिमाका पालन अवश्य करना चाहिये ॥ १४ ॥

गृहस्थ व्रतियोंकी पांचवी प्रतिमाका नाम सचित्तत्यागप्रतिमा है । यह प्रतिमा केवल खाने योग्य पदार्थोंसे सम्बन्ध रखती है ॥ १५ ॥ इस पांचवीं प्रतिमाको पालन करनेवाला श्रावक इससे पहले अर्थात् चौथी प्रतिमातक कभी कभी सचित्त पदार्थोंका भी भक्षण कर लेता था परन्तु अब इस प्रतिमाको स्वीकार करनेके बाद वह कभी भी सचित्त पदार्थका भक्षण नहीं करता है। यहांतक कि कच्चा जल भी कभी काममें नहीं लाता है ॥ १६ ॥ इसमें भी इतना और समझ लेना चाहिये कि पांचवीं प्रतिमाको पालन करनेवाले श्रावकके सचित्त पदार्थोंके खानेका त्याग होता है सचित्त पदार्थोंके स्पर्श करनेका त्याग नहीं होता। पांचवीं प्रतिमाको पालन करनेवाला श्रावक

त्यागलक्षणा प्रतिमास्ति सा। विख्याता संख्यया षष्ठी सप्तस्थश्रावकोचिता ॥ १८ ॥ इतःपूर्वं कदाचिद्वा पयःपानादि स्यान्निशि। इतः परं परित्यागः सर्वथा पयसोपि तत् ॥ १९ ॥ यद्वा विद्यते नात्र गन्धमाल्यादिलेपनम्। नापि रोगोपशान्त्यर्थं तैलाभ्यङ्गादि कर्मतत् ॥ २० ॥ किञ्च रात्रौ यथा भुक्तं वर्जनीयं हि सर्वदा। दिवा योषिद्व्रतं चापि षष्ठस्थानं परित्यजेत् ॥ २१ ॥ अस्ति तस्यापि जन्मार्द्धं ब्रह्मचर्याधिवासितम्। तदर्द्धंसर्वसन्यासससनार्थं फलवन्महत् ॥ २२ ॥ नहि कालकलै-

जलादिक सचित्त पदार्थोंको अपने हाथसे प्रासुक करके भक्षण करता है। भावार्थ—सचित्तत्यागप्रतिमावाला जल भरता है, छानता है, उसे गरम करता है। इसप्रकार उसे अचित्त वा प्रासुक बना लेता है। वह केवल सचित्त पदार्थोंको भक्षण नहीं करता किन्तु सचित्त अचित्त बना कर भोजन करता है ॥ १७ ॥ इसप्रकार पांचवीं प्रतिमाका निरूपण किया।

अब आगे छठी प्रतिमाका वर्णन करते हैं। गृहस्थ व्रतियोंको पालन करनेयोग्य छठी प्रतिमाका नाम रात्रि भक्तत्यागप्रतिमा है ॥ १८ ॥ इस प्रतिमाको स्वीकार करनेसे पहले अर्थात् पांचवीं प्रतिमातक पालन करनेवाला श्रावक कदाचित् रात्रिमें पानी आदि पीता था परन्तु अब इस छठी प्रतिमाको स्वीकार कर लेनेपर वह श्रावक रात्रिमें पानी पीनेका भी सर्वथा त्याग कर देता है ॥ १९ ॥ इस छठी प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक रात्रिमें गन्ध, पुष्पमाल आदिका सेवन नहीं कर सकता, न कोई लेप लगा सकता है तथा अपने किसी रोगको शान्त करनेके लिये रात्रिमें तेल लगाना वा उबटन लगाना आदि कार्य भी नहीं कर सकता ॥ २० ॥ इस छठी प्रतिमाको पालन करनेवाला व्रती श्रावक जिसप्रकार रात्रिमें भोजनका सर्वथा त्याग कर देता है उसीप्रकार वह दिनमें स्त्रीसेवन करनेका भी सर्वथा त्याग कर देता है। भावार्थ—छठी प्रतिमाको पालन करनेवाले श्रावकके लिये दिनमें स्त्रीसेवन करनेका त्याग और रात्रिमें भोजन करनेका सर्वथा त्याग कर देना अत्यावश्यक है। इन दोनों क्रियाओंको जब पालन करता है तभी उसके छठी प्रतिमा होती है अन्यथा नहीं ॥ २१ ॥ इसप्रकार जो श्रावक इस छठी प्रतिमाका पालन करता है उसका आधा जन्म तो ब्रह्मचर्यसे व्यतीत होता है तथा आधा जन्म सब-

प्रकारके आहारके त्याग पूर्वक व्यतीत होता है अतएव संसारमें वही जन्म सफल और महत्वशाली गिना जाता

र्तव्या वेश्मशालिभिः ॥२॥ व्रतानां द्वादश चात्र प्रतिपाल्यं यथोदितम्। विशेषादपि कर्तव्यं सम्यक् सामायिकव्रतम् ॥ ३ ॥ ननु व्रतप्रतिमायामेतत्सामायिकव्रतम्। तदेवात्र तृतीयायां प्रतिमाया तु किं पुनः ॥ ४ ॥ सत्यं किन्तु विशेषोस्ति प्रसिद्धः परमागमे। सातिचारं तु तत्र स्यादत्रातीचारविवर्जितम् ॥ ५ ॥ किंच तत्र त्रिकालस्य नियमो नास्ति देहिनाम्। अत्र त्रिकालनियमो मुनेर्मूलगुणादिवत्। तत्र हेतुवशात्क्वापि कुर्यात्कुर्यान्नवा क्वचित्। सातिचारव्रतत्वाद्वा तथापि न व्रतक्षतिः ॥ ७ ॥ अत्रावश्यं त्रिकालेपि कार्य सामायिकं जगत्। अन्यथा व्रतहानिः स्यादतीचारस्य का कथा ॥ ८ ॥ अन्यत्राप्येवमित्यादि यावदेकादशस्थितिः। व्रतान्येव

इस तीसरी प्रतिमामें ऊपर कहे हुए बारह व्रतोंका तो पालन करना ही चाहिए किंतु इतना और विशेष है कि इसमें सामयिकनामका व्रत बहुत अच्छीतरहसे विधिपूर्वक करना चाहिए ॥ ३ ॥

यहांपर शंकाकार शंका करता है कि यह सामायिकनामका व्रत व्रतप्रतिमामें कहा है तथा वही सामायिकनामका व्रत इस तीसरी प्रतिमामें बतलाया सो इसमें क्या विशेषता है ॥ ४ ॥ कविराज उत्तर देते हुए कहते हैं कि ठीक है जो सामयिक व्रतप्रतिमामें है वही सामयिक तीसरी प्रतिमामें है परंतु उन दोनोंमें जो विशेषता है वह शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है और वह विशेषता यह है कि व्रतप्रतिमामें जो सामायिक है वह अतिचार सहित पालन किया जाता है तथा इस तीसरी प्रतिमामें जो सामायिक है वह अतिचाररहित पालन किया जाता है ॥ ५ ॥ इसके सिवाय भी इसमें इतनी और विशेषता है कि व्रतप्रतिमामें श्रावकोंको तीनों समय सामायिक करनेका नियम नहीं है किंतु इस तीसरी सामयिकप्रतिमामें मुनियोंके मूलगुणोंके समान तीनों समय सामयिक करनेका नियम है ॥ ६ ॥ दूसरी प्रतिमाको धारण करनेवाला व्रती श्रावक सामयिक करता है और कभी किसी स्थानपर कारणवश नहीं भी करता है क्योंकि वहांपर वह सामयिकव्रतको अतिचारसहित पालन करता है। इसीलिए कभी किसी स्थानपर कारणवश सामायिक न करनेपर भी उसके व्रतकी हानि नहीं होती ॥ ७ ॥ परंतु इस तीसरी सामयिकप्रतिमामें यह बात नहीं है। सामायिकप्रतिमाको धारण करनेवाले व्रती श्रावकको तीनों समय अवश्य सामयिक करना पडता है। यदि वह तीनों समयमेंसे एक समयमें भी सामयिक न करे तो उसके व्रतोंकी हानि हो जाती है फिर भला अतिचारोंकी तो बात ही क्या है ॥ ८ ॥ जो यह

विशिष्यन्ते नार्थादर्थान्तरं क्वचित् ॥ ९ ॥ शोभतेऽतीव संस्कारात् साक्षादाकारजो मणिः । संस्कृतानि व्रतान्येव निर्जराहेतवस्तथा ॥ १० ॥ स्यात्प्रोषधोपवासाख्या चतुर्थी प्रतिमा शुभा । कर्तव्या निर्जराहेतुः सवरस्यापि कारणम् ॥ ११ ॥ अस्त्यत्रापि समाधानं वेदितव्यं तदुक्तवत् । सातिचारं च तत्र स्यादव्रतीचारवर्जितम् ॥ १२ ॥

नियम तथा दूसरी प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावकोंके व्रतोंसे विशेषता इस सामायिकमें बतलाई है वही विशेषता ग्यारह प्रतिमातक सब प्रतिमाओंमें समझ लेना चाहिये क्योंकि आगेकी प्रतिमाओंमें बारह व्रत ही विशेषताके साथ पालन किए जाते हैं। उन आगेकी प्रतिमाओंमें उन्हीं व्रतोंकी विशेष विधिके सिवाय और कुछ नहीं है। भावार्थ—व्रतप्रतिमामें पांच अणुव्रत तो अतिचाररहित पालन किये जाते हैं और गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत अतिचारसहित पालन किए जाते हैं। इससे आगे जितनी प्रतिमाएं बढती जाती हैं उनमें प्राय इन्हीं सब व्रतों के अतिचार छूटते जाते हैं वा अन्य किसी विशेष विधिके साथ उन व्रतोंको निर्दोष रीतिसे पालन किया है। ॥ ९ ॥ जिसप्रकार खानिमेंसे निकला हुआ मणि स्वभावसे ही शोभायमान होता है परंतु यदि उसको शानपर रख कर उसका विशेष संस्कार कर दिया जाय, उसके पहल आदि कर दिये जायं तो वह और अधिक शोभायमान होने लगता है उसीप्रकार व्रत पालन करना स्वभावसे ही कर्मोंकी निर्जराका कारण है परंतु वे ही व्रत यदि अतिचाररहित पालन किए जायं तथा विशेष विधिके साथ पालन किए जायं तो कर्मोंकी विशेष निर्जराके कारण होते हैं ॥ १० ॥

चौथी प्रतिमाका नाम प्रोषधोपवास प्रतिमा है। यह प्रतिमा सबमें शुभ है, कर्मोंकी निर्जराका कारण और संवरका भी कारण है अतएव व्रती श्रावकोंको इसका पालन अवश्य करना चाहिए ॥ ११ ॥ व्रतप्रतिमामें भी प्रोषधोपवासव्रत कहा है तथा यहांपर चौथी प्रतिमामें भी प्रोषधोपवासव्रत बतलाया है। इसका समाधान वही है जो ऊपर बतलाया है अर्थात् व्रतप्रतिमामें अतिचार सहित पालन किया जाता है तथा यहांपर चौथी प्रतिमामें वही प्रोषधोपवासव्रत अतिचाररहित पालन किया जाता है ॥ १२ ॥ जो प्रोषधोपवासव्रत बारह व्रतोंमें वा व्रतप्रतिमामें बतलाया है वही प्रोषधोपवासव्रत यहांपर चौथी प्रतिमामें बतलाया है, यहांपर चौथी प्रतिमामें होनेवाले

कापि काचित्तस्यास्ति निष्फला। मन्ये साधुः स एवास्ति कृती सोपीह बुद्धिमान् ॥ २३ ॥ सप्तमी प्रतिमा चास्ति ब्रह्मचर्याह्वया पुनः। यत्रात्मयोषितश्चापि त्यागो निःशल्यचेतसः ॥२४॥ कायेन मनसा वाचा त्रिकालं वनितारतम्। कृतानुमननं चापि कारितं तत्र वर्जयेत् ॥२५॥ अस्ति हेतुवशादेष गृहस्थो मुनिरर्थतः। ब्रह्मचर्यव्रतं यस्माद् दुर्धरं व्रतसन्ततौ ॥ २६ ॥ हेतुस्तत्रास्ति विख्यातः प्रत्याख्यानावृतेर्यथा। विपाकात्कर्मणः सोपि नेतुं नार्हति तत्पदम् ॥ २७ ॥ उदयात्कर्मणो नान्यं

है। भावार्थ–दिनमें ब्रह्मचर्य पालन करनेसे आधा जन्म ब्रह्मचर्यसे व्यतीत होता है और रात्रिमें सबप्रकारके आहारका त्याग होनेसे आधा जन्म पूर्ण संन्यासके साथ अथवा पूर्ण त्यागके साथ व्यतीत होता है ॥ २२ ॥ इसप्रकार उसका दिन और रात्रि दोनों ही त्यागपूर्वक व्यतीत होते हैं इसप्रकार उसका एक समय भी निष्फल व्यतीत नहीं होता इसलिये संसारमें वही साधु है, वही कृती है और वही बुद्धिमान गिना जाता है ॥ २३ ॥ इसप्रकार छठी प्रतिमाका वर्णन किया।

सातवीं प्रतिमाका नाम ब्रह्मचर्यप्रतिमा है। इस प्रतिमामें अपनी विवाहिता धर्मपत्नीका भी सर्वथा त्याग कर देना पडता है और अपना हृदय सर्वथा निःशल्य बना लेना पडता है। भावार्थ–जिसका हृदय सर्वथा शल्योंसे रहित है और जो स्त्रीमात्रका सर्वथा त्याग कर देता है उसीके यह अनुपम सातवीं ब्रह्मचर्यप्रतिमा होती है ॥ २४ ॥ इस ब्रह्मचर्यप्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक मनसे बचनसे कायसे और कृत कारित अनुमोदनासे भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालसम्बन्धी समस्त स्त्रीमात्र सेवन करनेका त्याग कर देता है ॥ २५ ॥ इस सातवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक किसी कारणविशेषसे गृहस्थ वा श्रावक कहलाता है वास्तवमें देखा जाय तो एकप्रकारसे मुनिके ही समान है क्योंकि समस्त व्रतोंके समुदायमें यह ब्रह्मचर्यव्रत सबसे अधिक कठिन है, इसका पालन करना अत्यन्त कठिन है इसलिये जिसने इस व्रतको पालन कर लिया उसे मुनिके ही समान समझना चाहिये ॥ २६ ॥ ब्रह्मचर्यप्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक मुनिपदको धारण नहीं कर सकता इसका प्रसिद्ध कारण प्रत्याख्यानावरणकर्मका उदय ही समझना चाहिए। भावार्थ–प्रत्याख्यानावरणकर्मके उपशम क्षय वा क्षयोपशम हुए बिना मुनिपद धारण नहीं हो सकता। जिसने ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण कर ली है

कर्तुनालमयं जनः। क्षुत्पिपासादि दुःखं च सोढुं न क्षमते यतः ॥ २८ ॥ ततोऽशक्यः गृहत्यागः सन्नन्येवात्र तिष्ठते। वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढः स शुद्धधीः ॥ २९ ॥ इतः प्रभृति सर्वेपि यावदेकादशस्थितिः। इयद्वस्त्रावृताश्चापि विज्ञेया मुनिसन्निभाः ॥ ३० ॥ अष्टमी प्रतिमा साद्य प्रोवाच वदतां वरः। सर्वतो देशत-

उसकी इच्छा तो मुनिपद धारण करनेकी होती है परंतु उसके जो प्रत्याख्यानावरण कषायका तीव्र उदय है वह उसे मुनिपद धारण नहीं करने देता। उसी प्रत्याख्यानावरणकर्मके उदयसे वह ब्रह्मचारी श्रावक नग्न अवस्था धारण नहीं कर सकता और न भूख, प्यास आदि परिषहोंको सहन कर सकता है ॥ २७-२८ ॥ इसीलिए वह घरके त्याग करनेमें असमर्थ होता है, गृहस्थ अवस्थाका त्याग नहीं कर सकता। अत्यन्त शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाला ब्रह्मचारी श्रावक अवस्थामें ही रहकर सबसे उत्कृष्ट वैराग्यको धारण करता है ॥ २९ ॥ इस सातवीं प्रतिमासे लेकर ग्यारहवीं प्रतिमातकके समस्त श्रावक अपने नियत किए हुए वस्त्र रखते हैं। अपने नियत किए हुए वस्त्रोंके साथ साथ वे मुनियोंके ही समान माने जाते हैं। भावार्थ-जिसप्रकार मुनिराज इस संसारसे अपना संबंध छोड देते हैं उसीप्रकार सातवीं प्रतिमासे ले कर ग्यारहवीं प्रतिमातकके श्रावक संसारसे अपना कोई संबंध नहीं रखते। फिर उनका संबंध सबसे धार्मिक संबंध रहता है। इसीलिए वे मुनियोंके समान समझे जाते हैं ॥ ३० ॥ इसप्रकार सातवीं प्रतिमाका स्वरूप कहा।

अब आगे वक्ताओंमें श्रेष्ठ कविराज आठवीं प्रतिमाका स्वरूप कहते हैं। जिसमें आरंभका सर्वथा भी त्याग है और एकदेश भी त्याग है। भावार्थ-इस आठवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक खेती व्यापार आदि आरंभोंका त्याग कर देता है परंतु वह भी मन बचन काय और कृत कारितसे त्याग करता है। अनुमोदनेसे त्याग नहीं करता क्योंकि अनुमोदना वा अनुमति देनेका त्याग वह दशवीं प्रतिमामें जाकर करता है, इसके सिवाय वह ऐसे आरंभोंका तो सर्वथा त्याग कर देता है जिनमें हिंसाका होना अनिवार्य है रुक नहीं सकती परंतु अभिषेक पूजन आदि आरंभोंका त्याग नहीं करता। ऐसे आरंभोंको वह यत्नाचारपूर्वक करता है जिसमें किसी भी जीवको किंचित्मात्र भी बाधा नहीं होती। खेती व्यापार आदि आरंभ चाहे जितने

श्चापि यत्नारम्भस्य वर्जनम् ॥ ३१ ॥ इतः पूर्वमतीचारो विद्यते बधकर्मणः । सचित्तस्पर्शनत्वाद्वा स्वहस्तेनाम्भसां यथा ॥ ३२ ॥ इतः प्रभृति यद्द्रव्यं सचित्तं सलिलादिवत् । न स्पर्शति स्वहस्तेन बह्वारम्भस्य का कथा ॥ ३३ ॥ तिष्ठेत्स्वबन्धुवर्गाणां मध्येप्यन्यतमाश्रितः । सिद्धं भक्त्यादि भुञ्जीत यथालब्धं मुनिर्यथा ॥३४॥

यत्नाचारसे किए जायं तो भी उनमें हिंसाका बचाव नहीं हो सकता अतएव वह खेती व्यापार आदि आजीविकाके कार्योंके आरंभका सर्वथा त्यागी होता है इसीलिए वह सर्वदेश आरंभका त्यागी कहलाता है तथा अभिषेक पूजन आदि क्रियाओंके आरंभका त्यागी होता है इसीलिए वह एकदेश आरंभका त्यागी कहलाता है। वास्तवमें देखा जाय तो जिन आरंभोंमें हिंसा होती है ऐसे आरंभोंका वह सर्वथा ही त्यागी है इसीलिए इस प्रतिमाका नाम आरंभत्याग प्रतिमा है। अभिषेक पूजन आदि आरभोंको वह यत्नाचारपूर्वक करता है, प्रासुक द्रव्योंसे करता है इसलिए इन क्रियाओंके आरंभको आरंभ ही नहीं समझना चाहिए क्योंकि इनके आरंभमें किसी भी जीवको किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं होती है ॥ ३१ ॥ इस आठवीं प्रतिमाके स्वीकार करनेसे पहले वह सचित्त पदार्थोंका स्पर्श करता था, जैसे अपने हाथसे जल भरता था, छानता था और फिर उसे प्रासुक करता था। इसप्रकार करनेसे उसे अहिंसाव्रतका अतिचार लगता था परन्तु इस आठवीं प्रतिमाको धारण कर लेनेके अनन्तर वह जल आदि सचित्त द्रव्योंको अपने हाथसे छूता भी नहीं है, फिर भला अधिक आरम्भ करनेकी तो बात ही क्या है। भावार्थ—पांचवीं, छठी, सातवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक सचित्तका त्यागी है परन्तु वह सचित्तके भक्षण करनेमात्रका त्यागी है उसके स्पर्श करनेका त्यागी नहीं है। वह कच्चे जलको अपने हाथसे छान कर गरम कर सकता है। ऐसी अवस्थामें उसे अहिंसाव्रतका अतिचार अवश्य लगता है परन्तु आठवीं प्रतिमावाला कच्चे जलको स्पर्शतक नहीं कर सकता क्योंकि वह हिंसा होनेवाले आरम्भोंका सर्वथा त्याग कर देता है अतएव वह हिंसा उत्पन्न करनेवाला लेशमात्र भी आरम्भ नहीं कर सकता ॥ ३२-३३ ॥ आठवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला व्रती श्रावक अपने बन्धुवर्गोंमेंसे किसी एकके आश्रय रहता है तथा उसके यहां जैसा कुछ बना बनाया भोजन मिल जाता है उसे ही मुनिके समान निस्पृह हो कर कर लेता है। भावार्थ—इस

कापि केनावहूतस्य बन्धुनाथसधर्मिणा। तद्गेहे भुञ्जमानस्य न दोषो न गुणः पुनः ॥ ३५ ॥ किञ्चायं सञ्जातस्वामित्वे वर्तते व्रतवानपि। अर्वागादशमस्थानान्नापरान्न-परायणः ॥ ३६ ॥ प्रक्षालनं च वस्त्राणां प्रासुकेन जलादिना। कुर्याद्वा स्वस्य हस्ताभ्यां कारयेद्वा सधर्मिणा ॥ ३७ ॥ बहुप्रलपितेनालमात्मार्थं वा परात्मने। यत्रा-

प्रतिमाको धारण करनेवाला व्रती श्रावक अपने लिये कुछ भोजन नहीं बनवाता क्योंकि वह जिसप्रकार आरम्भ करनेका त्यागी है उसीप्रकार वह आरम्भ करानेका भी त्यागी है अतएव जिस किसी कुटुम्बीके आश्रय वह रहता है उसके यहां जो कुछ भोजन बन जाता है वही प्रासुक भोजन वह खा लेता है ॥ ३४ ॥ कभी कभी यदि कोई अन्य कुटम्बी अथवा बाहरका कोई अन्य साधर्मी पुरुष भोजनके लिये बुला लेवे तो उसके घर भी भोजन कर लेता है। इसप्रकार भोजन करनेमें न तो उसके व्रतमें कोई दोष आता है और न कोई गुण बढता है॥३५॥ इस आठवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक व्रती होनेपर भी दशवीं प्रतिमासे पहले पहले अपने घरका स्वामी बना रहता है इसीलिये वह दूसरेके घर भोजन करनेका नियम नहीं लेता। भावार्थ—आठवीं प्रतिमावाला श्रावक प्रायः घर ही भोजन करता है। यदि किसी बाहरवाले साधर्मीने बुला लिया तो उसके यहां भोजन कर आता है परन्तु उसके बाहर ही भोजन करनेका नियम नहीं रहता और न रहना चाहिये क्योंकि वह अभीतक अपने घरका स्वामी गिना जाता है अतएव वह प्रायः अपने ही घर भोजन करता है ॥ ३६ ॥ वह अपने वस्त्रोंको प्रासुक जलसे अपने हाथसे धोता है अथवा अन्य किसी साधर्मी भाईसे धुलवा लेता है ॥ ३७ ॥ बहुत कहनेसे क्या ? थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि आठवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला व्रती श्रावक अपने लिये अथवा किसी दूसरेके लिये ऐसी कोई भी क्रिया नहीं करता जिसमें लेशमात्र भी आरम्भ हो। भावार्थ—आठवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक सबप्रकारके आरम्भोंका त्याग कर देता है, वह ऐसी कोई क्रिया नहीं करता जिसमें रंचमात्र भी आरम्भ करना पडे ॥ ३७ ॥ इसप्रकार आठवीं प्रतिमाका स्वरूप कहा।

व्रती श्रावककी नौवीं प्रतिमाका नाम परिग्रहत्यागप्रतिमा है। इस नौवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक सोना चांदी रुपया पैसा आदि समस्त द्रव्यमात्रका त्याग कर देता है ॥ ३९ ॥ इस नौवीं प्रतिमाको

रम्भस्य लेशोस्ति न कुर्यात्तामपिक्रियाम् ॥ ३८ ॥ नवम प्रतिमास्थानं व्रतं चास्ति गृहाश्रये । यत्र स्वर्णादिद्रव्यस्य सर्वतस्त्यजनं स्मृतम् ॥ ३९ ॥ इतः पूर्वं सुवर्णादि-संख्यामात्रापकर्षणः । इतप्रभृतिवित्तस्य मूलादुन्मूलनं व्रतम् ॥४०॥ अस्त्यात्मैकशरीरार्थं वस्त्रवेश्मादि स्वीकृतम् । धर्मसाधनमात्रं वा शेषं निःशेषणीयताम् ॥४१॥ स्यात्पुरस्तादितो यावत्स्वामित्वं सद्मयोषिताम् । तत्सर्वं सर्वतस्त्याज्यं निःशल्य जीवनावधि ॥ ४२ ॥ शेषो विधिस्तु सर्वोपि ज्ञातव्यः परमागमात् । सानुवृत्तं व्रतं

स्वीकार करनेके पहले सोना चांदी आदि द्रव्योंका परिमाण कर रक्खा था तथा अपनी इच्छानुसार वह परिमाण बहुत कुछ घटा रक्खा था अर्थात् बहुत थोडे द्रव्यका परिमाण कर रक्खा था परंतु अब इस प्रतिमाको धारण कर लेनेपर वह श्रावक सोना चांदी आदि धनका त्याग सर्वथा कर देता है। भावार्थ--नौवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक सोना चांदी आदि द्रव्यका सर्वथा त्याग कर देता है इसीलिए इस प्रतिमाका नाम परिग्रहत्यागप्रतिमा है ॥ ४० ॥ इस परिग्रहत्यागप्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक केवल अपने शरीरके लिए वस्त्र, घर आदि आवश्यक पदार्थोंको स्वीकार करता है अथवा धर्मसाधनके लिए जिन जिन पदार्थोंकी आवश्यकता पडती है उनको ग्रहण करता है। इनके सिवाय बाकीके समस्त पदार्थोंका--समस्त परिग्रहोंका वह त्याग कर देता है। भावार्थ–अपने शरीरकी रक्षाकेलिए जितने वस्त्रोंकी आवश्यकता पडती है उतने वस्त्र रखता है और रहनेके लिए जितने घरकी जितने स्थानकी आवश्यकता पडती है उतना घर वा उतना स्थान रखता है अथवा अभिषेक पूजा आदिके बर्तन वा स्वाध्याय आदिके लिए ग्रंथ वा दान देनेके साधन रखता है, बाकीके समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देता है ॥ ४१ ॥ इस नौंवीं प्रतिमाको धारण करनेसे पहले वह घर और स्त्री आदिका स्वामी गिना जाता था परंतु इस नौंवीं प्रतिमाको धारण कर लेनेपर उसे जन्मपर्यंततकके लिए पूर्णरीतिसे सबका त्याग कर देना पडता है और सबतरहसे शल्यरहित हो जाना पडता है । भावार्थ–परिग्रह त्यागप्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक अब न तो घरका स्वामी माना जाता है और न अपनी स्त्रीका स्वामी माना जाता है। परिग्रहका त्याग कर देनेसे वह सबसे अलग हो जाता है, फिर उसका घरसे वा कुटंबी लोगोंसे कोई किसीप्रकारका संबंध नहीं रहता ॥ ४२ ॥ इस प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावककी शेष विधि

यावत्सर्वत्रैवैष निश्चयः ॥ ४३ ॥ व्रतं दशमस्थानस्थमननुमननाह्वयम् । यत्राहारादिनिष्पत्तौ देया नानुमतिः क्वचित् ॥ ४४ ॥ आदेशोनुमतिश्चाज्ञा सैवं कुर्वितिलक्षणा । यद्वा स्वतः कृतेनादौ प्रशंसानुमतिः स्मृता ॥ ४५ ॥ अयं भावः स्वतः सिद्धं यथालब्धं समाहरेत् । तपश्चेच्छानिरोधाख्यं तस्यैव किल संवरः ॥ ४६ ॥

अन्य शास्त्रोंसे जान लेनी चाहिए क्योंकि यह निश्चय है कि व्रतोंका स्वरूप समस्त शास्त्रोंमें एकसा ही वर्णन किया है। भावार्थ—शास्त्रोंमें जितना कथन है वह सब भगवान सर्वज्ञदेवकी आज्ञानुसार ही किया है अतएव समस्त शास्त्रोंमें व्रतोंका स्वरूप ही एकसा है। उनमें किसीप्रकारका अन्तर नहीं है इसलिये जो विधि वा जो क्रिया हमने इस शास्त्रमें वर्णन नहीं की है वह अन्य शास्त्रोंसे जान लेनी चाहिये ॥ ४३ ॥ इसप्रकार नौंवीं प्रतिमाका निरूपण किया।

श्रावकोंकी दशवीं प्रतिमाका नाम अनुमतित्यागप्रतिमा है। इस अनुमतित्यागप्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक आहार आदि बनानेके लिये भी कभी अपनी सम्मति नहीं देता ॥ ४४ ॥ किसी कामके लिये आदेश देना, सलाह देना, आज्ञा देना, अथवा "ऐसा करो" इसप्रकार कहना अथवा जो कार्य किसीने पहलेसे कर रक्खा है उसकी प्रशंसा करना आदिको अनुमति कहते हैं। भावार्थ—ये सब अनुमतिके ही नाम हैं ॥४५॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि दशवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक जैसा कुछ बना बनाया भोजन मिल जाता है उसीको ग्रहण कर लेता है। वह कह कर कुछ नहीं बनवाता। इसप्रकार जो श्रावक अपनी इच्छाको रोकनेरूप तपश्चरण करता है उसके कर्मोंका संवर अवश्य होता है। भावार्थ—दशवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक अपनी इच्छाओंको सर्वथा रोक लेता है। बिना कुछ कहे, बिना किसीप्रकारकी सलाहके, बिना किसी पदार्थकी प्रशंसाके जो कुछ बना बनाया भोजन मिल जाता है उसे ही वह ग्रहण करता है इसीलिये उसकी इच्छाको रोकनेरूप महा तपश्चरण होता है और उस तपश्चरणके कारण उसके अनन्त कर्मोंका संवर होता रहता है ॥ ४६ ॥ इस दशवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक "ऐसा करो ऐसा करो" "ऐसा मत करो, ऐसा भी मत करो" इसप्रकारकी आज्ञा किसीको नहीं देता। उसे जो कुछ बना बनाया शुद्ध प्रासुक भोजन मिल जाता है उसे

इदमिदं कुरु मैवेदमित्यादेशं न यच्छति । मुनिवत्प्राशुकं शुद्धं यावदन्नादि भोजयेत् ॥ ४७ ॥ गृहे तिष्ठेद् दृतस्थोपि सोयमर्थादपि स्फुटम् । शिरः क्षौरादि कुर्याद्वा न कुर्याद्वा यथामतिः ॥ ४८ ॥ अथ यावद्यथालिङ्गो नापि वेषधरो मनाक् । शिखासूत्रादि दध्याद्वा न दध्याद्वा यथेच्छया ॥ ४९ ॥ तिष्ठेद्देवालये यद्वा गेहे सावद्य-वर्जिते । स्वसम्बन्धिगृहे भुंक्ते यद्वाहूतोन्यसद्मनि ॥ ५० ॥ एवमित्यादिदिङ्मात्रं व्याख्यातं दशमव्रतम् । पुनरुक्तभयादत्र नोक्तमुक्तं पुनः पुनः ॥ ५१ ॥ व्रतं चैका-

ही वह मुनिके समान भोजन कर लेता है ॥ ४७ ॥ इस प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक व्रती होनेपर भी घरमें रहता है तथा अपने मस्तकके बाल बनवा लेता है अथवा नहीं भी बनवाता । बाल बनवाने अथवा न बनवानेमें जैसी उसकी इच्छा होती है वैसा ही करता है ॥ ४८ ॥ इस दशवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक जबतक मुनिव्रत धारण नहीं करता तबतक कोई विशेष वेष धारण नहीं करता । जैसा है वैसा ही बना रहता है । चोटी और यज्ञोपवीत धारण करता है अथवा नहीं भी करता । भावार्थ–दशवीं प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावकके लिये न तो कोई विशेष भेष धारण करनेका नियम है और न यज्ञोपवीत तथा चोटी रखनेका नियम है। यदि उसकी इच्छा हो तो यज्ञोपवीत और चोटी धारण कर ले, यदि इच्छा न हो तो इनको धारण न करे । इनको धारण करना अथवा न करना उसकी इच्छापर निर्भर है ॥ ४९ ॥ इस दशवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक किसी देवालय (जिनालयमें वा चैत्यालयमें) रहता है अथवा किसी निर्दोष वा पापरहित मकानमें रहता है तथा अपने सम्बन्धियोंके घर कुटुम्बियोंके घर भोजन करता है अथवा बुलानेपर किसी अन्य साधर्मीके घर भोजन कर लेता है ॥ ५० ॥ इसप्रकार अत्यंत संक्षेपसे दशवीं प्रतिमाका स्वरूप कहा । पुनरुक्त दोषके भयसे जो ऊपरकी प्रतिमाओंमें कहा हुआ विषय है वह वार वार नहीं कहा है । भावार्थ-- पहिली पहिली प्रतिमाओंकी समस्त विधि आगेकी प्रतिमावालोंको अवश्य पालन करनी पडती है परंतु वह विधि कही नहीं गई है क्योंकि उसके कहनेमें पुनरुक्त दोष आता है अतएव उस विधिको ऊपरके कथनसे समझ लेना चाहिए ॥ ५१ ॥ इसप्रकार दशवीं प्रतिमाका स्वरूप कहा ।

अब आगे ग्यारहवीं प्रतिमाका स्वरूप कहते हैं । इस ग्यारहवीं प्रतिमाका नाम उद्दिष्टत्यागप्रतिमा है

दशस्थानं नाम्नानुद्दिष्टभोजनम्। अर्थादीषन्मुनिस्तद्वन्निर्जराधिपतिः पुनः ॥ ५२ ॥ समुद्दिश्य कृतं यावदन्नपानौषधादि यत्। जानन्नेवं न गृह्णीयान्नूनमेकादशव्रती ॥ ५३ ॥ सर्वतोस्य गृहत्यागो विद्यते सन्मुनेरिव। तिष्ठेद्देवालये यद्वा वने च मुनिसन्निधौ ॥ ५४ ॥ उत्कृष्टः श्रावको द्वेधा क्षुल्लकश्चैलकस्तथा। एकादशव्रतस्थौ द्वौ

अथवा इस प्रतिमाको पालन करनेवाला अनुद्दिष्ट भोजन करनेवाला है इसलिए अनुद्दिष्टभोजन भी इस प्रतिमा का नाम है। इस प्रतिमाको पालन करनेवाला है उत्कृष्ट श्रावक ईषत् मुनि अर्थात् मुनिका छोटा भाई गिना जाता है और निर्जराका स्वामी होता है। भावार्थ--मुनिराज जिसप्रकार उद्दिष्ट भोजनके त्यागी होते हैं उसी प्रकार ग्यारहवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक भी उद्दिष्ट भोजनका त्यागी होता है अतएव जिसप्रकार मुनिराजके बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है उसीप्रकार उस उद्दिष्टत्यागी उत्कृष्ट श्रावकके भी बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है ॥ ५२ ॥ इस ग्यारहवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक जो कुछ अन्नपान औषधि आदि उसके लिए बनाया गया होगा उसको जानता हुआ वह कभी ग्रहण नहीं करता है। भावार्थ-- यदि ग्यारहवीं प्रतिमावाले श्रावकको यह मालूम हो जाय कि यह अन्न, पानी, औषधि आदि मेरे लिये बनाया गया है तो वह श्रावक उस अन्न पानी वा औषधिको कभी ग्रहण नहीं करता है क्योंकि वह मुनिके ही समान उद्दिष्ट भोजनका त्यागी है अतएव जान बूझ कर वह कभी भी उद्दिष्ट भोजनको ग्रहण नहीं करता है ॥५३॥ इस ग्यारहवीं पतिमाको पालन करनेवाला श्रावक मुनिके समान ही पूर्णरूपसे घरका त्याग कर देता है। वह उत्कृष्ट श्रावक घरका सर्वथा त्याग कर या तो देवालयमें रहता है अथवा किसी बनमें मुनियोंके संघमें रहता है ॥५४॥

इस ग्यारहवीं प्रतिमाको पालन करनेवाला श्रावक उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है तथा वह उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकारका होता है एक क्षुल्लक और दूसरा ऐलक। इन दोनोंके कर्मोंकी निर्जरा उत्तरोत्तर अधिक अधिक होती रहती है। भावार्थ-क्षुल्लकके जितने कर्मोंकी निर्जरा होती है उससे अधिक ऐलकके कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥ ५५ ॥ लिखा भी है --

स्तो द्वौ निर्जरकौ क्रमात् ॥५५॥ उक्तं च—एयारम्मिट्ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो। वच्छेयधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो बिदिओ॥ तत्रैलकः स गृह्णाति वस्त्रं कौपीनमात्रकम्। लोचं स्मश्रुशिरोलोम्नां पिच्छिकां च कमण्डलुम्॥ ५६॥ पुस्तकादुपधिश्चैव सर्वसाधारणं यथा। सूक्ष्मं चापि न गृह्णीयादीषत्सावद्यकारणम् ॥५७॥ कौपीनोपधिमात्रत्वाद् विना वाचंयमक्रिया। विद्यते चैलकस्यास्य दुर्द्धरं व्रतधारणम्॥ ५८॥ तिष्ठेच्चैत्यालये संघे वने वा मुनिसन्निधौ। निरवद्ये यथा-

सर्ग
७

एयारम्मिट्ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो। वच्छेयधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो बिदिओ।

अर्थ—ग्यारहवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है तथा वह दोप्रकारका होता है। एक तो खण्ड वस्त्रको धारण करनेवाला क्षुल्लक और दूसरा कोपीनमात्र परिग्रहको धारण करनेवाला ऐलक। भावार्थ—क्षुल्लक श्रावक एक वस्त्र धारण करता है और कोपीन धारण करता है तथा ऐलक कोई वस्त्र नहीं रखता केवल एक कोपीन रखता है।

इन दोनोंप्रकारके उत्कृष्ट श्रावकोंमेंसे जो ऐलक है वह केवल कोपीनमात्र वस्त्रको धारण करता है। कोपीनके सिवाय अन्य समस्त परिग्रहका—समस्त वस्त्रोंका त्याग कर देता है तथा दाढी मूछ और मस्तकके बालोंका लोच करता है और पीछी कमण्डलु धारण करता है॥ ५६॥ इसके सिवाय स्वाध्यायके लिये पुस्तक आदि सबके काममें आनेवाले धर्मोपकरणोंको भी धारण करता है। भावार्थ—जिनसे मुनि आदि सब ही धर्मात्मा त्यागी श्रावक आदि स्वाध्याय आदि कर सकें ऐसे धर्मशास्त्रोंको भी रखता है परन्तु जो पदार्थ थोडीसी भी हिंसाके कारण हैं वा अन्य किसी पापके कारण हैं ऐसे पदार्थोंको वह लेशमात्र भी अपने पास नहीं रखता है। भावार्थ—जिन पदार्थोंसे लेशमात्र भी हिंसा वा पाप होता है ऐसे सूक्ष्मसे सूक्ष्म पदार्थोंको भी वह अपने पास नहीं रखता है॥ ५७॥ यह ऐलक श्रावक एक कोपीनमात्र परिग्रहको तो रखता है, इस कोपीनमात्र परिग्रहके सिवाय उसकी समस्त क्रियाएं मुनियोंके समान होती हैं तथा मुनियोंके समान ही वह अत्यन्त कठिन कठिन व्रतोंको पालन करता है॥ ५८॥ यह ऐलक श्रावक या तो किसी चैत्यालयमें रहता है या मुनियोंके संघमें रहता है अथवा किसी मुनिराजके समीप वनमें रहता है अथवा किसी भी सूने मठमें वा अन्य किसी भी निर्दोष और शुद्ध

स्थाने शुद्धे शून्यमठादिषु ॥ ५९ ॥ पूर्वोदितक्रमेणैव कृतकर्मावधावनात् । ईषन्मध्याह्नकाले वै भोजनार्थमटेत्पुरे ॥ ६० ॥ ईर्यासमितिसंशुद्ध्या पर्यटेद्गृहसंख्यया । द्वाभ्यां पात्रस्थानीयाभ्यां हस्ताभ्यां परमश्नुयात् ॥ ६१ ॥ दद्याद्धर्मोपदेशं च निर्व्याजं मुक्तिसाधनम् । तपो द्वादशधा कुर्यात्प्रायश्चित्तादि वाचरेत् ॥ ६२ ॥ क्षुल्लकः

स्थानमें रहता है ॥ ५९ ॥ यह ऐलक श्रावक पहले कहे हुए क्रमके अनुसार समस्त क्रियाएं करता है तथा दोपहरसे कुछ समय पहले सावधान हो कर आहारके लिये नगरमें जाता है ॥ ६० ॥ आहारको जाते समय भी ईर्यापथ शुद्धिसे जाता है तथा घरोंकी संख्याका नियम ले कर भी जाता है । भावार्थ--आज दश घर जाऊंगा, दश घरोंमें आहार मिलेगा तो लूंगा नहीं तो नहीं । आज बीस घर जाऊंगा, बीस घरोंमें आहार मिल जायगा तो लूंगा नहीं तो नहीं । इसप्रकार घरोंकी संख्याका नियम ले कर भी जाता है तथा वहांपर जा कर पात्रोंके समान केवल अपने दोनों हाथोंसे ही आहार लेता है । अन्य किसी पात्रमें आहार नहीं लेता किंतु दोनों हाथोंसे ही करपात्र आहार लेता है ॥ ६१ ॥ यह ऐलक श्रावक बिना किसी छल कपटके मोक्षका कारण ऐसा धर्मोपदेश देता है तथा बारहप्रकारका तपश्चरण पालन करता है और किसी व्रतमें किसीप्रकारका दोष लग जानेपर प्रायश्चित्त ग्रहण करता है । भावार्थ–ऐलक श्रावक तपश्चरण करना प्रायश्चित्त ग्रहण करना तथा धर्मोपदेश देना आदि समस्त कर्तव्य मुनियोंके समान ही पालन करता है ॥ ६२ ॥

इस ग्यारहवीं प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावकका दूसरा भेद क्षुल्लक है । यह क्षुल्लक श्रावक ऐलककी अपेक्षा कुछ सरल चारित्र पालन करता है, चोटी और यज्ञोपवीत धारण करता है, एक वस्त्र धारण करता है, कोपीन धारण करता है, वस्त्रकी पीछी रखता है और कमण्डलु रखता है । भावार्थ--पहले दशवीं प्रतिमाका स्वरूप कहते समय कह आये थे कि दशवीं प्रतिमाको पालन करनेवाला श्रावक चोटी और यज्ञोपवीतको अपनी इच्छानुसार धारण करता भी है और नहीं भी करता है । यही क्रम ग्यारहवीं प्रतिमाके क्षुल्लकके लिये समझ लेना चाहिये । यदि उसने दशवीं प्रतिमामें चोटी और यज्ञोपवीतको नहीं छोडा है तो उसे क्षुल्लक अवस्थामें भी अवश्य रखना चाहिये । इसी अभिप्रायको ले कर लिखा है कि क्षुल्लक श्रावक चोटी और यज्ञोपवीत धारण करता है

कोमलाचारः शिखासूत्रांकितो भवेत्। एकवस्त्रं सकौपीनं वस्त्रपिच्छकमण्डलुम्॥ ६३ ॥ भिक्षापात्रं च गृह्णीयात्कास्यं यद्वाप्ययोमयम्। एषणादोषनिर्मुक्तं भिक्षाभोजनमेकशः॥ ६४ ॥ क्षौरं श्मश्रुशिरोलोम्नां शेषं पूर्ववदाचरेत्। अतीचारे समुत्पन्ने प्रायश्चित्तं समाचरेत्॥६५॥ यथा निर्दिष्टकाले स भोजनार्थं च पर्यटेत्। पात्रे

तथा वस्त्रकी पीछी रखता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह एक वस्त्रका छोटा टुकडा रखता है उसीसे पीछीका सब काम लेता है। पीछी लेनेका नियम ऐलक अवस्थासे है इसलिये क्षुल्लकको वस्त्रकी ही पीछी रखनेके लिये कहा है। एक वस्त्र रखनेका अभिप्राय खण्ड वस्त्रसे है। डुपट्टाके समान एक वस्त्र धारण करता है॥ ६३ ॥ यह ऐलक श्रावक भिक्षाके लिये एक कांसेका अथवा लोहेका पात्र रखता है तथा शास्त्रोंमें जो भोजनके दोष बतलाये हैं उन सब दोषोंसे रहित एकबार भिक्षा भोजन करता है॥ ६४ ॥ दाढी मूछ और मस्तकके बालोंको बनवा लेता है तथा बाकीकी समस्त क्रिया पहले कही हुई प्रतिमाओंके अनुसार करता है अर्थात् दश प्रतिमाओंमें कही हुई समस्त क्रियाओंका पालन करता है। यदि उसके किसी व्रतमें किसीप्रकारका दोष वा अतिचार लग जाता है तो वह उसका प्रायश्चित्त लेता है॥ ६४ ॥ भोजनके समयपर अर्थात् दोपहरके पहले वह भोजनके लिये नगरमें जाता है तथा भ्रमरके समान बिना किसीको किसीप्रकारका दुख पहुंचाये अपने पात्रमें पांच घरोंसे आहार लेता है। भावार्थ—क्षुल्लकके भी दो भेद हैं एक तो क्षुल्लक ऐसा होता है जो एक ही घरमें आहार लेता है। ऐसा क्षुल्लक मुनिके पीछे पीछे आहारके लिये जाता है और जिस घरमें मुनि आहार लेते हैं उसी घरमें पीछेसे भोजन ग्रहण करता है तथा दूसरेप्रकारका क्षुल्लक वह कहलाता है जो अपने पात्रमें पांच घरोंसे आहार ला कर इकट्ठा कर लेता है और अपने उदरनिर्वाहके योग्य हो जानेपर किसी एक घरमें जहां प्रासुक जलकी योग्यता मिल जाय तो वहीं बैठ कर भोजन कर लेता है। पांच घरोंमेंसे यदि एक ही घरमें वा दो ही घरमें उतना आहार मिल जाय तो वहींपर बैठ कर भोजन कर लेता है। भोजन करनेके पहले वह किसी मुनिराजको आहार देनेके लिये भी प्रतीक्षा करता[1] है जैसा कि आगे स्पष्ट किया है॥ ६६ ॥ वह क्षुल्लक श्रावक उन पांच घरोंमेंसे ही जिस

१ "क्षुल्लक श्रावक मुनिराजको आहारदान देनेके लिये प्रतीक्षा करता है, किसी मुनिराजका समागम मिलनेपर वह उनको आहार देता है।" यह

भिक्षां समादाय पञ्चागारादिहालिवत् ॥ ६६ ॥ तत्राप्यन्यतमे गेहे दृष्ट्वा प्रासुकमम्बुकम् । क्षणं चातिथिमार्गाय संप्रेक्षयाध्वं च भोजयेत् ॥ ६७ ॥ दैवात्पात्रं समासाद्य दद्यादानं गृहस्थवत् । तच्छेषं यत्स्वयं भुंक्ते नोचेत्कुर्यादुपोषितम् ॥ ६८ ॥ किञ्च गन्धादिद्रव्याणामुपलब्धौ सधर्मिभिः । अर्हद्विम्बादिसाधूनां पूजा कार्या मुदा-

घरमें प्रासुक जल दृष्टिगोचर हो जाता है उसी घरमें भोजनके लिये ठहर जाता है तथा थोडी देरतक वह किसी भी मुनिराजको आहारदान देनेके लिये प्रतीक्षा करता है। यदि आहारदान देनेके लिये किसी मुनिराजका समागम नहीं मिला तो फिर वह भोजन कर लेता है ॥ ६७ ॥ यदि दैवयोगसे आहारदान देनेके लिये किसी मुनिराजका समागम मिल जाय अथवा अन्य किसी पात्रका समागम मिल जाय तो वह क्षुल्लक श्रावक गृहस्थके ही समान अपना लाया हुआ भोजन उन मुनिराजको दान दे देता है। दान दे कर फिर अपने पात्रमें जो कुछ बच रहता है उसको वह स्वयं भोजन कर लेता है। यदि अपने पात्रमें कुछ न बचे तो उस दिन वह नियमसे उपवास ही करता है। भावार्थ--वह क्षुल्लक श्रावक जो अपने लिये आहार लाया था यदि उसे वह किसी मुनिराजको दे देवे तो फिर उसे उपवास ही करना चाहिये। यदि उसमेंसे कुछ बच रहे तो जितना बचा है उतना ही खा लेना चाहिये। उसे फिर और घरसे नहीं लेना चाहिये ॥ ६८ ॥ तथा यदि उस क्षुल्लक श्रावकको किसी साधर्मी पुरुषसे जल चन्दन अक्षत आदि पूजा करनेकी सामग्री मिल जाय तो उसे प्रसन्नचित्त हो कर भगवान अरहन्तदेवकी पूजा कर लेनी चाहिये अथवा भगवान सिद्ध परमेष्ठी वा साधु परमेष्ठीकी पूजा कर लेनी चाहिये ॥ ६९ ॥ इसप्रकार क्षुल्लक और ऐलक दोनोंप्रकारके उत्कृष्ट श्रावकोंकी क्रियाओंका निरूपण किया।

जिसप्रकार उत्कृष्ट श्रावकके क्षुल्लक ऐलक ये दो भेद हैं उसीप्रकार क्षुल्लक श्रावकोंके भी कितने ही भेद हैं। कोई साधक क्षुल्लक हैं, कोई गूढ क्षुल्लक होते हैं और कोई वाणप्रस्थ क्षुल्लक होते हैं। ये तीनोंप्रकारके

कथन काष्ठासंघकी अपेक्षासे है। यह ग्रन्थ काष्ठासंघका है और इसीलिये मूलसंघसे इसमें अन्तर है। मूलसंघमें क्षुल्लकको दान देनेका अधिकार नहीं है। वह स्वयं दान लेनेका पात्र बन गया है इसलिये वह आहारदान नहीं दे सकता। क्षुल्लकके लिये आहारदान देनेकी बात लिखना मूलसंघके विरुद्ध है।

रमना ॥ ६९ ॥ किञ्चात्र साधकाः केचित्केचिद्गूढाह्वयाः पुनः । बाणप्रस्थाह्वयकाः केचित्सर्वे तद्वेशधारिणः ॥ ७० ॥ क्षुल्लकीवस्त्रिया तेषां नात्युग्रं नातीव मृदुः । मध्यावर्तिव्रतं तद्वत्पञ्च गुर्वात्मसाक्षिकम् ॥ ७१ ॥ अस्ति कश्चिद्विशेषोत्र साधकादिषु कारणात् । अगृहीतव्रताः कुर्युर्व्रताभ्यासं व्रताशयाः ॥ ७२ ॥ समभ्यस्तव्रताः केचिद् व्रतं गृह्णन्ति साहसात् । न गृह्णन्ति व्रतं केचिद् गृहे गच्छन्ति कातराः ॥ ७३ ॥ एवमित्यादि दिङ्मात्रं मया प्रोक्तं गृहिव्रतम् । दृगाद्येकादशं यावत् शेषं

क्षुल्लक क्षुल्लकके समान वेष धारण करते हैं ॥ ७० ॥ ये तीनों प्रकारके क्षुल्लक क्षुल्लकोंकी ही क्रियाओंको पालन करते हैं। ये तीनों प्रकारके क्षुल्लक न तो अत्यंत कठिन व्रतोंका पालन करते हैं और न अत्यंत सरल व्रतोंका पालन करते हैं किंतु मध्यम स्थितिके व्रतोंका पालन करते हैं तथा पंच परमेष्ठीकी साक्षी पूर्वक व्रतोंको ग्रहण करते हैं ॥ ७१ ॥ क्षुल्लकोंके जो साधक गूढ और बाणप्रस्थ भेद बतलाए हैं उनमें कुछ विशेष भेद नहीं है किंतु थोडा सा ही भेद है। इनमेंसे जिन्होंने क्षुल्लकके व्रत धारण नहीं किये हैं; किंतु क्षुल्लकके व्रत धारण करना चाहते हैं वे उन व्रतोंका अभ्यास करते हैं।

भावार्थ—वे नियमानुसार क्षुल्लककी दीक्षा नहीं लेते, पंच परमेष्ठीकी साक्षीपूर्वक क्षुल्लकके व्रत स्वीकार नहीं करते किंतु बिना स्वीकार किये ही उनको स्वीकार करनेकी इच्छासे उनका अभ्यास करते हैं। अभ्यास-रूपसे उनका पालन करते हैं तथा जिन्होंने उन व्रतोंके पालन करनेका पूर्ण अभ्यास कर लिया है वे साहस पूर्वक उन व्रतोंको ग्रहण कर लेते हैं अर्थात् पंच परमेष्ठीकी साक्षी पूर्वक उन व्रतोंको स्वीकार कर लेते हैं तथा कोई कोई कातर और असाहसी वा निर्बल ऐसे भी होते हैं जो व्रतोंको ग्रहण नहीं करते किंतु घर चले जाते हैं अर्थात् व्रतोंका अभ्यास करते हैं और फिर भी व्रतोंको ग्रहण नहीं करते किंतु उस अभ्यासको भी छोड कर घरको चले जाते हैं ॥ ७३ ॥ इसप्रकार ऊपर लिखे अनुसार दर्शनप्रतिमासे ले कर उद्दिष्टत्यागप्रतिमातक गृहस्थोंकी ग्यारह प्रतिमाओंका स्वरूप मैंने अत्यंत संक्षेपसे कहा है। इन प्रतिमाओंके स्वरूप कहनेमें जो कुछ बाकी रह गया है वह अन्य जैनशास्त्रोंसे जान लेना चाहिए ॥ ७४ ॥

एकदेश व्रतोंको धारण करनेवाले इन श्रावकोंके (उत्कृष्ट श्रावकोंके) उत्तरगुण बारहप्रकारके तप कह-

ज्ञेयं जिनागमात् ॥ ७४ ॥ अस्त्युत्तरगुणं नाम्नां तपो द्वादशधा मतम् । सूचामात्रं प्रवक्ष्यामि देशतो व्रतधारिणाम् ॥ ७५ ॥ तत्सूत्रं यथा—अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः बाह्यं तपः । खाद्यादिचतुर्द्धाहारसन्यासोऽनशनं मतम् । केवलं भक्तसलिलमवमोदर्यमुच्यते ॥ ७६ ॥ त्रिचतुःपञ्चषष्ठादिवस्तुनां संख्ययाऽशनम् । सप्तादिसंख्यया यद्वा वृत्तिसंख्या प्रचक्षते ॥ ७७ ॥ मधुरादिरसादनां यत्समस्तं व्यस्तमेव वा । परित्यागो यथाशक्ति रसत्यागः स

लाते हैं। आगे मैं संक्षेपमे नाममात्र इन बारहप्रकारके तपोंको भी कह देता हूं ॥ ७५ ॥ तप दोप्रकार है एक अंतरंग तप और दूसरे बाह्य तप। इनमेंसे बाह्य तपके छह भेद हैं जो सूत्रकारने अपने सूत्रमें इसप्रकार बतलाए हैं।

अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः बाह्यं तपः।

अर्थ—अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश यह छहप्रकारका बाह्य तप है। आगे संक्षेपसे इन्हींका स्वरूप लिखते हैं।

अन्न पान लेह्य खाद्य इन चारों प्रकारके आहारका त्याग कर देना अनशन तप कहलाता है। भावार्थ--दाल भात आदि खाने योग्य पदार्थोंको अन्न कहते हैं, दूध, पानी आदि पीने योग्य पदार्थोंको पान कहते हैं, रबडी चटनी आदि चाटने योग्य पदार्थोंको लेह्य कहते हैं और लड्डू पेडा बरफी पान सुपारी आदि स्वादिष्ट पदार्थोंको स्वाद्य कहते हैं, इन चारोंप्रकारके आहारका त्याग कर उपवास धारण करना अनशन है तथा केवल भात और पानी लेना बाकीके समस्त आहारोंका त्याग कर देना अर्थात् थोडा भोजन लेना अवमोदर्य तप है ॥ ७६ ॥ मैं आज केवल दाल भात और पानी ऐसे तीन पदार्थ खाऊंगा बाकी सबका त्याग है अथवा चार वा पांच पदार्थ खाऊंगा वा छह खाऊंगा बाकीके नहीं अथवा पांच घरतक जाऊंगा पांच घरमें आहार मिलेगा तो लूंगा नहीं तो नहीं। इसप्रकार खाने योग्य पदार्थोंका नियम कर अथवा जाने योग्य घरोंका नियम कर आहारके लिए जाना। अथवा आहारके लिए इस प्रकारका नियम कर लेना वृत्तिपरिसंख्याननामका तप कहलाता है ॥ ७७ ॥ मीठा, खट्टा, चरपरा, कडवा, कषायला आदि रसोंका अथवा मीठा, दूध दही, घी, तेल और फलादिक

ष्यते ॥ ७८ ॥ एकान्ते विजनस्थाने सरागादिदोषोज्झिते । शय्या यद्वासनं भिन्नं शय्यासनमुदीरितम् ॥ ७९ ॥ आतपनादियोगेन वीर्यचर्यासनेन वा । वपुषः लेशकरणं कायक्लेशः प्रकीर्तितः ॥ षोढा बाह्यं तपः प्रोक्तमेवमित्यादिलक्षणैः । अधुना लक्ष्यतेऽस्माभिःषोढा वाभ्यन्तरं तपः ॥८१॥ तत्सूत्रं यथा—प्रायश्चित्त-

सचित्त पदार्थ इन छहों रसोंका पूर्णरूपसे त्याग कर देना अथवा एक दो आदि अलग अलगरूपसे रसोंका त्याग करना, जैसी अपनी शक्ति हो उसीके अनुसार त्याग करना रसपरित्यागनामका तप है। यदि अपनी शक्ति हो तो समस्त रसोंका त्याग कर देना चाहिए। यदि ऐसी शक्ति न हो तो फिर जितनी शक्ति हो उसके अनुसार एक दो चार आदि रसोंका त्याग कर देना चाहिए। इसप्रकारके त्यागको रसपरित्याग तप कहते हैं ॥ ७८ ॥ जहांपर मनुष्योंका निवास न हो तथा राग द्वेष उत्पन्न होनेके कोई कारण न हों ऐसे निर्दोष एकांत स्थानमें सोने और बैठनेका स्थान बनाना विविक्तशय्यासननामका तप कहलाता है। भावार्थ—एकांत स्थानमें रहनसे स्वाध्याय और ध्यानकी सिद्धि होती है इसलिए ही यह तप किया जाता है ॥ ७९ ॥ आतापन योग धारण कर अथवा वीरचया आसन धारण कर शरीरको क्लेश पहुंचाना कायक्लेशनामका तप कहलाता है। नग्न अवस्था धारण कर एक स्थानपर खडे हो कर ध्यान धारण करना आतापन योग है तथा भ्रामरी वृत्तिसे भोजन करना, ग्रीष्म ऋतुमें पर्वतपर खडे होना, वर्षामें वृक्षके नीचे रहना और शीत ऋतुमें नदीके किनारे वा चौहटेमें रहना आदि वीरचर्या है। इनके द्वारा शरीरको क्लेश पहुंचाना कायक्लेशनामका तप कहलाता है ॥ ८० ॥ इसप्रकार अत्यंत संक्षेप रीतिसे सबका लक्षण कहकर छहोंप्रकारके बाह्य तपका निरूपण किया।

अब आगे छहों प्रकारके अंतरंग तपका लक्षण कहते हैं ॥ ८१ ॥ उन अतरंग तपोंको कहनेवाला सूत्र यह है—

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ।

अर्थ—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छहप्रकारका अतरंग तप है। आगे इनका स्वरूप संक्षेपसे कहते हैं।

विनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् । प्रायो दोषेऽप्यतीचारे गुरौ सम्यन्निवेदिते । उद्दिष्टं तेन कर्तव्यं प्रायश्चित्त तपः स्मृतम् ॥ ८२ ॥ गुर्वादीनां यथाप्येषामभ्युत्थाने च गौरवम् । क्रियते चात्मसामर्थ्याद्विनयाख्यं तपः स्मृतम् ॥ ८३ ॥ तपोधनानां दैवाद्वा ग्लानित्वं समुपेयुषाम् । यथाशक्ति प्रतीकारो वैयावृत्यः स उच्यते ॥ ८४ ॥ नैरन्तर्येण यः पाठः क्रियते सूरिसन्निधौ । यद्वा सामायिकी पाठः स्वाध्यायः स स्मृतो बुधैः ॥८५॥ शरीरादिममत्वस्य त्यागो यो ज्ञानदृष्टिभिः ।

किसी व्रतमें वा किसी भी क्रियामें किसीप्रकारका अतिचार वा दोष लग जानेपर उसको बिना किसी छल कपटके अच्छीतरह गुरुसे निवेदन करना और उसके बदले गुरुमहाराज जो कुछ आज्ञा दें, जो दंड दें उसे मन बचन कायसे पालन करना प्रायश्चित्तनामका तप कहलाता है । भावार्थ—प्रायः शब्दका अर्थ दोष है और चित्त शब्दका अर्थ शुद्धि है । जिससे दोषोंकी शुद्धि हो जाय उसको प्रायश्चित्तता कहते हैं । यह तप उसीके होता है जिसका मन बचन काय सरल है । जो साधु वा श्रावक सरल मन बचन कायसे अपने दोषोंको आचार्यसे निवेदन करता है और फिर उनकी शुद्धिके लिए आचार्यमहाराजके द्वारा दिया हुआ प्रायश्चित्त वा दंड स्वीकार करता है उसीके इस तपका पालन होता है ॥ ८२ ॥ आचार्य उपाध्याय आदि गुरुओंका अपनी सामर्थ्यके अनुसार आदर सत्कार करना, उनके सामने खडे होना, पीछे पीछे चलना तथा अपनी सामर्थ्यके अनुसार उनका महत्व प्रगट करना आदि विनयनामका तप कहलाता है ॥ ८३ ॥ यदि दैवयोगसे किसी मुनिके किसीप्रकारका रोग हो गया हो अथवा और किसीप्रकारकी शरीरमें बाधा हो गई हो तो अपनी शक्तिके अनुसार उसको दूर करना, उन मुनिराजकी सेवा करना, पैर दाबना तथा जिसप्रकार वह व्याधि दूर होसके उसीप्रकार निर्दोष यत्न करना वैयावृत्यनामका तप कहलाता है ॥ ८४ ॥ आचार्य महाराजके समीप बैठ कर निरंतर पाठ करनेको अथवा सामायिकके पाठ करनेको विद्वान् लोग स्वाध्यायनामका तप कहते हैं ॥ ८५ ॥ ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले महा तपस्वीलोग शरीरादिकसे ममत्वका सर्वथा त्याग कर देनेको प्रसिद्ध कायोत्सर्गनामका तप कहते हैं । भावार्थ—शरीरादिकसे ममत्वका सर्वथा त्याग कर देना और पूर्णरूपसे निर्ममत्व हो जाना कायोत्सर्ग नामका तप है ॥ ८६ ॥ योगीलोग जो अन्य समस्त चिंतवनोंको रोक कर

तपःसंज्ञः सुविख्यातो कायोत्सर्गो महर्षिभिः ॥ ८६ ॥ कृत्स्नचिन्तानिरोधेन पुंसःशुद्धस्य चिन्तनम् । एकाग्रलक्षणं ध्यानं तदुक्तं परमं तपः ॥ ८७ ॥ एवमित्यादि-दिङ्मात्रं षोढा चाभ्यन्तरं तपः । निर्दिष्टं कृपया ऽस्माभिर्देशतो व्रतधारिणाम् ॥ ८८ ॥ अक्षरमात्रपदस्वरहीनं व्यञ्जनसन्धिविवर्जितरेफम् । साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ॥ ८९ ॥

इति श्रीस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्लविरचितायां श्रावकाचारापरनामलाटीसंहितायां साधुश्रीदूदात्मजफामनमनःसरोजारविन्दविकाशनैकमार्तण्डमण्डलायमानायां सामायिक-प्रतिमाद्येकादशप्रतिम पर्यन्तवर्णनं नाम सप्तमः सर्गः ।

(समस्त चिंतवनोंका त्याग कर) अपने मनकी एकाग्रतासे केवल शुद्ध आत्माका चिंतवन करते हैं उसको ध्याननामका परम तपश्चरण कहते हैं ॥ ८७ ॥ इसप्रकार हमने कृपापूर्वक एकदेश व्रतोंको धारण करनेवाले श्रावकोंके लिए छहोंप्रकारके अंतरंग तपोंका स्वरूपअत्यंत संक्षेपसे बतलाया ॥ ८८ ॥

इस ग्रंथमें जो अक्षर, मात्रा, पद, स्वर आदि कम हों अथवा व्यंजन संधि रेफ आदिसे रहित हो तो भी सज्जनलोगोंको मेरा यह अपराध क्षमा कर देना चाहिए क्योंकि शास्त्र एक प्रकारका अगाध समुद्र है इसमें कौन गोता नहीं खाता है। अर्थात् कौन नहीं भूलता है। भावार्थ—छद्मस्थ अल्पज्ञानी सभी भूलते हैं ॥ ८९ ॥

इसप्रकार स्याद्वादस्वरूप निर्दोष गद्यपद्यविद्यामें अत्यन्त चतुर और विद्वानोंमें शिरोमणि ऐसे कविराज राजमल्लके द्वारा बनी हुई तथा सज्जनोत्तम दूदाके सुपुत्र श्रीफामनके मनरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेकेलिये सूर्यमंडलके समान सुशोभित होनेवाली और श्रावकाचार है दूसरा नाम जिसका ऐसे इस लाटीसंहितानामके ग्रंथकी चावली (आगरा) निवासी देहलीप्रवासी "धर्मरत्न" लालाराम जैन शास्त्री द्वारा विरचित हिन्दी भाषा टीकामें सामायिक प्रतिमासे लेकर उद्दिष्ट त्यागनामकी ग्यारहमीं प्रतिमा तक नौ प्रतिमाओंके स्वरूपको निरूपण करनेवाला यह सातवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

सामायिकाद्यनुद्दिष्टपर्यन्तं प्रतिमाव्रतम् । साधुदूदाङ्गजोद्दामफामनाय श्रियं दिशेत् ॥ इत्याशीर्वादः ।

किमिदमिह किलास्ते नाम सम्वत्सरादि, नरपतिरपि कःस्यादत्र साम्राज्यकल्पः । कृतमपि कमिदं भो केन कारापितं यत्, शृणु तदिति वदद्भिः स्तूयतेऽद्य प्रशस्तिः ॥ १ ॥ (श्री) नृपति विक्रमादित्यराज्ये परिणते सति । सहैकचत्वारिंशद्भिरशब्दानां शतषोडश ॥ २ ॥ तत्रापि चाश्विनीमासे सितपक्षे शुभान्विते । दशम्यां च दाशरथे शोभने रविवासरे ॥ ३ ॥ अस्ति साम्राज्यतुल्योसौ भूपतिश्चाप्यकब्बरः । महद्भिर्मण्डलेशैश्च चुम्बितांहिपदाम्बुजः ॥ ४ ॥ अस्ति दैगम्बरो धर्मो जैनः शर्मैककारणम् । तत्रास्ति काष्ठासंघश्च क्षालितांहः कदम्बकः ॥ ५ ॥ तत्रापि माथुरो गच्छो गणः पुष्करसंज्ञकः । लोहाचार्यान्वयस्तत्र तत्परंपरया यथा ॥ ६ ॥ नाम्ना कुमारसेनोऽभूद्भट्टारकपदाधिपः । तत्पट्टे हेमचन्द्रोऽभूद्भट्टारकशिरोमणिः ॥ ७ ॥ तत्पट्टे पद्मनन्दी च भट्टारकनभोंशुमान् । तत्पट्टेभूद्भट्टारको यशस्कीर्तिस्तपो-

प्रशस्ति

सामयिकको आदि ले कर उद्दिष्ट त्यागपर्यंत जो नौ प्रतिमारूप व्रत हैं वे सज्जनोत्तम दूदाके पुत्र उदार फामनके लिए कल्याण करें ।

इति आशीर्वादः ।

यह लाटीसंहितानामका ग्रंथ किस सम्वत्में बना है । उस समय सम्राट्के समान कौन राजा था । यह ग्रंथ किसने बनाया और किसने बनवाया उस सबकी प्रशस्ति कहता हूं तुम लोग सुनो ॥ १ ॥ श्रीविक्रम सम्बत् सोलहसौ इकतालीसमें आश्विन शुक्ला दशमी रविवारके दिन अर्थात् विजया दशमीके दिन यह ग्रंथ समाप्त हुआ ॥ २-३ ॥ उस समय सम्राट्के समान बादशाह अकबर राज्य करता था । उस समय बडे बडे मंडलेश्वर राजा लोग उसके चरणकमलोंको नमस्कार करते थे ॥ ४ ॥

इस संसारमें आत्माका कल्याण करनेवाला दिगम्बर जैनधर्म है । उस जैनधर्ममें भी पापरूपी कीचडको धोनेवाला एक काष्ठासंघ है ॥ ५ ॥ उसमें भी माथुर गच्छ है, पुष्कर गण है और लोहाचार्यकी आम्नाय है । उसी परंपरामें एक कुमारसेन नामके भट्टारक हुए थे तथा उन्हींके पदपर भट्टारकोंमें शिरोमणि ऐसे हेमचन्द्र-नामक भट्टारक बैठे थे ॥ ६-७ ॥ उनके पट्टपर भट्टारकोंके समुदायरूपी आकाशमें सूर्यके समान चमकनेवाले

निधिः ॥ ८ ॥ तत्पट्टे क्षेमकीर्तिः स्यादद्य भट्टारकाग्रणी । तदाम्नाये सुविख्यातं पत्तन नाम डौकनि ॥ ९ ॥ तत्रत्यः श्रावको भारु भार्यास्तिस्राऽस्य धार्मिकाः । कुल-शीलवयोरूपधर्मबुद्धिसमन्विताः ॥ १० ॥ नाम्ना तत्रादिमा मेघी द्वितीया नाम रूपिणी । रत्नगर्भा धरित्रीव तृतीया नाम देविला ॥ ११ ॥ योषितो देविलाख्यायाः पुंसो भारूसमाह्वयात् । चत्वारस्तत्समाः पुत्राः समुत्पन्नाः क्रमादिह ॥ १२ ॥ तत्रादिमः सुतो दूदो द्वितीयः ठुकराह्वयः । तृतीयो जगसी नाम्ना तिलोकोऽभच्चतुर्थकः ॥ १३ ॥ दूदाभार्या कुलांगासी नाम्ना ख्याता उवारही । तयोः पुत्रास्त्रयः साक्षादुत्पन्नाः कुलदीपकाः ॥ १४ ॥ आद्यो न्योता द्वितीयस्तु भोल्हा नाम्नाय फामनः । न्योता संघाधिनाथस्य द्वे भार्ये शुद्धवंशजे ॥ १५ ॥ आद्या नाम्ना हि पद्माही गौराही द्वितीया मता । पद्माहीयोषितस्तत्र न्योतसंघाधिनाथतः ॥ १६ ॥ पुत्रश्च देई-

पद्मनंदि भट्टारक हुए थे तथा उनके पट्टपर बडे तपस्वी यशस्कीर्तिनामके भट्टारक हुए थे ॥ ८ ॥ उनके पट्टपर भट्टारकोंमें मुख्य ऐसे क्षेमकीर्तिनामक भट्टारक हुए थे उन्हींके समयमें यह ग्रंथ बना है ।

क्षेमकीर्ति भट्टारककी आम्नायमें एक डौकनिनामका नगर था । उस डौकनिनगरका रहनेवाला एक भारु नामका श्रावक था । उसके तीन स्त्रियां थीं जो अच्छी धार्मिक थीं । वे तीनों स्त्रियां कुलीन थीं, शीलवती थीं, रूपवती थीं, अच्छी आयुवाली थीं, धर्मको धारण करनेवाली थीं और बुद्धिमती थीं ॥ ९-१० ॥ पहली स्त्रीका नाम मेघी था, दूसरीका नाम रूपिणी था और रत्नोंको उत्पन्न करनेवाली वसुमती पृथ्वीके समान तीसरी स्त्री थी उसका नाम देविला था ॥ ११ ॥ ऊपर लिखे हुए भारूनामक सेठके उस देविलानामकी स्त्रीसे चार पुत्र उत्पन्न हुए थे । उनके अनुक्रमसे ये नाम थे ॥ १२ ॥

पहले पुत्रका नाम दूदा था, दूसरेका नाम ठुकर था, तीसरेका नाम जगसी था और चौथेका नाम तिलोक था ॥ १३ ॥ अपने कुलको सुशोभित करनेवाली दूदाकी स्त्रीका नाम उवारही था । उससे दूदाके तीन पुत्र उत्पन्न हुए हैं जो कि अपने कुलको प्रकाशित करनेवाले दीपकके समान हैं ॥ १४ ॥ पहले पुत्रका नाम न्योता है, दूसरेका नाम भोल्हा है और तीसरेका नाम फामन है । उनमेंसे न्योता संघनायक कहलाता है । उसके शुद्ध वंशकी उत्पन्न हुई दो स्त्रियां हैं ॥ १५ ॥ पहली स्त्रीका नाम पद्माही है और दूसरी स्त्रीका नाम गौराही है । उस न्योता नामके संघनायकके पद्माही स्त्रीसे देईदास नामका एक पुत्र हुआ है जो कि एक हो

दासः स्यादेकोपि लक्षायते । गौराहीयोषितः पुत्राश्चत्वारो मदनोपमाः ॥ १७ ॥ न्योतासंघाधिनाथस्य स्ववंशावनिचक्रिणः । तत्राद्योङ्गजो गोपा हि सामा पुत्रो द्वितीयकः ॥ १८ ॥ तृतीयो घनमल्लोस्ति ततस्तुर्यो नरायणः । भार्या देईदासस्य रामूही प्रथमा मता ॥ १९ ॥ कामूही द्वितीया ज्ञेया भर्तुरुच्छन्दानुगामिनी । रामूही-योषितः पुत्रा देईदासस्य सद्मनि ॥ २० ॥ प्रथमाश्चाख्यया साधू द्वितीयो हरदासकः । ताराचन्द्रः तृतीयः स्याच्चतुर्थस्तेजपालकः ॥ २१ ॥ पञ्चमो रामचन्द्रश्च पञ्चापि पाण्डवोपमाः । साधूभार्या मथुरी च या गंगा शुद्धवंशजा ॥ २२ ॥ गोपाभार्या समाख्याता अजवा शुद्धवंशजा । सामाभार्या च पूरी स्याल्लावण्यादिगुणान्विता ॥ २३ ॥ घनमल्लस्य भार्या स्याद्विख्याता हि उद्धरही । भोल्हासंघाधिनाथस्य भार्यास्तिस्रः कुलांगनाः ॥ २४ ॥ छाजोही योषितः पुत्राः पञ्च प्रोच्चण्ड-विक्रमाः । प्रथमो बालचन्द्रः स्याल्लालचन्द्रो द्वितीयकः ॥ २५ ॥ तृतीयो निहालचन्द्रश्चतुर्थो गणेशाह्वयः । कनिष्ठोपि गुणोत्कृष्टः पञ्चमस्तु नरायणः ॥ २६ ॥

कर भी लाखोंके समान है तथा अपने वंशरूपी पृथ्वीको वश करनेके लिए चक्रवर्तीके समान ऐसे न्योता नामक संघनायकके गौराही स्त्रीसे कामदेवके समान अत्यंत सुंदर चार पुत्र उत्पन्न हुए हैं। उनमेंसे पहले पुत्रका नाम गोया है, दूसरेका नाम सामा है, तीसरेका नाम घनमल्ल है और चौथेका नाम नारायण है। देईदासके दो स्त्रियां हैं, पहलीका नाम रामूही है ॥ १६-१९ ॥ तथा अपने पतिकी आज्ञानुसार चलनेवाली दूसरी स्त्रीका नाम कामूही है। देईदासके घर रामूही स्त्रीसे पांच पुत्र उत्पन्न हुए हैं। उनमेंसे पहलेका नाम साधु है, दूसरेका नाम हरदास है, तीसरेका नाम ताराचंद है, चौथेका नाम तेजपाल है और पांचवेंका नाम रामचन्द्र है। ये पांचों ही पुत्र पांचों पांडवोंके समान हैं। साधुकी स्त्रीका नाम मथुरी और शुद्ध वंशमें उत्पन्न होनेवाली गंगा है। ॥ २०-२२ ॥ शुद्ध वंशमें उत्पन्न होनेवाली गोयाकी स्त्रीका नाम अजवा है तथा लावण्य आदि अनेक गुणोंको धारण करनेवाली सामाकी स्त्रीका नाम पूरी है ॥ २३ ॥ घनमल्लकी स्त्रीका प्रसिद्ध नाम उद्धरही है। यह न्योताका वंश बतलाया।

भोल्हानामके संघनायकके तीन स्त्रियां हैं। ये तीनों ही कुलांगनाएं हैं ॥ २४ ॥ उनमेंसे छाजूही नामकी स्त्रीसे पांच पुत्र उत्पन्न हुए हैं जो बडे ही पराक्रमी हैं। इनमेंसे पहलेका नाम बालचन्द्र है, दूसरेका लालचंद्र है, तीसरेका नाम निहालचंद्र है, चौथेका नाम गणेश है तथा सबसे छोटा किंतु गुणोंमें सबसे बडा ऐसा पांचवां पुत्र

एते पञ्चापि पुत्राश्च जैनधर्मपरायणाः । वीधूहीयोषितः पुत्रौ जानकीयसुतोपमौ ॥ २७ ॥ भोल्हासंघाधिनाथस्य वणिजां चक्रवर्तिनः । प्रथमको हरदासः कृष्ण-राजबलोपमः ॥ २८ ॥ द्वितीयो भावनादासः शत्रुकाष्ठदवानलः । बालचन्द्रस्य सद्भार्या करमाया स्यात्कुलांगना ॥ २९ ॥ लालचन्द्रभार्या गोमा धर्मपत्नी पतिव्रता । निहालचन्द्रस्य भार्ये वंश्या नाम्ना च वीरणी ॥ ३० ॥ गणेशाख्यास्य सद्भार्या साध्वी नाम्ना सहोदरा । फामनसंघनाथस्य भार्ये द्वे शुद्धवंशजे ॥ ३१ ॥ आद्या डूगरही ख्याता नाम्ना गंगा द्वितीयका । डूँगरही भार्यायाः द्वौ पुत्रौ हि चिरजीविनौ ॥ ३२ ॥ 'रूडा स्यादादिमो नाम्ना माईदासो द्वितीयकः । गंगायाः योषितः पुत्रो मुख्यः कौजूसमाह्वयः ॥ ३३ ॥ रूडाभार्या च दूलाही तयोः पुत्रौ च द्वौ स्मृतौ । प्रथमो भीवसी नाम्ना रायदासो द्वितीयकः ॥ स्ववंशगगने भूम्नि पुष्प-दन्ताविवस्थितौ ॥ ३४ ॥ ज्झारू द्वितीयपुत्रस्य कठुराख्यस्य धर्मिणः । भार्या तिहुणाहि नाम्ना नाथू नाम सुतस्तयोः ॥३५॥ नाथू भार्याचिताल्ही स्यात्पुत्रो रूदा

नारायण है ॥ २४-२६ ॥ ये पांचों पुत्र जैनधर्ममें तत्पर हैं । वैश्य वा व्यापारियोंमें चक्रवर्तीके समान भोल्हा-नामके संघनायकके बीधूहीनामकी स्त्रीसे दो पुत्र उत्पन्न हुए हैं जो दोनों ही जानकीके पुत्र लव और अंकुश-के समान हैं। इन दोनोंमेंसे पहले पुत्रका नाम हरदास है जो कृष्णराजबलके समान है । अथवा कृष्णराजके समान बलवान है तथा दूसरे पुत्रका नाम भगवानदास है जो शत्रुरूपी काष्ठको भस्म कर देनेके लिये दावानल अग्निके समान है। इनमेंसे बालचन्दकी श्रेष्ठ कुलस्त्रीका नाम करमा है ॥२७-२९॥ लालचन्द्रकीधर्म-पत्नी पतिव्रता स्त्रीका नाम गोमा है। निहालचन्द्रके दो स्त्रियां हैं। पहिली स्त्रीका नाम वंश्या है और दूसरीका नाम वीरणी है ॥३०॥ गणेशकी श्रेष्ठ और साध्वी (सीधीसाधी) स्त्रीका नाम सहोदरा है। इसप्रकार यह भोल्हाका वंश बतलाया।

फामननामके संघनायकके दो स्त्रियां है जो दोनों ही शुद्ध वंशमें उत्पन्न हुई हैं। पहिली स्त्रीका नाम डूगरही है और दूसरीका नाम गंगा है। फामनके डूगरही स्त्रीसे दो चिरंजीव पुत्र उत्पन्न हुए हैं ॥३१-३२॥ पहले पुत्रका नाम रूडा है और दूसरे पुत्रका नाम माईदास है तथा फामनसेठके गंगानामकी स्त्रीसे कौजू नामका एक मुख्य पुत्र उत्पन्न हुआ है ॥३३॥ उनमेंसे रूडाकी स्त्रीका नाम दूलाही है। उस रूडाकी दूलाही स्त्रीसे दो पुत्र उत्पन्न हुए हैं। पहले पुत्रका नाम भीवसी है और दूसरे पुत्रका नाम रामदास है। ये दोनों पुत्र

तयोर्द्वयोः । ज्झारू चतुर्थपुत्रस्य भार्या चुंही समाख्यया ॥ ३६ ॥ तयोः पुत्रस्तु गांगू स्यादात्मवंशावतंसकः । एते सर्वेपि जैनाः स्युः कीर्त्या संघेश्वराः स्मृताः ॥ ३७ ॥ एतेषामस्तिमध्ये गृहवृषरुचिमान् फामनः संघनाथ-स्तेनोच्चैः कारितेयं सदनसमुचिता संहिता नाम लाटी । श्रेयोर्थं फामनीये समुदितमनसा दानमानासनाद्यैः; स्वोपज्ञाराजमल्लेन विदितविदुषा मापिना हैमचन्द्रे ॥ ३८ ॥

इतिश्रीवंशस्थितिवर्णनम् ।

पृथ्वीपर ऐसे शोभायमान हैं मानो अपने वंशरूपी आकाशमें सूर्य चन्द्रमा ही हो ॥३४॥ यह सब भारूके पहले पुत्र दूदाका वंश बतलाया ।

अब भारूके अन्य पुत्रोंका वंश बतलाते हैं । भारूके दूसरे पुत्रका नाम ठकुर है । वह भी बहुत धर्मात्मा है । उसकी स्त्रीका नाम तिहुणा है । उन दोनोंके एक पुत्र है जिसका नाम नाथू है ॥३५॥ नाथूकी स्त्रीका नाम चितारही है । नाथूके उस चितारही स्त्रीसे रूढानामका पुत्र उत्पन्न हुआ है । यह भारूके दूसरे पुत्र ठुकरका वंश बतलाया ।

अब भारूके चौथे पुत्रका वंश बतलाते हैं । भारूके चौथे पुत्रका नाम तिलोक है । उसकी स्त्रीका नाम चुंही है ॥३६॥ उसके पुत्रका नाम गांगू है । यह गांगू अपने वंशमें आभूषणके समान सुशोभित है । ये सब जैनधर्मको धारण करते हैं और अपनी कीर्तिके द्वारा ये संघेश्वर कहलाते हैं ॥ ३७ ॥

इन सबमें गृहस्थधर्ममें अत्यन्त प्रेम रखनेवाला फामननामका संघनायक है उसीने यह गृहस्थोंके योग्य लाटीसंहितानामका ग्रन्थ निर्माण कराया है । फामनके द्वारा दिये हुए दान मान और आसनके द्वारा जिसका मन अत्यन्त प्रसन्न है तथा जो अत्यन्त विद्वान् है और श्रीहेमचन्द्रकी आम्नायमें रहता है ऐसे विद्वद्वर राजमल्लने अपने नामको धारण करनेवाली यह लाटीसंहिता अपने कल्याणके लिये निर्माण की है ॥ ३८ ॥ इसप्रकार वंशका वर्णन समाप्त हुआ ।

इस संसारमें जबतक गंगाका जल विद्यमान है तथा जबतक आकाशमें सूर्य चन्द्रमा परिभ्रमण कर रहे

तयोर्द्वयोः । ज्ञारू चतुर्थपुत्रस्य मार्या चुंही समाख्यया ॥ ३६ ॥ तयोः पुत्रस्तु गांगू स्यादात्मवंशावतंसकः । एते सर्वेपि जैनाः स्युः कीर्त्या संघेश्वराः स्मृताः ॥ ३७ ॥ एतेषामस्तिमन्ये गृहवृषरुचिमान् फामनः संघनाय-स्तेनोच्चैः कारितेयं सदनसमुचिता संहिता नाम लाटी । श्रेयोर्थं फामनीयै समुदितमनसा दानमाना-सनाद्यैः; स्वोपज्ञाराजमल्लेन विदितविदुषा मापिना हैमचन्द्रे ॥ ३८ ॥

इतिश्रीवंशस्थितिवर्णनम् ।

पृथ्वीपर ऐसे शोभायमान हैं मानो अपने वंशरूपी आकाशमें सूर्य चन्द्रमा ही हो ॥३४॥ यह सब भारूके पहले पुत्र दूदाका वंश बतलाया ।

अब भारूके अन्य पुत्रोंका वंश बतलाते हैं । भारूके दूसरे पुत्रका नाम ठकुर है । वह भी बहुत धर्मात्मा है । उसकी स्त्रीका नाम तिहुणा है । उन दोनोंके एक पुत्र है जिसका नाम नाथू है ॥३५॥ नाथूकी स्त्रीका नाम चितारही है । नाथूके उस चितारही स्त्रीसे रूढानामका पुत्र उत्पन्न हुआ है । यह भारूके दूसरे पुत्र ठुकरका वंश बतलाया ।

अब भारूके चौथे पुत्रका वंश बतलाते हैं । भारूके चौथे पुत्रका नाम तिलोक है । उसकी स्त्रीका नाम चुंही है ॥३६॥ उसके पुत्रका नाम गांगू है । यह गांगू अपने वंशमें आभूषणके समान सुशोभित है । ये सब जैनधर्मको धारण करते हैं और अपनी कीर्तिके द्वारा ये संघेश्वर कहलाते हैं ॥ ३७ ॥

इन सबमें गृहस्थधर्ममें अत्यन्त प्रेम रखनेवाला फामननामका संघनायक है उसीने यह गृहस्थोंके योग्य लाटीसंहितानामका ग्रन्थ निर्माण कराया है । फामनके द्वारा दिये हुए दान मान और आसनके द्वारा जिसका मन अत्यन्त प्रसन्न है तथा जो अत्यन्त विद्वान् है और श्रीहेमचन्द्रकी आम्नायमें रहता है ऐसे विद्वद्वर राज-मल्लने अपने नामको धारण करनेवाली यह लाटीसंहिता अपने कल्याणके लिये निर्माण की है ॥ ३८ ॥ इस-प्रकार वंशका वर्णन समाप्त हुआ ।

इस संसारमें जबतक गंगाका जल विद्यमान है तथा जबतक आकाशमें सूर्य चन्द्रमा परिभ्रमण कर रहे

यावद्व्योमापगाम्भो नभसि परिगतौ पुष्पदन्तौ दिवीशौ, यावत्क्षेत्रेऽत्र दिव्या प्रभवति भरतो भारती भारतेस्मिन्। तावत्सिद्धान्तमेतज्जयतु जिनयतेराज्ञया ख्यातलक्षम तावत्त्वं फामनाख्यः श्रियमुपलभतां जैनसंघाधिनाथः ॥ २९ ॥ इत्याशीर्वादः।

यावन्मेरुर्धरापीठे यावच्चंद्रदिवाकरौ। वाच्यमानं बुधैस्तावच्चिरं नन्दतु पुस्तकम् ॥ ४० ॥

हैं और जबतक इस भरतक्षेत्रमें दिव्य सरस्वतीदेवी पूर्णरूपसे अपना प्रभाव जमा रही हैं तबतक भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञानुसार ही जिसमें समस्त लक्षण कहे गये हैं ऐसा यह जैनसिद्धांत अथवा यह सिद्धांत ग्रंथ जयशील बना रहे तथा तभीतक संघका नायक यह फामन भी सब तरहकी लक्ष्मी और शोभाको प्राप्त होता रहे ॥ ३९ ॥ इति आशीर्वादः।

इस पृथ्वीपर जबतक मेरु पर्वत विद्यमान है तथा जबतक आकाशमें सूर्य चन्द्रमा विद्यमान हैं तबतक विद्वानोंके द्वारा पढा जानेवाला यह ग्रंथ चिरकालतक वृद्धिको प्राप्त होता रहे।

संघी मोतीलाल मास्टर
चोमूवाला

इति श्रीलाटी-संहिता भाषा टीका समाप्त

ग्रंथ बनानेवाले फामनका वंशवृत्त

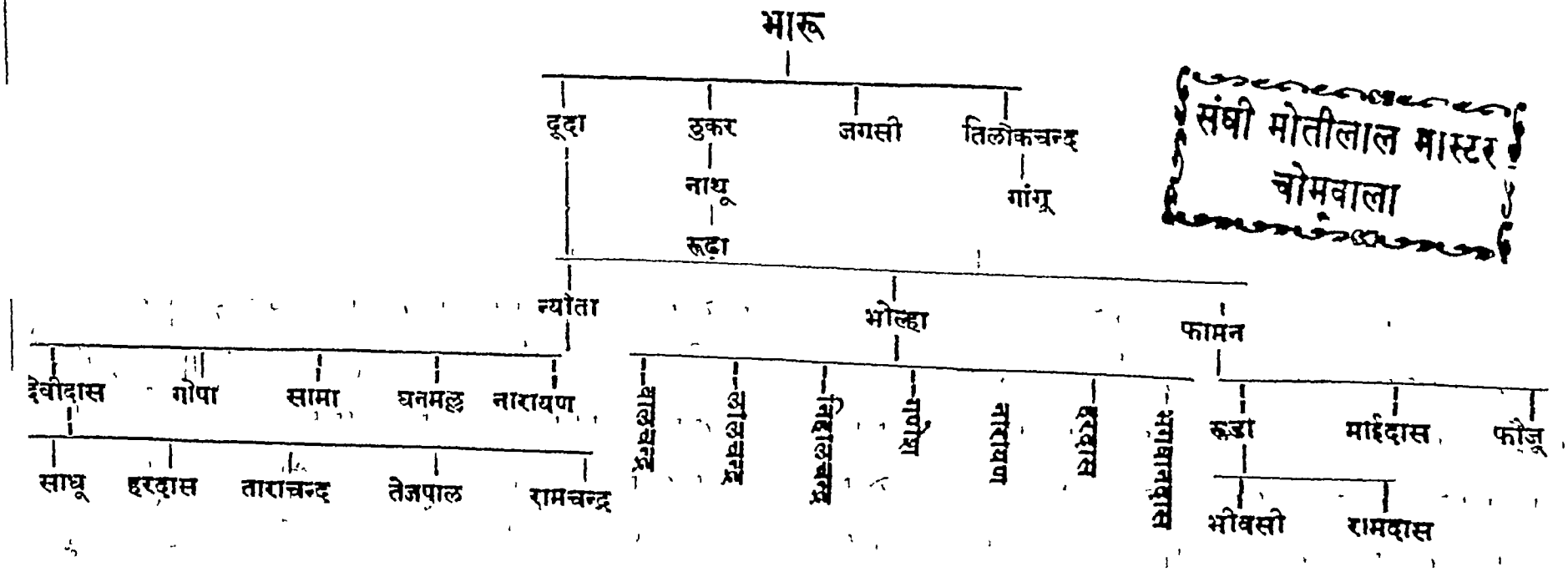

संघी मोतीलाल मास्टर
चोमूवाला

लाटी-संहिता

भाषा-टीका-सहित

(समाप्त)